





श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

श्रील श्रीजीवगोस्वामिप्रभुपाद-विरचिते

श्रीभागवतसन्दर्भे

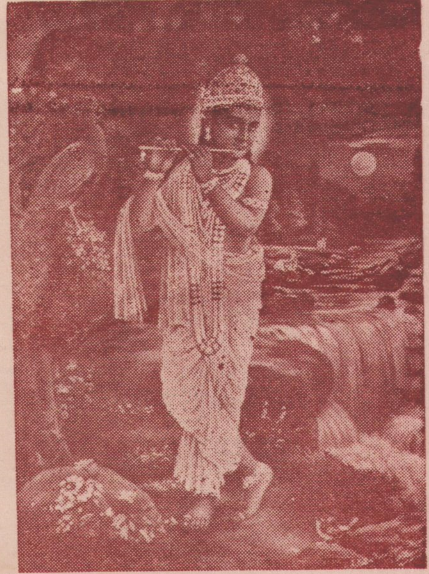
तृतीयः

श्रीपरमात्मसन्दर्भः

(सर्वसम्वादिनी एवं विनोदिनी टीकोपेतः)







श्रीहरिदास शास्त्री

सङ्गणकसंस्करणं दासाभासेन हरिपार्षददासेन कृतम्

श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

श्रील श्रीजीवगोस्वामिप्रभुपाद-विरचिते

श्रीभागवतसन्दर्भे
तृतीयः

("सर्वसम्वादिनी एवं विनोदिनी" टीकोपेतः)

श्रीपरमात्मसन्दर्भः

श्रीवृन्दावनधामवास्तव्येन न्यायवैशेषिकशास्त्रि, नव्यन्यायाचार्य्य,
काव्यव्याकरणसांख्यमीमांसा वेदान्ततर्कतर्कतर्क
वैष्णवदर्शनतीर्थाद्युपाध्यलङ्कृतेन
श्रीहरिदासशास्त्रिणा
सम्पादितः ।

सद्ग्रन्थ प्रकाशक :—
श्रीहरिदासशास्त्री
श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस,
श्रीहरिदास निवास, कालीदह, पो० वृन्दावन ।
जिला—मथुरा (उत्तर प्रदेश)

प्रकाशक :—
श्रीहरिदासशास्त्री
श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस,
श्रीहरिदास निवास।
पुराणा कालीदह।
पो०—वृन्दावन।
जिला—मथुरा। (उत्तर प्रदेश)

द्वितीयसंस्करणम्—पञ्चशतम्

प्रकाशनतिथि

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत
श्री-श्रील विनोदविहारी गोस्वामी प्रभु विरह तिथि
पौष कृष्णा द्वितीया १०।१२।८४
श्रीगौराङ्गाब्द ४९८

मुद्रकः—
श्रीहरिदास शास्त्री
श्रीहरिदास निवास, कालीदह,
पो० वृन्दावन, जिला—मथुरा,
(उत्तर प्रदेश) पिन—२८११२१

✻ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ✻

विज्ञप्ति



"परमात्म सन्दर्भ" नामक ग्रन्थ श्रीभागवत सन्दर्भ ग्रन्थ के परिगणन में तृतीय सन्दर्भ है, श्रीमद्भागवत ग्रन्थस्थ सम्बन्ध अभिधेय प्रयोजन निरूपण निबन्धन षट् सन्दर्भ ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है। तत्त्व, भगवत्, परमात्म, श्रीकृष्ण, भक्ति एवं प्रीति सन्दर्भ नाम से यह ग्रन्थ प्रसिद्ध है,

श्रीमद्भागवत् के १।२।११ में परतत्व का निर्वचन

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

द्वारा हुआ है, अर्थात् अद्वयज्ञान लक्षण तत्त्व ही एकमात्र परमतत्त्व है, वह तत्त्व उपासक की योग्यता के तारतम्य से ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् रूप में अनुभूत होता है, उक्त परतत्त्व के तीन नाम ही हैं, किन्तु उक्त नामत्रय के समपर्य्याय में "जीव" शब्द का पाठ नहीं है।

उक्त अखण्ड आनन्द स्वरूप तत्त्व, परमहंसवृन्द के साधन से अविविक्त शक्ति-शक्तिमत्त्व रूप में अनुभूत होने से ब्रह्म नाम से अभिहित होता है, योगिगण के हृद्देश में किञ्चित् शक्ति विशिष्ट रूप में अनुभूत होने से परमात्मा नाम से उक्त होता है, एवं भागवत परमहंसगण के भक्तिभावित अन्तःकरण में एवं वहिरिन्द्रिय समूह में परिस्फुरित विविक्त उक्त शक्ति-शक्तिमत्तत्त्व "भगवान्" शब्द से अभिहित होता है, अर्थात् शक्ति रूप विशेषण विशिष्ट परिपूर्णाविर्भावित अखण्ड तत्त्व ही श्रीभगवान् हैं। ब्रह्म—अस्फुट विशेषाकार होने के कारण श्रीभगवत् तत्त्व का ही असम्यक् आविर्भाव है। अतः भगवत्-तत्त्व का वर्णन होने से ब्रह्म तत्त्व का प्रकाश स्वतः ही होगा, तज्जन्य उक्त तत्त्व निर्णायक श्लोकस्थ "ब्रह्म परमात्मा भगवान्" पाठ क्रम से अर्थक्रम का प्राधान्य होने के कारण—भगवत् सन्दर्भ का प्रणयन हुआ है, एवं भगवत् परिकर के मध्य में परमात्मा हैं, अतः प्रसङ्ग प्राप्त रूप से **परमात्म सन्दर्भ** का प्रणयन हुआ है।

श्रीवेदव्यास के मत में ईश्वर जीव प्रकृति काल-कर्म पदार्थ समूह वास्तव हैं, कल्पित नहीं हैं, जीव को तटस्थाशक्ति, विभिन्नांश, एवं जीवशक्ति विशिष्ट परमात्मा का अंश कहते हैं, **परमात्म सन्दर्भ** श्रीमद्भागवतोक्त मत का प्रतिपादन कल्पित विरुद्ध मत निरसनपूर्वक हुआ है, परमात्म स्वरूप, तद्भेद [१] गुणावतार का तारतम्य, परमपुरुष के सहित अभेद बोधक वाक्य निचय का समाधान, शिव का परम देवत्व निरास, पुराणों का सात्त्विक, राजसिक, तामसिकभेद, पञ्चरात्र व्यतीत द्विविध शास्त्रकर्त्ता, स्वल्पज्ञ, एवं सर्वज्ञ, [२] जीवतत्त्व, श्रीजामातृमुनि वर्णित सिद्धान्तानुसार से जीव का देवादित्व, देहादित्व, जड़त्व, विकारित्व एवं ज्ञानमात्रात्मकत्वादि का निरसन, जीव एकरूप, चेतन, व्यापक, चिदानन्दात्मक, प्रतिक्षेत्र भिन्न, अणु, नित्य-निर्मल, जीव का ज्ञातृत्व, कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व, परमात्मैकशेषत्व—जीव का अंशत्व, स्वरूपज्ञानेच्छु के प्रति जीव एवं ईश्वर का अभेदोपदेश, किन्तु भक्तीच्छु के प्रति भेदोपदेश, अनन्त जीवशक्ति, [३] मायातत्त्व, निमित्त, उपादान, निमित्तांश के वृत्तिद्वय, विद्या एवं अविद्या, विद्या—स्वरूपशक्ति वृत्ति विशेष विद्या प्रकाश हेतु द्वारस्वरूप, अविद्या—आवरणात्मिका एवं विक्षेपात्मिका, निमित्तांश की ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया रूपाशक्तित्रय।

उपादानांश में प्रधान जगत् माया का कार्य, मायावाद निरसन, परिणामवाद स्थापन, परिणाम शक्ति द्विविध निमित्तांश में माया, उपादानांश में प्रधान, कार्य कारण से अनन्य होने से भी कारण—कार्य से भिन्न है, जगत् सत्य है, किन्तु नश्वर है, अनश्वर वाद निरसन, श्रीधरस्वामी का सिद्धान्त।

[४] निर्गुण ईश्वर में कर्त्तृत्व योजना। [५]भक्तविनोदार्थ ही भगवान् की विविध लीला एवं

अवतारादि। [६] भगवत् प्राधान्य स्थापन निबन्धन उपक्रमादि षड्‌विध लिङ्ग का प्रयोग, तथा गायत्री व्याख्या प्रभृति अङ्कित इसमें हैं।

भगवान् की स्वरूप शक्ति,—ह्लादिनी, सन्धिनी, संवित् हैं, वहिरङ्गा शक्ति का अपर नाम माया शक्ति है, एवं तटस्था शक्तिरूप जीव शक्ति का विशेष विश्लेषण **परमात्म सन्दर्भ** में है।

अद्वैत तत्त्ववाद गुरु श्रीशङ्कराचार्य प्रभृति के मत में "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" श्रुत्यनुसार ब्रह्म—सजातीय, विजातीय, स्वगतादि भेद रहित हैं, एवं ब्रह्म व्यतीत अपर वस्तु नहीं है।

परमात्म सन्दर्भ में ब्रह्म में सजातीय विजातीय भेद न होने से भी स्वगत भेद विद्यमान है, एवं ब्रह्म कदाच निरंश नहीं हैं, ब्रह्म—निर्गुण नहीं हैं, किन्तु सगुण हैं, निखिल कल्याणगुणरत्नाकर तो हैं ही कृपा प्रभृति गुणों का एकमात्र आकर भी हैं, एवं सविशेष हैं, निर्विशेष नहीं।

निर्गुणत्व एवं निर्विशेषत्व प्रतिपादक श्रुति-स्मृति समूह का निगूढ़ तात्पर्य—ईश्वर में प्राकृत गुण सम्पर्क निरसन में है।

अद्वैतवादी के मत में—परिदृश्यमान जगत् प्रपञ्च मिथ्या मायामय है, माया ईश्वर की शक्ति से भी अति तुच्छ है, **परमात्म सन्दर्भ** के मत में रज्जु में सर्पभ्रान्ति के समान जगत् असत्य नहीं है, जगत् ब्रह्म से से उत्पन्न है। अतः मिथ्या नहीं है, माया—ब्रह्म की शक्ति है, अतः वह भी मिथ्या नहीं है। अद्वैतवाद में जीव-स्वीकृत नहीं है, वह जीव—ब्रह्म का आभास अथवा प्रतिबिम्ब है, सन्दर्भकार के मत में जीव वास्तव पदार्थ है, जीव—अग्निस्फुलिङ्ग के समान ब्रह्मरूप तेजः पदार्थ से निर्गत है, एवं ब्रह्म का अंश है। जीव—अणु (क्षुद्र) है। ब्रह्म—विभु (अतिव्यापक) हैं। जीव—अल्पज्ञ स्वल्पशक्तिमान् है। ब्रह्म—सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है।

अद्वैतवाद में घट भग्न होने से घटाकाश, यद्रूप महाकाश में मिलित होता है, घटाकाश का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता है, तद्रूप जीव भी मुक्त अवस्था में ब्रह्म के सहित एकतापन्न होता है, उसकी पृथक् सत्ता नहीं रहती है, **परमात्म सन्दर्भ** के मत में जीव—क्षुद्र, क्षुद्रशक्तिस्वरूप है, विभु एवं सर्वशक्तिमय ब्रह्म के सहित उसका एकीभाव होना कभी भी सम्भव नहीं है। वर्त्तमान, भूत, भविष्यत् सर्वदा ही ब्रह्म से जीव पृथक् है। अग्निरश्मि में निक्षिप्त उत्तप्त लौह पिण्ड, अग्नितादात्म्य प्राप्त होता है, किन्तु वह स्वीय सत्ता को विलीन नहीं करता है, निज पार्थक्य की रक्षा सतत वह करता है। तद्रूप, मुक्तावस्था में जीव ब्रह्मतादात्म्य प्राप्त करने पर भी ब्रह्म सत्ता में विद्यमान होकर भी निज पृथक् सत्ता की रक्षा जीव विशेष रूप से करता है। यहाँ मुक्ति शब्द से सविशेष ब्रह्म अथवा श्रीभगवान् के श्रीचरणारविन्द लाभ को ही जानना होगा।

बद्ध जीव—भगवान् के अधीन अघटन घटन परीयसी माया का दास है, अनादि काल से ईश्वर सेवा विमुखता के कारण—जीव मायाधीन होता है। जीव—स्वरूपतः श्रीभगवान् का दास है, दास का एकमात्र कर्त्तव्य ही है—निज प्रभु की सेवा।

सूर्य्यरश्मि जिस प्रकार सूर्य्य से उद्भूत होने पर भी सूर्य्य जिस प्रकार रश्मि स्वरूप नहीं है, किन्तु रश्मि से पृथक् परम स्वरूप है, उस प्रकार भगवान् के अंश स्वरूप ही जीव का परम स्वरूप है। रश्मि स्थानीय जीव—सूर्य्य स्थानीय भगवान् से पृथक् होकर भी भगवान् के अंश रूप में अपृथक् रूप में विद्यमान् है, यह भी गौड़ीय वैष्णवाचार्य के द्वारा स्वीकृत अचिन्त्य भेदाभेदवाद है, इसकी विस्तृत आलोचना प्रस्तुत ग्रन्थ में है।

सन्दर्भ ग्रन्थ का प्रणयन संक्षिप्त रूप में दक्षिण देशीय श्रीवेङ्कटभट्ट के पुत्र श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी चरण ने श्रीमध्व एवं श्रीरामानुजाचार्य प्रणीत सिद्धान्त ग्रन्थ समूह के सार-संग्रह से किया था। श्रीजीव गोस्वामीचरण ने उक्त ग्रन्थ का प्रणयन क्रमबद्ध रूप से किया है।

श्रीजीव गोस्वामी प्रणीत ग्रन्थावली का परिचय निम्नोक्त रूप है—षट् सन्दर्भ, सर्व सम्वादिनी,

गोपाल चम्पू, हरिनामामृत व्याकरण, धातुमालिका, सूत्रमालिका, गोविन्द विरुदावली, माधव महोत्सव (महाकाव्य), संकल्प कल्पवृक्ष, श्रीश्रीराधा-कृष्ण करपद चिह्न विनिर्णय, भावार्थ सूचक चम्पू, राधा-कृष्ण अर्चनदीपिका, भक्तिरसामृतशेष, उज्ज्वलनीलमणि टीका, भक्तिरसामृत टीका, ब्रह्म संहिता टीका, गोपालतापनी टीका, अग्निपुराणीय गायत्री व्याख्या, योगसारस्तव की टीका, श्रीभागवत की लघुवैष्णव तोषणी, क्रम सन्दर्भ, वृहत् क्रम सन्दर्भ प्रभृति हैं।

श्रीचैतन्यदेव के मत में श्रीमद्भागवत ग्रन्थ ही एकमात्र प्रमाण है। कारण—वह ही निखिल वेद एवं श्रुति स्थानीय है। अतः षट् सन्दर्भ ग्रन्थ में श्रीमद्भागवतोक्त श्लोक के द्वारा ही निम्नोक्त प्रमेय पदार्थ का प्रतिपादन हुआ है—

"आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनम्।
रम्या काचिदुपासना व्रजबधूवर्गेण या कल्पिता॥
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थोमहान्।
श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः"॥
"गूढ़ार्थस्य प्रकाशश्च सारोक्तिः श्रेष्ठता तथा।
नानार्थवत्त्वं वेद्यत्वं सन्दर्भः कथ्यते बुधैः"॥

जिस ग्रन्थ में गूढ़ार्थ का प्रकाश, उक्ति की सारवत्ता, श्रेष्ठता, नानार्थ का समावेश एवं वेद्यत्वं अर्थात् अवश्य ज्ञातव्य विषय का प्राचुर्य विद्यमान है—उसको सन्दर्भ कहते हैं।

प्रथम तत्त्व सन्दर्भ में अचिन्त्य तत्त्व निर्द्धारण में वेद-उपनिषद् एवं पुराणादि का प्रामाण्य स्थापन शास्त्र युक्ति से हुआ है। प्रसङ्ग क्रम से ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल, कर्म प्रभृति की स्वरूप आलोचना भी हुई है। भगवन् सन्दर्भ में भगवत् तत्त्व की आलोचना विशद् रूप से हुई है। **परमात्म सन्दर्भ** में परमात्म जीवात्म एवं शक्ति समूह आलोचित हुये हैं।

श्रीकृष्ण सन्दर्भ में श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता का स्थापन निखिल संशय निरसन पूर्वक हुआ है।

भक्ति सन्दर्भ में निखिल साध्य साधन शिरोमणि भक्ति का प्रतिपादन हुआ है।

प्रीति सन्दर्भ में परम पुरुषार्थ भगवत् प्रीति का स्वरूप निर्णय हुआ है।

एतत् सह **परमात्म सन्दर्भ** की अनुव्याख्या रूप सर्व सम्वादिनी सन्निविष्ट है—उसमें निम्नोक्त विषय समूह अङ्कित हैं—[१] अनुभूति संवित् [२] अहं प्रत्यय [३] एक जीववाद खण्डन [४] जीव का अणुत्व [५] जीव का ज्ञातृत्व एवं कर्त्तृत्व [६] जीव का परमात्मत्व [७] परिच्छेदादि मतत्रय का विचार [८] ब्रह्म से जीव चैतन्य समूह का भेद [९] विवर्त्त वाद खण्डन [१०] परिणाम वाद [११] अचिन्त्य भेदाभेद वाद [१२] चतुर्व्यूह विचार [१३] पञ्चरात्र मत समर्थन प्रभृति।

श्रीजीवगोस्वामीचरण का परिचय——

जगद्गुरु—कर्णाट राज (१२०३ शक)
|
अनिरुद्ध (राजा १२३८ शक)
|— **रूपेश्वर**
|— **हरिहर**

रूपेश्वर
|
पद्मनाभ
|— **पुरुषोत्तम**
|— **जगन्नाथ**
|— **नारायण**
|— **मुरारि**
|— **मुकुन्द**

मुकुन्द
|
कुमारदेव
|— **अज्ञात**
|— **अज्ञात**
|— **अमर (सनातन)**
|— **सन्तोष (रूप)**
|— **वल्लभ (अनुपम)॥ श्रीजीव॥**

श्रीमद्भागवत ग्रन्थ के प्रमाणानुसार व्रज भक्ति प्रतिपादन के निमित्त समागत श्रीचैतन्यदेव के श्रीचरणानुचर श्रीरूप, सनातन, गोपालभट्ट, रघुनाथभट्ट, रघुनाथदास, श्रीजीव गोस्वामी नामक षड् गोस्वामी के अन्यतम श्रीजीव गोस्वामी हैं। आपके जन्म समय निर्णय में सामान्य मतभेद है। वस्तुतः आविर्भाव काल— १४३३ एवं तिरोभाव १५१८ शकाब्दा पौष शुक्ला तृतीया है।

श्रीहरिदास शास्त्री

सूची-पत्र

अनुच्छेद	विषय	पृष्ठाङ्क
	ग्रन्थावतरणिका	१
१ ,,	परमात्मा का विवरण	,,
	जीव परमात्मा का निरूपण	२
	क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ का परिज्ञान	३
	क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ विषयक निरीश्वर सांख्यमत एवं विवर्त्तवाद निरसन	८
	निर्विशेष ज्ञान का अनादर	१२
	भक्ति योग ही पुरुषार्थ प्रापक	१३
	क्षर एवं अक्षर तत्त्व विश्लेषण	१७
	समष्टि एवं व्यष्टिरूप क्षेत्र में भगवान् की क्षेत्रज्ञता	१८
	क्षेत्रज्ञद्वय पृथक्—जीव एवं ईश्वर	२०
	परमात्मा में ही मुख्य क्षेत्रज्ञत्व	२४
	परमेश्वर तत्त्व	२५
	सर्वजीव का आश्रय परमेश्वर	२७
	परमात्मा का अन्तर्यामी रूप में सर्वत्र अवस्थान	२८
२ ,,	पुरुषत्रय भेद से परमात्मा का त्रिविध आविर्भाव	२८
	आविर्भाव के प्रति कारण भक्ति, प्रथम पुरुष—सङ्कर्षण महाविष्णु	२६
३ ,,	द्वितीय पुरुष ब्रह्माण्डात्मक समष्टि जीवान्तर्यामी	३१
	व्यष्टि जीवान्तर्यामी तृतीय पुरुष	३२

अनुच्छेद	विषय	पृष्ठाङ्क
४ ,,	तृतीय पुरुष का आविर्भाव	३५
५ ,,	पुरुष भेद में भी ऐक्य प्रतिपादन	३६
६ ,,	परमार्थतः समस्त देहधारियों में एक आत्मा	
	अनेक प्रकार दृष्ट होते हैं—	३७
७ ,,	जलपात्र में इन्दु का दृष्टान्त	,,
८ ,,	स्वांश विभिन्नांश भेद से पुरुषांश द्वैविध्य	३८
	⁘ तटस्थशक्ति जीव—विभिन्नांश एवं गुणलीलादि	
	अवतार भेद से स्वांश द्विविध	३९
	गुणावतार	४०
	ब्रह्मादि गुणावतार का आविर्भाव	४२
९ ,,	अवतार मध्य में विष्णु का श्रेष्ठत्व	४३
१० ,,	ब्रह्मा प्रभृति का आविर्भाव क्रम	४४
११ ,,	ब्रह्मा शिव में श्रेष्ठत्व की परीक्षा	४५
१२-१३ ,,	त्रिदेव में तारतम्य परीक्षा से निष्पन्न	४५
	श्रीविष्णु उपासना की श्रेष्ठता	४७
१४ ,,	उक्त विभेद विषय में विस्तृत कथन	५३
१५ ,,	श्रीविष्णु के सहित अभेदोक्ति	५६
१६ ,,	उत्पत्तिलय शून्य श्रीहरि हैं	५७
१७ ,,	त्रिदेव में भेद एवं अभेद दर्शन का समाधान	५९
१८ ,,	श्रीविष्णु के समीप से भक्ति प्रार्थना	७८
१९ ,,	परमात्म परिकर रूप में जीव	
	उसका तटस्थ लक्षण—	७८
२० ,,	जीव जड़ नहीं है	८४
२१ ,,	जीव विकारित्व नहीं है	८५
२२ ,,	ज्ञान मात्रात्मक नहीं है किन्तु ज्ञानमात्र	
	होकर भी ज्ञातृत्व शक्तियुक्त	८६
२३ ,,	शक्त्यन्तर का वर्णन	८८
२४ ,,	सङ्ग दोष से जीव की ऐश्वर्य हीनता	९०
२५ ,,	स्वीय अदूरदर्शिता के कारण मायाबद्धता	९१

अनुच्छेद	विषय	पृष्ठाङ्क
२६ ,,	पुरञ्जन दृष्टान्त	६१
२७ ,,	स्वयं प्रकाशत्व का वर्णन	६२
	माया का वर्णन	६४
२८ ,,	स्वरूप भूतचिच्छक्ति के द्वारा ही आत्मास्वतः प्रकाशित है	६५
२६ ,,	प्रतिविम्व वाद निरास	६८
३० ,,	बुद्धि के गुण से जीव अभिभूत होता है	१०१
३१ ,,	स्वप्न दृष्टान्त के द्वारा स्पष्टी करण	१०२
३२ ,,	स्वरूपभूत अहम्भाव निष्पन्न होने से जीव प्रतिक्षेत्र भिन्न है, जीव ब्रह्म नहीं है	१०३
३३ ,,	प्रतिक्षेत्र भिन्नत्व के प्रति हेत्वन्तर	११३
	"सूक्ष्माणामप्यहं जीव"	११७
३४ ,,	परमात्मा का अंश जीव	१२२
३५ ,,	जीव शुद्ध स्वरूप एवं निर्मल है	१२६
३६ ,,	भोक्ता होने के कारण संवेदन रूपत्व है	१३१
३७ ,,	परमात्मा का एक शेष रूप अंशजीव	१३१
३८ ,,	बन्ध मोक्ष ता संवाद	१३६
३६ ,,	शक्ति रूप अंश जीव	१४०
४० ,,	ज्ञानेच्छु के प्रति जीवेश का अभेद उपदेश	१४१
४१ ,,	समस्त पदार्थों का अनुप्रवेश हेतु ऐक्य कथन	१४१
४२ ,,	चिद्रूप होने के कारण ऐक्य कथन	१४१
४३ ,,	भक्तीच्छु के प्रति जीवेश का भेद कथन	१४२
४४ ,,	भेद के प्रति हेतु	१४२
४५ ,,	जामातृमुनि प्रोक्त जीव लक्षण के द्वारा आत्मदर्शन का प्रकार—	१४५
४६ ,,	श्रीमद्भागवतोक्त जीव लक्षण के सहित जामातृमुनि प्रोक्त जीव लक्षण की समानता	१४६
४७ ,,	जीवाख्य तटस्थाशक्ति अनन्त के मध्य में वर्गद्वय प्रधान, एक अनादि भगवदुन्मुख	

अनुच्छेद	विषय	पृष्ठाङ्क
	अपर अनादि से भगवत् पराङ्मुख	
४८ ,,	तटस्था एवं अन्तरङ्गाशक्ति वर्णन के पश्चात्	
	वहिरङ्गा शक्ति का वर्णन	१५४
४९ ,,	माया के अंशद्वय गुणरूप माया निमित्त	
	प्रधानाख्य माया उपादान	१५६
५० ,,	'आसीज्ज्ञानं' के द्वारा भेदशून्य ब्रह्म की स्थिति	१५६
५१ ,,	उक्त ब्रह्म, उसके पश्चात् मनोगोचररूप	
	एवं स्वरूप भावरूप दो प्रकार होते हैं	१५७
५२ ,,	उक्त द्विधाभूत अंश—एक अंश अर्थ	
	अपर अंश—ज्ञानमात्र है	१५८
५३ ,,	उपादान निमित्त भेद से माया के दो भेद	१५८
५४ ,,	निमित्त रूपांश की दो वृत्ति होती है	१६०
५५ ,,	निमित्तांश माया की त्रिधाशक्ति ज्ञानेच्छाक्रिया	१६१
५६ ,,	शक्तित्रय का विशेष विवरण—	१६५
५७ ,,	जगद्रूप का अप्राकृतत्व निरास	१६६
५८ ,,	माया शब्द का अज्ञानार्थ निरास	१६८
५९ ,,	ज्ञानादि के अङ्ग रूप में प्रधान का वर्णन	१८४
६० ,,	परमात्मा से स्थूल सूक्ष्म वस्तु की उत्पत्ति	१८५
६१ ,,	कार्य कारण समूह श्रीहरि व्यतीत	
	अपर कुछ नहीं है	१८९
६२ ,,	अनन्यत्व के प्रति हेतु	१९०
६३ ,,	अत्यन्त पृथक् रूप में प्रतीति का समाधान	१९१
६४ ,,	संघात रूप देह नहीं है	१९१
६५ ,,	स्वतन्त्र रूप में देहादि के समान पृथिवी	
	प्रभृति भी अनिरूप्य हैं—	१९२
६६ ,,	अवयव से अवयवी भिन्न	१९५
६७ ,,	समस्त वस्तु परमात्मा हैं, मन एवं वाणी	
	के द्वारा प्रकाशित परमात्मा से पृथक् नहीं है	१९७
६८ ,,	माया शक्ति कार्य, माया, एवं जीव से	

अनुच्छेद	विषय	पृष्ठाङ्क
	परमात्मा पृथक् हैं—	१९७
६९ ,,	परमात्म वहिर्मुख व्यक्तिगण असदंश को उन्मुख व्यक्तिगण सदंश को देखते हैं	१९९
७० ,,	परिणाम वाद का स्थापन, विवर्त्त वाद का परिहार	२०२
७१ ,,	शुक्ति में रजत के समान जगत् असत् नहीं है	२११
७२ ,,	प्राकृतलय भी सत् कार्य वाद में अन्तर्भुक्त है	२२३
७३ ,,	एक वस्तु का अंश भेद से आश्रयाश्रयित्व	२२८
७४ ,,	वहिरङ्गा शक्ति वर्णन के पश्चात् परमात्म स्वरूप का वर्णन	२२९
७५ ,,	परमात्मा से समस्त जगत् उत्पन्न होने से परमात्मा के सहित सम्पर्क शून्यता	२२९
७६ ,,	वस्त्र दृष्टान्त के द्वारा कारणास्तित्व प्रतिपादन	२३०
७७ ,,	कार्यास्तित्व का प्रतिपादन—	२३०
७८ ,,	कारणत्व का परिष्कार	२३१
७९ ,,	जगत् परमात्मा के स्वाभाविक शक्तिमय है	२३१
८० ,,	सोपाधित्व निरूपाधित्व का विचार	२३२
८१ ,,	आत्मप्रकाशाधीन जगत् का प्रकाश-हिरण्यवत्	२३२
८२ ,,	स्वाभाविक शक्ति-शक्तिमय सम्बन्ध, जीवज्ञान के द्वारा अनाशित्व—	२३४
८३ ,,	अध्यास परित्याग, ब्रह्मजिज्ञासे से ही सम्भव है	२३५
८४ ,,	अन्तिम सिद्धान्त का प्रकटन	२३६
८५ ,,	परमात्मा निरूपण प्रसङ्ग में वरिष्ठव्यक्ति का मत	२३७
८६ ,,	चिन्मात्र भगवान् में तुच्छ गुण क्रिया की असम्भवता का विचार	२४२
८७ ,,	सदृष्टान्त प्रतिपादन—	२४२
८८ ,,	जीव का माया मोहितत्व का वर्णन	२४३
८९ ,,	विरोधान्तर का परिहार	२४४
९० ,,	केवल चिन्मात्र नहीं है, किन्तु ज्ञानवान् है	२४५

अनुच्छेद	विषय	पृष्ठाङ्क
९१ ,,	भगवान् की माया शक्ति के द्वारा ही जीवत्व की प्रतीति—	२५३
९२ ,,	जीव शुद्ध होने पर भी औपाधिक धर्म प्राप्ति होती है—	२५३
९३ ,,	पुनर्बार स्थिर सिद्धान्त स्थापन	२५५
९४ ,,	पक्षपातित्व दोष निरास	२७५
९५ ,,	,,	
९६ ,,	भक्त पक्षपातित्व स्थापन	२७६
९७ ,,	परम पावन कथा-कीर्त्तन	२७६
९८ ,,	उक्तार्थ प्रकाशक प्रश्नोत्तर	२७६
९९ ,,	विशुद्ध सत्त्वाख्य गुण का विचार	२७८
१०० ,,	सत्त्वादि उल्लास से लीला	२७९
१०१ ,,	भगवान् का तेजः, असुरों में निहित होने से भी परिलक्षित नहीं होता है—	२८२
१०२ ,,	भक्तमनोविनोदन द्वारा निज लीलादि व्यक्ति हेतु युद्धादि कार्य अनुष्ठित होता है—	२८३
१०३ ,,	उक्त रीति से सृष्ट्यादि पालन लीला	२८६
१०४ ,,	प्रह्लाद जय-विजय दृष्टान्त के द्वारा भक्त विनोदन एवं सृष्टि पालन कार्य वर्णन	१८६
१०५ ,,	ईश्वर मेघवत् वैषम्य विहीन हैं	२८९
	उपक्रम उपसंहार का ऐक्य श्रीमद्भागवत में	२९१
	षड् विध लिङ्ग का प्रदर्शन	३२२
१०६ ,,	अभ्यास का प्रदर्शन	३३१
१०७ ,,	फल प्रदर्शन	३३३
१०८ ,,	अर्थवाद प्रदर्शन	३३४
१०९ ,,	उपपत्ति प्रदर्शन	३३४

मूल अनुच्छेद	संख्या	१०९
उद्धृत श्लोक	,,	३३०
लेख्य श्लोक	,,	२७५८





श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु

❋ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ❋

श्रील श्रीजीवगोस्वामि-प्रभुपाद-विरचिते

श्री भागवतसन्दर्भे

तृतीयः

श्री परमात्मसन्दर्भः

तौ सन्तोषयता सन्तौ श्रील-रूप-सनातनौ ।
दाक्षिणात्येन भट्टेन पुनरेतद्विविच्यते ॥१॥
तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं क्रान्त-व्युत्क्रान्त-खण्डितम् ।
पर्य्यालोच्याथ पर्य्यायं कृत्वा लिखति जीवकः ॥२॥

१। अथ परमात्मा विव्रियते। यद्यपि परमात्मत्वं वैकुण्ठेऽपि प्रभोरस्ति, तदपि च भगवत्ताङ्गं तत् स्यादित्थं जगद्गतं वाच्यम्। तत्र तं जगद्गत-जीव-निरूपणपूर्वकं निरूपयति द्वाभ्याम् (भा० ५।११।१२-१३)—

श्रीजीवगोस्वामि-प्रभुपाद-विरचिता

सर्वसम्वादिनी

श्रीपरमात्मसन्दर्भानुव्याख्या

तत्र जीव-प्रकरणे एकविंशति-वाक्यस्यानन्तरं (पाद्मोत्तरे ९०तमअ० श्रीजामातृमुनि-वाक्ये) "ज्ञानमात्रात्मको न च' इत्यस्य व्याख्यायां युक्तिश्च दर्शयते।—

अत्र निर्विशेषवादिन एवं मन्यन्ते।—देहादावात्म-शब्द-प्रत्ययौ न गौणौ; गौण्यादि हि सविशेषवस्तूप-

प्रणम्य सच्चिदानन्दं श्रीगौराङ्गं सुविग्रहम् ।
सन्दर्भेषु तृतीयश्च व्याख्याति हरिदासकः ॥

मथुरा मण्डल के सुप्रसिद्ध महानुभाव श्रीरूप-सनातन नामक श्रीचैतन्यदेव के अनुचरद्वय के सन्तोष विधान के निमित्त दाक्षिणात्य विप्रकुलोद्भूत श्रीगोपालभट्ट महोदय परमात्म सन्दर्भ नामक ग्रन्थ का प्रणयन किए थे। (१)

श्रीभट्टगोस्वामिपाद के द्वारा रचित ग्रन्थ को क्रान्त-व्युत्क्रान्त खण्डित देख कर पर्य्यालोचनपूर्वक क्रमबद्ध रूप से उसका ग्रन्थन 'जीवक' श्रीजीवगोस्वामी कर रहे हैं। (२)

(१) सम्बन्धाभिधेय प्रयोजन वर्णनात्मक श्रीमद्भागवत भाष्यभूत भागवत सन्दर्भ के मध्य में प्रथम द्वितीय-तत्त्व भगवत्सन्दर्भ वर्णन के पश्चात् "पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान्" रीति से परमात्मसन्दर्भ का वर्णन करते हैं। वस्तुतः भगवत्तत्त्व निरूपण के अनन्तर परमात्म तत्त्व का निरूपण प्रसङ्ग आता है। कारण परमात्म तत्त्व, भगवत्ता का ही एक तत्त्व है, अर्थात् निखिल ऐश्वर्य्यादि पूर्ण सविग्रह विभु तत्त्व ही तटस्थ शक्तिरूप नित्य जीवशक्ति को नियमन करने के निमित्त एकपाद विभूति में लीला करते हैं। जीव—जीवशक्तिविशिष्ट परमात्मा का ही अंश है। परिकर विशिष्ट से ही विशेष लीला होती है। कतिपय जीव निज स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके ईश विमुख होता है, उसको स्वभक्ति प्रदान हेतु शिक्षाक्षेत्र रूपमें निज सेविका वहिरङ्गाशक्ति के द्वारा कर्मफल भोगायतन रूपमें विश्व सृजन करते हैं। अतः परमात्मा का

(१) "क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूती,-र्जीवस्य माया-रचितस्य नित्याः ।
आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च, शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्त्तुः ॥३॥

सर्वसम्वादिनी

जीव्यम्; यथा-'सिंहो देवदत्तः' इत्यत्र क्रौर्य्य-शौर्य्यादि-विशेषवान् सिंहः । तस्माद्विशेष-गन्धरहितस्यात्मनो भ्रान्त्यैव तच्छब्द-प्रत्ययाविति ।

तदेवं सति वयं ब्रूमः ।—निर्विकल्प-प्रत्यये भ्रमाभावाद्भ्रान्तिरपि सविशेषत्वे प्रवर्त्तते; यथा—

अनुवाद—

विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है ।

यद्यपि परमात्मत्व वैकुण्ठ में भीहै । आप प्रभु हैं, अर्थात् समस्त शक्ति को जो नियमन करते हैं, उनको परमात्मा कहते हैं । इस कार्य्य के कारण ही आपको ईश्वर प्रभु नाम से शास्त्र कहते हैं । "कर्त्तुं अकर्त्तुं अन्यथाकर्त्तुं समर्थः" को प्रभु कहते हैं । निखिल विरुद्धाविरुद्ध शक्तिमत्तत्त्व ही भगवान् हैं । आप स्वराट् हैं, समस्त शक्तितत्त्व आपके अधीन हैं । एक सुराजा के समान आप प्रमस्त शक्तितत्त्व को नियमन करके विराजित हैं । इस प्रकार लीलाहेतु आपका स्थानद्वय हैं । एक – त्रिपाद विभूति, द्वितीय—एकपाद विभूति, त्रिपाद विभूति प्रभृति माया के परपार में अवस्थित है । वह सच्चिदानन्दमय है, निज सन्धिनी शक्ति के द्वारा आविर्भावित है, वहाँ ऐश्वर्य्य-माधुर्य्य परिपूरित निखिल परकृत संवृत निखिल भगवत् स्वरूप विराजित हैं । वहाँ का नियमन आप ही करते हैं, कारण अद्वय तत्त्व एक है, अपर समुदय ही उनकी शक्तितत्त्व हैं । त्रिपाद विभूति का नियमन कार्य्य रूप परमात्म लीला को सर्वसमर्थ प्रभु निज अन्तरङ्ग शक्ति के द्वारा करते हैं । वहाँ पर आनन्दचिन्मयरस नामक प्रेमरस अर्थात् सुगभीर ममत्व के द्वारा समस्त परिकरवर्ग को नियमित करते हैं । अतः परमात्म शब्द का प्रयोग त्रिपाद विभूति में भी होता है । आप परम प्रिय हैं । एकपाद विभूति की शिक्षा उससे भिन्न है । यहाँ कतिपय तटस्था शक्तिरूप जीव स्वतः स्वेच्छाचारी होकर परमप्रिय श्रीप्रभु को भूल जाता है । उनके उपदेश को न सुनकर, उनके परिकरों के आदर्श से निज को मुक्त कर निज स्वतन्त्रताचरण का प्रश्रय देता है । ईश्वर रचित एवं परिचालित विश्व एवं शरीरमें अवस्थित होकर अपने को सुखी बनाने के लिए प्रयत्न करता है । पितृकोटि-वत्सल मातृकोटि-वत्सल श्रीप्रभु निज अंशरूप जीव को सत्शिक्षा प्रदान के द्वारा निज श्रीचरण सान्निध्य को प्राप्त कराने का सर्वथा अशेषविशेष से प्रयत्न करते रहते हैं । अतः एकपाद त्रिभूतिगत लीलापरायण परमात्मा का वर्णन करना आवश्यक है । यह परमात्मा, निखिल चिदचिच्छक्तिविशिष्ट समग्र ऐश्वर्य्य, वीर्य्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्ययुक्त निखिल नियमन शक्तिविशिष्ट भगवान् का ही अङ्ग है । अर्थात् निखिल नियमन कर्त्तृत्वरूप भगवत्ताका एक अंशात्मक कार्य्य है, यह कार्य्य—जगत्गत ही है । जीव नित्य होकर भगवत् वहिर्मुख होने से वह स्वकृत कर्मफल का भोग स्वयं करता है, उसके निमित्त भगवान् को जीव के बुद्धीन्द्रियमनः प्राणादीन्द्रिय एवं शरीरादि का निर्माण निज नित्य जड़ाशक्ति के द्वारा करना पड़ता है । यह जगद्गत परमात्मा लीला है ।

तन्मध्य में "भगवत्ताङ्ग एवं जगद्गत" शब्द प्रयोग होने से उभय शब्द का विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है । तज्जन्य परमावश्यक 'तत्त्व' जीवतत्त्व का निरूपण पूर्वक ही परमात्म तत्त्व का निरूपण करेंगे । अर्थात् जीवतत्त्व का निरूपण होने से ही परमतत्त्व रूप भगवत्त्वाङ्गरूप परमात्मतत्त्व का निरूपण सरल रूपसे होगा ।

उक्त उभय तत्त्व का निरूपण 'भा० ५।११।१२-१३' में सुस्पष्ट रूपमें है,—

"रहुगण को जड़भरत कहे थे—हे राजन् ! जीव स्वरूपतः शुद्ध होने पर भी मायारहित द्रव्य, स्वभाव, संस्कार, अदृष्ट, काल पदार्थ के द्वारा शत सहस्र रूप से सम्पादित विषयसमूह को आविष्ट होकर ग्रहण करता है । यह सब प्रवाह रूप से नित्य हैं । परमेश्वर के द्वारा विहित होने से जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः, सत्यः स्वयंज्योतिरजः परेशः ।
नारायणो भगवान् वासुदेवः, स्वमाययात्मन्यवधीयमानः" ॥४॥

यः शुद्धोऽपि मायातः परोऽपि मायारचितस्य वक्ष्यमाणस्य सर्वक्षेत्रस्य मायया कल्पितस्य मनसोऽन्तःकरणस्यैताः प्रसिद्धा विभूतीर्वृत्तीर्विचष्टे विशेषेण, पश्यंस्तत्राविष्टो भवति, स खल्वसौ जीवनामा स्वशरीरद्वयलक्षणक्षेत्रस्य ज्ञातृत्वात् क्षेत्रज्ञ उच्यत इत्यर्थः; तदुक्तम् भा० १।७।५)—"यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते" ॥५॥ इति ।

तस्य मनसः, कीदृशतया मायारचितस्य ? तत्राह—जीवस्य जीवोपाधितया जीव-तादात्म्येन रचितस्य; ततश्च तत्तयोपचर्य्यमाणस्येत्यर्थः । ततश्च कीदृशस्य ? अविशुद्धं भगवद्बहिर्मुखं

सर्व्वसम्वादिनी

शौक्लादि-समान-विशेषिणि शुक्ति-रजतादौ, नीलं नभ इत्यादौ च सूर्य्याद्यंशे नभसश्च दृष्टचाद्यवकाश-प्रद-सूक्ष्म-वितत-समानदेश स्थिताकारत्व लक्षणेनैकेन विशेषेण जाताद्भ्रमांशादेव नभ इति प्रतीतिर्जायते;

अनुवाद—

विषयसमूह आविर्भूत होते हैं। सुषुप्ति अवस्था में तिरोहित होकर रहते हैं। क्षेत्रज्ञ जीवात्मा साक्षी है, तज्जन्य समस्त अवस्था में ही वह विषयसमूह को मन के द्वारा देखता है। (३)

क्षेत्रज्ञ परमात्मा एवं जीवात्मा भेद से दो प्रकार हैं, जीव का स्वरूप प्रतिपादन पूर्व श्लोक में हुआ है। सम्प्रति तत् पद प्रतिपाद्य ईश्वर का वर्णन करता हूँ। ईश्वर, आत्मा, सर्वव्यापी, पुरुष—अर्थात् परिपूर्ण स्वरूप, पुराण, अर्थात् जीव का कारणभूत, साक्षात् अर्थात् अपरोक्ष, किन्तु स्वयं प्रकाश हैं। उनका जन्म नहीं हैं, एवं आप ब्रह्मादि का प्रभु हैं, आप नारायण हैं, अर्थात् जीवसमूह का आश्रय हैं, आप षड् विध ऐश्वर्य्यशाली भगवान् हैं। आप वासुदेव—सकल भूतों का आश्रय हैं, निज वहिरङ्गाशक्ति माया के द्वारा जीव नियन्ता रूपमें वर्त्तमान हैं। (४)

तटस्था शक्ति रूप जीव स्वरूपतः सच्चिदानन्दात्मक है, ईश्वर का शक्तिरूप अंश है, वहिरङ्गा शक्ति, विश्व नियमनकारिणी शक्ति ईश्वर की है। उस जड़ाशक्ति से जीव सर्वथा मुक्त है। किन्तु कतिपय जीव निज स्वैरिता के कारण माया रचित वक्ष्यमाण विषयसमूह में मदीयत्व सम्बन्ध स्थापन करता है। माया के द्वारा कल्पित मन रूप अन्तःकरण की वृत्तिसमूह को विशेष रूपसे देखकर उसमें आविष्ट होता है। वह जीव नाम से अभिहित होता है, वह स्थूल-सूक्ष्म शरीर रूप क्षेत्रद्वय का ज्ञाता है, अतः उसे क्षेत्रज्ञ कहा जाता है।

श्रीव्यास समाधि दृष्ट प्रकरण में भा० १।७।५ में उक्त है—"भक्तियोग के द्वारा मन निर्मल होने पर व्यासदेव ने पूर्ण पुरुष को देखा था। और निलीय स्थित माया को भी देखा था, जिस माया के प्रभाव से जीव सम्मोहित होकर स्वयं को त्रिगुणात्मक ही जानता है, एवं त्रिगुणात्मिका माया कर्त्तृक रचित विषयों में तादात्म्यापन्न हो जाता है। (५)

माया रचित मनः, किस प्रकार ? माया के द्वारा रचित मनः है। सत्त्व-रजः-तमः स्वरूपा माया है। उसको स्वीयत्वेन अङ्गीकार करता है। जीव—सप्तदशावयव विशिष्ट सूक्ष्म शरीर एवं पाञ्चभौतिक स्थूल शरीरोपाधि रूप से परिचित विषय को चित्कण रूप जीव जड़ में अपने को तादात्म्यापन्न कर लेता है। शरीरद्वय को उपचार से जीव कहते हैं।

वह मनः, सर्वज्ञ अविशुद्ध कर्त्ता है, अर्थात् निरन्तर भगवद्बहिर्मुख कर्म ही करता है। अर्थात् अनवरत

कर्म करोतीति तादृशस्य। कीदृशीर्विभूतीः? नित्या अनादित एवानुगताः। अत्र च कदा कीदृशीरित्यपेक्षायामाह— जाग्रत्स्वप्नयोराविर्भूताः सुषुप्तौ तिरोहिताश्चेति। यस्तु पुराणो जगत्कारणभूतः पुरुषः (भा० २।६।४२) "आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य" इत्यादिना द्वितीयादौ

सर्वसम्वादिनी

ततस्तदीय-नीलादि-प्रतिभासोऽपि नभस्येवारोप्यत इति सविशेषत्वोपजीविन्येव भ्रान्तिरिति तस्मान्न ज्ञानमात्रमात्मेति।

किञ्च, उपलब्धिर्ह्यनुभूतिः। (ब्र० सू० १।१।१– श्रीभाष्ये ५७श अनु०) "अनुभूतित्वञ्च नाम वर्त्तमान-

अनुवाद—

निज भोगलिप्सा पूर्त्ति हेतु कर्म करता है। उस मन के विभूतिसमूह किस प्रकार हैं? कहते हैं—संकल्प विकल्पात्मक वृत्तिसमूह नित्य हैं। अनादि काल से मन के आनुगत्य से ही चलते हैं। कब किस प्रकार अवस्था को विभूति प्राप्त करती है? जागरण, स्वप्न, सुषुप्ति बुद्धि की तीन वृत्ति हैं, उससे विलक्षण जीव है। जाग्रत एवं स्वप्न अवस्था में मन की वृत्ति समूह विषय ग्रहण के निमित्त सक्रिय होकर आविर्भुत होती हैं। किन्तु पुरीतति नाड़ी में प्रविष्ट होकर मनः जब इन्द्रियों से सम्पर्क विच्छिन्न कर लेता है, उस समय उसकी सुषुप्ति अवस्था होती है। उस समय वृत्तिसमूह तिरोहित होकर रहती हैं। गाढ़ तमः में आच्छन्न होने से विषयग्रहण सामर्थ्य नहीं रहती है। सुषुप्ति अवस्था का अपगम होने से पुनर्वार इन्द्रियगण निज निज विषय ग्रहण में उन्मुख होती हैं। स्वामिकृत टीका—"तासां वृत्तीनामवान्तरभेदैरानन्त्यमाह। द्रव्याणि,—विषयाः, स्वभावः—परिणामहेतुः, आशयः—संस्कारः, कर्म – अदृष्टम्, कालः—क्षोभकः, एतैः निमित्तभूतैः प्रथमं शतशः, ततः—सहस्रशः, ततः—कोटिशः स्युः। नतु मिथः स्युः। न च स्वतः, किन्तु क्षेत्रज्ञतः, परमेश्वरात्। तस्य च अनन्तशक्तित्वात् अनन्ताः स्युरित्यर्थः। यद्वा तासां मिथ्यात्वमनेनोच्यते। कोटिशोभवन्त्यस्ताः क्षेत्रज्ञत एव स्युः, तत् सत्तयैव सत्तां लभेरन्। नतु मिथः, न च स्वतः, इति। यद्वा, क्षेत्रज्ञो जीव स्तस्मान्न स्युः, तस्याविकारित्वात् न मिथः। इतरेतराश्रयापत्तेः, न च स्वतः, आत्माश्रयापत्तेः। अतो मिथ्याभूता एवेति।

वृत्तिसमूह अवान्तर भेद से अनन्त होती हैं। द्रव्यसमूह—विषय, परिणाम हेतु—स्वभाव, आशय—संस्कार, कर्म—अदृष्ट, काल—ईश शक्ति, क्षोभक ये सब निमित्त होकर प्रथम—शत प्रकार, अनन्तर—सहस्र प्रकार, बाद में– कोटि प्रकार होती हैं। परस्पर मिलित होकर प्रकार समूह नहीं होते हैं, एवं अपने से भी नहीं होते हैं। किन्तु सर्व क्षेत्रज्ञ रूप परमेश्वर से होते हैं। परमेश्वर की अनन्तशक्ति है। उनकी अनन्त शक्ति के कारण ही अनन्त प्रकार होते हैं। अथवा वृत्तिसमूह का मिथ्यात्व का प्रतिपादन इससे ही हुआ है। ये सब कोटि प्रकार के हैं, और क्षेत्रज्ञ से ही होते हैं। अर्थात् क्षेत्रज्ञ की सत्ता से ही सत्ता प्राप्त करते हैं। किन्तु परस्पर मिलित होकर अथवा स्वतः नहीं होते हैं।

अथवा क्षेत्रज्ञ शब्द से जीव का ग्रहण होता है, उससे नहीं होते हैं। जीव—अविकारी है, परस्पर मिलित होकर भी नहीं होते हैं, अन्योन्याश्रय दोष होगा। स्वतः भी नहीं होते हैं। ऐसा होने पर आत्माश्रय दोष होगा। अतएव ये सब ही मिथ्याभूत ही होगा।

परमात्मा का वर्णन करते हैं। जो पुराण है, अर्थात् सदा एकरूप हैं, जगत् के कारणस्वरूप पुरुष हैं। भा० २।६।४२—"आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य कालः स्वभावः सदसन्मनश्च।

द्रव्यविकारोगुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट्स्थास्नुचरिष्णु भूम्नः॥"

प्रकृति प्रवर्त्तक जो पुरुष हैं, वह ही परमब्रह्म भगवान् का आद्य अवतार हैं, अपर काल स्वभाव, कर्म कारण रूपा प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार तत्त्व, सत्त्वादि गुण, इन्द्रिय समूह, समष्टि शरीर स्वरूप विराट् देह, स्वराट् अर्थात् वैराज पुरुष, स्थावर-जङ्गम भी आप ही हैं।

प्रसिद्धः, साक्षादेव स्वयंज्योतिः स्वप्रकाशः, न तु जीववदन्यापेक्षया, अजो जन्मादिशून्यः, परेषां ब्रह्मादीनामपीशः, नारं जीवसमूहः स्वनियम्यत्वेनायनं यस्य सः, भगवान् ऐश्वर्य्याद्यंशवान्, भगवदंशत्वात्, वासुदेवः सर्वभूतानामाश्रयः, स्वमायया स्वस्वरूपशक्त्या आत्मनि स्वस्वरूपे अवधीयमानोऽवस्थाप्यमानः, कर्मकर्त्तृ प्रयोगः, मायायां मायिकेऽप्यन्तर्य्यामित्वेन प्रविष्टोऽपि

सर्वसम्वादिनी

दशायां स्व-सत्तयैव स्वाश्रयं प्रति प्रकाशमानत्वं वा भवतु, स्व-सत्तयैव स्व-विषय-साधनत्वं वा भवतु।" तत्रोभयथैव तन्मात्रवादिमतेऽपि शक्तिमत्त्वापातः। तथा (ब्र०सू० १।१।१ — श्रीभाष्ये ५६तम० अनु०) "विषय-प्रकाशनतयैवोपलब्धेरेव हि सम्विदः स्वयंप्रकाशता साधिता। सम्विदो विषय-प्रकाशनता-स्वभावविरहे

अनुवाद—

टीका—अवतारान् विस्तरेणाह—आद्य इति यावदध्याय समाप्ति। परस्य भूम्नः पुरुषः, प्रकृति प्रवर्त्तकः। यस्य सहस्रशीर्षेत्याद्युक्तो लीलाविग्रहः, स आद्योऽवतारः। वक्ष्यति हि—"भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदि देवः।" यथोक्तम्—

विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः। प्रथमं महतः स्रष्टृ द्वितीयन्त्वण्डसंस्थितम्॥
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते' इति।

यद्यपि सर्वेषामविशेषेणावतारत्वमुच्यते तथापि कालश्च स्वभावश्च सदसदिति कार्य्यकारणरूपाप्रकृतिश्च एताः शक्तयः। मन आदिनि कार्य्याणि, ब्रह्माद्यागुणावताराः। दक्षादयो विभूतय इति विवेक्तव्यम्। मनोमहत्तत्त्वम्। द्रव्यं—महाभूतानि, क्रमोऽत्र न विवक्षितः। विकारोऽहङ्कारः। गुणः—सत्त्वादिः, विराट् समष्टिशरीरम्। स्वराट्—वैराजः, स्थास्नु—स्थावरं, चरिष्णु, जङ्गमञ्च, व्यक्तिशरीरम्॥

विस्तारपूर्वक अवतार लीला का वर्णन करते हैं। ये सब अवतार—परमात्मा नाम से अभिहित होते हैं। एकपाद विभूति का नियमन करना ही इन सब का कार्य्य है। 'परस्य—भूम्नः' परम विभुतत्त्व का पुरुष—ब्रह्माण्डरूप पुरि में निवासशील, प्रकृति का प्रवर्त्तक सृष्टि कार्य्य के निमित्त प्रकृति का ईक्षण कर्त्ता। जिनका लीलाविग्रह "सहस्रशीर्षा" नाम से अभिहित हैं, वह ही आद्य—अवतार हैं। आगे भी कहेंगे—पञ्चभूतों के द्वारा ब्रह्माण्ड रचना करने के पश्चात् आदि देव नारायण अंश के द्वारा उसमें प्रविष्ट होकर नारायण नाम से अभिहित हुए' कहा भी है। 'श्रीविष्णु के तीन रूप हैं' तीनों को पुरुष नाम से कहते हैं। प्रथम पुरुष—महत् स्रष्टा कारणार्णवशायी, द्वितीय—गर्भोदकशायी, तृतीय—क्षीराब्धिशायी है। प्रथम—महत् स्रष्टा, द्वितीय—समष्टि अन्तर्य्यामी, तृतीय—व्यष्टि अन्तर्य्यामी है।

यद्यपि सब ही अविशेष रूप से अवतार हैं। तथापि जिनके ये सब विषय हैं, वह ही आद्य पुरुष हैं। काल, स्वभाव, कार्य्यकारण रूपा प्रकृति शक्ति उन आद्य पुरुष की हैं। मन प्रभृति कार्य्य हैं। ब्रह्मादि गुणावतार हैं। दक्षादि विभूति हैं, मनः—महत्तत्त्व, द्रव्य—महाभूत समूह, विकार—अहङ्कार, गुण—सत्त्वादि, विराट्—समष्टि शरीर, स्वराट्—वैराज्य, स्थास्नु—स्थावर, चरिष्णु—व्यष्टि शरीर। स्वरूप शक्ति के द्वारा महीयान् होकर भी प्राकृत वैभव में स्वेच्छा से अवतीर्ण होते हैं। आप साक्षात् ही स्वयं ज्योति हैं। अर्थात् सर्व्वातिशयिनी स्वरूपशक्ति में स्वप्रकाश हैं। अर्थात् जीव के समान अन्याधीन उनका प्रकाश नहीं है। अज जन्मादि षड् विकार शून्य हैं। "अस्ति, भाति, जायते, वर्द्धते, अपक्षीयते, नश्यति" षड् विकार रहित है। परेश—अर्थात् पर जो ब्रह्मादि हैं, उन सब के ईश्वर-स्वामी हैं। नार शब्द का अर्थ—जीवसमूह, उक्त जीवसमूह नियम्य अर्थात् नियमाधीन रूप में जिनके आश्रय में रहते हैं। वह नारायण हैं। भगवान् समग्र ऐश्वर्य्यादि शक्तिविशिष्ट हैं। कारण आप श्रीभगवान् के अंश हैं। वासुदेव शब्द का अर्थ—समस्त भूतों का आश्रय। स्वमायया—स्वरूपशक्ति के द्वारा, आत्मनि—निज स्वरूप में, अवधीयमान्—अवस्थाप्यमान। यहाँ कर्मकर्त्तृ प्रयोग है।

स्वरूपशक्त्या स्वरूपस्थ एव, न तु तत्संसक्त इत्यर्थः, वासुदेवत्वेन सर्वक्षेत्रज्ञातृत्वात् सोऽपरः, मायामोहितो जीवो मायारहितः शुद्धः क्षेत्रज्ञ आत्मा परमात्मेति। तदेवमपि मुख्यं क्षेत्रज्ञत्वं परमात्मन्येव ; तदुक्तम्(भा० ६।४।२५) "सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो, न वेद सर्वज्ञमनन्तमीड़े"

सर्वसम्वादिनी

सति स्वयंप्रकाशत्वासिद्धेरनुभवान्तराननुभाव्यत्वाच्च तुच्छतैव स्यात् ।'' स्वाप-मूर्च्छादिषु (भा० ६।१६।५५—भा०दी०-धृत-स्मृति-वाक्ये) 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्याद्यनुभवेन सशक्तित्वमेव साधयिष्यामः। (ब्र०सू० १।१।१—श्रीभाष्ये ६२तम, ६३तम० अनु०) "यदपि नास्या दृशेर्दृशिरूपाया दृश्यः कश्चिदपि धर्मोऽस्ति, दृश्यत्वादेव

अनुवाद—

माया में प्रविष्ट होने पर भी, अर्थात् अन्तर्य्यामिरूप में सर्वत्र प्रविष्ट होने से भी स्वयं स्वरूपशक्ति के द्वारा स्वरूपस्थ ही होते हैं। किन्तु जीववत् मायिक पदार्थ एवं माया में संसक्त नहीं होते हैं। वासुदेव होने के कारण आप सर्व क्षेत्रज्ञाता हैं। अतएव आप अपर हैं। मायामोहित जीव, एवं मायारहित शुद्ध जीव भेद से दो भेद हैं। क्षेत्रज्ञ—आत्मा एवं परमात्मा नाम से द्विविध हैं। मुख्य क्षेत्रज्ञत्व परमात्म में ही है। भा० ६।४।२५ में उक्त है—

"देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा नात्मान मन्यञ्च विदुः परं यत्।
सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो न वेद सर्वज्ञमनन्तमीड़े ॥"

अहो ! देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण, पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्र यह सब आत्मा को अर्थात् निज स्वरूप को, अन्य इन्द्रियवर्ग को एवं एतदुभय से श्रेष्ठ देवतावर्ग को जानने में अक्षम हैं। यद्यपि पुरुष अर्थात् जीव, उक्त तीन, एवं तीन के मूलीभूत गुण सकल को जानता है, तथापि वह उक्त रूप ज्ञाता होकर भी सर्वज्ञ भगवान् को जान नहीं सकता है। मैं उन भगवान् अनन्त देव का स्तव करता हूँ।

किञ्च, देह इति। अन्यं देवतावर्गं, परं पुमांसं च, देहश्च असवश्च प्राणाः, अक्षाणीन्द्रियाणि, मनवोऽन्तः करणानि, भूतानि च मात्राश्च तन्मात्राणि, आत्मानं स्व-स्वरूपमन्यं स्व-स्व-विषयवर्गम्, तयोपरं देवतावर्गं च न विदुः। पुमान् जीवस्तु सर्वमात्मानं स्व स्वरूपं तदन्यं प्रमातारं, तयोः परं देहाद्यर्थजातं तदधिष्ठातृ-देवतावर्गञ्च वेद ; तत्तज्ज्ञोऽप्यसौ यं सर्वज्ञं देहादि जीवान्ताशेषज्ञातारं न वेद, तमनन्तं—भा० १।१८।१९ महद्गुणत्वाद् यमनन्तमाहुः" इति प्रथमोक्तदिशा स्वरूपशक्तिभूतानन्तशक्तिमीड़े।

अतएव (बृ० ४।५।१५) "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति" इत्यारभ्य जीवस्येतर द्रष्टृत्व-मुक्त्वा "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवभूत्तत् केन कं पश्येत्" इत्यादिना तस्य परमात्मद्रष्टृत्वं निषिद्धच परमात्मनस्तु तत्तत् सर्वद्रष्टृत्वमप्यस्तीति (बृ० ४।५।१५) "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इत्यनेनाह ; अस्य जीवस्य तदधिष्ठानभूतस्य य आत्मा परमात्मा, स एव यत्र स्वस्मिन् स्वरूपे तच्छक्त्यादिकं सर्वमभूत् ? नतु वस्त्वन्तर प्रवेशेनेत्यर्थः।"

अयमर्थः—यत्र माया वैभवे द्वैतमिव भवति तन्मूलकत्वात्तदनन्यदपि मायाख्याचिन्त्यशक्ति हेतुकतया जड़मलिन-नश्वरत्वेन तद्विलक्षणतया सम्पादितं ततः स्वतन्त्रसत्ताकमिव मुहुर्जायत इत्यर्थः ॥ तत्तु तत्रेतर जीव इतरं पदार्थं पश्यति। तस्य करण दृश्ययोर्मिथो योग्यत्वादिति भावः। यत्र तु स्वरूपवैभवेऽस्य जीवस्य रश्मिस्थानीयस्य मण्डलस्थानीयो य आत्मा-परमात्मा, स एव स्वरूपशक्त्या सर्वमभूत्। अनादित एव भवन्नास्ते, नतु तत् प्रवेशेन। तत्तत्रेतरः स जीवः केनेतरेण करणभूतेन कं पदार्थं पश्येत् ? न केनापि कमपि पश्येदित्यर्थः। न हि रश्मयः स्वशक्त्या सूर्य्यमण्डलान्तर्गतवैभवं प्रकाशयेयु र्न चार्च्चिषो वह्निं निर्दहेयुरिति भावः। तदेवं सति यस्य खल्वेवमनन्तं स्वरूपवैभवम्, तं विज्ञातारं सर्वज्ञं परमात्मानं केनेतरेण करणेन विजानीयात् ? न केनापीत्यर्थः। तदेवं ज्ञानशक्तौ तत्र सिद्धायां क्रियेच्छाशक्तीच तत्र लक्ष्येते। इति क्रमसन्दर्भः" ६।४।२५।

इति ; तथा श्रीगीतोपनिषत्सु (१३।१-२)—

"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः ॥६॥
क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम" ॥७॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

तेषां न दृशि-धर्मत्वमिति तर्क्यते, तदपि स्वाभ्युपगतैः प्रमाणसिद्धैर्नित्यत्व-स्वयंप्रकाशत्वादि-धर्मैरनैकान्तकम्। "तेषामनित्यत्व-जड़त्वाद्यभावरूपतायामपि तथाभूतैरपि चैतन्यधर्मभूतैस्तैरनैकान्त्यमपरिहार्य्यम्।

अनुवाद—

अदृष्ट धामत्व का प्रदर्शन करते हैं। "न यस्य" दो श्लोक के द्वारा। और भी कहते हैं—अन्य देवता वर्ग को एवं परमपुरुष को देहस्थ जीव नहीं जानता है। देह-प्राण, इन्द्रियसमूह, मनः प्रभृति अन्तःकरण, स्थूल-सूक्ष्म भूतवर्ग, निज निज स्वरूप को एवं निज निज निर्दिष्ट विषय को नहीं जानते हैं। किन्तु उससे पृथक् जो देवतावर्ग हैं, उनको नहीं जानते हैं। पुमान् जीव चेतन होने के कारण निज को जो प्रमातारूप में है, उसको जानता है। देहादि विषय को एवं अधिष्ठात्री देवतावर्ग को भी जानता है। देहादि के मूलभूत सत्त्व-रजः-तमःगुण को जानता है। उक्त समस्त वस्तु का ज्ञाता होकर भी उन सर्वज्ञ को नहीं जानता है, जो देहादि जीव पर्य्यन्त समस्त को जानते हैं। वह भा० १।१८।१६ के अनुसार महत्त्व सूचक गुण सम्पन्नता के कारण—अनन्त नाम से अभिहित होते हैं। इससे प्रतिपन्न होता है कि आप स्वरूपशक्ति से महीयान् हैं। अतः आपकी स्तुति करता हूँ।

अतएव वृहदारण्यक ४।५।१५ में उक्त है—जब जीव अपने को पृथक् के समान अनुभव करता है, उस समय अपने से अपर को देखता है, इस प्रकार कथन से प्रतीत होता है, जीव में अपर को देखने की शक्ति है, आगे कहा है, जहाँ सर्वत्र आत्मबुद्धि होती है, वहाँ कौन किस को देखेगा। इसके द्वारा सूचित होता है कि जीव परमात्मा को देख नहीं पाता है, किन्तु परमात्मा समस्त को देखते हैं। एवं अपने को भी देखते हैं, वृ० ४।५।१५ में उक्त है,—जो सबके ज्ञाता हैं, उनको कौन जान सकता है। इससे प्रकाश होता है कि अधिष्ठान भूत जीव का जो आत्मा-परमात्मा हैं, वह ही निज स्वरूप में निज शक्ति से ही महीयान हैं, किन्तु वस्त्वन्तर प्रवेश के द्वारा नहीं। इसका अभिप्राय यह है,—जहाँ माया वैभव एकपाद विभूति है, शक्ति, परमात्मा के साथ अभिन्न होने से भी, शक्ति एवं शक्तिमान् अभिन्न होते हैं। किन्तु कार्य सम्पादि का वृत्ति को शक्ति कहते हैं, यह अभेद में भेद उपचार से प्रयोग होता है। मायाख्य अचिन्त्य शक्ति से ही जड़ मलिन नश्वर रूपसे त्रिपाद्विभूति का निर्म्माण है, जो परमात्मा से विलक्षण धर्म का है। यह स्वतन्त्र के समान प्रतिभात होता है। यह सृजन प्रवाह रूपसे नित्य होता रहता है। परमात्मा से भिन्न जीव—इतर पदार्थ को देखता है, कारण,—जीव के इन्द्रियादि करण एवं दृश्य पदार्थ की योग्यता ही दर्शन के निमित्त उपयुक्त हैं। यह तो रही वहिरङ्गा शक्ति की वार्त्ता, किन्तु जब अन्तरङ्गाशक्ति वैभव का प्रसङ्ग होता है, तब जीव रश्मि स्थानीय होता है, और आत्मा-परमात्मा मण्डल स्थानीय होते हैं। स्वरूप शक्ति से ही परमात्मा का सब कुछ प्रकाश है, अनादि से इस प्रकार होकर ही परमात्मा रहते हैं, किन्तु आगन्तुक रूपसे शक्ति का प्रवेश से नहीं। उस समय परमात्मा से भिन्न परमात्मा के तटस्थाशक्ति रूप जीव, किस भिन्न साधन से किस पदार्थ का दर्शन करेगा। किसी साधन के द्वारा किसी को नहीं देख सकता। कारण रश्मिसमूह निज शक्ति से सूर्य्यमण्डलान्तर्गत वैभवों को प्रकाशित करने में सक्षम नहीं हैं। नतो वह्नि की ज्वाला कभी वह्नि को दग्ध कर सकती है। अतः जिनके इस प्रकार अनन्त स्वरूपवैभव हैं, उन सर्वज्ञ परमात्मा को किस भिन्न साधन से कौन देख सकता है? किसी के द्वारा कोई भी नहीं देख सकता है। इस प्रकार परमात्मा में ज्ञानशक्ति सुसिद्ध होने से क्रिया एवं इच्छाशक्ति का भी सन्निवेश, परमात्मा में सुनिश्चित है।

अत्र खलु "क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि" इति सर्वेष्वपि क्षेत्रेषु माञ्च क्षेत्रज्ञं विद्धि, न तु जीवमिव स्व-स्व-क्षेत्र एवेत्येवार्थ इति ; न च जीवेशयोः सामानाधिकरण्येन निर्विशेष-चिद्वस्त्वेव ज्ञेयतया निर्दिशति, 'सर्वक्षेत्रेषु' इत्यस्य वैयर्थ्यापत्ते ; (गी० १३।१२) **"ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि" इत्यादिना,** (गी० १३।१३) **"सर्वतः पाणिपादन्तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्" इत्यादिना च**

सर्वसम्वादिनी

सम्विदि तु स्वरूपातिरेकेण जड़त्वादिप्रत्यनीकत्वमित्यभावरूपो भावरूपो वा धर्मो नाभ्युपेतश्चेत्, तत्तन्निषेधोक्त्या किमपि नोक्तं स्यात् । किञ्च, सम्वित् सिध्यति वा न वा ? सिध्यतीति चेत्, आयाता सधर्मतास्याः ;–नोचेत्तुच्छतापत्तिर्गगनकुसुमादिवत् । सिद्धिरेव सम्विदिति चेत्, कस्य कं प्रतीति वक्तव्यम् ।

श्रीगीतोपनिषद् १३।१-२ में उक्त है—"हे कौन्तेय ! इस शरीर का नाम क्षेत्र है, जो इसको जानते हैं उन आत्मा को तत्त्ववेत्तागण क्षेत्रज्ञ कहते हैं। (१) हे भारत ! क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञके विचार में तीन तत्त्व हैं। ईश्वर, जीव, एवं प्रकृति, जिस प्रकार प्रति शरीर में जीवात्मरूप एक क्षेत्रज्ञ है। तद्रूप मुझको ही समस्त जगत् का सर्वप्रधान क्षेत्रज्ञ रूप ईश्वर जानना, मेरी ऐशीशक्ति के द्वारा में ही परमात्म रूपमें सर्व क्षेत्रज्ञ हूँ। इस प्रकार क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ तत्त्व विचार पूर्वक जिनमें त्रितत्त्व का बोध होता है, उनका ज्ञान ही विज्ञान है। यह मेरा अभिमत है। (२)

गीतोक्त वचन से बोध होता है कि—"मुझ को क्षेत्रज्ञ भी जानना, समस्त क्षेत्र का भी मुझको क्षेत्रज्ञ जानना, किन्तु जीव के समान निज निज क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ न जानना।" अर्थात् जीव निज शरीर का ज्ञाता है, और मैं ईश्वर परमात्मा हूँ, व्यष्टि समष्टि समस्त जगत् का ज्ञाता हूँ। यहाँ इस प्रकार कथन नहीं हो सकता है कि, एकचैतन्य है, विशुद्ध सत्त्वावच्छिन्न ईश्वर है, एवं मलिन सत्त्वावच्छिन्न जीव है, विशुद्ध मलिन सत्त्वोपाधिका प्रमोष होने से एक चैतन्य मात्र ही अवशेष रहता है, इस दृष्टि से ही निर्विशेष चैतन्य को ही क्षेत्रज्ञ कहते हैं, एवं जीव स्वयं ब्रह्म है, आत्मानुसन्धान करने के निमित्त यह उपदेश है।।" इस प्रकार कहने से 'सर्वक्षेत्रेषु"पद व्यर्थ होगा। जीव को प्रति क्षेत्रका क्षेत्रज्ञ कहा गया है, एवं परमात्मा को निखिल क्षेत्रका क्षेत्रज्ञ कहा गया है, इससे उभय तत्त्व का भेद सुस्पष्ट होता है। नियम्य एवं नियामक भिन्न है। इस प्रकार में निर्विशेष चैतन्य का प्रसङ्ग ही नहीं आता है, सर्वावस्था में सर्वशक्तिमत्तत्त्व ही अद्वय तत्त्व है, एक तत्त्व का नाम ही ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् हैं, उक्त नामत्रयके साथ जीवशब्द का सामानाधिकरण्य से पाठ नहीं हुआ है, "यया सम्मोहित जीवः" इस से जीव का निर्देश पृथक् हुआ है। गीताके १३।१२-१३ में सविशेष तत्त्व का ही उल्लेख है।

"ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते । अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।।१२।।
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति" ।।१३।।

हे अर्ज्जुन ! मैंने तुम्हें क्षेत्रतत्त्व, क्षेत्रज्ञतत्त्व को कहा, अर्थात् 'क्षेत्र' शब्द से शरीर का बोध होता है, उसका स्वरूप, विकार, विकार नाशक उपाय को भी कहा, सम्प्रति उस विज्ञान द्वारा जो तत्त्व ज्ञेय है, उस को कहता हूँ। वह ज्ञेयवस्तु—अनादि एवं मत्पर है, अर्थात् मेरा आश्रित तत्त्व, सत् एवं असत् एतदुभयातीत ब्रह्म शब्द वाच्य जीव है। उसका तत्त्व—स्वरूप अवगत होने से मद्भक्तिरूप अमृत लाभ होता है।

सूर्य्य किरण समूह का प्रकाश जिस प्रकार सूर्य्य को आश्रय करके ही होता है, उस प्रकार मेरा प्रभाव रूप परमात्मतत्त्व सर्वव्यापी है। ब्रह्मादि पिपीलिका पर्य्यन्त अनन्त जीवों का अवस्थानस्वरूप उन परमात्म तत्त्व—अनन्त जीवगणों के अनन्त पाणिपाद, अनन्त चक्षु-शिर-मुख इत्यादि संयुक्त रूपमें सबको व्याप्त करके विराजमान हैं। (१३)

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृत भाष्य—"इदं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यं कैर्विस्तरेणोक्तं यत् समासेन ब्रूष इत्यपेक्षायामाह,—ऋषिभिः पराशरादिभिरेतत् क्षेत्रादि स्वरूपं बहुधा गीतम्—"अहं त्वञ्च तथान्ये च भूतैरुह्याम पार्थिव। गुणप्रवाहपतितो भूतवर्गोऽपि यात्ययम् ॥ कर्मवश्या गुणाह्येते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते। अविद्या सञ्चितं कर्म तच्चाशेषेषु जन्तुषु ॥ आत्माशुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः।" इत्यादिभिः। तथा छन्दोभिर्वेदैर्विविधैः सर्वैं र्बहुधा तद्गीतं यजुः शाखायां—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादिना "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" इत्यन्तेनान्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयानन्दमयाः पञ्चपुरुषाः, पठितास्तेष्वन्नमयादि त्रयं जड़े क्षेत्रस्वरूपं, ततो भिन्नो विज्ञानमयो जीवस्तस्य भोक्तेति जीवक्षेत्रज्ञस्वरूपं, तस्माच्च भिन्नः सर्वान्तर आनन्दमय इतीश्वरक्षेत्रज्ञस्वरूपमुक्तम्। एवं वेदान्तरेषु मृग्यम्। ब्रह्मसूत्ररूपैः पदैर्वाक्यैश्च तद् याथात्म्यं गीतम्—तेषु "न वियदश्रुतेः" इत्यादिना जीवस्वरूपं, "परात्तु तच्छ्रुतेः" इत्यादिनेश्वरस्वरूपम्। (१२)

"तत् क्षेत्रं यच्च' इत्याद्यर्द्धकेन वक्तुं प्रतिज्ञातं क्षेत्रस्वरूपमाह,—महाभूतानीति द्वाभ्याम्। महाभूतानि पञ्चखादीन्यहङ्कारस्तद्धेतु स्तामसो भूतादि संज्ञो बुद्धिस्तद्धेतुर्ज्ञानप्रधानो महानव्यक्तं, तद्धेतु त्रिगुणावस्थं प्रधानमिन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि पञ्चवागादीनि च पञ्चेति दशवाह्यानि, राजसाहङ्कारकार्य्याण्येकं सात्त्विकाहङ्कारकार्य्यमन्तरिन्द्रियं मनः" इत्येकादशेन्द्रियातीन्द्रियगोचराः पञ्चेति भूतादि-खाद्यन्तरालिकाः सूक्ष्माः शब्दादि तन्मात्राः खादि विशेषगुणतया व्यक्ताः सन्तः स्थूलाः श्रोत्रादि पञ्चकग्राह्या विषया इत्यर्थः ॥ एवं चतुर्विंशति तत्त्वात्मकं क्षेत्रं ज्ञेयम्। इच्छादय श्चत्वारः प्रसिद्धाः सङ्कल्पादीनामुपलक्षणमेतत्, एते मनोधर्माः, "कामसंकल्पोविचिकित्सा श्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मनएव" इति श्रुतेः।

यद्यपि आत्मधर्मा इच्छादयो—"य आत्मा" इत्यादौ "सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" इति श्रवणात्, "पठेद् य इच्छेत् पुरुषः" इति सहस्रनामस्तोत्रात्, "पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते" इति वक्ष्यमाणाच्च, तथापि मनोद्वाराभिव्यक्तेर्मनोधर्मत्वमतः क्षेत्रान्तःपातः संघातो भूतपरिणामो देहः, स च चेतनाधृतिर्भोगाय मोक्षाय च यतमानस्य चेतनस्य जीवस्याधारतयोत्पन्न इत्यर्थः। अत्र प्रधानादि द्रव्याणि क्षेत्रारम्भकाणि" इति, यदित्यस्योत्तरमुक्तम्; "तत् क्षेत्रम् सविकारं जन्मादि षड़् विकारोपेतमुदाहृतमुक्तम्।" (१३)

क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ का यथार्थ विवरण संक्षेप से सुनो, इस कथन प्रसङ्ग में कहते हैं—ऋषिगण पराशर प्रभृतियों ने क्षेत्रादि का स्वरूप अनेक प्रकारों से कहा है। मैं तुम तथा अन्य सब अपार्थिव होने से भी पार्थिव गुणों से युक्त होकर गुणप्रवाह को प्राप्त करते हैं। ये सब गुण कर्मवश्य हैं, सत्त्वादि गुण भी कर्मवश्य हैं, अशेष प्राणियों में अविद्या सञ्चित कर्म होता है। आत्मा शुद्ध, अक्षर, शान्त, निर्गुण, प्रकृत्यतीत है। इत्यादि के द्वारा कहा है। वेद वचन के द्वारा भी कथित है, यजुः शाखा में उक्त है—"आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ है, ब्रह्मपुच्छ प्रतिष्ठा, अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमयानन्दमय रूप पञ्च कोष पुरुष का वर्णित है। उसमें से तीन जड़ क्षेत्रस्वरूप हैं, उससे भिन्न विज्ञानमय जीव उसका भोक्ता है, यह जीव क्षेत्रज्ञ का स्वरूप है, उससे भिन्न, सर्वान्तर आनन्दमय ईश्वर क्षेत्रज्ञ स्वरूप है, इस प्रकार वेदान्तर में भी वर्णित है। ब्रह्मसूत्र में क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का वर्णन है,—"न वियदश्रुतेः" इससे क्षेत्रस्वरूप, "नात्माश्रुतेः" इससे जीव स्वरूप, "परात्तु तच्छ्रुतेः" इससे ईश्वरस्वरूप का कथन हुआ है। (१२)

"तत् क्षेत्रं यच्च" अर्द्ध श्लोक से जिस क्षेत्रस्वरूप को कहना चाहते थे उसको कहते हैं—महाभूतादि पञ्च, आकाशादि अहङ्कार का कारण तमः है। भूतादि संज्ञा के प्रति कारण बुद्धि है, ज्ञान प्रधान, महान् है। उसका कारण—अव्यक्त है, उसका कारण—त्रिगुणावस्थ प्रधान है। श्रोत्रादि इन्द्रिय पञ्च वागादि पञ्चदश वाह्येन्द्रिय है, ये राजसाहङ्कार का कार्य्य है। एक सात्त्विक अहङ्कार का कार्य्य अन्तःकरण मन है। इसके विषय तन्मात्रा एवं स्थूल भूत हैं। इस प्रकार चतुर्विंशति तत्त्वात्मक क्षेत्र है। इच्छादि चार हैं। इससे संङ्कल्पादि को जानना होगा। ये सब मनोधर्म हैं—काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री, धी, भी, इसको मन कहा जाता है, यह श्रुति है। इच्छादि को आत्मधर्म कहा गया है,

सविशेषस्यैव निर्द्देक्ष्यमाणत्वात्; (गी० १३।७) "अमानित्वम्" इत्यादिना ज्ञानस्य च तथोपदेक्ष्यमाणत्वात्। किञ्च, 'क्षेत्रज्ञञ्चापि' इत्यत्र (छा० ६।८।७) 'तत्त्वमसि' इतिवत् सामानाधि-

सर्वसम्वादिनी

यदि न कस्यचित् कञ्चित् प्रति सा, तर्हि न सिद्धिः; सिद्धिर्हि पुत्रत्वमिव कस्यचित् कञ्चित् प्रति भवति।" **आत्मन इति चेत्, कोऽयमात्मा? ननु सम्विदेवेत्युक्तमिति चेत्, सम्वित्-सिद्धयोर्भेदावगमात् सा सम्वित्**

—"य आत्मा" "सत्यकामः सत्य संकल्पः" "पठेत् य इच्छेत् पुरुषः" सहस्रनाम स्तोत्र में लिखित है। "पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते" आगे कहेंगे। तथापि मनः के द्वारा अभिव्यक्त होने से ही उसे मनोधर्म कहा गया है। अतः क्षेत्रान्तःपातः संघात भूत परिणाम देह है। वह चेतना धृति भोग मोक्ष के निमित्त प्रयत्न परायण जीव का आधार रूपसे उत्पन्न हुआ है। यहाँ प्रधान द्रव्यसमूह से क्षेत्र का आरम्भ होता है। श्रोत्रादि इन्द्रिय श्रोत्राश्रित हैं, इच्छादि क्षेत्र कार्य्य हैं। विकारी—चेतना धृति है, यह संघात से होता है। यह कथन क्षेत्र सविकार—जन्मादि षड् विकार युक्त है।

परमात्म वस्तु का उपदेश देते हैं, सर्वतः पाणीति पाद शब्द से, वह परमात्मा है। सर्वतः पाणिपाद शब्द का अर्थ सुस्पष्ट है, अर्थात् जो व्यापक रूपमें सर्वत्र हैं। और वह परमात्मा शक्तियुक्त है। निर्गुण नहीं हैं, शब्द के द्वारा उनका वर्णन नित्य गुणादियुक्त रूप से हुआ है। गी० १३।७-११—

"अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। आचार्य्योपासनंशौचं स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्य योगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥"

अमानित्व, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षान्ति, सरलता, आचार्य्योपासना, अर्थात् गुरुसेवा, शौच, स्थैर्य्य, आत्मनिग्रह, इन्द्रिय विषय में वैराग्य, अहङ्कार शून्यता, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख प्रभृति में दोष दर्शन, असक्ति अर्थात् पुत्रादि में आसक्तिशून्यता, पुत्रादि के सुख-दुःख में औदासीन्य, सर्वदा समचित्तत्व, मुझ-श्रीकृष्ण में अनन्या अव्यभिचारिणी भक्ति, विविक्त स्थान में अवस्थिति, दुर्जनाकीर्ण स्थान में अप्रीति, अध्यात्म ज्ञान में नित्यत्व बुद्धि, तत्त्वज्ञान के उपयोगि मोक्षानुसन्धान, इस विंशति प्रकार ज्ञान को अनभिज्ञ व्यक्तिगण—'क्षेत्रविकार' शरीरधर्म मानते हैं। वस्तुतः ये सब प्रत्यक् ज्ञानस्वरूप हैं, इसके अवलम्बन से विशुद्ध तत्त्वज्ञान—परमात्म विषयक ज्ञान लाभ होता है। वे सब क्षेत्र 'शरीर' का विकार रूप नहीं है। किन्तु "क्षेत्र विकार नाशक महौषधरूप हैं, अर्थात् शरीर में अहं बुद्धि का विनाशक है। उस विंशति प्रकार के मध्य में मुझ श्रीकृष्ण में 'अनन्या अव्यभिचारिणी भक्ति' ही अवलम्बनीया है। अपर ऊनविंशति प्रकार के आचरण से भक्ति का अवान्तर फलस्वरूप क्षेत्ररूप शरीर की शुद्धता होती है, अनन्तर जीव का अशुद्ध देह विनष्ट होकर नित्यसिद्ध क्षेत्र का उदय होता है। भक्तिदेवी उक्त ज्ञानरूप 'ऊनविंशति' सिंहासन में अधिष्ठाता होती है, अतः उस 'ज्ञान' अर्थात् 'सविज्ञान ज्ञान' जानना, इसको छोड़कर अन्य समस्त ही 'अज्ञान' है।

और भी—"क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धिसर्वक्षेत्रेषु भारत। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ (गी० १३-२)

क्षेत्र—शरीर, एवं क्षेत्रज्ञ—उसका ज्ञाता, इस विचार में तत्त्वत्रय की उपलब्धि होती है। ईश्वर, जीव एवं जड़ा प्रकृति, जिस प्रकार एक-एक शरीर में जीवात्मारूप एक-एक क्षेत्रज्ञ हैं। तद्रूप मुझको ही समस्त जगत् का प्रधान क्षेत्रज्ञ रूप ईश्वर जानना। मेरी निज ऐशी शक्ति के द्वारा मैं ही परमात्म रूपमें सर्व क्षेत्रज्ञ हूँ। इस प्रकार क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ तत्त्व विचारपूर्वक जिसका त्रितत्त्व बोध हुआ है, उसका ज्ञान ही 'विज्ञान' पदवाच्य है। (२)

करण्येन तन्निर्विशेष-ज्ञाने विवक्षिते 'क्षेत्रज्ञेश्वरयोर्ज्ञानम्' इत्येवानूद्येत, न तु "क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानम्" इति। किन्तु क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोरित्यस्यायमर्थः—द्विविधयोरपि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोर्यज्ज्ञानं तन्ममैव ज्ञानं मतम्,(ब्र०सू० १।३।२०) 'अन्यार्थश्च परामर्शः' इति न्यायेन मज्ज्ञानैक-तात्पर्य्यकमित्यर्थः,—ज्ञेयस्यैकत्वेनैव निर्दिष्टत्वाद्योग्यत्वाच्च ; न च निरीश्वरसांख्यवत् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञमात्रविभागादत्र ज्ञानं मतम्, 'माम्' इत्यनेनेश्वरस्यापेक्षितत्वात् ; न च विवर्त्तवादवदीश्वरस्यापि भ्रममात्रप्रतीतपुरुषत्वम्, तद्वचनलक्षणसवेद-गीतादिशास्त्राणामप्रामाण्यात् बौद्धवादापत्तेः,

सर्वसम्वादिनी

तदीया शक्तिरेवेत्यवसीयते, न तु स्वरूपमिति। तदेवमायाता ज्ञानमात्रस्वरूपेऽपि स्वभावसिद्धा ज्ञातृत्व-नित्यत्वादिधर्मवत्ता। (ब्र०सू० ३।२।५) "पराभिध्यानात्" इत्येतत् सूत्रं शङ्कर-मतेऽपि तस्य शक्तिमत्त्वं साधयति। तत् पुनरीश्वर-समानधर्मत्वादिकमग्रे लेख्यम्।

यहाँ पर छान्दोग्य ६।८।७ के 'तत्त्वमसि' "तुम वह ही हो" केवल सर्वज्ञत्वविशिष्ट चैतन्य अल्पज्ञत्वविशिष्ट चैतन्यरूप उपाधिगत भेद है, सर्वज्ञत्व स्वल्पज्ञत्व उपाधि परित्याग से एक चैतन्य ही हो जाता है, इस प्रकार सामानाधिकरण के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म को कहने का तात्पर्य्य यदि यहाँ पर होता तो, 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं' न कह कर 'क्षेत्रज्ञेश्वरयोर्ज्ञानम्' ही कहते। किन्तु "क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानम्" कहा है। इससे क्षेत्रज्ञ शब्द से स्वाभाविक शक्तिमान् परमात्मा का बोध होता है, और वह जीवात्मा से भिन्न धर्माक्रान्त नियन्ता है। किन्तु "क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानम्" इस का अर्थ यह है—'क्षेत्रक्षेत्रज्ञ' एतदुभय का जो ज्ञान है, वह ज्ञान मेरा ही है। एक अद्वय ज्ञानतत्त्व वस्तु है। वह सर्वावस्था में निज शक्ति से महीयान् है। उनका अंश जीव है, उनकी शक्ति माया है, उनका कार्य्य जगत् है, सब ही एक वस्तु है। अतः शरीर एवं व्यष्टि समष्टि क्षेत्रज्ञ को जानने से शक्ति-शक्तिमत्तत्त्व के ज्ञान के द्वारा एक अद्वय ज्ञानतत्त्व रूप श्रीकृष्ण का परिज्ञान होता है।

ब्रह्म सू० १।३।२० "अन्यार्थश्च परामर्शः" इस न्याय से परमात्मविषयक ज्ञान प्राप्त कराना ही उक्त कथन का तात्पर्य्य है। अतएव ज्ञेय पदार्थ को एक वचन से ही निर्देश किया गया है। और वह योग्य ही है। वेद्य वस्तु एक ही है, जिनका अपर नाम—वास्तव तथा अद्वय ज्ञानतत्त्व ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्, श्रीकृष्ण है। अन्यार्थ परामर्श सूत्र का प्रकरणगत अर्थ—"परमात्म विचार प्रसङ्ग के बीच में 'जीव प्रस्ताव' आने का कारण क्या है? इसके उत्तर में कहते हैं—"तत्र जीव परामर्शः परमात्मज्ञानार्थ एव। यं प्राप्य जीव स्तदष्टकवतास्वरूपेण अभिनिष्पद्यते स एष परमात्मेति।" इस स्थल में जीव का उल्लेख, परमात्म ज्ञान के निमित्त हुआ है। जिनको प्राप्त कर जीव, गुणाष्टकयुक्त स्वरूप में अवस्थान करता है, वह ही परमात्मा हैं।

यहाँ पर निरीश्वर सांख्य के समान 'तत्त्व संख्यान को सांख्य कहते हैं', यह सांख्य तत्त्वोपदेश दो प्रकार से हुआ है। कर्दमपुत्र कपिल—सेश्वरवादी हैं, अन्य कपिल—निरीश्वरवादी हैं। निरीश्वर सांख्य मत में प्रकृति-पुरुष का ही विवेचन है। उस प्रकार ज्ञान प्रदान में यदि श्रीकृष्णचन्द्र का उद्देश होता तो, "यत्तज्ज्ञानं मतं मम" "तन्ममैव ज्ञानं मतं" "ज्ञानं मतं" "माम्" इस प्रकार नहीं कहते। इन सब उक्तियों से सुस्पष्ट प्रकृति-पुरुष व्यतीत ईश्वर का बोध होता है।

यदि कहो कि—भ्रान्त निर्गुण ब्रह्म जीवाविद्या से ईश्वर संज्ञा से अभिहित हुआ, रज्जु-सर्पवत् यह भ्रम से प्रतीत होता है। परमात्म, पुरुष, जीव प्रकृति सब ही स्वप्नवत् भ्रम मात्र हैं। इस प्रकार विवर्त्तवादीय सिद्धान्त से यदि परमात्मा को भ्रम मात्र प्रतीत मानते हैं, तो श्रीपद्मनाभ के मुखपद्म से विनिर्गत वचन लक्षण वेदस्वरूप गीतादि शास्त्रों का अप्रामाण्य ही होगा और विवर्त्त बौद्धवाद में परिणत ही होगा।

तस्याञ्च सत्यां बौद्धानामिव विवर्त्तवादिनां तद्व्याख्यानायुक्तेः ; न च तस्य सत्यपुरुषत्वेऽपि निर्विशेषज्ञानमेव मोक्षसाधनमिति तदीयशास्त्रान्तरतः समाहार्य्यम्, (गी० १२।१) "एवं सतत-युक्ता ये" इत्यादि पूर्वाध्याये निर्विशेषज्ञानस्य हेयत्वेन विवक्षितत्वात् । तत्रैव च (गी० १२।६)

सर्वसम्वादिनी

अथैकोनविंशतितम (१९श अनु०) वाक्य-व्याख्यानमारभ्य, सप्तत्रिंश (३७श अनु०) वाक्यावधि-ग्रन्थानुव्याख्या ।—(पाद्मोत्तरे श्रीजामातृमुनि वाक्ये) "स्वस्मै स्वयंप्रकाश:" इत्यत्रैत्रमपि वक्तव्यम् ।—अद्वैतमतेऽप्यनुभूतित्वं नाम वर्त्तमानदशायां स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति प्रकाशमानत्वं स्वसत्तयैव स्वविषय-

"गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः । या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिर्गता ।।"

इस प्रकार देदीप्यमान गीता की विद्यमानता में बौद्धगण के समान व्याख्या करना विवर्त्त मतवादियों का युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता ।

श्रीकृष्ण सत्य पुरुष तो हैं, किन्तु निर्विशेष ज्ञान ही मुख्य साधन सायुज्य मुक्ति ही पुरुषार्थ है, उसका वर्णन उन सत्य पुरुष के निश्वसितरूप उपनिषद् प्रभृति शास्त्रान्तर में है । उनके अनुसार ही गीता का अर्थ करना समुचित है । इस प्रकार कथन समीचीन नहीं है । गीता १२।१ में उक्त है—

"एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्य्युपासते । ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ।।"

द्वादश अध्याय में निर्विशेष ज्ञान को हेय रूपमें कहा है ।

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण ! अब तक तुमने जो कुछ कहा, उससे मैंने समझ गया हूँ कि—योगी दो प्रकार हैं । अर्थात् एक प्रकार योगी वह है, जो शारीरिक सामाजिक कर्मसमूह को तुम्हारी अनन्यभक्ति के श्रृङ्खल से आवद्ध करके तुम्हारी निर्मल भक्ति के द्वारा तुम्हारी उपासना करता है । अन्य प्रकार योगी वह है,—जो शारीरिक-सामाजिक कर्मसमूह को निष्काम कर्मयोग के द्वारा आवश्यकता के अनुसार ग्रहण करके अक्षर अव्यक्त निर्गुण स्वरूप तुम्हारे आध्यात्मिक योग को अवलम्बन करता है । इन दोनों योगियों के मध्य में श्रेष्ठ योगी कौन है ?

गी० भा०—"जीवात्मानं यथावज्ज्ञात्वा विज्ञाय च तदंशी हरिर्ध्येय इति 'अविनाशि तु तत्विद्धि' इत्यादिभिर्द्वितीयादिष्वेकः पन्थार्वणितः, जीवात्मानं हरेरंशं ज्ञात्वैव तदंशी हरिस्तच्छ्रवणादिभक्तिभिर्ध्येय इति "मय्यासक्तमनाः पार्थ" इत्यादिभिः सप्तमादिषु द्वितीयः पन्थाप्रदर्शितः । तेष्वेव 'प्रयाण काले' इत्यादिना योगोपसृष्टा, 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये' इत्यनेन ज्ञानोपसृष्टा च भक्तिरुक्ता । भक्तिषट्कात् प्राक् षट्के केवलां भक्तिमुदेक्ष्यता योगिनामपि सर्वेषाम्" इत्यादि पद्येन स्वैकान्तिनां युक्तमता चाभिहिता । तत्रार्जुनः पृच्छति, एवमिति । एवं 'मय्यासक्तमनाः पार्थ' इत्यादि त्वदुक्तविधया सततयुक्ता ये त्वां श्यामसुन्दरं कृष्णं परितः कार्य्यादि व्यापारैरुपासते, ये चाक्षरं जीवस्वरूपं चक्षुरादिभिरव्यक्तं पर्य्युपासते धारणाध्यान-समाधिभिः साक्षात् कर्त्तुमीहन्ते परमात्मकामास्तेषामुभयेषां मध्ये योगवित्तमाः शीघ्रोपायिनः के भवन्ति ? अयम्भावः, स्वानुभवपूर्वकस्य हरिध्यानस्य बन्धमूलत्वात् तेन निर्विघ्ना तत् प्राप्तिरित्येके । नीरूपस्याति सूक्ष्मस्य जीवात्मनो दुर्ध्यानत्वाद् किं तद्ध्यानेन ? किन्तु हरिर्भक्तिरेव सर्वविघ्नविमर्दिनी हरिप्रापणीत्येके । तस्यामेव निरतास्तेषामुभयेषु कः श्रेयानुपाय इति तं भणेति । (१)

जीवात्मा को यथावत् जान कर जीवात्मा के अंशी श्रीहरि का ध्यान करना कर्त्तव्य है । द्वितीय अध्याय में "अविनाशी जीवात्मा है" इस ईश्वर वचनानुसार ही जीवात्मा को जाने । जीवात्मा को श्रीहरि का अंशरूप में सुनिश्चित रूप से जानने के पश्चात् ही जीवात्मा के अंशी श्रीहरि का ध्यान श्रीहरि कथा श्रवण-कीर्त्तनादि रूप भक्ति करें । इसका उपदेश सप्तम अध्याय में "मय्यासक्तामनाः" इत्यादि के द्वारा किया है । यह द्वितीय पन्था है, प्रथम पन्था द्वितीय अध्यायोक्त "अविनाशी" उपदेश है । उसमें

"ये तु सर्वाणि कर्माणि" इत्यादिनानन्यभक्तानुद्दिश्य (गी० १२।७) "तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्यु-संसारसागरात्" इत्यनेन तज्ज्ञानापेक्षापि नादृतेति। तदुक्तमेकादशे स्वयंभगवता (भा० ११।

सर्वसम्वादिनी

साधनत्वं वा। ते चानुभाव्यत्वेऽपि स्वानुभवसिद्धे नापगच्छत इति नानुभूतित्वमपगच्छति। ततो जीवस्य परानुमेयत्वे परमात्मानुभाव्यत्वेऽप्यनुभूतित्वं नापगच्छति।

तदेवं 'स्वस्मै प्रकाश'त्वे सिद्धे, (श्रीजामातृमुनि-वाक्ये) 'ज्ञानमात्रात्मको न च' इति पुष्टम्। अत्र विज्ञानमय-

"प्रयाणकाले" योगोपसृष्टा, 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये" इसके द्वारा ज्ञानोपसृष्टा भक्ति का कथन हुआ है। गीता के मध्य षट् अध्याय को भक्ति अध्याय कहते हैं। इसके पूर्व प्रथम अध्याय छह के अन्तिम में "योगिनामपि सर्वेषां" कह कर भक्ति का ही उपदेश दिया गया है। एकान्त भक्त ही युक्ततम है, इसका उद्घोष भी श्रीपद्मनाभ ने किया है।

उसमें अर्जुन पुछते हैं– एवमिति, "मय्यासक्तमनाः पार्थ" इत्यादि वचन के द्वारा तुम ने कहा कि— सतत युक्त होकर जो जन श्यामसुन्दर कृष्णरूप में मुझको कायादि व्यापार के द्वारा भक्ति करता है। जो व्यक्ति अक्षर जीवस्वरूप की उपासना करता है। जो चक्षु द्वारा अदृश्य है, उसको साक्षात्कार करने के निमित्त ध्यान-धारणा-समाधि का अवलम्बन करता है, ये सब परमात्म कामा है। इन दोनों के मध्य में श्रेष्ठ योगविद् कौन है। जो सत्वर अभीष्ट सिद्धि कर सकता है? तात्पर्य्य यह है कि—जीवात्मा को अनुभव करने के पश्चात् श्रीहरि का ध्यान ही मनः निरोध एवं अति सत्वर श्रीहरि का साक्षात् का उपाय है। इससे निर्विघ्न से श्रीहरि की प्राप्ति होती है। अपर साधन ब्रह्म ध्यान है, जिसका ध्यान अपने में किया जाता है। अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकार भावना की जाती है। जीवात्मा रूप ब्रह्म कल्पित तो है ही, रूप हीन सूक्ष्म भी है। ध्यान के निमित्त ध्येय के सहित मनः संयोग होना अत्यावश्यक है, किन्तु ब्रह्म ध्यान अति दुःख से भी नहीं होता है, अतः इस प्रकार ध्यान से प्रयोजन ही क्या है? किन्तु श्रीहरि भक्ति ही सर्वविघ्न विमर्दिनी है। श्रीहरि प्रापणी भी है। इस प्रकार साधन में जो लोक रत हैं, एवं जो लोक अपने को ब्रह्म मान कर स्वरूप का ध्यान करते हैं। इन दोनों के उपायों में श्रेयस्कर उपाय कौन है? कहो। (१)

द्वादश अध्याय में १२।६—"ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥

इत्यादि के द्वारा अनन्य भक्ति को उद्देश करके १२।७—

"तेषामहं समुद्धर्त्तामृत्युसंसार सागरात्। भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥"

के द्वारा ब्रह्मज्ञान की अपेक्षा भी भक्तों के निमित्त नहीं की।

अर्थात् जो लोक मेरा भगवत् स्वरूप को आन्तरिकता के सहित मान कर समस्त शारीरिक प्रभृति कर्त्तव्य को भगवद्भक्ति रूप मानकर करते हैं, एवं भगवत् सम्बन्धी अनन्य भक्तियोग द्वारा नित्य भगवद् विग्रह का ध्यान, एवं उपासना करते हैं। उन मदाविष्टचित्त व्यक्तिगण को मैं अति सत्वर मृत्यु संसार सागर से उद्धार करता हूँ। अर्थात् बद्धावस्था में मायिक संसार से मुक्तिदान, एवं मायाबन्ध विनष्ट होने से अभेद बुद्धि रूप जीवात्मा की मृत्यु से उन सब की रक्षा मैं करता हूँ।

निर्गुण ब्रह्म में आसक्तचित्त व्यक्तिगण अपने में अभेद बुद्धि स्थापन करते हैं, इससे स्वयं निःशक्तिक तो हैं, अपरन्तु वे सब निःसहाय अवस्था में अपने को निमज्जित कर परम अमङ्गल को प्राप्त करते हैं। मेरी प्रतिज्ञा यह है कि—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां स्तथैव भजाम्यहम्" ज्ञातव्य यह है कि—अव्यक्त ध्यानशील पुरुषगण अव्यक्तस्वरूप मुझमें लीन होते हैं। उससे मेरी हानि नहीं है, उन सब की हानि है।

२०।३२)– "यत् कर्मभिर्यत्तपसा" इत्यादि ; मोक्षधर्मे च—

सर्वसम्वादिनी

प्रकरणे सुषुप्तिमधिकृत्य श्रुतिर्भवति (बृ० ४।३।११) "असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति", (बृ० ४।३।९) "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति", (बृ० ४।३।३०) "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" इत्याद्या। (श्रीजामातृ-

कारण, वे सब आत्मनाश करते हैं। उस प्रकार गति के द्वारा अभेदवादी जीव का स्वरूपगत उपादेयत्व विदूरित होता है। (६-७)

गी० भा०—"तथात्मयाथात्म्यं श्रुत्वैवात्मांशिनो मम केवलां भक्तिं ये कुर्वन्ति, नतु आत्मसाक्षात् कृतये प्रयतन्ते, तेषां तु केवलया मद्भक्त्यैव मत्प्राप्तिरचिरेणैव स्यादित्याह,—ये त्विति द्वाभ्याम्। ये मदेकान्तिनो मयि मत् प्राप्त्यर्थं सर्वाणि स्वविहितान्यपि कर्माणि संन्यस्य भक्तिविक्षेपकत्व बुद्ध्या परित्यज्य मत्परा मदेकपुरुषार्थाः सन्तोऽन्येन केवलेन मच्छ्रवणादि लक्षणेन योगेनोपायेन मां कृष्णं उपासते— तल्लक्षणां मदुपासनां कुर्वन्ति ध्यायन्तः श्रवणादि कालेऽपि मन्निविष्टमनसः, तेषां मय्यावेशितचेतसां मदेकानुरक्तमनसां भक्तानामहमेव मृत्युयुक्तात् संसारात् सागरवद् दुस्तरात् समुद्धर्त्ता भवामि, न चिरात् त्वरया तत् प्राप्तिविलम्बासहमानस्तानहं गरुड़स्कन्धमारोप्य स्वधाम प्रापयामीत्यर्च्चिरादि गतिं विना। गरुड़स्तन्धमारोप्य यथेच्छ मनिवारितः।" इति वराहवचनात्, कर्मादि निरपेक्षापि भक्तिरभीष्टसाधिका, "या वै साधनसम्पत्तिपुरुषार्थचतुष्टये। तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः॥" इति नारायणीयात्, "सर्वधर्मोज्झिता विष्णोर्नाममात्रैक जल्पकाः। सुखेन यां गतिं यान्ति न तां सर्वेऽपि धार्म्मिकाः।" इति पाद्माच्च।

जीवात्मा नित्य है, एवं श्रीहरि का अंशरूप दास है। तटस्था शक्ति है। इस प्रकार अपने को जान कर निज सत्त्वा को अभेद भावना के द्वारा मिटाने के निमित्त जो लोक प्रयत्न नहीं करते हैं। मैं उन सब का अंशी हूँ, मान कर मेरी केवला भक्ति का आचरण करते हैं। आत्मा साक्षात् कर ब्रह्म होने की वासना नहीं रखते हैं। उन सब की मेरी प्राप्ति मेरी भक्तिसे सत्त्वर ही होती है। इस विवरण को दो श्लोक से कहते हैं। ऐकान्ति जनगण मुझको प्राप्त करने के निमित्त विहित कर्मसमूह का न्यास मुझमें करके अर्थात् भक्ति विक्षेपरूप से उस कर्मसमूह को जान कर उसके प्रति आसक्तित्याग करते हैं। मुझको परमपुरुषार्थ मान कर अनन्य भक्तियोग से श्रवणादि स्वरूप भक्तियोग से, मुझ कृष्ण की उपासना करते हैं। उक्त स्वरूपाक्रान्त की उपासना करते हैं, ध्यान करते हैं। उन सब व्यक्ति मुझमें आविष्ट चित्त होते हैं। ऐसे अनुरक्त चित्त भक्तजनों को मृत्युयुक्त संसार सागर से जो सागर के समान सुदुस्तर है, उद्धार करता हूँ, सत्त्वर करता हूँ। क्यों कि विलम्ब सहन मुझे नहीं होता है, अतः गरुड़ के स्कन्ध में आरोहण करवा कर निज सन्निकट में ले आता हूँ। अर्च्चिरादि गति की कोई अपेक्षा ही उनकी नहीं रहती है। वराहपुराण में उक्त है—अर्च्चिरादि गति के विना मेरे धाम में उन भक्तों को ले आता हूँ। निज वाहन गरुड़ के द्वारा ही यह कार्य्य सम्पादन करता हूँ। काम्यकर्मादि की अपेक्षा भक्ति ही अभीष्टसाधिका है। "नारायणीय में उक्त है—मनुष्य नारायणाश्रय होकर भक्ति के द्वारा समस्त साधन सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं। काम्य समस्त धर्माचरण रहित व्यक्ति केवल श्रीविष्णु नामाश्रित होने से परिपूर्ण धार्मिक होते हैं, एवं सुखपूर्वक उत्तम गति को प्राप्त करते हैं। जो गति अपर धार्मिकगण प्राप्त करने में अक्षम हैं। पद्मपुराण की उक्ति है।" भा० ११।२०।३२ में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है,—

"यत् कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्। योगेनदानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा। स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति॥"

काम्यकर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान एवं अपरापर शुभ कर्म के आचरण सत्त्वशुद्ध्यादि जो

"या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः" ॥८॥ इति ।

अत्र तु पुर्वाध्याय-विश्लाघितं तदेवावृथाकर्त्तुं सविशेषतया निर्दिश्य (गी० १३।१८)—

"इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयञ्चोक्तं समासतः । मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते" ॥९॥

इत्यन्तेन-भक्तिसम्वलिततया सुकरार्थप्रायं कृतम् । अतएवात्र व्यष्टिक्षेत्रज्ञ एव भक्तत्वेन निर्दिष्टः,समष्टिक्षेत्रज्ञस्तु ज्ञेयत्वेनेति क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-ज्ञानाभ्यां सह ज्ञेयस्य पाठादनुस्मार्य्य तदनन्तरञ्च तस्य तस्य च जीवत्वमीश्वरत्वञ्च क्षरं नेति दर्शितम् । यतः (गी० १३।२१)—

सर्वसम्वादिनी

मुनि-वाक्ये) "एकरूपस्वरूपभाक्" इत्यत्र श्रुतिश्च—(वृ० ४।५।१३) "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन एव । एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव विज्ञानघन एव" इति ।

(श्रीजामातृमुनि-वाक्ये) "अहमर्थः" इति केवलस्य सुखस्यात्मत्वं परिहृतम् । ज्ञानमात्रत्वेऽपि ज्ञातृत्वं

कुछ होते हैं । मेरा भक्त भक्तियोग के द्वारा अनायास उक्त सब को प्राप्त करता है । स्वर्ग, मुक्ति, वैकुण्ठ की प्राप्ति भी अनायास से होती है । किन्तु भक्त की वाञ्छा उसमें नहीं रहती है । यदि सेवा हेतु भक्त वाञ्छा करे तो सब कुछ की प्राप्ति होती है । मोक्ष धर्म में वर्णित है—

"धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के निमित्त जो भी साधन सम्पत्ति सुनिश्चित है, श्रीनारायण परायण जन साधन सम्पत्ति हीन होकर भी उक्त पुरुषार्थ चतुष्टय को प्राप्त करते हैं । (८)

श्रीगीता के द्वादश अध्याय में भक्ति एवं श्रीभगवान् का महत्त्व वर्णन उत्तर रूपसे किया है, उसको सफल सत्य करने के निमित्त सविशेष रूपसे निर्णय करके (गी० १३।८) हे अर्जुन ! मैंने तुम्हें संक्षेप से क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय, अर्थात् क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ द्वयात्मक तत्त्वत्रय को कहा । इसका नाम ही "विज्ञान सहित ज्ञान है । भगवद्भक्तगण इस ज्ञान को प्राप्त कर निरुपाधि प्रेमभक्ति को प्राप्त करते हैं । जो लोक भक्त नहीं हैं, वे लोक केवल निरर्थक अभेदवाद को आश्रय कर यथार्थ ज्ञान से अपने को वञ्चित करते हैं । ज्ञान, भक्तिदेवी के उपवेशन पीठस्वरूप जोवात्मा का सत्त्व शुद्धिकारक है ।"

गी० भा०—"उक्त क्षेत्रादिकं तज्ज्ञानफलसहितं उपसंहरति,—इति क्षेत्रमिति । 'महाभूतानि' इत्यादिना 'चेतना धृतिः' इत्यनेन क्षेत्रस्वरूपमुक्तम् । 'अमानित्व' इत्यादिना 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनमित्यन्तेन' ज्ञेयस्य क्षेत्रज्ञस्य ज्ञानं तत्साधनमुक्तम्; 'अनादिमत्परम्' इत्यादिना 'हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्' इत्यन्तेन ज्ञेयं क्षेत्रज्ञ यद्वयं चोक्तं मया । एतत्त्रयं विज्ञाय मिथो विवेकेनावगत्य मद्भावाय मत्प्रेम्णे स्वभावाय वा असंसारित्वाय कल्पते योग्यो भवति मद्भक्तः । (१८)

कथित क्षेत्रज्ञादि पदार्थ का विवरण फल कथन के सहित देते हैं । यह क्षेत्र है । 'महाभूतानि' "चेतना धृतिः" के द्वारा क्षेत्रस्वरूप कहा है । "अमानित्व' 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' के द्वारा ज्ञेय क्षेत्रद्वय का ज्ञान एवं उसका साधन कहा गया है । "अनादि मत्परम्" "हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्" इसके द्वारा ज्ञेय, क्षेत्रज्ञ द्वय का वर्णन मैंने किया है । तीन तत्त्वों को जानकर परस्पर को विचारपूर्वक अवधारण कर भक्त, मद्भाव, प्रेम मेरा स्वभाव का परिज्ञान असंसारित्व को प्राप्त करेंगे । (१८)

इन सब विवरण भक्त शब्द के द्वारा पूर्ण होने से सुस्पष्ट हुआ कि जीव भजनकारी, परमात्मा भजनीय परस्पर पृथक् स्वभाव के होते हैं । जीव ही परमात्मा ब्रह्म भगवान् नहीं है । न तो उपाधि परित्याग से अनुचैतन्य वृहत् ही हो सकता है, न परमात्मा ही होगा । इस प्रकार से प्रकाश हुआ कि क्षेत्रज्ञ शब्द से व्यष्टि क्षेत्रज्ञ जीव है, जो अपना शरीरादि को जानता है, वह भक्त है । समष्टि क्षेत्रज्ञ, जो सबके हृदय में सङ्कल्प से रह कर सबको परिचालित करते हैं, वह ज्ञेय हैं, उपास्य हैं । क्षेत्र क्षेत्रज्ञ ज्ञान के सहित 'ज्ञेय' शब्द का उपन्यास हुआ है । इससे जाना जाता है कि 'परमात्मा' उन दोनों से पृथक् धर्मी हैं । इसके

"पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् । कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु" ॥१०॥

इति जीवस्य प्रकृतिस्थत्वं निर्दिश्य स्वतस्तस्याप्राकृतत्व-दर्शनया स्फुटमेवाक्षरत्वं ज्ञापितम्,

सर्वसम्वादिनी

चात्मनः पूर्वं साधितम् । तच्चाहम्भावं विना न सिध्यतीति पूर्वसिद्ध एवासावनूद्यते स्पष्टतार्थम् । (ब्र० सू० १।१।१—श्रीभाष्ये ६५तम अनु०) "अहं-प्रत्ययसिद्धो ह्यस्मदर्थः; युष्मत्प्रत्ययविषयो युष्मदर्थः । तत्राहं जानामीति सिद्धो ज्ञाता युष्मदर्थ इति वचनं "जननी मे बन्धया" इतिवत् व्याहतार्थम् ।"

बाद दर्शाया गया कि जीवत्व ईश्वर 'क्षर' विनाशी नहीं है । कारण गी० १३।२१ में उक्त है—तटस्थ स्वभाव के कारण शुद्धजीव वैकुण्ठ की शुद्धता को परित्याग कर प्रकृतिस्थ होता है, एवं प्रकृतिजात गुणसकल का भोग करता है, एवं प्रकृतिजात गुण सङ्ग के कारण सदसद् योनिसमूह में उसका जन्म होता है । (२१)

गी० भा०—"प्रकृत्यधिष्ठाने सुखादि भोगे च पुरुषस्यैव कर्त्तृत्वमित्येतत् स्फुटयति, तस्य प्रकृतिसंसर्गे हेतुश्च दर्शयति, पुरुष इति । चित्सुखैकरसोऽपि पुरुषोऽनादिकर्मवासनया प्रकृतिस्थस्तामधिष्ठित तत्कृत देहेन्द्रियः प्राणविशिष्टः सन्नेव तत्कृतान् गुणान् सुखादीन् भुङ्क्ते, अनुभवति, इत्याह—सदिति । सतीषु देवमानवादिषु असतीषु पशुपक्ष्यादिषु च साध्वसाधुरचितासु योनिषु यानि जन्मादीनि, तेष्विति तत्र तत्र पुरुषस्यैव कर्त्तृत्वम् । तत् संसर्गे हेतुमाह—कारणमिति । गुणोऽसङ्गोऽनादिगुणमयस्पृहा । अयमर्थः—अनादिर्जीवः कर्मरूपानादि वासनारक्तः; स च भोक्तृत्वाद्भोग्यान् विषयान् स्पृहयं स्तदर्पकामादिसन्निहितां प्रकृतिमाश्रयिष्यति यावत् सत्प्रसङ्गात् तत्तद्वासना क्षीयते, तत् क्षये तु परात्मध्यानसुखानि भुङ्क्ते, "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इत्यादि श्रुतिभ्यः' इति ।

यत्तु प्रकृतिरित्यादेः कार्य्यकारणेत्यादेः प्रकृत्यैव चेत्यादेर्नान्यं गुणेभ्य इत्यादेश्चापाततार्थ ग्राहिभिः सांख्यैः प्रकृतेरेव कर्त्तृत्वमुक्तं, तत् किल रभसाभिधानमेव लोष्ट्रकाष्ठवदचेतनाया स्तस्यास्तत्त्वासम्भवात् । उपादानापरोक्षचिकीर्षा कृतिमत्त्वं खलु कर्त्तृत्वं, तच्च चेतनस्यैवेति श्रुतिराह—"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" "एष हि द्रष्टास्प्रष्टाश्रोतारसयिता घ्रातामन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मापुरुषः ।" इत्यादिकम् ।

यच्च पुरुषसन्निधानाच्चैतन्याध्यासात् तस्यास्तत्त्वमित्याहुस्तन्न; यत् सान्निध्यध्यस्तचैतन्यात्तस्याः कर्त्तृत्वं, तत्तस्यैव सन्निहितस्येति सुवचत्वात् । न खलु तप्तायसो दग्धृत्वमयोहेतुकमपि तु वह्निहेतुकमेव दृष्टम्;

न च चलति जलं फलति तरुरितिवत् जड़ायास्तस्यास्तत्त्वसिद्धिर्जलादिष्वन्तर्य्याम्यधिष्ठितत्वेनेष्टासिद्धे-र्विधायकश्रुतिव्याकोपाच्चैतदेवम्; न हि जड़प्रकृतिमुद्दिश्य स्वर्गादिफलक ज्योतिष्टोमादि मोक्षफलकं ध्यानञ्च स्मृतिर्विधत्ते, अपितु चेतनमेव भोक्तारमुद्दिश्येति पुरुषस्यैव कर्त्तृत्वम् । तच्च प्रकृतेरिति यदुक्तं, तत्तु तद्वृत्ति प्राचुर्य्यादेव । यथा करेण बिभ्रति पुरुषे करो बिभर्त्तीति व्यपदेशस्तथा प्रकृत्याकुर्वति पुरुषे प्रकृतिः करोतीति स भवेदित्येके; प्राकृतै र्देहादिभिर्युक्तस्यैव पुरुषस्य यज्ञयुद्धादि कर्मकर्त्तृत्वं, नतु तैर्वियुक्तस्य शुद्धस्येत्यतः प्रकृतेस्तदित्यपरे । (२१)

प्रकृतिरूप अधिष्ठान में जो सुखादि भोग होता है, उसमें पुरुष ही कर्त्ता है । पुरुष का सङ्ग प्रकृति का कैसे होता है ? कहते हैं—पुरुष इति । पुरुष विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है । तथापि वह अनादि भोगवासना से प्रेरित होकर प्रकृति में आत्मसमर्पण करता है और प्रकृतिजनित देहेन्द्रिय प्राणविशिष्ट होकर प्रकृति के सुखादि गुणसमूह का भी अनुभव करता रहता है । यह कैसे होता है ? कहते हैं—देव मानव पशुपक्षी प्रभृति साधु असाधु रचित अनेक शरीरों में जन्म ग्रहण करता है, उसका हेतु, पुरुष का ही कर्त्तृत्व है । संसर्ग के प्रति कारण क्या है ? अनादि कालीन गुणमय विषय स्पृहा । सारार्थ यह है—अनादि आनन्दमय जीव, स्वैरिता के कारण काम्यकर्मरूप अनादि वासनारक्त है । भोक्ता भोग्य वासना को सफल करने के

(गी० १३।२२)-उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥११॥

इति जीवात् परत्वेन निर्द्दिष्टस्य परमात्माख्यपुरुषस्य तु-कैमुत्येनैव तद्दर्शितम्। (गी० १५।१६-१७)

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते" ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्त्यव्यय ईश्वरः" ॥१७॥

सर्वसम्वादिनी

किञ्च, "स्वस्मै स्वयंप्रकाशः" एवाजड़त्वादात्मेति प्रतिपादितम्। केवलं ज्ञानं सुखञ्चान्यस्यैवाहमर्थस्य ज्ञातुरवभासते,—"अहं जानामि, अहं सुखी" इति। (ब्र०सू० १।१।१—श्रीभाष्ये ६७तम अनु०) "तस्मात् स्वात्मानं प्रति स्वसत्तयैव सिध्यन्नजड़ोऽहमर्थ एवात्मा।"

निमित्त वह प्रकृति को आश्रय बनाता है। सत्गुरु के समीप से भक्ति शास्त्र श्रवण से उक्त भोक्ता भोग्य वासना क्षीण हो जाती है। अनन्तर वैकुण्ठस्थ सुख को प्राप्त करता है। "ब्रह्मा के सहित वह जीव समस्त भोग को प्राप्त करता है।"

सांख्यवादिगण प्रकृति को कारण कहते हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं है। कर्त्ता होने के लिए उपादान का ज्ञान, इच्छा, एवं कृतिमान् होना आवश्यक है। उस प्रकार का सन्निवेश चेतन में है, जड़ में नहीं है। प्रकृति जड़ा है, विज्ञान यज्ञ कर्त्ता है, पुरुष द्रष्टादि के कर्त्ता है। इत्यादि श्रुति प्रमाण चेतन कर्त्ता का पोषक है।

जड़,—चेतन के सन्निधान से कर्त्तृत्व को प्राप्त करता है। जैसे अग्नि के सान्निध्य से लौह में उष्णता होती है, यह उक्ति भी प्रकृति कारण वाद का पोषक नहीं होती है, उसमें अग्नि कारण है। अचेतन में सक्रियता का प्रयोग गौण है। चेतन भोक्ता है। इसको लक्ष्य करके ही काम्यकर्म विहित है। अतः चेतन जीव ही सुखदुःखादि का भोक्ता है।

इस प्रकार जीव को प्रकृत्याश्रित दर्शाकर जीव, जो स्वत ही अप्राकृत चेतन एवं अविनश्वर है, इसका वर्णन सुस्पष्ट रूपसे करते हैं,—

गीता० १३।२२—जीव नित्य मेरा सखा है। वह तटस्था शक्तिस्वरूप है। विशुद्ध भाव से तटस्थ स्वभाव में अवस्थित होने से ही वह मेरा साम्मुख्य प्राप्त करता है। तटस्थ स्वभाव ही जीव की स्वाधीनता है। उससे उसका मदीय प्रीति लाभ होता है। उससे जीवस्वरूप कृतकृतार्थ होता है। निज अधिकार एवं स्वभाव का दुरुपयोग करने के कारण उसका प्रवेश प्राकृत क्षेत्र में होता है। उस समय भी मैं उसका सहचर होकर ही रहता हूँ। अतएव जीव के देह में मैं जीव के सकल कार्य्यों का उपद्रष्टा हूँ। अनुमन्ता, भर्त्ता, भोक्ता, महेश्वर, परमपुरुष, परमात्मा नाम से सुपरिचित हूँ। एवं जड़ासक्ति हेतु जीव जो भी कार्य्य करता है मैं उसका फलदान करता हूँ। (२२)

इस प्रकार जीव से परपुरुष रूपमें निर्दिष्ट परमात्मा नामक पुरुष का प्रकाश कैमुतिक रीति से करते हैं—गीता १५।१६-१७,—प्रकृति एक है, किन्तु चैतन्यस्वरूप पुरुष—क्षर एवं अक्षर भेद से द्विविध है। विभिन्नांशगत चैतन्यरूप जीव द्विविध है, क्षर एवं अक्षर। क्षरण स्वभाव प्रयुक्त अनेक अवस्थापन्न बद्ध जीव ही 'क्षर' पुरुष है। क्षरण अभाव प्रयुक्त एकावस्थापन्न जीव ही 'अक्षर' मुक्त पुरुष है। ब्रह्मादि स्तम्ब पर्य्यन्त भूतसमूह ही 'क्षर' हैं। कूटस्थ पुरुष सर्वदा एकावस्था होने से 'अक्षर' हैं। (१६)

पूर्वोक्त 'क्षर' एवं 'अक्षर' वाच्य उभयविध पुरुष अतीत जो उत्तम पुरुष हैं, उन पुरुष ही उत्तमपुरुष हैं। आप ही 'ईश्वर' हैं, एवं लोकत्रय में प्रविष्ट होकर भर्त्तृस्वरूप में विराजमान् हैं। (१७)

गी० भा०—"बादरायणात्मा निर्णीतं वेदार्थं संक्षिप्याह, द्वाविति। 'लोक्यते तत्त्वमनेन' इति व्युत्पत्ते र्लोके वेदे, द्वौपुरुषौ प्रथितौ इमावितिति प्रमाणसिद्धता सूच्यते। तौ काविसयाह—क्षरश्चेति। शरीरक्षरणात्

इत्यत्र जीवस्याप्यक्षरत्वं कण्ठोक्तमेव। तत्रोपद्रष्टा परमसाक्षी, अनुमन्ता तत्तद्कर्मानुरूपः प्रवर्त्तकः, भर्त्ता पोषकः, भोक्ता पालयिता, महेश्वरः सर्वाधिकर्त्ता, परमात्मा सर्वान्तर्य्यामीति व्याख्येयम्। उत्तरपद्ययोस्तु कूटस्थः—"एकरूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थः" इत्यमरकोषादवगतार्थः; असौ शुद्धजीव एव, "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" इत्युत्तरात्। तदेवमत्रापि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-सर्वक्षेत्रज्ञा उक्ताः। अत्र चोत्तरयोरन्य इत्यनेन भिन्नयोरेव सतोरक्षरयोर्न तत्तद्रूपता-

सर्व्वसम्वादिनी

तदेवमहमर्थरूपे निरुपाधिप्रिये तस्मिन् ज्ञाने यत्तु जानाम्यहमिति पृथग्ज्ञानं प्रतीयते, तदहमर्थं प्रभेव दीपं विशिनष्टि। ज्ञानमात्र आत्मन्यहमर्थोऽध्यस्यत इति तु न युज्यते;—अध्यासकाभावात्; अनहङ्कारस्य ज्ञानमात्रस्य जड़स्य चाहङ्कारस्य तत्कर्त्तृत्वं न सम्भवतीति। न च तस्मिन्नहङ्कारे ज्ञानच्छायापत्तिः;—

क्षरोऽनेकावस्थोबद्धोऽचिद्संसर्गैकधर्मसम्बन्धादेकत्वेन निर्दिष्टः। क्षराक्षरौस्फुत्यति, सर्वाणि ब्रह्मादिस्तम्बान्तानि भूतानि क्षरः, कूटस्थः सदैकावस्थोमुक्तस्त्वक्षरः। एकत्वनिर्देशः प्रागुक्तयुक्तेर्बोध्यः। 'बहवो ज्ञानतपसा' इत्यपिः, इदं ज्ञानमुपाश्रित्य इत्यादेश्च बहुत्वसंख्याकः सः। (१६)

यदर्थं द्वौ पुरुषौ निरूपितौ, तमाह, उत्तम इति। अन्यः क्षराक्षराभ्यां, नतु तयोरेवैकः सङ्कल्प इति भावः। 'तत्र श्रुतिसम्मतिमाह,—परमात्मेति। उत्तमता प्रयोजकं धर्ममाह, जो लोकेति, न चैतज्जगद्विधारणपालनरूपमीशनं, बद्धस्य जीवस्य कर्म्मासम्भवात्; न च मुक्तस्य, "जगद्व्यापारवर्ज्जम्" इति प्रतिषेधाच्च। (१७)

श्रीबादरायण रूपमें वेदार्थ का निर्णय आपने किया है, उसका संक्षेप कहते हैं—जिससे तत्त्वावलोकन होता है, उसे लोक—वेद कहते हैं। वेद में पुरुषद्वय का वर्णन है। वह निर्णय सप्रामाणिक है, उनको क्षर एवं अक्षर शब्द से कहते हैं। नश्वर शरीर में अवस्थान हेतु अचित् संसर्ग से अनेक प्रकार अवस्था प्राप्त क्षर है, तृण से ब्रह्मा पर्य्यन्त समस्त क्षर है। कूटस्थ—सर्व्वदा एकावस्थापन्न है। उनको अक्षर कहते हैं। वह एक है। ज्ञान तपस्या द्वारा अपने को पवित्र कर अनेक व्यक्ति मुझको प्राप्त करते हैं। इस ज्ञान को प्राप्त कर मुझको प्राप्त करते हैं। इससे जीव का बहुत्व सिद्ध होता है। परमात्मा चिच्छक्ति में विराजित हैं। अतः सर्वदा एकरूप होकर एक हैं।

जिसके निमित्त पुरुषद्वय का निरूपण हुआ है, उसको कहते हैं—उत्तम इति। अन्यः, क्षर एवं अक्षर से, किन्तु क्षर अक्षर के मध्य में एक व्यक्ति नहीं। श्रुति सम्मति को दिखाते हैं—परमात्मेति। उत्तमता का प्रयोजक धर्म को कहते हैं। जो तीन लोकों में प्रविष्ट होकर पालन कार्य्य को सम्पन्न करते हैं। इस प्रकार पालन कार्य्य तथा जगत् को मर्य्यादा के द्वारा सुरक्षित करना, नियन्त्रित करना, बद्ध जीव की सामर्थ्य से होना असम्भव है। मुक्त जीव भी उक्त कार्य्य को करने में सक्षम नहीं हैं। मुक्त जीव को जगत् की सृष्टि-स्थिति-लयादि निर्वाहिका शक्ति नहीं दी जाती है। (१७) उक्त कथन से प्रतिपन्न होता है कि—जीव भी स्वरूपतः अक्षर है। उपरोक्त श्लोक में उक्त 'उपद्रष्टा' शब्द का अर्थ परम साक्षी है। अनुमन्ता शब्द का अर्थ—जीव जिस प्रकार कर्म करता है, उस कर्मानुरूप ही प्रवर्त्तक परमात्मा हैं। भर्त्ता—पोषणकर्त्ता, भोक्ता—पालनकर्त्ता, महेश्वर—सर्वाधिकर्त्ता, सबके कर्त्तृत्व के ऊपर जिनका कर्त्तृत्व है। परमात्मा—सब के अन्तर्य्यामी। इस प्रकार व्याख्या करना कर्त्तव्य है।

उत्तर पद्य द्वय में 'कूटस्थ' शब्द का प्रयोग है। उसका अर्थ—जो सर्वदा एकरूप में स्थित होकर काल व्यापी हैं। अमरकोष में इस प्रकार अर्थ ही है। वह मायामुक्त शुद्ध जीव ही है। कारण परवर्त्ती श्लोक में "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" अर्थात् उत्तम पुरुष इससे पृथक् है, कहा गया है। अतएव यहाँ पर भी

परित्यागः सम्भवेदिति न कदाचिदपि निर्विशेषरूपेणावस्थितिरिति दर्शितम्। तस्मात् (गी० १३।१८) "मद्भावायोपपद्यते" इति यदुक्तम्, तदपि तत्सार्ष्टिप्राप्तितात्पर्य्यकम्। तदेवं द्वयोरक्षरत्वेन साम्येऽपि जीवस्य हीनशक्तित्वात् प्रकृत्याविष्टस्य तन्निवृत्त्यर्थमीश्वर एव भजनीयत्वेन ज्ञेय इति भावः।

तस्मात् (गी० १३।१) "इदं शरीरम्" इत्यादिकं पुनरित्थं विवेचनीयम्। इदमिति स्व-स्वापरोक्षमित्यर्थः। शरीर-क्षेत्रयोरेकैकत्वेन ग्रहणमत्र व्यक्तिपर्य्यवसानेन जातिपुरस्कारेणैवेति गम्यते, (गी० १३।२) "सर्वक्षेत्रेषु" इति बहुवचनेनानुवादात्। (गी० १३।१)'एतद्यो वेत्ति' इत्यत्र (भा० ६।४।२५) "देहोऽसवोऽक्षा मनवः" इत्यादौ "सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञः"

सर्वसम्वादिनी

उभयोरप्यचाक्षुषत्वात्। न चायःपिण्डे वह्नि-सम्पर्ककृतौष्ण्यवज्ज्ञानमात्र-सम्पर्ककृत-ज्ञातृत्वं तस्मिन्नहङ्कारे मन्तव्यम्;—औष्ण्यवत्तद्धर्मासंप्रतिपत्तेः।

नन्वसावहङ्कारः स्वात्मानुस्यूत-तज्ज्ञानमभिव्यञ्जयन् ज्ञातृत्वभावमापद्यत इति चेत्? तदप्ययुक्तम्;

क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ एवं सर्वक्षेत्रज्ञ का सुस्पष्ट उल्लेख हुआ है। इससे उत्तर श्लोकद्वय में क्षर एवं अक्षर से अन्य जो है, इस प्रकार उल्लेख से प्रतीत होता है कि—उक्त अक्षरद्वय का निज स्वरूप अक्षरत्व का परित्याग कभी भी सम्भव नहीं है। अतएव कभी भी निर्विशेष रूपमें उन दोनों की अवस्थिति नहीं होती है। इसका प्रदर्शन हुआ है। अतएव गीता १३।१८ में—"इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥

संक्षेप से क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय वर्णित हुआ, भक्त इसको जानकर मद्भाव को प्राप्त करते हैं। इसका अर्थ है—सार्ष्टि प्राप्ति अर्थात् समानैश्वर्य्य प्राप्ति करते हैं। जीव एवं परमात्मा की समानता अक्षर रूपमें होने पर भी जीव शक्तिहीन एवं स्वैरता के कारण प्रकृत्याविष्ट है। उक्त अज्ञानता का परिहार करने की शक्ति जीव में नहीं है, अज्ञान निवृत्ति के निमित्त सर्वसमर्थ ईश्वर का भजन करना आवश्यक है। तज्जन्य भजनीय गुण विशिष्ट रूपमें ईश्वर को जानना अत्यावश्यक है। भावार्थ यह ही है।

अतएव गी० १३।१—"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।

एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः ॥

"हे कौन्तेय! यह शरीर क्षेत्र है। इसको जो जानता है, उसका नाम क्षेत्रज्ञ है।" इस श्लोक का पुनर्वार विवेचन करना आवश्यक है। "इदं" शब्द का अर्थ—निज निज परिदृश्यमान शरीर। शरीर एवं क्षेत्रज्ञ का एक एक रूप में ग्रहण से वह व्यक्ति में पर्य्यवसित हुआ है, अतएव जाति पुरस्कार से ही बोध होता है। गी० १३।२ में "क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत!" मुझको समस्त क्षेत्रों का क्षेत्रज्ञ जानना। इस वाक्य के द्वारा उक्तार्थ ही कथित हुआ है। गी० १३।१ "एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः" हे कौन्तेय! इस शरीर का नाम क्षेत्र है, जो इसको जानता है, उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। यहाँ, भा० ६।४।२५—"देहोऽसवोक्षा मनवो भूतमात्रा नात्मानमन्यञ्च विदु परं यत्।

सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो न वेद सर्वज्ञमनन्तमीड़े ॥

देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण, पञ्चतन्मात्र, ये सब, आत्मा को, अन्य इन्द्रियवर्ग को जान नहीं सकते हैं, यद्यपि पुरुष अर्थात् जीव तत्त्वत्रय को एवं तत्त्वत्रय के मूलभूत कारण को जानता है, किन्तु सर्वज्ञ भगवान् को नहीं जानता है। मैं उन भगवान् अनन्त देव की स्तुति करता हूँ। भा० ५।११।१२—"क्षेत्रज्ञ

इत्युक्तदिशा (भा० ५।११।१२) "क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूतीः" इत्युक्तदिशा च जानातीत्यर्थः। (गी० १३।२) "क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि" इत्यत्र मां स्वयं भगवन्तमेव सर्वेष्वपि समष्टिव्यष्टिरूपेषु क्षेत्रेषु, न तु पूर्वक्षेत्रज्ञवत् निजनिजक्षेत्र एव क्षेत्रज्ञञ्च विद्धीति; तदुक्तम् (गी० १०।४२)— "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति। यत्र गत्यन्तरं नास्ति, तत्रैव लक्षणा-मयकष्टमाश्रियते; तथापि तेन सामानाधिकरण्यं यदि विवक्षितं स्यात्तर्हि "क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि" इत्येतावदेव तं च मां विद्धीत्येतावदेव वा प्रोच्येत, न तु सर्वक्षेत्रेषु भारतेत्यधिकमपि; किन्तु (भा० ५।११।१२) "क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूतीः" इत्यादिवत् क्षेत्रज्ञद्वयमपि वक्तव्यमेव स्यात्; तथा च ब्रह्मसूत्रम् (ब्र०सू० १।२।११) "गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्" इति।

तद्द्वैविध्यमेव चोपसंहृतम्, (गी० १३।२१) "पुरुषः प्रकृतिस्थो हि" इत्यादिना। तस्मादुप-क्रमार्थस्योपसंहाराधीनत्वादेष एवार्थः समञ्जसः; यथोक्तं ब्रह्मसूत्रकृद्भिः (ब्र०सू० २।१।१७)--

सर्वसम्वादिनी

अहङ्कारादिर्धर्मिणस्तस्य धर्मत्वानुपपत्तेः, स्वयं ज्योतिष आत्मनो व्यङ्ग्यत्वायोगात्, व्यङ्ग्यत्वे च भवता-मननुभूतित्व-प्रसङ्गात्, तदायत्त-प्रकाशेनाहङ्कारेण तस्य प्रकाश्यत्वासम्भवाच्च। न च रविकराभि-व्यङ्ग्येन हस्तेन च रविकरा अभिव्यज्यन्ते। हस्तप्रतिहत-गतयो हि ते बाहुल्यात् स्वयमेव स्फुटतरमुप-

एतामनसो विभूतीः" इस रीति से जानते हैं। गी० १३।२ "क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि" यहाँ 'मां' मुझ स्वयं भगवान् को ही समस्त समष्टि व्यष्टिरूप क्षेत्र में जानना। किन्तु पूर्व क्षेत्रज्ञ के समान निज निज क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ, न जानना। गीता के १०।४२ "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।" मैं एकांश के द्वारा समस्त जगत् में अवस्थित हूँ। अर्थात् यह जगत् मेरा एकांश में अवस्थित है।

जहाँ गत्यन्तर नहीं है, वहाँ पर ही लक्षणा नामक कष्ट कल्पना करना पड़ता है। यदि उनके सहित जीव का सामानाधिकरण्य कहने का अभिप्राय यदि होता तो "क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि" यहाँ "उसे ही मुझको जानना" ऐसा ही कहते। किन्तु "सर्वक्षेत्रेषु भारत" ऐसा नहीं कहते। किन्तु "क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूतीः" इत्यादि के समान क्षेत्रज्ञ द्वय का ही कथन उचित है। ब्रह्मसूत्र १।२।११ "गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्" "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिनाचिकेता।" सुकृतोपार्जित देहरूप गुहामें विराजित व्यक्तिद्वय कर्मफल भोग करते हैं। छाया आतप के समान परस्पर विरुद्धधर्मी है। इस श्रुति में जीव के सहित अपर व्यक्ति का उल्लेख है। वह द्वितीय व्यक्ति, बुद्धि, प्राण किम्वा परमात्मा है? इसके उत्तर के निमित्त सूत्र "गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्" हृदय गुहा में विराजित जीव एवं परमात्मा हैं। जीवात्मा संसार वासना से बद्ध होने से छायारूप है, और परमात्मा संसार मुक्त होने से तेजःस्वरूप हैं।

दो प्रकार का उपसंहार गीता १३।२१ में है,—

"पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्। कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥" शुद्ध जीव स्वैरिता के कारण ईश विमुखता हेतु वैकुण्ठ की शुद्धता को छोड़ कर प्रकृति में आसक्त हो जाता है, एवं प्रकृति के गुण सकल को भोग करता है। प्रकृतिजात गुण—सङ्ग वशतः सद् असद् योनिसमूह में जन्म ग्रहण करता है।

उपसंहार वाक्याधीन उपसंहार होने से ही उक्तार्थ ही सामञ्जस्य पूर्ण है। उपसंहार—"क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो-रेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा। भूतप्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ उपक्रम—इदं शरीरं कौन्तेय

'असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्' इति। अथ गी०१३।२) 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानम्' इत्यत्र यत् क्षेत्रे ज्ञानेन्द्रियगतं तेनागतश्च ज्ञानं दर्शयिष्यते, यच्च पूर्वत्रक्षेत्रज्ञे निजनिजक्षेत्रज्ञानं दर्शितम्, तत्तन्मज्ज्ञानांशस्य क्षेत्रेषु छायारूपत्वात् क्षेत्रज्ञेषु यत्किञ्चिदंशांशतया प्रवेशान्ममैव ज्ञानं मतमिति। तस्मात् साधूक्तं मुख्यं क्षेत्रज्ञत्वं परमात्मन्येवेति। अत्र श्रीभगवतः परमात्म-रूपेणाविर्भावोऽपि—(भा० १०।८७।३०)'अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्' इत्युक्तदिशा

सर्वसम्वादिनी

लभ्यन्ते। तस्मात् स्वतएव ज्ञातृतया सिध्यन्नहमर्थ एव प्रत्यगात्मा, न ज्ञप्तिमात्रम्।

एवं (भा० ६।१६।५५—भा०दी०धृत स्मृतिवाक्ये) "सुखमहमस्वाप्सम्" इति सुषुप्तचनन्तरं परामर्शात्तत्राप्य-हमर्थता, सुखिता, ज्ञातृता च गम्यते। तदानीं तमोगुणाभिभवान्न स्फुटोऽवबोधः। "एतावन्तं कालं

क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः॥" इससे आत्मा एवं परमात्मा का भेद सुस्पष्ट उल्लिखित है।

ब्रह्मसूत्रकार ब्रह्मसू० २।१।१७—"असद्व्यपदेशादिति चेन्न धर्मान्तिरेण वाक्यशेषात्" "उत्पत्ति के पहले जगत् नहीं था।" इससे कार्य्य-कारणरूप जगत् का निरास श्रुति से हुआ है। असत् तुच्छ नहीं है, किन्तु धर्मान्तर है, उपादान उपादेय भाव उसका नहीं था। जगत् उत्पत्ति के पहले सूक्ष्म रूपमें निज कारण में अवस्थित होता है। "तदात्मानं स्वयमकुरुत" वाक्य शेष से सुस्पष्ट प्रतीति होती है कि जगत् उत्पत्ति के पहले कारण में लीन था। अन्यथा 'आसीत्'—"आत्मानमकुरुत" उभय का विरोध होगा। असत् वस्तु के सहित काल का सम्बन्ध नहीं होता है। आत्मा के अभाव से कर्त्तृत्व की भी सम्भावना नहीं है।

अथ गीता० १३।२ में—"क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानम्" यहाँ क्षेत्र में ज्ञानेन्द्रियगत जो ज्ञान है, वह परमात्मा की प्रेरणा से ही प्राप्त है। इसके पहले निज निज क्षेत्र का ज्ञान कहा गया है। वह ज्ञान, ज्ञान के छायांश स्वरूप है। क्षेत्रज्ञ में यत् किञ्चित् अंशांश रूप से प्रवेश होने से वह ज्ञान मेरा ही है। अतएव मुख्य क्षेत्रज्ञत्व परमात्मा में ही है। यह कथन अतीव समीचीन है। श्रीभगवान् परमात्म रूपमें आविर्भूत हैं। यह प्रसङ्ग भा० १०।८७।३० श्लोक में है—

"अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता। स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुवनेतरथा॥
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्। सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया।

हे ध्रुव! अर्थात् हे नित्य! जीव यदि वस्तुतः अनन्त, नित्य एवं सर्वव्यापी है, तब आपके सहित सादृश्य वशतः आपमें नियन्तृत्व नहीं रहेगा। कारण औपाधिक रूप में विकारमय जीव उत्पन्न होकर अनुस्यूत रूपमें कारणता का परित्याग न करके स्वीय विकार का नियन्ता बनता है। अतएव जो लोक कहते हैं,—आपका स्वरूप हम सब जानते हैं, वे सब कुछ भी नहीं जानते हैं। क्रम सन्दर्भः—"तदेवं भगवद्भक्तिप्रतिपादनोपयोगार्थमेव वयमप्येवं जीवस्वरूपं निरूपयाम इत्यन्या आहुः—अपरिमिताः।" जीव तत्त्व नित्य है। अतः शास्त्र भगवान् एवं भगवद्भजन भी नित्य होते हैं। जीव स्वीकृत न होने से कुछ भी न मान कर मानव केवल सत्यापलापकारी उच्छृङ्खल हो गया। भगवद्भजन प्रतिपादन की उपयोगिता जीव तत्त्व के ऊपर ही निर्भरशील है, तज्जन्य हम सब जीवस्वरूप का निरूपण करते हैं। यह जीव अपरिमित है। (३०)

बृहत् क्रमसन्दर्भः—ननु स्थिरचरजातीनां मद्विहारे मदीक्षया अजया निमित्तभूतयोत्पन्नत्वमुक्तम्, तत् कथं सङ्गच्छताम्? यतोऽपरिमिता जीवाः सर्वे ध्रुवाः, अतः स्वतन्त्राश्च। कुतो वा तेषां मदंशत्वं मदधीनत्वञ्च? इत्याशङ्कयाहुः—अपरिमिता इत्यादि। हे ध्रुव! नित्य! यदि तनुभृतो ध्रुवाः, तदा

शक्तिविशेषालिङ्गितादयस्मादेवांशाज्जीवानामाविर्भावरतेनैवेति ज्ञेयम्; तदुक्तं तत्रैव (गी०१०।४२)

सर्वसम्वादिनी

नाहमज्ञासिषम्'' इति तु पराग्विषयकः प्रतिषेधः,—अज्ञान-साक्षिणोऽहमर्थस्यानुवृत्तेः। 'मामहं न ज्ञातवान्' इति परामर्शे च तदानीमेकोऽहमंशः स्वाज्ञान-विषयत्वेन प्रतीयते; अन्यस्तु तत्साक्षित्वेन। ततः पूर्वं

तव ध्रुवत्वे तेषामपि ध्रुवत्वे साम्यात् शास्यता न घटते' इति, कृत्वा नियमो नियमनं न स्यात्। ये—अपरिमिता अनन्ताः सर्वगता, व्यापका ध्रुवा नित्या भवन्ति, तदैव नियमनं स्यात्। केवलमित्येव न, अपितु अपरिमिता एव, जीवा स्तदंशत्वात्। 'अहं बहुस्याम्' इति बहु शब्दोऽपरिमितपरः। तेन त्वदंश ध्रुवाः सर्वगताश्च, तथापि तेषां शास्यतैव, ततो नियमनञ्चेत्याहुः—अजनीत्यादि। च-कारः पक्षान्तरं सूचयति। यज् जीवाख्यं वस्तु यन्मयमजनि यदंशत्वेन यन्मयं जातम्, तदंशिरूपं वस्तुनियन्तृ भवेत्। अविमुच्य कारणत्वमविहाय, यतः सममंशत्वेन सममविसदृशमित्यर्थः।। अतोऽशांनामंशी नियन्ता भवतीति भावः।

ननु स एव तावत् कस्तन्निरूप्यतामित्याहुः,—अनुजानतां जानीम इति वदतां यदमत मनिर्वचनीयं वस्तु अमतमविज्ञातं मतञ्चेत् को दुष्ट इत्याहुः—मतदुष्टतया। मतं यत्तद्दुष्टम्, अतस्त्वं ज्ञेयो न भवसि। यो ज्ञेयो न भवति, स एवांशीति त्वदंशास्तु जीवाः। न चैतद् वक्तव्यम्, मदंशा न भवन्ति जीवाः; यतः (गी० १५।७) "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति तवैवोक्तिः। अतस्त्वमेवामतस्त्वमेवांशी, अतो नियन्ता च, नतु जीवः। उक्त प्रकाश अपरिमिता ध्रुवादिमन्तोऽपि न स्वतन्त्रा इति वाक्यार्थः।

स्थावरजङ्गमसमूह की उत्पत्ति मदीक्षण से होती है। जब मैं माया के प्रति काल रूप में ईक्षण करता हूँ, तब माया निमित्त बनकर विश्व उत्पन्न करती है। यह कथन कैसे सम्भव है। कारण—अपरिमित जीव समूह नित्य है, अतः स्वतन्त्र भी है। वे सब कैसे मेरे अधीन एवं अंश होंगे? इस प्रकार आशङ्का कर कहती हैं,—अपरिमिताः। हे ध्रुव! हे नित्य! यदि जीवसमूह ध्रुव हो, तब आप भी ध्रुव हो, और जीवसमूह भी ध्रुव हैं। ध्रुव अंश में समता निबन्धन शासन के योग्य जीव समूह नहीं होंगे। इस रीति से नियम्य नियामक व्यवस्था सम्भव नहीं है। जो अपरिमित, अनन्त सर्वगत व्यापक ध्रुव नित्य होते हैं। उन सब का नियन्ता कौन होगा? अन्यथा यदि अपरिमितादि जीव में न हो तो उस अवस्था में नियमन सम्भव होगा। यह ही केवल नहीं है। किन्तु अपरिमित जीवसमूह आपके ही अंश हैं। आपने कहा था "अहं बहुस्याम्" मैं अनेक बनूँगा। यह बहु शब्द अनेक वाची है। अपरिमित पर है। तज्जन्य आपके अंश ध्रुव, सर्वगत होने पर भी जीवसमूह आपके अधीन ही हैं। इससे ही नियन्ता आप होते हैं। अजनीत्यादि शब्द से कहते हैं। 'च'-कार पक्षान्तर का सूचक है। जीवाख्य वस्तु जिसके अंश से उत्पन्न होती है, उसके अंशीरूप वस्तु नियन्ता होती है।

अविमुच्य—कारणत्व को छोड़कर। कारण—समम्, अंश रूपमें अविसदृश है। अतएव अंशों का नियन्ता अंशी होता है।

वह अंशी कौन है, उसका निरूपण होना आवश्यक है। अनुजानताम्, जानीम, जानते हैं। इस प्रकार जो लोक कहते हैं, कथन ठीक नहीं है। अनिर्वचनीय वस्तु के सम्बन्ध में ऐसा कहना अज्ञता का परिचायक है, वह मत दुष्ट है। अतएव आप ज्ञेय नहीं हैं। जो ज्ञेय नहीं होता है, वह अंशी है। इस नियम से आपका अंश जीव है, मेरा अंश जीव नहीं है। ऐसा अस्वीकार भी नहीं कर सकते हैं। आपकी निजी उक्ति है, (गी० १५।७।)—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"। जीव मेरा ही अंश है। अतएव आप ही जीव का अंशी हैं, एवं नियन्ता भी हैं। जीव नियन्ता नहीं है, वह सर्वथा नियम्य है। अधीन है। उक्त प्रकार अपरिमित ध्रुवादि धर्मवान् होकर भी जीव स्वतन्त्र नहीं है, उक्त वाक्यार्थ यह

ही है।

स्वामिपाद की व्याख्या—"एवं तावत् परमात्मनः सकाशादविद्याकृतकार्य्योपाधयस्तदंशा एव जीवा जाताः संसरन्तो भजन्तीत्युक्तम्। तत्र यद्येका अविद्या तदा जीवस्याप्येकत्वादेकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गः। अथ नाना अविद्यास्तर्हि तस्यैव अंशान्तरेण संसारानपगमात् अनिर्मोक्ष इत्यादि वितर्कबलेन वस्तुत एव नानात्मानस्तत्र च तेषामणुत्वे देहव्यापि चैतन्यं न स्यात्। देहपरिमाणत्वे च मध्यमपरिमाणानां सावयवत्वेनानित्यत्वं स्यात्। अतः सर्वगतानित्याश्चेति केचन मन्यन्ते। तत्र न तावदुक्तदोषप्रसङ्गः, अविद्याभेदेन तच्छक्तिभेदेन वा बद्धमुक्त व्यवस्था सम्भवात्। ईश्वरस्य तु न केनापि अंशेन संसार शङ्केत्युक्तमेव। प्रसिद्धञ्चैकात्म्यं सर्वश्रुतिषु। किन्तु इमं पक्षमन्तर्य्यामिब्राह्मणमपि न सहते इत्याह, अपरिमिता इति। वस्तुत एव अनन्ता ध्रुवास्तेनैव रूपेण नित्याः सर्वगताश्च तनुभृतो जीवा यदि स्युस्तर्हि तेषां समत्वात् शाश्वता न घटत इति कृत्वा हे ध्रुव! नियमो नियमनं त्वया स्यात्। इतरथा तु घटते। कथम्। यन्मयम्—उपाधितो यद्विकार प्रायं यज्जीवाख्यम् अजनि जातं, तत् तस्य विकारस्य नियन्तृ नियामकं भवेत्। अविमुच्य कारणतया अपरित्यज्य। किं तत्। समम्—अनुस्यूतम्।

ननु किं यत्तच्छब्दैर्ज्ञायते चेदुच्यतामिदं तदित्यत आह, अनुजानतां यदमतमिति। 'जानीम' इति वदतां यदमतमविज्ञातप्रायम्। अविषयत्वात्। तथा च श्रुतिः—यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्। अवचनेनैव प्रोवाच स ह तूष्णीं बभूवेत्यादि। किञ्च मतस्य ज्ञातस्य दुष्टतया दोषश्रवणात्। तथा च श्रुतिः—यदि मन्यसे सुवेदेति दहमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य देवेषु इत्यादि। तस्माद् यत्तच्छब्दावद्योत्यमतर्क्यं किमपि सर्वानुस्यूतत्वेन समं नियन्तृ भवेदित्यर्थः।"

अन्तर्यन्ता सर्वलोकस्य गीतः श्रुत्या युक्त्या चैव मेवावसेयः।
यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्नृसिंहः श्रीमन्तं तं चेतसैवावलम्बे॥

परमात्मा से विमुख होकर जीव मायाबद्ध होकर पुनः पुनः शरीर ग्रहण करता है। मायिक शरीर को अपना कर उसका आनुकूल्य करने लगता है। अविद्या यदि एक हो तो जीव मुक्त होने से सब ही मुक्त होंगे। अनेक अविद्या होने से एक अंश मुक्त होने पर अपर अंश संसारी रहेगा। अतएव वस्तुत जीव अनेक हैं। जीव अणु होने से देह व्यापि चैतन्य नहीं होगा। देह परिमाण होने से मध्यम परिमाण सावयव होने से अनित्य होगा। अतएव सर्वगत नित्य स्वरूप कुछ लोक मानते हैं। ऐसा होने से उक्त दोष नहीं होगा। अविद्या भेद से अथवा अविद्यावृत्ति भेद से बद्ध मुक्त व्यवस्था होगी।

ईश्वर,— किसी भी अंश में संसारी नहीं होते हैं। श्रुति में एकात्मता कथन सुस्पष्ट है। किन्तु इस प्रकार सिद्धान्त का अन्तर्य्यामि प्रतिपादकश्रुति समर्थन नहीं करती है। अपरिमिता,—तनुधारी जीव, अनन्त ध्रुव नित्य सर्वगत होती है तो, सम होने से नित्यत्व की हानि होगी। इस प्रकार पूर्वपक्ष के बाद कहती हैं, हे ध्रुव! नियमन तब सम्भव नहीं होता, वैसी समता न होने से ही नियमन सम्भव होगा। उपाधि जनित जो जीव संज्ञा है, उससे नियम्य नियामक बुद्धि हो सकती है। किन्तु उसको परित्याग करने पर सम हो जायेगा। इस प्रकार कथन—अविज्ञात प्राय ही है। कारण ब्रह्म अविषय है। श्रुति कहती है,—"जिसने कहा मैं जान गया, उसने नहीं जाना, किन्तु जिसने नहीं जाना कहा उसने जाना है।" अप्रवचन से ही उक्त होते हैं, कारण—जानने का कारण दोषदुष्ट होने से ज्ञान भी दुष्ट होता है। श्रुति कहती है—"यदि कहो कि मैं अच्छी तरह जान गया हूँ। तब तुम थोड़ा जान गये हो, अतएव अतर्क्य वस्तु सर्वत्र अनुस्यूत होकर नियन्ता होती है। सब लोक अन्तर्य्यामी रूप से गान करते हैं।"

श्रुतियुक्ति भी उस प्रकार प्रतिपादन पर हैं। "जो सर्वशक्ति श्रीमान् श्रीनृसिंह हैं। मैं चित्त से उनको अवलम्बन करता हूँ।" "अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्।" इस दिग्दर्शन रूप नियम के द्वारा तटस्था शक्तिविशिष्ट अर्थात् जीवशक्ति विशेष के द्वारा आलिङ्गित, जिस स्वरूप के अंश रूप जीवों का आविर्भाव होता है, उन जीव शक्तिविशिष्ट स्वरूप के द्वारा ही जीवों का नियन्ता होते हैं। उस विषय

"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इत्यादि ; श्रीविष्णुपुराणे च (१।९।५२)—

"यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता । परब्रह्मस्वरूपस्य प्रणमाम तमव्ययम्" ॥१४॥ इति ।

पूर्णशुद्धशक्तिस्तु (वि०पु० १।९।४४) "कलाकाष्ठानिमेषादि-" इत्यनेन दर्शिता ; तथा श्रीनारद-पञ्चरात्रे श्रीनारद उवाच—

"शुद्धसर्गमहं देव ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः । सर्गद्वयस्य चैवास्य यः परत्वेन वर्त्तते" ॥१५॥

तत्रैतत् पूर्वोक्तः प्राधानिकः शाक्तश्चेत्येतत्सर्गद्वयस्येति ज्ञेयम् ; श्रीभगवानुवाच—

सर्वसम्वादिनी

परामर्शकोटि-प्रविष्टं महत्तत्त्वजं देहोऽहमित्युपाध्यभिमानिनमहमंशं सुषुप्तौ निलीनं तदानीमनुभवसिद्धस्ततः परोऽहमंशः शुद्धात्मा न ज्ञातवानित्येवं तत्र विवेकः । जाग्रदाद्यवस्थयोरहमर्थस्तद्युगलस्याविवेकश्च परस्पर-तादात्मयापत्त्यपेक्षया । ततः परागरूपस्यैवाहङ्कारस्य क्षेत्रान्तःपातः (ब्र०सु०१।१।१—श्रीभाष्ये ७५तम

का वर्णन गीता के १०।४२ में है,—

"अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ! विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥"

हे अर्जुन ! अधिक जानने की आवश्यकता ही क्या है । संक्षेप से वक्तव्य यह है कि—मेरी प्रकृति शक्ति सर्वशक्ति सम्पन्न है । उसके एक एक प्रभाव द्वारा मैं इस जगत् में प्रविष्ट होकर वर्त्तमान् हूँ । जड़ प्रभाव द्वारा जड़ीय सत्तामें एवं जीव प्रभाव के द्वारा जीवजगत् में प्रविष्ट होकर जीवजगत् के सहित सम्बन्धान्वित मैं हूँ । (४२)

गी० भा०—एवमवयवशो विभूतीरुपवर्ण्य सामस्त्येन ताः प्राह, अथवेति, बहुना पृथक् पृथगुपदिश्यमानेन विभूति विषयकेन ज्ञानेन तव किं प्रयोजनम् ? हे अर्जुन ! चिदचिदात्मकं हरविरिञ्चिप्रमुखं कृत्स्नं जगदहमेकेनैव प्रकृत्याद्यन्तर्य्यामिणा पुरुषाख्येण अंशेन विष्टभ्य स्रष्टृत्वात् स्रष्टा धारकत्वाद्धृत्वा व्यापकत्वाद्व्याप्य पालकत्वात् पालयित्वा च स्थितोऽस्मीति सर्जनादीनि मद्विभूतयो मद्व्याप्तेषु सर्व्वैश्वर्य्यादि सर्वाणि वस्तूनि मद्विभूतितया बोधयानीति ।" यच्छक्तिलेशात् सूर्य्याद्या भवन्त्युग्रतेजसः ।
यदंशेन धृतं विश्वं स कृष्णोदशमेऽच्चर्यते ॥

पृथक् पृथक् विभूतीयों का वर्णन करने के पश्चात् समस्त को लक्ष्य कर कहते हैं । अथवा पृथक् पृथक् ज्ञान से लाभ कुछ नहीं हैं । समस्त को जानने से ही पूर्ण ज्ञान होता है । हे अर्जुन ! चित् एवं अचिदात्मक हर-विरिञ्चि प्रमुख समस्त जगत् को प्रकृति अन्तर्य्यामि पुरुष रूप से अधिकार कर स्थित हूँ । मैं स्रष्टा, धारक एवं व्यापक हूँ । इससे व्याप्य पालक रूपमें सक्रियरूप से संयुक्त हूँ । अतः सर्जनादि समस्त विभूति व्यापकरूप मेरी ही है । समस्त वस्तु को मेरी विभूतिरूप ही जानना ।

जिनके शक्ति लेश से सूर्य्य प्रभृति प्रकाशबहुल होते हैं, जिनके अंश से समस्त जगत् विधृत हैं, उन श्रीकृष्ण की अर्च्चना का वर्णन दशमाध्याय में है । (४२)

श्रीविष्णुपुराण में लिखित है,—"जिन परमब्रह्मस्वरूप के अयुत अंश के अंश में इस विश्व सृष्टिकारिणी शक्ति अवस्थित हैं, उन अव्यय पुरुष को हम सब प्रणाम करते हैं ।"

विष्णुपुराण में पूर्णशुद्ध शक्ति का वर्णन भी है, (१।९।४४)—"कलाकाष्ठानिमेषादि" श्लोक के द्वारा दर्शित हुआ है । उस प्रकार श्रीनारद पञ्चरात्र में भी वर्णित है,—"श्रीनारद महाशय बोले—हे देव ! मैं तत्त्वतः उन शुद्ध सृष्टि को जानना चाहता हूँ, एवं उभय सृष्टि को भी जानना चाहता हूँ । तथा सृष्टि से जो अतीत हैं, उनको भी जानना चाहता हूँ । (१५)

इसमें पूर्वोक्त प्राधानिक अर्थात् प्रधान—प्रकृतिकृत सृष्टि एवं शक्ति अर्थात् माया कृत सृष्टिरूप सृष्टिद्वय को जानना होगा ।

"यः सर्वव्यापको देवः परब्रह्म च शाश्वतम् । चित्सामान्यं जगत्यस्मिन् परमानन्दलक्षणम् ॥१६॥
वासुदेवादभिन्नन्तु वह्न्यर्केन्दुशतप्रभम् । वासुदेवोऽपि भगवांस्तद्धर्मा परमेश्वरः ॥१७॥
स्वां दीप्तिं क्षोभयत्येव तेजसा तेन वै युतम् । प्रकाशरूपो भगवानच्युतञ्चासृजद्‌द्विज ॥१८॥
सोऽच्युतोऽच्युततेजाश्च स्वरूपं वितनोति वै । आश्रित्य वासुदेवञ्च खस्थो मेघो जलं यथा ॥१९॥
क्षोभयित्वा स्वमात्मानं सत्यभास्वरविग्रहम् । उत्पादयामास तदा समुद्रोर्मिर्जलं यथा ॥२०॥
स चिन्मयः प्रकाशात्मा उत्पाद्यात्मानमात्मना । पुरुषाख्यमनन्तञ्च प्रकाशप्रसरं महत् ॥२१॥
स च वै सर्वजीवानामाश्रयः परमेश्वरः । अन्तर्यामी स तेषां वै तारकाणामिवाम्बरम् ॥२२॥
सेन्धनः पावको यद्वत् स्फुलिङ्गनिचयं द्विज । अनिच्छातः प्रेरयति तद्वदेष परः प्रभुः ॥२३॥
प्राग्वासना-निबन्धनां बन्धनाञ्च विमुक्तये । तस्माद्विद्धि तदंशांस्तान् सर्वांशिन्तमजं प्रभुम्" ॥२४॥ इति ।

अतएव यत्तु ब्रह्मादौ श्रीप्रद्युम्नस्य, मन्वादौ श्रीविष्णोः, रुद्रादौ श्रीसङ्कर्षणस्यान्तर्यामित्वं श्रूयते, तन्नानांशमादायावतीर्णस्य तस्यैव तत्तदंशेन तत्तदन्तर्यामित्वमिति मन्तव्यम् । अतएव रुद्रस्य श्रीसङ्कर्षणप्रकृतित्वं पुरुषप्रकृतित्वञ्चेत्युभयमप्याम्नातम्, (भा० ५।१७।१६) "प्रकृति-

सर्वसम्वादिनी

अनु०) "अस्यैवाहङ्कारस्याभूततद्भावेष्वर्थेषु च्वि-प्रत्ययमुत्पाद्य व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या ।"

तस्मादहमर्थस्तदन्यस्तदा साक्षित्वेनावतिष्ठत एव । तथैव (ब्र०सू० श्रीभाष्ये ७४तम अनु०) "सुषुप्तावात्मा तत्राऽज्ञान-साक्षित्वेनास्त इति भवदीया प्रक्रिया । साक्षित्वञ्च साक्षाज्ज्ञातृत्वमेव । तथा च भगवान्

श्रीभगवान् बोले—हे द्विज ! जो सर्वव्यापक देव, परमब्रह्म, शाश्वत, इस जगत् के जो सामान्य चित् 'ज्ञान' स्वरूप, परमानन्दमय हैं, जो वासुदेव से अभिन्न एवं शतशत अग्नि, सूर्य्य, चन्द्र तुल्य प्रभावशाली हैं, भगवान् वासुदेव परमेश्वर होकर भी उक्त धर्मविशिष्ट होते हैं, और निज शक्ति को निज ही प्रभाव से क्षोभित करते हैं, पश्चात् प्रकाशरूप भगवान् उक्त तेज से युक्त अच्युत को सृजन किये । (१६-१७-१८)

अनन्तर अच्युत तेजसमूह युक्त अच्युत, आकाशस्थ मेघ जिस प्रकार जल का विस्तार करता है, उस प्रकार वासुदेव को आश्रय करके स्वीय रूप का विस्तार करते हैं । (१९)

अनन्त समुद्र जिस प्रकार निज को क्षोभित करके तरङ्गायित जल को उत्पन्न करता है, उस प्रकार नित्य तेजोमय विग्रह को उत्पन्न आपने किया । (२०)

तत्पश्चात् प्रकाशात्मा चिन्मय पुरुष, निज के द्वारा निज को उत्पन्न करके महत् प्रकाशशाली अनन्त पुरुषाख्य रूप धारण करते हैं । (२१)

हे ब्रह्मन् ! आकाश यद्रूप तारकासमूह का आश्रय है, तद्रूप परमेश्वर सकल जीवों का आश्रय एवं अन्तर्य्यामी हैं । (२२) हे द्विज ! इन्धन (काष्ठ) युक्त अग्नि यद्रूप स्फुलिङ्गसमूह का विस्तार अनिच्छा से ही करता है, तद्रूप परमेश्वर प्रभु, तद्रूप पूर्व वासना निबद्ध जीव निचय की विमुक्ति के निमित्त अनेक प्रकार अवतार प्रकाश करते हैं । तज्जन्य जीवसमूह को उनके अंश स्वरूप से जानना एवं अज प्रभु को सबके अंशी रूपमें जानना । (२३-२४)

अतएव द्वितीय पुरुष गर्भोदकशायी प्रद्युम्न को ब्रह्मा का अन्तर्य्यामी, मनु आदि का अन्तर्य्यामी श्रीविष्णु, एवं रुद्रादि का अन्तर्य्यामी श्रीसङ्कर्षण को कहा गया है । इस प्रकार वर्णन में भी अनेक प्रकार शक्ति से अवतीर्ण स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का मौलिक अन्तर्य्यामित्व उन उन अंश को लेकर है । अतएव रुद्र की प्रकृति एवं श्रीसङ्कर्षण की प्रकृति एक है, उभय ही सम रूपमें ध्वंसात्मक लीला का निर्वाहक हैं । पुरुष प्रकृति भी उभय में है, उभय ही सृजन कार्य्य का निर्वाह समान रूप से करते हैं ।

मात्मनः सङ्कर्षणसंज्ञां भव उपाधावति" इत्यादौ, (भा० ११।४।५) **"आदावभूच्छतधृतिः" इत्यादौ च। एष एव** (वि०पु० ५।१८।५०)—

सर्वसम्वादिनी

पाणिनिः (५।२।९१)—"साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्" इति। स चायं साक्षी "जानामि" इति प्रतीयमानोऽस्मदर्थ एवेति कुतस्तदानीमहमर्थो न प्रतीयेत?" मोक्षदशायामप्यहमर्थो नानुवर्त्तत इति चेदस्मच्छब्दाभिधेयस्यात्मनो नाशभयात्, तदा या काचित् सम्विदनुवर्त्स्यति, तत्राप्यात्मत्वेनाभिमानाभावादपसर्पेदेवासौ मोक्ष-

श्रीमद् भा० ५।१७।१६ में वर्णित है—"भवानीनाथैः स्त्रीगणार्बुदसहस्रै रवरुध्यमानो भगवतश्चतुर्मूर्त्तेर्महा-पुरुषस्य तुरीयां तामसीं मूर्त्ति प्रकृतिमात्मनः सङ्कर्षणसंज्ञामात्मसमाधिरूपेण सन्निधाप्यैतदभिगृणन् भव उपधावति।" टीका—"भवानीनाथः स्वामिनी येषां तैः स्त्रीगणानां अर्बुदसहस्रैः अवरुध्यमानः—सर्वतः सेव्यमानः। आत्मनः प्रकृतिं कारणम्। आत्मनि समाधिर्ध्यानं यस्य तेन रूपेण। एतद्वक्ष्यमाणं मन्त्रादिकमभिगृणन् जपन्। (१६)

असंख्य स्त्रीगण परिवृत एवं सेवित भवानीनाथ,—निजाभीष्ट तामसी मूर्त्तिस्वरूप श्रीसङ्कर्षण की उपासना वक्ष्यमाण मन्त्रसमूह के द्वारा समाधिस्थ होकर करते हैं। भा० ११।४।५ में वर्णित है—

"आदावभूच्छतधृतिरजसास्य सर्गे विष्णुस्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः।
रुद्रोप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य इत्युद्भव स्थितिलयाः सततं प्रजासु॥"

इस श्लोक में आदि कर्त्ता का उल्लेख होने से अपर कर्त्ता की सत्ता सूचित होता है। उसको दर्शाने के निमित्त गुणावतार द्वारा चराचर सृष्ट्यादि कर्त्तृत्व को कहते हैं। महाराज! जगत् के सृष्टि कार्य्य के निमित्त रजोगुण के द्वारा प्रथमतः ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है। पालन के निमित्त सत्त्वगुण से यज्ञफल दाता, द्विजधर्म पालक विष्णु आविर्भूत होते हैं। सृष्टि नाश के निमित्त तमोगुण द्वारा रुद्र आविर्भूत होते हैं। इस क्रम से जिनसे प्रजावर्ग के सृष्टि-स्थिति-लय कार्य्य सम्पादित होते हैं, वह ही आद्य पुरुष हैं।

क्रमसन्दर्भः—तस्य गुणावताराणाह-आदाविति, स युगपद् गुणत्रयाधिष्ठाताद्यः पुरुषः पृथक् पृथगपि तत्तद् गुणाधिष्ठानलीलयैवादौ रजसास्य जगतः सर्गविसर्गे कार्य्ये शतधृतिर्ब्रह्माभूत्। स्थितौ विष्णुः सत्त्वेनेत्युनुक्ति स्तस्य शुद्धसत्त्वरूपत्वात्। सान्निध्येनैव सत्त्वगुणोपकारकत्वाच्च। तस्या तिरोहितस्वरूपतया तत् सम्बन्धोपचारस्याप्युट्टङ्कनमयुक्तमित्यभिप्रायेण; पालनकर्त्तृत्वेन क्रतुपतिस्तत्फलदाता, यज्ञरूपस्तु लीला-वतारमध्ये एव श्रीब्रह्मणा द्वितीये (भा० २।७।२) गणितः। द्विजानां धर्माणाञ्च सेतुः पालक इत्यर्थः। तमसा कस्याप्ययाय रुद्रोऽभूदित्यनेन प्रकारान्तरेणोद्भव-स्थिति-लया भवन्तीति। अत्र ब्रह्मरुद्रयोरवतारा-वसरो मोक्षधर्मे विविक्तोऽस्ति; यथा (महाभारत शान्तिपर्वे—३४१।१६-१९) "ब्रह्मरात्रिक्षये प्राप्ते तस्य ह्यमित तेजसः। प्रसादात् प्रादुरभवत् पद्मं पद्मनिभेक्षणः। ततो ब्रह्मा समभवत् स तस्यैव प्रसादजः। अह्नः क्षये ललाटाच्च ततो देवस्य वै तथा। क्रोधाविष्टस्य संजज्ञे रुद्रः संहारकारकः" इति। श्रीविष्णोस्तु तृतीये दृश्यते। (भा० ३।८।१५) "तल्लोकपद्मं स एव विष्णुः" इत्यादौ 'यं स्म वदन्ति सोऽभूत्" इति, अस्यार्थ स्तत्रैव दर्शितः।"

श्रीविष्णु के गुणावतारों का वर्णन करते हैं। आदाविति, युगपद् गुणत्रय का अधिष्ठाता आद्य पुरुष पृथक् पृथक् होकर भी सत्त्व-रजः-तमः गुणाष्ठान लीला के निमित्त रजोगुण के द्वारा शतधृति ब्रह्मा हुये। स्थिति के निमित्त सत्त्वगुण से विष्णु हुए। श्रीविष्णु सत्त्व से हुए। इस प्रकार उक्ति श्लोक में न होने का कारण—विष्णु निज शुद्धसत्त्व में स्थित होते हैं। सान्निध्य द्वारा सत्त्व गुणों का उपकार करते हैं। विशुद्ध सत्त्व अतिरोहित रूप में रहता है। अतः उसका सम्बन्ध उट्टङ्कन करना भी अनुचित ही है, इस अभिप्राय से सत्त्व का उल्लेख नहीं हुआ है।

"भूतात्मा चेन्द्रियात्मा च प्रधानात्मा तथा भवान्। आत्मा च परमात्मा च त्वमेकः पञ्चधा स्थितः" ॥२५॥
इत्यादौ विवृतः। तस्मात् सर्वान्तर्य्यामी पुरुष एव (भा० १।२।११) "ब्रह्मेति परमात्मेति" इत्यादौ परमात्मत्वेन निर्दिष्ट इति स्थितम्; व्याख्यातञ्च स्वामिभिः "तस्मै नमो भगवते ब्रह्मणे परमात्मने" (भा० १०।२८।६) इत्यत्र वरुणस्तुतौ; "परमात्मने सर्वजीवनियन्त्रे" इति।

अस्य परमात्मनो मायोपाधितया पुरुषत्वन्तूपचरितमेव; तदुक्तं वैष्णवे एव (६।८।५८-५९)—

"नान्तोऽस्ति यस्य न च यस्य समुद्भवोऽस्ति, वृद्धिर्न यस्य परिणामविवर्ज्जितस्य।
नापक्षयञ्च समुपैत्यविकल्पवस्तु, यस्तं नतोऽस्मि पुरुषोत्तममाद्यमीड्यम् ॥२६॥
तस्यैव योऽनु गुणभुग्बहुधैक एव, शुद्धोऽप्यशुद्ध इव मूर्त्तिविभागभेदैः।
ज्ञानान्वितः सकलसत्त्वविभूतिकर्त्ता, तस्मै नतोऽस्मि पुरुषाय सदाव्ययाय" ॥२७॥ इति;

अत्र "तस्यैव अनु पूर्वोक्तात् परमेश्वरात् समनन्तरम्, बहुधा ब्रह्मादिरूपेण अशुद्ध इव

सर्वसम्वादिनी

प्रस्तावादिति मोक्ष-शास्त्र-वैयर्थ्यं स्यात्।

किञ्च, (ब्र०सू० १।१।१—श्रीभाष्ये ७४तम अनु०) "स च प्रत्यगात्मा मुक्तावप्यहमित्येव प्रकाशते,—स्वस्मै प्रकाशमानत्वात्। यो यः स्वस्मै प्रकाशते, स स 'सर्वोऽहम्' इत्येव प्रकाशते; यथा—तथावभासमानत्वेनो-

पालन कर्त्तृत्व रूप में क्रतुपति हैं, क्रतुपति फलदाता हैं। यज्ञ रूप का गणन श्रीब्रह्मा ने द्वितीय (भा० २।७।२) अध्याय में किया है। द्विजों के धर्मों का सेतु पालक हैं। सृष्टि विनशन हेतु रुद्र होते हैं। इस प्रकार से सृष्टि-स्थिति-लय होते रहते हैं।

मोक्षधर्म में ब्रह्म रुद्र का अवतारत्व वर्णित है। ब्राह्मरात्रि क्षय होने से अमित तेजा प्रभु के प्रसाद से पद्म उत्पन्न हुआ, उसमें श्रीविष्णु की प्रसन्नता से पद्मनयन ब्रह्मा आविर्भूत हुए। दिनक्षय होने से उन देव के ललाट से संहार कारक क्रोधाविष्ट रुद्र आविर्भूत होते हैं। तृतीय स्कन्ध में गर्भोदशायी रूपमें विष्णु का वर्णन लोकपद्म रूपमें है।

उपरोक्त प्रमाण समूह से भी श्रीरुद्र का सङ्कर्षण प्रकृतित्व सुस्पष्ट है। श्रीविष्णुपुराण में उक्त है। "भूतात्मा, इन्द्रियात्मा, प्रधानात्मा, आत्मा, परमात्मा रूप पञ्च प्रकार से आप एकक ही अवस्थित होते हैं।" (२५) इत्यादि प्रमाणों से सुविस्तारित हुआ है।

अतएव सर्वान्तर्य्यामी पुरुष का निर्देश ही "भा० १।२।११, ब्रह्मेति परमात्मेति" परमात्मा रूपमें हुआ है। यह स्थिर निर्णय हुआ है। श्रीधरस्वामिपाद ने भा० १०।२८-६,—

"नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने। न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना॥"

टीका—"भगवते—निरतिशयैश्वर्य्याय। ब्रह्मणे—पूर्णाय, परमात्मने—सर्वजीव नियन्त्रे। तत्र हेतुः न यत्रेति। लोकसृष्टि विकल्पयति या माया, सा यत्र न श्रूयते, अविद्यमानेन तिष्ठतीत्यर्थः।"

वरुणकृत स्तुति है,—प्रभो! आप निरतिशय ऐश्वर्य्यशाली हैं, ब्रह्म—पूर्णस्वरूप हैं। परमात्मा—सर्व जीव नियन्ता हैं, आपको नमस्कार। आपमें माया का प्रभाव नहीं है। परमात्मा का मायोपाधि प्रयुक्त पुरुष रूप उपचार से ही है। वैष्णव में उक्त है—जिनका अन्त नहीं है, उद्भव नहीं है, वृद्धि, परिणाम, विवर्ज्जित हैं, जो अपक्षय शून्य हैं, अविकारी विकल्परहित वस्तु आद्य पुरुषोत्तम को प्रणाम करता हूँ। (२६)

उन परमेश्वर एक होकर भी अनेक गुणावतार रूपमें प्रकृति को सञ्चालित करते हैं। जो शुद्ध होकर भी अशुद्ध के समान प्रतीत होते हैं, सृष्ट्यादि कार्य्य में आसक्त हैं, एवं जो ज्ञानान्वित होकर भी दक्षादि, मन्वादि मूर्त्ति भेदसे समस्त प्राणियों का विस्तार कर्त्ता हैं। उन अव्यय पुरुष को सर्वदा नमस्कार करता हूँ। (२७)

सृष्ट्यादिष्वासक्त इव मूर्त्तिविभागानां दक्षादि-मन्वादि-रूपाणां भेदैः सर्वसत्त्वानां विभूतिकर्त्ता विस्तारकृत्" इति स्वामिपादाः। तत्र गुणभुगिति षाड़्गुण्यानन्दभोक्तेत्यर्थः; (मोक्षधर्मे ३३४।२६-३०)—

"यत्तत् सूक्ष्ममविज्ञेयमव्यक्तमचलं ध्रुवम्। इन्द्रियैरिन्द्रियार्थैश्च सर्वभूतैश्च वर्जितम् ॥२८॥
स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते। त्रिगुणव्यतिरिक्तो वै पुरुषश्चेति कल्पितः" ॥२९॥

इति मोक्षधर्मेऽपि नारायणीयोपाख्याने; श्रुतयोऽप्येनं शुद्धत्वेनैव वर्णयन्ति (श्वे० ६।११;४।५)—

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः, साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च" ॥३०॥
"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां, बह्वीः प्रजाः जनयन्तीं सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" ॥३१॥

इत्याद्याः। तस्मात् साधु व्याख्यातम्—"क्षेत्रज्ञ एताः" इत्यादिपद्यद्वयम् ॥ श्रीब्राह्मणो रहूगणम् ॥

२। अथ तस्याविर्भावे योग्यता प्राग्वद्भक्तिरेव ज्ञेया। आविर्भावस्तु-त्रिधा; यथा नारदीय-तन्त्रे—

सर्वसम्वादिनी

भयवादिसम्मतः संसार्य्यात्मा; यः पुनरहमिति न चकास्ति, नासौ स्वस्मै प्रकाशते, यथा घटादिः।"

ततो देहादि-व्यतिरिक्तोऽहमित्येवात्मनः स्वरूपमिति तथा ज्ञानं नाज्ञत्वमुत्पादयत्यपि तु देहाद्यहम्भाव-

उन श्रीपरमेश्वर के 'अनु' अर्थात् पूर्वोक्त परमेश्वर, अनन्तर—बहुधा अर्थात् ब्रह्मादि रूप धारण कर अशुद्ध के समान, सृष्ट्यादि कार्य्य में आसक्त होने के समान मूर्त्तियों को प्रकट करते हैं। अर्थात् प्राणियों का विस्तार कर्त्ता हैं, यह व्याख्या श्रीधरस्वामिपाद की है।

उसमें गुणभुक् शब्द का प्रयोग है, अर्थात् षाड़्गुण्य आनन्द भोक्ता हैं। जो सूक्ष्म के समान अविज्ञेय हैं, अप्रकाश, अचल, नित्य, इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ शब्दादि आकाशादि सर्वभूत वर्जित हैं। जो भूतसमूह के अन्तरात्मा हैं, क्षेत्रज्ञ नाम से सुपरिचित हैं। त्रिगुणातीत पुरुष आप ही हैं। मोक्षधर्म की उक्ति है। (२८-२९) मोक्षधर्मस्थ नारायणीयोपाख्यान में भी उक्त रूप वर्णन है।

श्रुतिसमूह भी उक्त पुरुष को शुद्धरूप में ही वर्णन करती हैं। "एक देव, समस्त भूतों में गूढ़ रूपमें हैं, आप सर्वव्यापी, सबके अन्तरात्मा, कर्माध्यक्ष, सकल भूतों में अधिष्ठित, साक्षी, चैतन्यस्वरूप, केवल निर्गुण रूप हैं।

एक अजा अर्थात् माया, शुक्ल, रक्त, कृष्णस्वरूपा है। आप गुणत्रय से अनेक प्रजा सृजन करती हैं। एक अज, अर्थात् जीव, इनके गुणमुग्ध होकर गुणभोक्ता है। अपर अज—अर्थात् पुरुष, इसको उपभोग करके परित्याग करते हैं। इत्यादि अनेक प्रमाण हैं। अतएव पञ्चम स्कन्धस्थ "क्षेत्रज्ञ एताः" श्लोकद्वय की व्याख्या उत्तम रूपसे हुई है। यह कथन रहूगण के प्रति श्रीब्राह्मण का है ॥१॥

परमात्मा का आविर्भाव में पूर्ववत् भक्ति ही कारण है। अर्थात् परिपूर्ण शक्तिमदद्वय ज्ञानतत्त्व ही भक्तिभावितान्तःकरण में परमात्मरूप किञ्चिदाकृतिविशिष्ट रूपमें आविर्भूत होते हैं, ब्रह्माजी ने कहा है,—

"त्वं भक्तियोगपरिभावित हृत्सरोजे आस्से श्रुतेक्षित पथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद् यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥"

भक्त जिस प्रकार भक्ति परिभावित हृदयकमल में श्रीप्रभु का ध्यान करता है, प्रभु उस प्रकार स्वरूप

"विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः। प्रथमं महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्। तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते" ॥३२॥ इति;

तत्र प्रथमः (बृ० २।१।२०) "यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति", (बृ० १।२।५) "स ऐक्षत" इत्याद्युक्तो महासमष्टिजीवप्रकृत्योरेकतापन्नयोर्द्रष्टेत्येक एव। अयमेव सङ्कर्षण इति, महाविष्णुरिति च; ब्रह्मसंहितायां (५।८) यथा—"तल्लिङ्गं भगवान् शम्भुर्ज्योतीरूपः सनातनः";

सर्वसम्वादिनी

विरोधित्वान्मोचयत्येव। अतएव लब्धविज्ञानानामप्यहम्भावः श्रूयते;—(बृ० १।४।१०) "तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्य्यश्चेति"; (अथर्वशिराः ९मन्त्र०) 'अहमेव प्रथममासं वर्त्तामि च भविष्यामि' इति।-

में ही वहाँ आविर्भूत होते हैं। तीन प्रकार से आविर्भूत होते हैं। नारदीय तन्त्रमें वर्णित है,—श्रीविष्णु के तीन रूप हैं, तीनों को पुरुष शब्द से कहते हैं। प्रथम—महत् स्रष्टा, कारणार्णवशायी, द्वितीय—गर्भोदकशायी समष्टि अन्तर्य्यामी, तृतीय—क्षीराब्धिशायी व्यष्टि अन्तर्य्यामी हैं। इन तत्त्वों को जानने से जीव मायिक अध्यास से मुक्त होता है।

प्रथम पुरुष का वर्णन करते हैं,—वृहदारण्यक में उक्त है- जिस प्रकार अग्नि से क्षुद्र क्षुद्र विस्फुलिङ्ग अग्नि कण समूह निर्गत होते रहते हैं। "स ऐक्षत" अर्थात् उक्त पुरुष प्रकृति के प्रति दृक्पात किये। एकभावापन्न महासमष्टि जीव प्रकृति के प्रति द्रष्टा एक पुरुष है। आप ही सङ्कर्षण, महाविष्णु नाम से अभिहित होते हैं। ब्रह्मसंहिता में उक्त है—तल्लिङ्गं भगवान् शम्भुर्ज्योतीरूपः सनातनः।

या योनि सा पराशक्तिः कामोवीजं महद्धरेः ॥८

किसी किसी शास्त्रमें शिवशक्ति को जगत्कारण कहा गया है, उसका समाधान करते हैं। जिस प्रकार विराट् पुरुष की वर्णना में ब्रह्माण्ड को भगवत्स्वरूप माना गया है। उस प्रकार श्रीभगवान् के अङ्गविशेष रूप में शिवशक्ति को जगत् कारण कहा गया है।

टीका—जगत्कारणशङ्कामपनोदयन्निर्णयति ज्योतिरूपः सनातनः भगवान् शम्भुः तल्लिङ्गं भवति। या योनिः सा अपरा प्रधानाख्य शक्तिर्भवति। हरेस्तस्य हर्य्यंशस्य कामोवीजं महद् भवति। ननु कुत्रापि शिवशक्त्योः कारणता श्रूयते, तत्र विराड् वर्णनवत् कल्पनयेति तदङ्गविशेषत्वेनाह—तल्लिङ्गमिति। यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता इति विष्णुपुराणानुसारेण प्रपञ्चात्मनस्तस्य महाभगवदंशस्य स्वांशज्योतिराच्छन्नत्वादप्रकटरूपस्य पुरुषस्य लिङ्गं लिङ्गस्थानीयः यः प्रपञ्चोत्पादकोऽशः स एव शम्भुः। अन्यस्तु तदाविर्भावविशेषत्वादेव शम्भुरुच्यते इत्यर्थः। वक्ष्यते च क्षीरं यथा दधिविकारविशेषयोगात् संजायते नतु ततः पृथगस्तिहेतोरित्यादि। तथा तस्य वीर्य्यविधानस्थानरूपाया मायाया अप्यप्रकटरूपाया या योनिर्योनिस्थानीयोंऽश। सैवापरा प्रधानाख्या शक्तिरिति पूर्ववत्। तत्र हरेस्तस्य पुरुषाख्य हर्य्यंशस्य कामो भवति, सृष्ट्यर्थं दिदृक्षा जायते, इत्यर्थः। ततश्च महदिति, सजीव महत्तत्त्वस्वरूपं वीजमाहितं भवतीत्यर्थः। सोऽकामयतेति श्रुतेः, कालवृत्त्या तु मायायामिति तृतीयाच्च।

जगत् कारण शङ्का अपनोदन हेतु कहते हैं,—ज्योतिरूप सनातन भगवान् शम्भु जगत् का कारण होते हैं। योनि शब्द से—प्रधानाख्या शक्ति को जानना होगा, अभिव्यक्ति स्थान को योनि कहते हैं। श्रीहरि के पुरुष नामक अंश से इच्छामूलक महत्तत्व होता है।

कहीं पर शिवशक्ति को जगत्कारण कहा जाता है? उस वर्णन को विराड् वर्णन के समान जानना होगा। श्रीहरि के शक्तिविशेष होने से ही उसे 'तल्लिङ्ग' कहा गया है। विष्णुपुराण के अनुसार—प्रपञ्चस्वरूप महाभगवदंश की निजांशज्योति से आच्छन्न होने के कारण, अप्रकटरूप पुरुष का लिङ्गस्थानीय

(ब्र०सं० ५।१०) "तस्मिन्नाविरभूल्लिङ्गे महाविष्णुर्जगत्पतिः", (ब्र०सं० ५।१०) "सहस्रशीर्षा पुरुषः" इत्यारभ्य (ब्र०सं० ५।११)—

सर्वसम्वादिनी

किञ्च, (ब्र०सू० १।१।१—श्रीभाष्ये ७४तम अनु०) "सकलेतराज्ञान-विरोधिनः सच्छब्दप्रत्ययमात्रभाजः परब्रह्मणोऽप्यभिमानोऽप्येवमेव ; यथा—(छा० ६।३।२) "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः" इति, (तै० ६।२) "बहु स्यां प्रजायेय" इति, (ऐत० १।१।१) "स ऐक्षत लोकान् नु सृजा" इति, (गी० १५।१८ "यस्मात्

जो प्रपञ्चोत्पादक-अंश है, वह ही भगवान् शम्भु हैं। उनके आविर्भाव विशेष को भी शम्भु कहते हैं। इस ग्रन्थ के ४५ श्लोक में उक्त है—

"क्षीरं यथा दधिविकारविशेषयोगात् सञ्जायते नतु ततः पृथगस्ति हेतोः।
यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्य्यात्, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥"

अनन्तर क्रमप्राप्त महेशस्वरूप का वर्णन करते हैं। जिस प्रकार विकार जनक अम्लादि वस्तु संयोग से दुग्ध दधिरूपमें परिणत होता है, किन्तु वह कारण से पृथक् नहीं है। तद्रूप कार्य्यवशतः जो शम्भु रूप धारण करते हैं, वह भी मौलिक तत्त्व से पृथक् कारण नहीं है। यहाँ पर कार्य्यकारणांश बोध के निमित्त दृष्टान्त उपस्थित है। विकारांश में नहीं, दृष्टान्त सर्वांश में नहीं होता। कारण स्वरूप गोविन्द अविकारी हैं। उन श्रीगोविन्द का मैं भजन करता हूँ। उस प्रकार वीर्य्याविधान स्थान रूप अप्रकट रूपा माया का जो अंश जगत् की अभिव्यक्ति का स्थान है, उसे प्रधानाख्या अपरा शक्ति कहते हैं। उन श्रीहरि की सृष्टि के निमित्त (सृजन करने की) इच्छा होती है। उसको काम शब्दसे कहते हैं। अनन्तर सजीव महत्तत्त्वरूप वीज आहित होता है। श्रुति कहती है—"सो अकामत" उन्होंने कामना की। कालरूप धारण कर माया को परिचालित किया। 'शं भावयति'—निज द्वितीय व्यूह सङ्कर्षण स्वरूप से प्रकृति में विलीन जीवों की उपाधि का सृजन करने से उनका नाम शम्भु हुआ।

"शक्तिमान् पुरुषः सोऽयं लिङ्गरूपी महेश्वरः। तस्मिन्नाविरभूल्लिङ्गे महाविष्णुर्जगत्पतिः॥१०॥"

टीका—सोऽयं शक्तिमान्पुरुषः लिङ्गरूपी महेश्वरो भवति, तस्मिन् लिङ्गे जगत्पतिर्महाविष्णुः आविरभूत्। शक्तिमानित्यर्द्धेन तदेवानूद्य तस्मिन् पूर्वोक्ताप्रकटरूपस्य प्रकटरूपतया पुनरभिव्यक्तिरित्याह, तस्मिन्नित्यर्द्धेन। तस्माल्लिङ्गरूपी प्रपञ्चोत्पादकस्तदंशोऽपि शक्तिमान् पुरुषोच्यते। महेश्वरोऽप्युच्यते, ततश्च तस्मिन् भूतसूक्ष्मपर्य्यन्त तां प्राप्ते लिङ्गे स्वयं तदंशी महाविष्णुराविरभूत्-प्रकटरूपेणाविर्भवति। यतो जगतां सर्वेषां परावरेषां जीवानां स एव पतिरिति। (१०)

पूर्व श्लोकार्थ को सुस्पष्ट रूप से कहते हैं। प्रथम अप्रकट रूपमें अवस्थित की प्रकट रूपमें अभिव्यक्ति होती है। वह लिङ्ग रूपी, कारणरूपी है, प्रपञ्चोत्पादक व्यक्ति प्रथम पुरुष का अंश होने से भी उनको शक्तिमान् पुरुष कहते हैं, महेश्वर भी कहते हैं। अतः उन भूत सूक्ष्म पर्य्यन्त प्राप्त लिङ्गरूप कारण पुरुष में स्वयं तदंशी महाविष्णु आविर्भुत होते हैं। आप समस्त जगत् के समस्त वस्तुओं के पूर्वोत्पन्न परोत्पन्न समस्त जीवों के ही पति हैं।

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। सहस्रवाहुर्विश्वात्मा सहस्रांशः सहस्रसूः॥११
नारायणः स भगवानापस्तस्मात् सनातनात्।
आविरासीत् कारणार्णोनिधिः सकर्षणात्मकः। योगनिद्रागतस्तस्मित् सहस्रांशः स्वयं महान्॥१२
तद्रोम विलजालेषु वीजं सङ्कर्षणस्य च। हैमान्यण्डानि जातानि महाभूतावृतानि तु॥१३

उन पुरुष के रूप को कहते हैं,—उन विश्वात्मा पुरुष के सहस्र मस्तक, सहस्र नयन, सहस्र चरण, सहस्र बाहु एवं सहस्र अवतार हैं। जिनको सहस्रांश कहते हैं। असंख्य सृजन जो करते हैं, उन्हें सहस्रसू

"नारायणः स भगवानापस्तस्मात् सनातनात् । आविरासीत् कारणार्णोनिधिः सङ्कर्षणात्मकः ।
योगनिद्रां गतस्तस्मिन् सहस्रांशः स्वयं महान् ॥३३॥
तद्रोमबिलजालेषु बीजं सङ्कर्षणस्य च । हैमान्यण्डानि जातानि महाभूतावृतानि तु" ॥३४॥ इत्यादि ।
लिङ्गमिति (वि०पु० १।९।५२) "यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता" इत्यनुसारेण तस्य महाभगवतः श्रीगोविन्दपुरुषोत्पादकत्वाल्लिङ्गमिव लिङ्गं यः खल्वंशविशेषस्तदेव शम्भुः, शम्भु-शब्दस्य मुख्याया वृत्तेराश्रय इत्यर्थः। लिङ्गं भगवत एवाङ्गविशेष इति तत्प्रकरणलब्धम्।

अथ द्वितीय-पुरुषः (तै० २।६।२) 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इत्याद्युक्तः समष्टिजीवान्तर्य्यामी ।

सर्वसम्वादिनी

क्षरमतीतोऽहम्' इत्यादि च" बहुतरम्। तस्मादहमर्थ एवात्मा प्रतिक्षेत्रं भिन्न इति।

तत्रान्ये प्रतिक्षेत्रमभेदं द्विधा वर्णयन्ति ;—(१) उपाधिपार्थक्याद्व्यवहारे पृथगभिमानिनोऽपि तत्त-

कहते हैं, सहस्र शब्द सर्वत्र असंख्यार्थ में प्रयुक्त होता है। द्वितीय स्कन्ध में उनका वर्णन है, "परपुरुष, आद्य अवतार" इसकी टीका में उक्त है, जिनको सहस्रशीर्ष कहा गया है, वह लीलाविग्रह है। भूमा परपुरुष के आद्य—प्रथम अवतार हैं।

आपको कारणार्णवशायी नित्यस्वरूप नारायण कहते हैं। उनसे प्रथम कारण सलिल की उत्पत्ति हुई, उसे कारण समुद्र कहते हैं। वह नारायण सङ्कर्षणात्मक हैं। गोलोक के आवरण में जिस चतुर्व्यूह का का वर्णन है, उसमें से द्वितीय व्यूह सङ्कर्षण हैं। उनका अंश ही यह श्रीनारायण सहस्रांश स्वयं महान् नाम से विख्यात हैं। उनकी लीला को कहते हैं। आप योगनिद्रा में अवस्थित हैं, अर्थात् स्वरूपानन्द समाधि में अवस्थित हैं। "आप" का अर्थ जल है, उसे नारा कहते हैं। मनुष्य को 'आप' कहते हैं। उक्त तत्त्व समूह का आश्रय को नारायण कहते हैं। (१२)

कारणार्णवशायी से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं। सङ्कर्षणात्मक पुरुष का वीज,—अर्थात् पूर्वोक्त जीव सहित महत्तत्त्व, प्रकृति में निहित था। वह प्रथम सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त कर पश्चात् उनके लोम विवर में अन्तर्भूत होकर सुवर्णमय अण्ड रूपमें प्रकट हुआ। ये सब अण्ड अपञ्चीकृत हैं, अर्थात् परस्पर अमिश्रित महाभूत के द्वारा आवृत हैं। दशम में श्रीब्रह्मा जी की उक्ति है—"आपकी महिमा इस प्रकार है,—रोमविवर में अगणित ब्रह्माण्ड के प्रवेश निर्गमन होते रहते हैं।" तृतीय स्कन्धमें वर्णित है—पञ्चाशत् कोटि विस्तृत ब्रह्माण्ड समस्त पदार्थों के सहित ब्रह्माण्ड जहाँ पर प्रविष्ट होते रहते हैं, इस कोटिश ब्रह्माण्ड परमाणुवत् आपके लोमविवर में दृष्ट होते रहते हैं। (१३)

इस प्रकार शास्त्र में अनेक वर्णन हैं। ब्रह्मसंहितोक्त पद्य में "तल्लिङ्गं भगवान् शम्भुः" उक्त है। उसमें लिङ्ग शब्द का अर्थ है—कारण, अर्थात् विष्णुपुराण की उक्ति के अनुसार जिनके अयुत अयुत अंश के अंश में विश्वोत्पादनकारिणी शक्ति है। इस प्रकार के १।९।५२ में उक्त है—"प्रपञ्चात्मनस्तस्य महाभगवदंशस्य स्वांशज्योतिराच्छन्नत्वात् अप्रकटरूपस्य पुरुषस्य लिङ्गं लिङ्गस्थानीयः यः प्रपञ्चोत्पादकोऽशः, स एव शम्भुः" अर्थात् महाभगवान् श्रीगोविन्द आदि कारण हैं, उनकी ही पुरुषावतार प्रकट करने की शक्ति है। उस शक्ति, अंश, कारण के समान जो अंशविशेष है, उनका नाम ही शम्भु है। अर्थात् शम्भु शब्द श्रवण से अभिधा वृत्ति से जो अर्थ होता है, वह ही मङ्गलमय शम्भु हैं। "लिङ्ग" शब्द का अर्थ है, अङ्गविशेष है, 'तस्मिन्नाविरभूत् लिङ्गे'—यहाँ लिङ्ग का अर्थ है,—श्रीगोविन्द के अङ्गरूप अंशविशेष से शम्भु का आविर्भाव होता है। लिङ्ग शब्द का अर्थ श्रीभगवान् का अंशविशेष है, इस प्रकार अर्थ—प्रकरण से प्राप्त है।

अनन्तर द्वितीय पुरुष गर्भोदकशायी का निरूपण करते हैं। तैत्तिरीयक उपनिषत् में वर्णित है—

तेषां ब्रह्माण्डात्मकानां बहुभेदाद्बहुभेदः। तत्रैव सूक्ष्मान्तर्य्यामी प्रद्युम्नः स्थूलान्तर्य्याम्यनिरुद्ध इति क्वचित्। अनेन महावैकुण्ठस्थाः सङ्कर्षणादयस्तदंशिनः। ये तु चित्ताद्यधिष्ठातारो वासुदेवादयस्ते तदंशा एवेत्यादि विवेचनीयम्। तृतीयोऽपि पुरुषः (मु० ३।१।१, श्वे० ४।६)—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न,-मन्यो निरश्नन्नभिचाकशीति" ॥३५॥

इत्याद्युक्तो व्यष्टयन्तर्य्यामी। तेषां बहुभेदाद्बहुभेदः। तत्र प्रथमस्याविर्भावो यथा (भा० २।६।४२)

सर्वसम्वादिनी

दुपाधेः कल्पितत्वाद्वस्तुतस्त्वभिन्ना एवेति केचित्; (२) व्यवहारेऽप्येक एव जीवोऽभिमानी, स्वप्रवत्तत्-कल्पितास्तदभिमानशून्यास्त्वपर इति केचित्। तत्रोभयमपि मूलाज्ञानाश्रय-निरूपणासामर्थ्यादेव निरस्तमस्ति। तथा परिच्छेदाभास-प्रतिविम्व-वादेषु संशयस्य दर्शयिष्यमाणत्वान्न प्रागुक्तमपि मतं

"ब्रह्माण्ड सृजन करने के पश्चात् उक्त सृष्ट पदार्थसमूह में प्रवेश किया है", इत्यादि श्रुति की उक्ति के अनुसार समष्टि जीवों के अन्तर्य्यामी का निरूपण होता है। उन सृष्ट ब्रह्माण्डों के अनेक भेद होने के कारण अन्तर्य्यामी पुरुष भी अनेक होते हैं। ब्रह्मसंहिता—५।१४ "प्रत्यण्डमेवमेकांशादेकांशाद् विशति स्वयम्" सः स्वयमेकांशाद् एकांशाद् प्रत्यण्डमेव विशति, ततश्च तेषु ब्रह्माण्डेषु पृथक् पृथक् स्वरूपैः स्वरूपान्तरैः स एव प्रविवेशेत्याह प्रत्यण्डमिति। एकांशादेकांशादेकेनैकेनतदंशेनेत्यर्थः।"

अनन्तर आप उन-उन ब्रह्माण्ड समूह में एक एक अंश के द्वारा, पृथक् पृथक् स्वरूप के द्वारा, रूपान्तर से बहु रूप धारण कर प्रविष्ट होते हैं। 'एकांशादेकांशाद्' का अर्थ है—एक एक अंश के द्वारा। (१४)

"गर्भोदकशयः पद्मनाभोऽसावनिरुद्धकः। इति नारायणोपाख्यामनूक्तं मोक्षधर्मके।
सोऽयं हिरण्यगर्भस्य प्रद्युम्नत्वे नियामकः।" (लघुभागवतामृत २९)

आदि सङ्कर्षण स्वयं, प्रद्युम्नरूप एक एक अंश को आविर्भावित करके पृथक् पृथक् प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हुए। महाभारत के मोक्षधर्म में वर्णित है,—जो गर्भोदकशायी प्रद्युम्न है, आप ही अनिरुद्ध हैं। यहाँ जानना होगा कि—आदि सङ्कर्षण प्रद्युम्नस्वरूप में ही हिरण्यगर्भ का जनक एवं अन्तर्य्यामी हैं। ब्रह्माण्ड के अनेक भेद से समष्टि अन्तर्य्यामी प्रद्युम्न के स्वरूप में ब्रह्माण्ड के अनुरूप अनेक भेद होते हैं। ग्रन्थान्तर में वर्णित है, सूक्ष्मान्तर्य्यामी प्रद्युम्न हैं, स्थूल अन्तर्य्यामी अनिरुद्ध हैं।

इससे त्रिपाद विभूति वैकुण्ठस्थ व्यूहात्मक—वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध का मूल अंशित्व, एकपाद विभूतिस्थ सृष्टि कार्य्यरत वासुदेव सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध में यथासंख्य रूप से होता है, और मनः-बुद्धि-अहङ्कार-चित्त के अधिष्ठाता रूपमें वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध का वर्णन हैं, वे सब भी उन अंशात्मक वासुदेवादि के अंश हैं। इस प्रकार विचार करना आवश्यक है।

अनन्तर तृतीय पुरुष का वर्णन करते हैं। मुण्डक ३।१।१, श्वेताश्वतर ४।६ में वर्णित है,—"दो चित् स्वरूप पक्षी जिन दोनों में परस्पर का अवियोग एवं एक भावापन्न हेतु परस्पर में सख्यत्व का विधान हुआ है। वे दोनों एक कालीन देहरूप वृक्ष में अवस्थान करने लगे। उक्त दोनों के मध्य में जो जीव संज्ञा से अभिहित है, वह निज काय-वाक्य-मनः से उपार्ज्जित कर्मफल का उपभोग करता है। अपर जो परमात्मा शब्द से परिचित हैं, वह देहादि से उत्पन्न कर्मफल का भोग न करके अतिशय रूपमें प्रकाशित हैं। (३५) इत्यादि श्रुति प्रमाण लब्ध तृतीय पुरुष क्षीरोदशायी प्रत्येक का 'व्यष्टि का' अन्तर्य्यामी हैं। जीवों के अनेक भेद से अन्तर्य्यामी का भी अनेक भेद होता है।

लघु भागवतामृत—"अथ यत्तु तृतीयं स्याद् रूपं तच्चाप्यदृश्यत। 'केचित् स्वदेहान्तर' इति द्वितीय स्कन्ध पद्यतः।"

(२) "आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य" इति ।

टीका च—"परस्य भूम्नः पुरुषः प्रकृति-प्रवर्त्तकः ; यस्य (ऋक् १०।९०।१) 'सहस्रशीर्षा' इत्याद्युक्तो लीलाविग्रहः स आद्योऽवतारः" इत्येषा । अत्र चान्यत्र चावतारत्वं नामैकपाद-

सर्वसम्वादिनी

बुद्धिगोचरम् । (श्वे० ६।११) "एको देवः" इत्यादिवाक्यं तु परमात्मपरम् । अस्यैकत्व-विशेषणेन जीवस्य तु बाहुल्यं सूच्यते । एवमन्यत्रापि विवेचनीयम् । अग्रे तु जीव-परमात्मनोरेकस्वरूपत्वे निषिद्धे स्वयमेवाभेदः पराहन्येत ।

टीका,—अर्थ तृतीयं पुरुषं निर्णयति, 'अथ यत्तु' रति, तत्र प्रमाणं—"केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे, प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् । चतुर्भुजं कञ्ज-रथाङ्ग-शङ्ख-गदाधरं धारणया स्मरन्ति । (भा० २।२।८) इति द्वितीये तथा च क्षीराब्धिपतिरनिरुद्धस्तृतीयः पुरुषः । प्रादेशमात्र तादृग् विग्रहतया सर्वजीवहृद्‌गतो ध्येय इति । तर्ज्जन्यङ्गुष्ठयो विस्तृतयोर्यावदन्तरं स प्रादेशकथ्यते ।"

अनन्तर सर्वभूतस्थ तृतीय पुरुष का वर्णन करते हैं । "केचित् स्वदेहान्तः" इत्यादि श्रीमद्भागवतस्थ द्वितीय स्कन्धोक्त पद्यानुसार उनको जाना जाता है । पालनकर्त्ता विष्णो को तृतीय पुरुष कहते हैं, आप व्यष्टि जीव का अन्तर्य्यामी हैं, आप ही क्षीरोदशायी अनिरुद्ध हैं, चतुर्भुज विष्णुमूर्ति हैं, आपको सर्वभूतस्थ परमात्मा कहते हैं ।

क्रमसन्दर्भः—अथ तत्रापि एकदेशिनां मतमाह— केचिदित्यादिना, तत्र केचिदिति सार्द्धचतुष्क व्यष्ट्य-न्तर्य्यामिन एव धारणेयम् । गर्भोदयशायिरूप समष्ट्यन्तर्य्यामिधारणा तु तृतीयस्कन्धे (भा० ३-५-२३,३७, ३।६।२-३४, ३-७-२१-४१, ३-८-१०-३२ इत्यादि) तद् वर्णनानुसारेण ज्ञेया । सैव सूचिता (भा० २।१।३९) "तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत" इति ।"

एकदेशी का मत को कहते हैं । व्यष्ट्यन्तर्य्यामी की धारणा हेतु यह प्रक्रिया है । गर्भोदकशायिरूप समष्टि अन्तर्य्यामी की धारणा का विवरण भागवत के तृतीय स्कन्ध में है । उन सत्य आनन्दनिधि का भजन करें, जिससे आत्मपात नहीं होगा ।

उनके मध्य में प्रथम पुरुष का आविर्भाव वर्णन करते हैं । भा० २।६।४२

"आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य कालः स्वभावः सदसन्मनश्च ।
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः ॥"

प्रकृति प्रवर्त्तक जो पुरुष हैं, आप ही परमब्रह्म भगवान् का आद्यावतार हैं । अपर काल, स्वभाव, कार्य्य-कारणरूपा प्रकृति, महत्तत्त्व, महाभूत, अहङ्कार तत्त्व, सत्त्वादि गुण, इन्द्रिय सकल, समष्टि शरीर स्वरूप विराड़् देह, स्वराट् अर्थात् वैराज पुरुष, स्थावर जङ्गम हैं ।

क्रमसन्दर्भः—पूर्वार्थमेव स्पष्टयति—आद्योऽवतार इत्यादिना । परस्य भूम्नः स्वरूपेण शक्त्या च सर्वातिशायिनोऽवतारः । प्राकृतवैभवे स्वच्छयाविर्भावः ।

पूर्व श्लोकार्थ को कहते हैं—स्वरूप एवं स्वरूपशक्ति विभावित सर्वातिशायी का अवतार, प्राकृत वैभव में स्वेच्छा से आविर्भूत होते हैं ।

स्वामिटीका—"अवतारान् विस्तरेणाह—आद्य इति, यावदध्याय समाप्ति । परस्य भूम्नः पुरुषः—प्रकृति प्रवर्त्तकः । यस्य सहस्रशीर्षेत्याद्युक्तो लीलाविग्रहः, स आद्योऽवतारः । वक्ष्यति हि भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् । स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायणमादिदेवः । यथोक्तं विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः, प्रथमं महतः स्रष्टृ द्वितीयन्त्वण्डसंस्थितम् । तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते' इति । यद्यपि सर्वेषामविशेषेणावतारत्वमुच्यते तथापि कालश्च स्वभावश्च

विभूत्याविर्भावत्वं ज्ञेयम् ।। श्रीब्रह्मा श्रीनारदम् ।।

३ । द्वितीयस्य यथा (भा० ३।८।२२-२३)—

(३) "कालेन सोऽजः पुरुषायुषाभि,-प्रवृत्तयोगेन विरूढ़बोधः ।
स्वयं तदन्तर्हृदयेऽवभात,-मपश्यतापश्यत यन्न पूर्वम् ।।३६।।
मृणालगौरायतशेषभोग,-पर्य्यङ्क एकं पुरुषं शयानम्" इत्यादि ।

अयं गर्भोदकस्थः सहस्रशीर्षा प्रद्युम्न एव । पुरुषायुषा वत्सरशतेन योगो भक्तियोगः ।

सर्वसम्वादिनी

अथैकजीववादे तु तन्मतगुरूणां—"त्वमेव स एको जीवः, परे तु जीवेश्वररूपा विकल्पास्तत्कल्पिताः स्थाणु-पुरुषकल्पाः" इति–सर्वं प्रत्येवं वदतां वञ्चनकारित्वमेव लक्ष्यते;-स्वस्य चेतनाभिमानसत्तोपलब्धेरन्योऽपि तथाविधो भवेदिति सम्भव-प्रमाणसिद्धश्च जीवान्तरम् । तथान्यत्रापि प्राणिनि स्व-वत् तत्तद्धर्मोप-

सदसदिति कार्य्यकारणरूपा प्रकृतिश्च एताः शक्तयः । मन आदीनि कार्य्याणि । ब्रह्मादयो गुणावताराः । दक्षादयो विभूतय इति विवेक्तव्यम् । मनो महत्तत्त्वम् । द्रव्यं—महाभूतानि । क्रमोऽत्र न विवक्षितः । विकारोऽहङ्कारः, गुणः, सत्त्वादिः, बिराट्—समष्टिशरीरम् । स्वराट्,—वैराजः, स्थास्नु—स्थावरं । चरिष्णु—जङ्गमश्च व्यष्टिशरीरम् ।" (४२)

पर अर्थात् सर्वव्यापक पुरुष प्रकृति का प्रवर्त्तक है । जिनके असंख्य मस्तक इत्यादि हैं, इत्यादि प्रमाणोक्त जो लीलामय विग्रह हैं, आप ही आद्य अवतार हैं । ऋक् मन्त्र में भी "सहस्रशीर्षा" कथित है । इस स्थल में एवं अन्यत्र अर्थात् प्रथम पुरुष, द्वितीय पुरुष एवं तृतीय पुरुष में जो अवतारत्व है, वह एक पाद विभूति में स्वेच्छा से अवतीर्ण है । श्रीब्रह्मा श्रीनारद को कहे थे ।।२।।

द्वितीय पुरुष गर्भोदकशायी प्रद्युम्न का वर्णन करते हैं । भा० ३-८-२२-२३ में वर्णित है—

ब्रह्मा—पुरुष के आयुः परिमित काल में अर्थात् शत वत्सर अतीत होने से सुसम्पन्न योग एवं ज्ञान प्राप्त किए थे, उसके द्वारा आपने स्वयं प्रकाशमान् परतत्त्व का अनुभव किए थे, जिसका अनुभव आपने इसके पहले अन्वेषण करके भी नहीं कर पाया था । (३६)

अर्थात् श्रीब्रह्मा के दृष्टिगोचर हुआ,—"युगान्त सलिल में मृणाल के समान गौरवर्ण अथच विस्तीर्ण शेष नाग के शरीररूप शय्या में शायित एक पुरुष हैं ।" उक्त शेषनाग के मस्तकसमूह उनके आतपत्र हैं । और उसमें स्थित रत्न निचय की प्रभा द्वारा जलराशि उद्भासित हैं ।

टीका—"पुरुषायुषा संवत्सरशतेन कालेन अभिप्रवृत्तः सुसम्पन्नो यो योगस्तेन विरूढ़ उत्पन्नो बोधो यस्य । यत् पूर्वं विचिन्वन्नपि नापश्यत्, तत् स्वयमेवान्तर्हृदयेऽवभातमपश्यत् । (२२)

यदपश्यत् तद्वर्णयति—मृणालेति नवभिः । नवस्वपश्यदित्यस्यैवानुषङ्गः । मृणालवद् गौरश्चासौ आयतश्च यः शेष स्तस्य भोगो देहोः स एव पर्य्यङ्क स्तस्मिन् । कुत्र स्थिते पर्य्यङ्के ? फणातपत्रैरायुताः सर्वतो युक्ता ये मूर्द्धानस्तेषां रत्नानि किरीटस्थानि तेषां द्युभिः प्रभाभिर्हतध्वान्ते युगान्ततोये । (२३)

क्रमसन्दर्भः—पुरुषायुषा - वर्षशतेनेति, श्रीमैत्रेयी वर्त्तमानकलियुगापेक्षया प्राहेति ज्ञेयम् ।।

वस्तुतस्तूत्तराध्याये – भा० ३।९।३० "भूयस्त्वं तप आतिष्ठ" इत्यादि श्रीभागवद्वाक्यान्तरं दशमाध्याये भा० ३।१०।४ "विरिञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः" इत्युक्त्या तदेव ज्ञेयम् । यत्तु द्वितीये भा० २।९।८ "दिव्यं सहस्राब्दम्" इत्याद्युक्तं, तत् ब्रह्मकल्पगतं ज्ञेयम् ।"

आप गर्भोदकशायी सहस्रशीर्षा पुरुष प्रद्युम्न ही हैं । पुरुषायुषा—शब्द का अर्थ है, कलियुग के मानव के निमित्त निर्दिष्ट जीवित काल—शत वत्सर के द्वारा, योग का अनुष्ठान ब्रह्मा महोदय ने किया था । वह

एतदग्रेऽपि (भा० ३।८।२९) "अव्यक्तमूलम्" इत्यत्र अव्यक्तं प्रधानं मूलमधोभागो यस्येत्यर्थः ; (भा० ३।८।२९) 'भुवनाङ्घ्रिपेन्द्रम्' इति भुवनानि चतुर्द्दश तद्रूपा अङ्घ्रिपास्तेषामिन्द्रं तन्नियन्तृत्वेन वर्त्तमानमित्यर्थः ॥ श्रीमैत्रेयो विदुरम् ॥

४ । तृतीयस्याविर्भावो यथा (भा० २।२।८)—

(४) "केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे, प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् ।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख,-गदाधरं धारणया स्मरन्ति" ॥३७॥ इत्यादि ।

सर्वसम्वादिनी

लब्धेरनुमानसिद्धञ्च । वाणकन्यादावनिरुद्धादिवत् स्वप्नदृष्टानामपि काल्पनिकत्व-व्यभिचारात्तद्दृष्टानां सर्व्वेषामेवाकाल्पनिकत्वेन स्थापयिष्यमाणत्वात् (ब्र०सू० २।२।२९) 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' इति न्यायाच्च

योग,—भक्तियोग है । इसके अग्रिम ग्रन्थ में भा० ३।८।२९ में वर्णित है—

"परार्द्ध्य केयूरमणि प्रवेक, पर्य्यस्तदोर्दण्डसहस्रशाखम् ।
अव्यक्तमूलं भुवनाङ्घ्रिपेन्द्रम्, महीन्द्रभोगैरधिवीत बल्शम् ॥"

"अव्यक्तमूलम्" ३।८।२९ में "भुवनाङ्घ्रिपेन्द्र" शब्द का प्रयोग है । इसका अर्थ यहाँ है, अव्यक्त—प्रधान-मूल में अर्थात् अधोभाग में है, जिसका ।

क्रमसन्दर्भः—"अव्यक्तमूलमिति—न व्यज्यते शास्त्रविद्भि र्न कथ्यते मूलं यस्य तं सर्बमूलत्वेन मूलरहितमित्यर्थः । अव्यक्तः स्वयं भगवान्—तन्मूलमिति वा । भुवनरूपाणामङ्घ्रिपाणामिन्द्रमीश्वरम् ।"

शास्त्रकारगण जिनका मूल कथन में सक्षम नहीं हैं, सर्वमूल होने से उनका मूलान्तर नहीं है । मूले मूलाभावात् अमूलमेव मूलम् । अथवा, अव्यक्त शब्द से स्वयं भगवान् को जानना होगा । इससे स्वयं भगवान् ही जिनका मूल है । भुवनरूपाणां अङ्घ्रिपाणामिन्द्रमीश्वरम् भुवनरूप जो मूलसमूह हैं, उन सब के ईश्वर । अर्थात् चतुर्द्दश भूवन रूप जो वृक्षसमूह हैं, उन सबके इन्द्र, ईश्वर हैं । अर्थात् उन सबके नियन्ता परमात्म रूपमें वर्त्तमान हैं ।

स्वामिकृताटीका—महाचन्दनवृक्षरूपकेन निरूपयितुं तं विशिनष्टि परार्द्ध्यानि श्रेष्ठानि केयूराणि अङ्गदानि मणिप्रवेकाश्च मण्युत्तमास्तैः पर्य्यस्ता व्याप्तादोर्दण्डा एव सहस्रम् अनन्ता शाखा यस्य । चन्दनवृक्षोऽपि केयूरादितुल्यैः फलपुष्पादिभिर्व्याप्तशाखो भवति । अव्यक्तं प्रधानं मूलम् अधोभागो यस्य । यद्वा अव्यक्तं, ब्रह्ममूलं यस्य, ब्रह्माभिव्यक्तरूपत्वात् । वृक्षस्यापि मूलं न व्यक्तम् । भुवनात्मकमङ्घ्रिपेन्द्रं वृक्षश्रेष्ठम् । अहीन्द्रस्य अनन्तस्य भोगैः फणैः—देहावयवै र्वा अधिवीताः संवेष्टिताः स्पृष्टा वल्शाः स्कन्धा यस्य । वनस्पते शतबल्शो विरोहेति श्रुतेः । सोऽपि सर्पैर्वेष्टितो भवति । (२९)

श्रीमैत्रेय श्रीविदुर को बोले थे ॥३॥

अनन्तर तृतीय पुरुष क्षीराब्धिशायी अनिरुद्ध का आविर्भाव वर्णन करते हैं । भा० २।२।८ परीक्षित के प्रति श्रीशुकदेव कहे थे,—हे राजन् ! कतिपय व्यक्ति निज देह के अभ्यन्तरमें हृदयरूप जो स्थान निर्दिष्ट है, उसमें अवस्थित प्रादेशमात्र परिमित पुरुष में मनोधारण पूर्वक उनका स्मरण करते हैं । उक्त ध्येय पुरुष चतुर्भुज हैं, एवं उनके भुज चतुष्टय में शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म विराजमान हैं ।

प्रादेश शब्द का अर्थ है—तर्जनी अङ्गुष्ठ के मध्यवर्त्ती जो विस्तार स्थान, उक्त परिमाण । ब्रह्मसूत्र में उक्त है—मनुष्य के अधिकार में शास्त्र है, अतः मनुष्य के हृदय को लक्ष्य कर ही उक्त स्थान निर्णय एवं परिमाण निर्णय हुआ है ।

गोविन्दभाष्य --"हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारात् ।" ननु विभोस्तत्प्रमितत्वं कथं तत्राह—हृद्यपेक्षयेति

प्रादेशस्तर्जन्यङ्गुष्ठयोर्विस्तारस्तत्प्रमाणम् (ब्र०सू० १।३।२५) 'हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्' इति न्यायेन ।। श्रीशुकः ।।

५ । एवं पुरुषस्यानेकविधत्वेऽपि दृष्टान्तेनैकत्वमुपपादयति, (भा० ५।११।१४)—

(५) "यथानिलः स्थावरजङ्गमाना,-मात्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत् ।
एवं परो भगवान् वासुदेवः, क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः" ।।३८।।

आत्मस्वरूपेण प्राणरूपेण निविष्ट ईशेदीशीत नियमयति, इदं विश्वम्; श्रुतिश्च (कठ० २।२।१०)

"वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च" ।।३९।।

सर्वसम्वादिनी

दृष्टान्त-वैकल्यञ्च, तथा सहस्रधा पृथक्पृथक् सुख-दुःखाभिमानि-जीवानन्त्यप्रतिपादक-श्रुति-पुराणागमस्मृति-प्रभृति-शास्त्रसहस्र-कदर्थना च ।

—तु शब्दोऽवधारणे । अङ्गुष्ठमात्रे हृदिस्मर्य्यमाणत्वात् विभोरप्यंगुष्ठमात्रत्वम् । हृन्मानापेक्षया तस्मिन् मानोपचारात् । स्मर्त्तृ भावापेक्षया तादृशस्यापि तस्याचिन्त्यमहिम्नस्तथा हृदिप्राकट्याद्वेत्युदितं प्राक् । ननु देहिभेदेन हृन्मानभेदात् तावत्त्वं तस्याशक्यं सम्पादयितुमिति चेत्तत्राह मनुष्येति । शास्त्रमविशेषेण प्रवृत्तमपि मनुष्यानधिकरोति, तेषां सामर्थ्यादि जुषामुपासकत्व सम्भवात् । ततश्च मनुष्यवपुषामैकविध्यात् तद्वतो तदविरुद्धम् । तेन करितुरगादि हृदामङ्गुष्ठमात्रत्वेऽपि न विरोधः । यत्तु जीवस्याऽत्युङ्गुष्ठमात्रत्व-मुक्तम्, तत् किल तावति हृदिस्थितेरेव तु तावत् स्वरूपतया बालाग्रशतभागेत्याद्युत्तरवाक्येन तस्याणुत्व विनिश्चयात्, तस्मादिदं श्रीविष्णुरेवांङ्गुष्ठमात्र इति ।" (२५)

अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष का विवरण कठवल्ली श्रुति में है—"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति, ईशानो भूतभव्यस्य ततो न विजिगुप्सत" संशय है कि—अङ्गुष्ठमात्र पुरुष शब्द से जीव अथवा परमात्मा का बोध होता है ? हृदय में अवस्थान हेतु जीव का ग्रहण होना ही युक्तियुक्त है । उत्तर में कहते हैं—शब्दादेव प्रमितः । (२४) अङ्गुष्ठप्रमितः श्रीविष्णुरेव । कुतः शब्दादेव ।

"ईशानभूतभव्यस्य इति श्रुतेरेवेत्यर्थः । न चेदृगैश्वर्य्यं कर्माधीनस्य जीवस्य सम्भवेत् ।।"

कैसे विभु का अवस्थान हृदय में होना सम्भव है । "हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारात् । (२५) 'तु' शब्द का अर्थ अवधारण है । हृदय में अङ्गुष्ठ परिमाणक स्मरण के कारण ही विष्णु को अङ्गुष्ठमात्र माना जाता है । अथवा स्मरण कर्त्ता के मत के अनुसार ही विष्णु का आविर्भाव होता है । शास्त्र उपासना मनुष्याधिकार में है, अपरापर शरीर में आहार-निद्रादि का स्वाभाविक ज्ञान है । मनुष्य शरीर में शास्त्राध्ययन जनित ज्ञान लाभ होता है । मनुष्य हृदय के परिमाण से ही प्रादेशमात्र कहा गया है । जैसा शरीर वैसा परिमाण है । जीव को "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः" कहा गया है । अणु परिमाण जीव है, श्रीविष्णु व्यापक हैं । उपासक की इच्छानुसार श्रीविष्णु का आविर्भाव अङ्गुष्ठमात्र परिमाण में योगि के हृदय में होता है । (२५) यह उक्ति श्रीशुकदेव की है ।।४।।

पुरुष अनेक प्रकार होने से भी दृष्टान्त के द्वारा एकत्व प्रतिपादन कर रहे हैं । भा० ५।११।१४ श्लोक में उक्त है—"हे राजन ! जिस प्रकार वायु प्राणरूप में शरीर में प्रविष्ट होकर स्थावर-जङ्गमादि भूतसमूह के प्रति आधिपत्य करता है, उस प्रकार क्षेत्रज्ञ, आत्मा, परमपुरुष, भगवान् वासुदेव जगत् में अनुप्रविष्ट होकर आधिपत्य करते हैं । अर्थात् आत्मस्वरूपत्वं प्राण में प्रविष्ट होकर विश्व को नियमित करते हैं । कठ० २।२।१० श्रुति भी उक्तार्थ को पुष्ट करती है । जिस प्रकार वायु,—भुवन में प्रविष्ट होकर अनेक रूप

इति काठके ॥ श्रीब्राह्मणो रहूगणम् ॥

६ । तथा (भा० १०।५४।४४)—

(६) "एक एव परो ह्यात्मा सर्वेषामेव देहिनाम् ।
नानेव गृह्यते मूढ़ैर्यथा ज्योतिर्यथा नभः" ॥४०॥

देहिनां जीवानाम्, आत्मा परमात्मा ॥ श्रीबलदेवः श्रीरुक्मिणीम् ॥

७ । एवम् (भा० ११।१८।३२)—

(७) "एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः ।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च" ॥४१॥

भूतेषु जीवेषु एक एव पर आत्मा, न त्वसौ जीववत्तत्र तत्र लिप्तो भवतीत्याह—आत्मनि स्वस्वरूप एवावस्थितः; भूतानि जीवदेहा अपि येन कारणरूपेणैकात्मकानीति ॥ श्रीभगवानुद्धवम् ॥

सर्वसम्वादिनी

तच्च शास्त्रम्—(कौषी० १।२) "ये वैके चास्माल्लोकात् प्रयन्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इत्यादि। एवमनाद्यविद्या-युक्तस्य जीवस्य स्वतो ज्ञानोत्पत्तचसम्भवात् स्व-तर्काप्रतिष्ठानाद्वेदगुरूपदेशयोश्च तदज्ञान-मात्र-कल्पितत्वेन स्व-तर्क-वचनान्तरे च पर्य्यवसानादनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च जायत इति । तस्मात् (श्रीजामातृ-

धारण करता है, तद्रूप समस्त भूतों के एक अन्तरात्मा भिन्न भिन्न रूप में शरीर में अवस्थित होने पर भी एक अविकृत रूप में रहते हैं । श्रीब्राह्मण रहूगण को बोले थे ॥५॥

श्रीबलदेव रुक्मिणी को कहे थे—परमार्थतः समस्त देहधारियों के विशुद्ध आत्मा एक है। मूढ़ व्यक्तिगण उनको अनेक देखते हैं। जिस प्रकार जलमें चन्द्रसूर्य्यादि को घटादिमें आकाश को अनेक प्रकार देखते हैं।

क्रमसन्दर्भः—"देहिनां जीवानामेको मिथस्तुल्यस्वरूपः चिद्रूपत्वात् ।" स्वामीटीका—"परमार्थमाह एक एवेति । परः शुद्धः । ज्योतिश्चन्द्रादि र्यथोदकेषु, नभो यथा घटादिष्विति । (४४)

श्रीबलदेव श्रीरुक्मिणी को कहे थे ॥६॥

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्धस्थ अष्टादशाध्याय द्वात्रिंशत् श्लोक में उक्त है—"हे उद्धव ! अनेक उदक पात्र में चन्द्र प्रतिविम्बित होकर अनेक प्रतिभात होता है । किन्तु वस्तुतः एक है, तद्रूप सर्वभूत में आत्मा रूपमें अवस्थित परमात्मा एक ही है । भूत समूह के कारण रूप में भी एकावयव मात्र है ।"

क्रमसन्दर्भः—भूतेषु जीवेष्वेक एव पर आत्मा—परमात्मा । नत्वसौ जीववत्तत्र तत्र लिप्तो भक्तीत्याह—आत्मनि स्व-स्वरूप एवावस्थितः, भूतानि जीवदेहा अपि येन कारणरूपेणैक आत्मनीति । यद्वा, पर आत्मा—परमात्मा ; भूतेष्वन्येषु जीवेष्वात्मनि च स्वस्मिन् जीवे । यथेन्दुरुदपात्रेष्वित्येकस्यैव वैभवमात्रे दृष्टान्तः । नतु प्रतिविम्वतामात्रांशे ।

समस्त भूतों में एक ही परमात्मा हैं । परमात्मा, जीव के समान प्रति देह में लिप्त नहीं होते हैं । परमात्मा—निज स्वरूप में ही अवस्थित हैं । भूतसमूह—जीवसमूह जिनकी कारणता से एकरूप हैं, अथवा पर—परमात्मा, अन्य भूत में निज में, चन्द्र जिस प्रकार जल पात्र में विभिन्न प्रकार प्रतिविम्वित होकर प्रतिभात होता है, एक का वैभव मात्रांश में दृष्टान्त है । प्रतिविम्वित अंश में नहीं ।

श्रीभगवान् उद्धव को बोले थे ॥७॥

८। एवमेकस्य पुरुषस्य नानात्वमुपपाद्य तस्य पुनरंशा विव्रियन्ते। अत्र द्विविधा अंशाः—स्वांशा विभिन्नांशाश्च; विभिन्नांशास्ततटस्थशक्त्यात्मका जीवा इति वक्ष्यते; स्वांशास्तु

सर्वसम्वादिनी

मुनिवाकचे) प्रतिक्षेत्रं भिन्न एव जीवः। तथैव स-युक्तिकं श्रीभगवद्वाक्यम्—(भा० ११।२२।१०)—

"अनाद्यविद्या-युक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम्। स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत्" ॥१॥ इति;—(कठ० १।२।९) 'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ' इति श्रुतेः।

इस प्रकार एक आदि पुरुष के अनेकविधत्व उपपादन करके पुनर्वार अंशसमूह का वर्णन करते हैं। उसके मध्य में अंश,—स्वांश एवं विभिन्नांश भेद से दो प्रकार हैं। स्वांश उन अंश को कहते हैं, जहाँ विलास से किञ्चिन्न्यून शक्ति का प्रकाश होता है। इसका विवरण इस प्रकार है—

"अथोपास्येषु मुख्यत्वं वक्तुमुत्कर्षभूमतः। कृष्णस्य तत् स्वरूपाणि निरूप्यन्त क्रमादिह ॥
स्वयं रूपस्तदेकात्मरूप आवेशनामकः। इत्यसौ त्रिविधं भाति प्रपञ्चातीतधामसु ॥"

जो स्वरूप अनन्यापेक्ष अर्थात् स्वतःसिद्ध है वह ही स्वयं रूप है। शक्ति-गुण-विभूति-लीलावैचित्र्य प्रकटन के कारण स्वयं रूपमें बहुत्व होता है।

"ननु "एकमेवाद्वयम्" इति श्रुतेः वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयं" भा० १।२।११ इति स्मृतेश्च रूपाणीति बहुत्वं कथम्? तत्राह—स्वयमिति। असौ कृष्णः। एकत्वात्यागेनैवाचिन्त्य शक्त्या नानारूप प्राकट्यात् तदुक्ति र्नासङ्गता। एवञ्चाथर्वणीश्रुतिः "एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति।" (गो० ता० पू० २०) इति स्मृतिश्च—"एकानेकरूपाय" (वि० पु० १।२।३) "बहुमूर्त्त्येक-मूर्त्तिकम्" भा० १०।४०।७ इत्याद्या। वैदूर्य्यमणिवत् दिव्याभिनेतृनटवच्चैतद्बोध्यम्। पूर्वपक्षवाक्ययो स्तयोस्तदेकं तत्त्वं विशिष्टमेवमन्तव्यम्, उत्तरत्र वैशिष्ट्यस्य व्यक्तेः। तेनाचिन्त्यशक्तितो बहुत्वसिद्धिः। प्रपञ्चातीतेषु धामसु—श्रीगोकुलादिषु परमव्योमाख्येषु भेदेषु च, पराख्यशक्तिविजृम्भितेष्वित्यर्थः।

"एकमेवाद्वयम् श्रुतिः एवं भा० वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्" प्रमाण से परतत्त्व एक रूप होते हैं। अनेक रूप का कथन कैसे सम्भव हो? कहते हैं—श्रीकृष्ण निज एकत्व को परित्याग न करके ही स्वीय अचिन्त्य शक्ति द्वारा नानारूप प्रकट करते हैं। श्रुति यह है—"कृष्ण एक, सर्वग, ईड्य, एक होकर अनेक होते हैं। स्मृति—एक अनेक रूप। एक मूर्त्ति अनेक होते हैं। वैदूर्य्य मणि के समान, दिव्य नट के समान अनेक होते हैं। पूर्वपक्ष वाक्य में ही अद्वय ज्ञान तत्त्व सर्व्वावस्था में स्वरूपशक्तिमत् होने से ही वैसा होना सम्भव है। शक्ति का अचिन्त्यत्व ही उसके प्रति कारण है। प्रपञ्चातीत धाम में श्रीगोकुल परमव्योम नामक वैकुण्ठ में पराशक्ति के द्वारा विविधत्व का सम्पादन होता है।

ब्रह्मसंहिता के प्रथम श्लोक में इसका वर्णन है। "सच्चिदानन्दविग्रह", यादवगण परदेवता रूपमें, व्रजवासिगण स्वजन रूपमें जिनको मानते हैं, जो कामधेनुवृन्द का अधिपति हैं, स्वीय अंश के द्वारा अर्थात् परमात्मा द्वारा सर्वकारण प्रकृति काल, कर्म प्रभृति का अधिपति हैं, उन तमालश्यामल वर्ण यशोदानन्दन परब्रह्म श्रीकृष्ण ही परमेश्वर अनन्यापेक्षिस्वयं रूप हैं।

"स्वयंदासास्तपस्विनः" कहने से तपस्विगण का दास्य अन्यापेक्षि नहीं है, बोध होता है। अर्थात् स्वयं ही निज परिचर्य्या कार्य्य सम्पादन करते हैं। उक्त स्थल में भी स्वयं रूप उस प्रकार है, एकांश में दृष्टान्त है।

अथवा अङ्कशास्त्रोक्त एकत्व, द्वित्व, त्रित्व, प्रभृति संख्या के मध्य में द्वित्व त्रित्वादि संख्या एकत्व संख्या की अपेक्षा से होती है, अतः वह संख्या परापेक्षी, अस्वयंसिद्ध है। एकत्व संख्या किन्तु द्वित्वादि किसी की अपेक्षा न करके ही सदा प्रकाशमान् है, अतः वह अन्यापेक्ष अथवा स्वयंसिद्ध है।

गुणलीलाद्यवतारभेदेन विविधाः। तत्र लीलाद्यवताराः प्रसङ्ग-सङ्गत्या श्रीकृष्णसन्दर्भे

सर्वसम्वादिनी

(श्रीजामातृमुनिवाक्ये) 'अणुः' इति; अतः स्वयं निरवयव एव जीव इति। तच्चाणुत्वम् (ब्र०सू० २।३।१९) "उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्" श्रवणात्तावत् प्रतीयते;—(कौषी० ३.४) "स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति, सहैव

दार्ष्टान्तिक स्थल में श्रीकृष्ण भी तद्रूप अर्थात् एकत्व संख्या के समान मूलत्व निबन्धन उनकी भगवत्ता की अपेक्षा से ही विलास, स्वांश, (मूल नारायण-मत्स्यादि) प्रभृति भगवत्ता का प्रकाश होता है। किन्तु श्रीकृष्ण की भगवत्ता अन्य (विलास स्वांशादि) की अपेक्षा न करके ही प्रकाशित होती है, अतः श्रीकृष्ण स्वयंसिद्ध अर्थात् स्वयंरूप अथवा स्वयं भगवान् हैं। तदेकात्मरूप—

"यद्रूपं तदभेदेन स्वरूपेण विराजते आकृत्यादिभिरन्यादृक् स तदेकात्मरूपकः। स विलासः स्वांश इति धत्तेभेदद्वयं पुनः।" जो रूप स्वयंरूप के सहित अभिन्न होकर भी आकृत्यादि के द्वारा अन्यादृश हैं, अर्थात् अन्य के समान प्रतिभात होता है, वह रूप तदेकात्मरूप है। अन्य न होकर भी अङ्ग सन्निवेश—चरित्र द्वारा अन्य के समान प्रतिभात हैं। स्वयं रूप में यादृश सौन्दर्य्य, ऐश्वर्य्य, माधुर्य्य, वैदग्ध्य अभिव्यक्त हैं, तादृश सौन्दर्य्यादि अभिव्यक्त विलासादि में नहीं होते हैं। स्वयं रूप के सौन्दर्य्यादि को देखकर विलासादि का क्षोभ होता है। श्रीकृष्ण का विलास,—गोलोक में बलदेव, मथुरा में वासुदेव, सङ्कर्षण, द्वारका में वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध एवं वैकुण्ठ में श्रीनारायण हैं।

विलासः—"स्वरूपमन्याकारं यत् तस्य भाति विलासतः। प्रायेण आत्मसमं शक्त्या स विलासो निगद्यते॥
परमव्योमनाथस्तु गोविन्दस्य यथा स्मृतः। परमव्योमनाथस्य वासुदेवश्च यादृशः॥

तत्र—तयोर्मध्ये। तस्य—स्वयं रूपस्य विलासात्। प्रायेनेति; श्रीमहानारायणस्य गोलोकगतस्य श्रीकृष्ण तादृश वैभवादिदर्शनान्न्यूनत्वाभिमानित्वस्य श्रीब्रह्मवैवर्त्ते वर्णितत्वात्। उदाहरति—परमेति, स्मृतः विलास इति मन्तव्यः। ननु स्वयं रूपस्य विलास इति केवलो भेदो न मन्तव्यो विलासस्यापि विलासोऽस्तीत्याह परमव्योमनाथस्येति। वासुदेवः परमव्योमनाथस्य प्रथमावरक इत्यर्थः। ननु चित्ताधिष्ठाता, तस्य प्रथमव्यूहविलासत्वेन निर्णीतत्वात्। न च व्रजावरकस्तस्य स्वयंरूपस्य विलासत्वेन युक्तिसहत्वात्।

स्वांशः—"तादृशो न्यूनशक्तिं यो व्यनक्ति स्वांशईरितः। सङ्कर्षणादिर्मत्स्यादि र्यथा तत्तत् स्वधामसु।" स्वांशस्य लक्षणमाह—तादृश इति—विलाससदृश इति, विलाससदृशः स्वयंरूपादभिन्न इत्यर्थः। जो विलास शक्तितोऽपि न्यूनां शक्तिं व्यनक्ति—प्रकाशयति, स स्वांश इत्यर्थः। नन्वेतदंशांशिनाभिधानं स्व प्राचो मध्वमुनेर्विरुद्धं, तेन "स्वाप्ययात्"(ब्रह्मसू० १।१।९) इति सूत्रे सर्वेषां भगवद्रूपाणां पूर्णत्वभाषणादिति चेत् ? न, तेनैव "प्रकाशादिवन्नैवं परः" (ब्र० सू० २।३।४४) "स्मरन्ति च" (ब्र० सू० २।३।४७) इत्याद्यधिकरणे तद्भावस्य—अंशांशिभावस्य भाषितत्वात्। "स्वाप्ययात्" (ब्र० सू० १।१।९) इत्यस्य भाष्ये तु स्वरूपसत् पूर्वत्व नित्यविरोधः। इहाप्यभिधास्यते "शक्तेर्व्यक्तिः" इत्यादिना।

जो विलास सदृश,—"विलास जिस प्रकार स्वयंरूप से अभिन्न है, स्वांश भी तद्रूप तत्त्वतः स्वयं रूपसे अभिन्न है।" होकर भी विलास की अपेक्षा से न्यूनशक्ति का प्रकाशक है, उनको स्वांश कहते हैं। जिस प्रकार वैकुण्ठादि धाम में सङ्कर्षणादि पुरुषावतार एवं मत्स्यकूर्मादि लीलावतारगण हैं।

विभिन्नांश "तटस्थ" शक्तिस्वरूप जीव है। इसका विवरण इस ग्रन्थ के ऊनविंश अनुच्छेद में "अथ परमात्मपरिकरेषु जीवस्तस्य तटस्थलक्षणम् (भा० ५।११।१२) "क्षेत्रज्ञ एताः" इत्यत्रोक्तं स्वरूपलक्षणम्" द्वारा होगा। उपरोक्त स्वांश—गुणलीलाद्यवतार भेद से होते हैं। उनमें से लीलादि अवतारों का वर्णन प्रसङ्ग सङ्गति से श्रीकृष्ण सन्दर्भ में करेंगे। अर्थात् स्वयं भगवत्ता वर्णन प्रसङ्ग में अत्यावश्यकरूप से वक्तव्य गुणावतार—श्रीब्रह्मा, श्रीरुद्र, श्रीविष्णु एवं लीलावतार—श्रीचतुःसन, श्रीनारद, श्रीवराह,

वक्ष्यन्ते ; गुणावतारा यथा (भा० ११।४।५)—

(८) "आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे, विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः ।
रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य, इत्युद्भव-स्थिति-लयाः सततं प्रजासु"।।४२।।

सर्वसम्वादिनी

तैः सर्वैरुत्क्रामति' इति, (कौषी० १।२) "ये वैके चास्माल्लोकात् प्रयन्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इति, (बृ० ४।४।६) "तस्माल्लोकात् पुनरेत्यास्मै लोकाय कर्मणे" इति च श्रुतेः। परिच्छिन्नस्यैव तत्तत्-

श्रीमत्स्य, श्रीयज्ञ, श्रीनारायण, श्रीकपिल, श्रीदत्तात्रेय, श्रीहयशीर्ष, श्रीहंस, श्रीध्रुवप्रिय, श्रीऋषभ, श्रीपृथु, श्रीनृसिंह, श्रीकूर्म, श्रीधन्वन्तरि-मोहिनी, श्रीवामन, श्रीभार्गव, श्रीराघवेन्द्र, श्रीव्यास, श्रीबलराम-कृष्ण, श्रीबुद्ध, श्रीकल्की रूप अवतारों का विशद वर्णन करेंगे।

गुणावतारसमूह का वर्णन करते हैं। गुणावतार का विवरण लघुभागवतामृत में—

"गुणावतारास्तत्राथ कथ्यन्ते पुरुषादिह। विष्णुर्ब्रह्मा च रुद्रश्च स्थिति-सर्गादि-कर्मणे ।।"

यथा भा० १।२।२३ में—सत्त्वरजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चि हरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनो र्नृणां स्युः ।। (३१)

टीका,—अथ गुणावताराणाह, गुणेति—पुरुषात् स्वयंप्रभोः स्वांशात्—गर्भोदकशयात् प्रद्युम्नादित्यर्थः। सत्त्वमिति; परः पुरुषः—गर्भोदकशयः, एक एव, अस्य—जगतः, स्थित्यादये—पालन-सर्ग-संहारार्थं, प्रकृतेर्गुणैः—सत्त्वादिभिः, युक्तः—तेषां पृथक् पृथक् अधिष्ठाता सन्, विभिन्ना हरिविरिञ्चि हरा इति संज्ञा धत्ते; तथापि त्रिषु मध्ये सत्त्वतनोः हरेरेव हेतोः, नृणां, श्रेयांसि—धमार्थकाममोक्षलक्षणानि, स्युः, नतु विरिञ्चिराभ्यामित्यर्थः।

अनन्तर स्वयं प्रभु के स्वांश—गर्भोदकशायि प्रद्युम्न से चराचर विश्व के पालन-सृष्टि-संहार के निमित्त आविर्भूत विष्णु, ब्रह्मा, रुद्र त्रिविध गुणावतार होते हैं। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में वर्णित है,—एक ही गर्भोदकशायी—द्वितीय पुरुष, विश्व के पालन, सृष्टि, संहार के निमित्त सत्त्व, रजः, तमः—प्रकृति के गुणत्रय में पृथक् पृथक् भाव से अधिष्ठित होकर हरि, विरिञ्चि, हर नाम धारण करते हैं। तथापि जीव की धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष एवं भक्तिरूप शुभफल प्राप्ति सत्त्वगुण में अधिष्ठित श्रीविष्णु से ही होती है।

अत्र कारिका—"योगो नियामकतया गुणैः सम्बन्ध उच्यते।
अतः स तै र्न युज्येत तत्र स्वांशः परस्य यः ।।" (३२)

उक्त विषय में ग्रन्थकृत् कृत कारिका का अर्थ – नियामकता रूप में सत्त्वादि गुणत्रय के सहित सम्बन्ध को योग कहते हैं। अतएव उक्त द्वितीय पुरुष—प्रद्युम्न कभी भी गुणत्रय के सहित युक्त नहीं होते हैं। विशेषतः ब्रह्मा विष्णु रुद्र त्रिविध गुणावतार के मध्य में जो स्वयं रूप का स्वांश विष्णु हैं, आप प्रकृति के गुण के सहित युक्त नहीं होते हैं।

स्थूल चराचर सृष्टि के निमित्त गुणावतार विष्णु, ब्रह्मा, हर की आवश्यकता होती है। तन्मध्य में सृष्टि के निमित्त रजोगुण का अवतार संहार के निमित्त तमोगुण का अवतार, एवं पालन के निमित्त सत्त्व गुण का अवतार है। सत्त्वगुणावतार पालन कर्त्ता विष्णु हैं। रजोगुणावतार ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता एवं तमो गुणावतार हर—संहारकर्त्ता हैं।

सत्त्व, रजः तमः, गुणत्रय प्रकृति के हैं, एवं नियम्य हैं। अर्थात् गुणावतार के अधीन हैं। ब्रह्मा-विष्णु-शिव रूपमें आविर्भूत द्वितीय पुरुष, गर्भोदकशायी प्रद्युम्न, नियामक, अर्थात् गुणत्रय का परिचालक कर्त्ता हैं। ब्रह्मादि गुणावतारत्रय, गुणसमूह को जिस प्रकार परिचालन करते हैं, गुणसमूह उस प्रकार ही परिचालित होते हैं। मूल श्लोकमें—"तैर्युक्तः" यह वाकच 'योग' का निर्देशक है। उक्त योग—गुणावतार

स युगपत् गुणत्रयाधिष्ठाताद्यः पुरुषः पृथक् पृथगपि तत्तद्गुणाधिष्ठानलीलयैव आदौ रजसा अस्य जगतः सर्गे विसर्गे कार्य्ये शतधृतिर्ब्रह्माभूत्; स्थितौ विष्णुः सत्त्वेनेति शेषः। तत्र साक्षाद्गुणानुक्तिश्च तस्यातिरोहित-स्वरूपतया तत्सम्बन्धोपचारस्याप्युट्टङ्कनमयुक्त-मित्यभिप्रायेण। पालनकर्त्तृत्वेन क्रतुपतिस्तत्फलदाता; यज्ञरूपस्तु लीलावतारमध्य एव

सर्व्वसम्वादिनी

सम्भवे सति देहप्रमाणतायां विकारितापत्तेरणुत्व एव पर्य्यवसानात्तदेव व्यक्तम्।

अत्रोत्क्रान्तिर्वा विभुत्वेऽप्यचलतोऽपि ग्रामस्वाम्यनिवृत्तिरूपा व्याख्यायेत; गत्यागती तु स्वात्मनैव सम्भवतः,—गमेः कर्त्तृस्थक्रियात्वात्। अतो गमेः कर्मण्यक्रियात्वादतो गमेर्याथार्थ्ये सति तत्साहचर्य्येण

के सहित गुणों का नियम्य नियामकतारूप सम्बन्ध है। अतएव गुणावतारगण कभी भी ईदृश सम्बन्ध भिन्न अपर किसी प्रकार गुणयोग प्राप्त नहीं होते हैं। अर्थात् गुणबद्ध नहीं होते हैं। तन्मध्य में ब्रह्मा एवं शिव सान्निध्यमात्र से रजोगुण एवं तमोगुण का परिचालक होते हैं, एवं विष्णु सङ्कल्पमात्र से सत्त्वगुण का उपकारक होते हैं। अतएव श्रीविष्णु किसी भी प्रकार से प्राकृत गुण के सहित युक्त नहीं होते हैं। अतः श्रीविष्णु को निर्गुण कहते हैं।

गर्भोदकशायी द्वितीय पुरुष प्रद्युम्न से जो गुणावतार होते हैं—उसका वर्णन करते हैं। (भा० ११।४।४) प्रथम—आद्य अवतार कथन से अपर अवतार का सङ्केत स्वतः प्राप्त है, अतः द्रविड़, निमि राजा को गुणावतार का प्रकरण कहते हैं। महाराज! जगत् के सृष्टि कार्य्य के निमित्त रजोगुण द्वारा प्रथमतः ब्रह्मा, पालन कार्य्य हेतु सत्त्वगुण से यज्ञ फलदाता द्विजधर्म सेतु विष्णु आविर्भूत होते हैं। नाश हेतु—तमोगुण द्वारा रुद्र आविर्भूत होते हैं। इस क्रम से जिनसे प्रजागण के सतत सृष्टि-स्थिति-लय कार्य्य होते रहते हैं, वह ही आद्य पुरुष हैं।(४२)

"तस्य गुणावतारानाह—आदाविति। स युगपद् गुणत्रयाधिष्ठाताद्यः पुरुषः पृथक् पृथगपि तत्तद् गुणाधिष्ठानलीलयैवादौ रजसास्य जगतः सर्गे विसर्गे कार्य्ये शतधृति ब्रह्माभूत्। स्थितौ विष्णुः सत्त्वेनेति शेषः। विष्णु सत्त्वेनेत्यनुक्तिस्तस्य शुद्धसत्त्वरूपत्वात्, सन्निधानेनैव सत्त्वोपकारकत्वाच्च। तस्या तिरोहित स्वरूपतया तत् सम्बन्धोपचारस्याप्यात्युट्टङ्कनमयुक्तमित्यभिप्रायेण। पालनकर्त्तृत्वेन क्रतुपतिस्तत्फलदाता, यज्ञरूपस्तु लीलावतारमध्ये एव। श्रीब्रह्मणा द्वितीये (भा० २।७।२) गणितः। द्विजानां धर्म्माणाञ्च सेतुः पालक इत्यर्थः। तमसा तस्याप्ययाय रुद्रोऽभूदित्यनेन प्रकारेणोद्भव स्थितिलयोद्भवा भवन्तीति। अत्र ब्रह्मरुद्रयोरवतारावसरो मोक्षधर्मे विविक्तोऽस्ति; यथा महा० भा०--

"ब्रह्मो रात्रिक्षये प्राप्ते तस्य ह्यमिततेजसः। प्रसादात् प्रादुरभवत् पद्मं पद्मनिमेक्षणः॥
ततो ब्रह्मा समभवत् स तस्यैव प्रसादजः। अह्नः क्षये ललाटाच्च ततो देवस्य वै तथा॥
क्रोधाविष्टस्य संजज्ञे रुद्रः संहारकारकः।

श्रीविष्णोस्तु तृतीये दृश्यते (भा० ३।८।१५)—"तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः" इत्यादौ "यं स्म वदन्ति सोऽभूत् इति।"

उन आद्य पुरुष युगपत् गुणत्रय का अधिष्ठाता हैं, पृथक् पृथक् होकर भी सत्त्व रजः तमः गुण के अधिष्ठान लीला करने के निमित्त प्रथम—रजगुण के द्वारा इस जगत् के सर्ग विसर्ग सृष्टि कार्य्य के निमित्त शतधृति—ब्रह्मा हुए थे। अनन्तर स्थिति कार्य्यहेतु सत्त्वगुण द्वारा श्रीविष्णु रूपमें आविर्भूत होते हैं। यहाँ विष्णु शब्द कथन के समय 'सत्त्व' गुण का उल्लेख नहीं हुआ है। कारण यह है, श्रीविष्णु सर्वदा निज विशुद्ध सत्त्व में अवस्थित हैं, एवं अतिरोहित स्वरूप हैं, उनमें गौण रूप से भी प्राकृत सत्त्व का सम्बन्ध

श्रीब्रह्मणा द्वितीये गणितः। द्विजानां धर्माणाञ्च सेतुः पालक इत्यर्थः। तमसा तस्याप्ययाय रुद्रोऽभूदित्यनेन प्रकारेणोद्भव-स्थिति-लया भवन्तीति । अत्र ब्रह्म-रुद्रयोरवतारावसरो मोक्ष-धर्मे विविक्तोऽस्ति ; यथा (३४१।१६-१८)—

"ब्राह्मे रात्रिक्षये प्राप्ते तस्य ह्यमिततेजसः। प्रसादात् प्रादुरभवत् पद्मं पद्मनिभेक्षण ॥४३॥
ततो ब्रह्मा समभवत् स तस्यैव प्रसादजः। अह्नः क्षये ललाटाच्च सुतो देवस्य वै तथा ॥४४॥
क्रोधाविष्टस्य संजज्ञे रुद्रः संहारकारकः" ॥४५॥ इति ;

श्रीविष्णोस्तु तृतीये दृश्यते (भा० ३।८।१५)—

"तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः, प्रावीविशत् सर्वगुणावभासम् ।
तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता, स्वयम्भुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत्" ॥४६॥ इति ।

सर्वसम्वादिनी

सर्वोत्क्रम-साहचर्य्येण चोत्क्रान्तेरपि नान्यथात्वं कल्प्यम्। श्रुतिविरुद्धैव चेयं कल्पना;—(वृ० ४।४।२) "चक्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः" इत्यादौ तत्तदङ्गावधिकविश्लेषनिर्द्देशात् पक्षिवदुत्पतन-

सूचित करना सर्वथा अनुचित है। अतएव विष्णु शब्द के सहित सत्त्वगुण का कथन नहीं हुआ है। पालन कर्त्ता होने से श्रीविष्णु—क्रतुपति हैं, अर्थात् यज्ञफलदाता हैं। श्रीयज्ञः, लीलावतार हैं—

"ततः सप्तम आकूत्यां रुचे र्यज्ञोऽजायत। स यामाद्यैः सुरगणैरपात् स्वायम्भुवान्तरम् ।
त्रयाणामेव लोकानां महार्त्तिहरणादसौ। मातामहेन मनुना हरिरित्यपि शब्दितः ॥"

"तत इत्यत्र टीका—स यज्ञः, यामाद्यैः स्वस्यैव पुत्रा यामानामदेवास्तदाद्यैः सह स्वायम्भुवं मन्वन्तरं पालितवान् तदा स्वयमिन्द्रऽभूदित्यर्थ इत्येषा। विवृणोति। त्रयाणामिति; मनुना-स्वायम्भुवाख्येन। असौ यज्ञः हरिरपीति शब्दितः ॥"

भा० प्रथम स्कन्ध में वर्णित है,—अनन्तर भगवान् प्रद्युम्न, रुचि नामक ऋषि पिता से मनुकन्या आकूति नाम्नी माता से यज्ञ रूपमें अवतरणपूर्वक स्वीय पुत्र यामादि देवगणों के सहित स्वायम्भुव मन्वन्तर का पालन किए थे। उन यज्ञमूर्त्ति भगवान् त्रिलोकवासियों के महादुःख विदूरित करने से मातामह स्वायम्भुव मनु के द्वारा आप हरि नाम से अभिहित हुए।

भागवत के द्वितीय स्कन्ध सप्तम अध्याय के द्वितीय श्लोक में ब्रह्मा ने कहा है—

"जातो रुचेरजनयत् सुयमान् सुयज्ञ आकूतिसुनुरमरानथ दक्षिणायाम् ।
लोकत्रयस्य महतीमहरद्यदार्त्ति स्वायम्भुवेन मनुना हरिरित्यनुक्तः ॥"

"प्रजापति रुचि की भार्य्या आकूति से सुयज्ञ आविर्भूत हुए, अनन्तर स्वीय भार्य्या दक्षिणा से सुषम प्रभृति देवगण आविर्भूत हुए थे। एवं स्वयं इन्द्र होकर त्रिलोक का दुःखापनोदन किए थे। आप सुयज्ञ नाम से विख्यात होने से भी मातामह स्वायम्भुव मनु के द्वारा आप हरि नाम से अभिहित हुए।"

उक्त भगवान्—द्विजगण एवं धर्मसमूह का सेतु अर्थात् पालक हैं। जगत् संहार कार्य्य हेतु आप तमो गुण के द्वारा रुद्र रूप में आविर्भूत होते हैं। इस क्रम से जगत् के उद्भव-स्थिति-लय कार्य्य होते रहते हैं।

इस प्रकार में ब्रह्मा एवं रुद्र का जो अवतारावसर है, उसका वर्णन मोक्षधर्म में विस्तृत रूपसे है। हे कमलनयन ! ब्रह्मसम्बन्धीय रात्रि उपक्षीण होने से अमित तेजा पुरुष की प्रसन्नता से एक पद्म आविर्भूत हुआ। उक्त पद्म से, उन परमपुरुष की प्रसन्नता से ब्रह्मा उत्पन्न हुए, पश्चात् ब्रह्मा दिवस का अवसान में क्रोधाविष्ट उन देव के ललाट से संहार कर्त्ता रुद्र का आविर्भाव हुआ। इति। (४३-४४-४५)

भा० ३।८।१५ श्लोक श्रीविष्णु आविर्भाव का अवसर है, उक्त नाभि कमल ही लोकस्वरूप एवं जीव

अस्यार्थः—तल्लोकात्मकं पद्मम् ; सर्वगुणान् जीवभोग्यानर्थानवभासयतीति तथा। तद्यस्माज्जातं स श्रीनारायणाख्यः पुरुष एव विष्णुसंज्ञः सन् स्थापनरूपान्तर्यामितायै प्रावीविशत्, प्रकर्षेणालुप्तशक्तितयैवाविशत्। स्वार्थे णिच्। तस्मिन् श्रीविष्णुना लब्धस्थितौ पद्मे पुनः सृष्ट्यर्थं स्वयमेव ब्रह्माभूत्, स्थितस्यैव मृदादेर्घटादितया सृष्टेः। अतएव (भा० १।२।२३) "स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञा" इत्यन्यत्रापि ॥ श्रीद्रविड़ो निमिम् ॥

९। एवम् (भा० ३।९।१६)—

(९) "यो वा अहञ्च गिरिशश्च विभुः स्वयञ्च" इत्यादौ "त्रिपात्" इति।

सर्वसम्वादिनी

रूपैवोत्क्रान्तिरित्यापत्तेः। अतएव (वृ०आ० २।४।३) श्रुत्यादिषु जलूकादृष्टान्तोऽपि घटते।

ननु (वृ० ४।४।२२) "स वा एष महानज आत्मा, योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु आकाशवत् सर्वगतश्च

भोग्य समस्त गुण कार्य्य जीव के भोगयोग्य स्वरूप स्वर्ग-नरक प्रभृति का प्रकाशक है। उक्त पद्म गर्भोदकशायी विष्णु से उत्पन्न हुआ। अविलुप्तशक्ति श्रीविष्णु अन्तर्य्यामी रूपमें उसमें प्रविष्ट हो गये। विष्णु का अधिष्ठान होने से उक्त पद्म से वेदमय ब्रह्मा उत्पन्न हुए। जनक दृष्ट न होने से पण्डितगण उनको स्वयम्भू कहते हैं। अर्थात् कल्पान्त में ब्रह्मा नारायण के सहित एकीभूत होकर थे, तत् पश्चात् नारायण प्रबुद्ध होने से पाद्मकल्प में ब्रह्मा भी पद्म के द्वारा अभिव्यक्त हुए, तज्जन्य स्वयम्भू आख्या से अभिहित होते हैं।

श्लोक की टीका—"तल्लोकात्मकं पद्मं सर्वान् गुणान् जीवभोग्यान् अर्थान् अवभासयतीति तथा तत् तस्माज्जातं स एव विष्णुः। उ इति सम्बोधने। प्रावीविशत्—प्रकर्षेण अलुप्तशक्तिरेव अन्तर्य्यामितया विवेश। तस्मिन् विष्णुनाधिष्ठिते पद्मे विधाता ब्रह्माभूत्। कथम्भुतः? स्वयमेव वेदमयः। नत्वध्ययनेन प्राप्तवेदः। कोऽसौ? अदृष्टपितृकत्वेन यं स्वयम्भुवं वदन्ति नः। प्राक् कल्पान्ते नारायणेण सह निद्रयैकीभूत आसीत् तस्मिंश्च। प्रबुद्धे तत एव पाद्मे कल्पे पद्मद्वारेणाभिव्यक्तिं प्राप्त इत्यर्थः।" (३।८।१५)

उक्त चतुर्दश भुवनात्मक पद्म है, सर्वगुण—अर्थात् जीवसमूह के यावतीय भोग्य अर्थसमूह का सतत प्रकाशक है। उक्त पद्म जिनसे उत्पन्न हुआ है, आप श्रीनारायण नामक पुरुष ही विष्णु संज्ञा से अभिहित होकर स्थापन रूप अन्तर्यामिता में प्रविष्ट हुए। अर्थात् प्रकृष्ट रूपसे अविलुप्त शक्ति के निज सृष्ट ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हुए थे। प्रावीविशत्—स्वार्थ णिच् प्रत्यय हुआ है।

विष्णु के द्वारा पद्म स्थिति लाभ करने पर पुनर्वार सृष्टि कार्य्य के निमित्त उक्त पद्म में ब्रह्म आविर्भूत हुये। कारण स्थित मृत्तिका का ही घटादि रूपमें अभिव्यक्त होता है। अतएव भा० १।२।२३ में वर्णित है—

"सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चि हरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनो र्नृणां स्युः॥

टीका—तदेवोपपादयितुं ब्रह्मादीनां त्रयाणामेकात्मत्वेऽपि वासुदेवस्याधिक्यमाह सत्त्वमिति। इह यद्यपि एक एव परः पुमान् अस्य विश्वस्य स्थित्यादये सृष्टिस्थितिलयार्थं हरिविरिञ्चि हरेति संज्ञाः केवलं भिन्ना धत्ते। हरिविरिञ्चि हरा इति वक्तव्ये सन्धिरार्षः। तत्र तेषां मध्ये श्रेयांसि शुभफलानि सत्त्वतनो र्वासुदेवादेव स्युः। (२३)

एक परमपुरुष, विश्व के सृष्टि-स्थिति-लय कार्य्य के निमित्त हरि विरिञ्चि हर—तीन सञ्ज्ञा से अभिहित होते हैं। श्रीद्रविड़ निमि महाराज को कहे थे ॥८॥

उक्त प्रकार भागवत तृतीय स्कन्ध के नवमाध्याय षोड़श श्लोक में ब्रह्मा श्रीगर्भोदकशायी की स्तुति

टीका च—"यो वै एकस्त्रिपात् त्रयो ब्रह्मादयः पादाः स्कन्धा यस्य" इत्येषा। वृक्षरूपत्वेन तद्वर्णनादेषां स्कन्धत्वम् ॥ ब्रह्मा श्रीगर्भोदशायिनम् ॥

१०। तेषामाविर्भावो यथा (भा० ४।१।२१-२२)—

(१०) "तप्यमानं त्रिभुवनं प्राणायामैधसाग्निना।
निर्गतेन मुनेर्मूर्ध्नः समीक्ष्य प्रभवस्त्रयः ॥४७॥
अप्सरोमुनि-गन्धर्व-सिद्धविद्याधरोरगैः।
वितायमानयशसस्तदाश्रमपदं ययुः" ॥४८॥ इत्यादि।

मुनेरत्रेः ॥ श्रीमैत्रेयो-विदुरम् ॥

सर्वसम्वादिनी

नित्यः; (तै० २।१।२) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादौ व्याप्तिः श्रूयते। न पूर्वत्र 'अरुन्धतीदर्शन'वज्जीवमनुद्य ब्रह्मैव निर्द्दिश्यते,—वेदान्तेषु परमात्माधिकारात्। अतः सर्वगतत्वमुक्त्वैव सत्यमित्यादि-प्रसिद्ध-परमात्मलक्षणमुक्तम्। महच्छब्दस्त्वग्रे व्याख्यातव्यः। अत्र कुत्रचिद्व्याप्ता ह्यात्मान इति बहुत्व-

किए थे,—"यो वा अहञ्च गिरिशश्च विभुः स्वयञ्च स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आत्ममूलम्।
भित्वा त्रिपाद्ववृध एक उरु प्ररोह स्तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय ॥"

हे भगवन्! आप भुवनाकार वृक्ष हैं। यह वृक्ष,—आप जिसका मूल हैं, अर्थात् प्रकृति का अधिष्ठान हैं। उस प्रकृति को भेद कर सत्त्व, रजः, तमः, रूप तीन गुण से विभक्त होकर यथाक्रम से सृष्टि-स्थिति-प्रलय के निमित्त, मैं (ब्रह्मा), एवं विष्णु, शिव, तीन जन को तीन पाद रूपमें धारण कर 'त्रिपाद' होकर वृद्धिशील हुआ है।

प्रभो! उक्त तरु के तीनपाद हैं, किन्तु प्रत्येक की मरीचि प्रभृति मुनिगण एवं मनुसमूह भूरि भूरि शाखा प्रशाखा हैं। अतएव हे प्रभो! भुवनद्रुम स्वरूप आप हैं, आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

टीका—"तत्र गुणावतार कर्माणि दर्शयन् प्रणमति,—यो वै एकः त्रिपात् त्रयो ब्रह्मादयः पादाः स्कन्धा यस्य; प्रत्येकञ्च उरवः प्ररोहाः शाखोपशाखा मरीच्यादि मन्वादिरूपा यस्य तथाभूतः सन् ववृधे, तस्मै भुवनाकाराय द्रुमाय नमः। किं कृत्वा ववृधे? आत्मा स्वयमेव मूलमधिष्ठानं यस्य तं प्रधानं भित्वा, गुणत्रयरूपेण विभज्य। त्रिपात्त्वमेवाह—अहं ब्रह्मा गिरिशश्च स्वयं विभुर्विष्णुश्चेति, स्थित्युद्भवप्रलय-हेतवो ये वयम्। एवं त्रिपात्भूत्वा यो ववृधे' इत्यर्थः। (१६)"

उक्त श्लोकस्थ 'त्रिपात्' शब्द की स्वामिकृत टीका का विवरण यह है—जो एक होकर त्रिपात् हैं। अर्थात् ब्रह्मा विष्णु शिव तीन व्यक्ति जिनके पाद हैं, अर्थात् स्कन्ध हैं। वृक्षरूप में श्रीगर्भोदकशायी का वर्णन हेतु ब्रह्मादि का स्कन्धत्व सुसिद्ध है। श्रीब्रह्मा श्रीगर्भोदकशायी को कहे थे ॥९॥

ब्रह्मा प्रभृति का आविर्भाव क्रम इस प्रकार है,—भा० ४।१।२१-२२, तपस्यारत मुनि के मस्तक से सहसा अनल निर्गत हुआ, एवं उनके प्राणायामरूप इन्धन द्वारा, "प्राणायाम एधः सन्दीपको यस्य तेन मुनेर्मुर्द्ध्नो निर्गतेनाग्निना तप्यमानं समीक्ष्य तदाश्रमपदं ययुरित्युत्तरेणान्वयः। (२१) अप्सरः प्रमुखैर्वितायमानं यशो येषां ते। (२२)" उक्त अग्नि अतिशय प्रज्वलित हो उठा, उससे त्रिभुवन को दह्यमान देखकर तीन प्रभु,—अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, तत्क्षणात् उक्त आश्रम में आ गये। प्रभुत्रय को अवलोकन कर अप्सरा, मुनि, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर एवं उरगगण उनके यशोगान कर सर्वत्र विस्तीर्ण करने लगे।

यहाँ 'मुनि' अत्रि हैं। श्रीमैत्रेय विदुर को कहे थे ॥१०॥

११। यथा वा (भा० १०।८९।१)—

(११) "सरस्वत्या स्तटे राजन् ऋषयः सत्रमासते।
वितर्कः समभूत्तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान्" ॥४९॥

इत्यादिरितिहासः। अत्र श्रीविष्णोः स्थानञ्च क्षीरोदादिकं पाद्मोत्तरखण्डादौ जगत्पालन-निमित्तकनिवेदनार्थं ब्रह्मादयस्तत्र मुहुर्गच्छन्तीति प्रसिद्धेः, विष्णुलोकतया प्रसिद्धेश्च। वृहत्-सहस्रनाम्नि च क्षीराब्धिमन्दिर इति तन्नामगणे पठ्यते। श्वेतद्वीपपतेः क्वचिदनिरुद्धतया ख्यातिश्च, तस्य साक्षादेवाविर्भाव इत्यपेक्षयेति॥ श्रीशुकः॥

१२-१३। एवं परीक्षया तत्र त्रिदेव्यास्तारतम्यमपि स्फुटम्। तथा चान्यत्र द्वयेनाह (भा० १।२।२३)—

(१२) "सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै,-र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः, श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः" ॥५

इह यद्यप्येक एव परः पुमानस्य विश्वस्य स्थित्यादये स्थिति-सृष्टि-लयार्थं तैः सत्त्वादिभि-

सर्वसम्वादिनी

निर्द्देशादपि जीवा न मन्तव्याः;—अत्रापि परमात्माधिकारात्;—"स आत्मेदं सृजति" इत्याद्युक्तेः। बहुत्वं त्वाविर्भावास्पदभेदविवक्षया।

भा० १०।८८।१ में लिखित है,—हे राजन्! सरस्वती के तट में यज्ञानुष्ठान करते करते ऋषिगण के मन में वितर्क उपस्थित हुआ कि—ब्रह्मा विष्णु शिव देवत्रय के मध्य में कौन देवता महान् हैं? इत्यादि एक सुप्रसिद्ध इतिहास है।

क्र० स०—तस्य महत्त्वस्य जिज्ञासया प्रेरयामासुः। सोऽपि तज्ज्ञप्त्यै तस्य ज्ञापनायाभ्यगात्। (१)

स्वामी टीका—नवाशीतितमे देवः को महानिति संशये। परीक्षा विष्णोरुत्कर्षं मुनिभ्योऽवर्णयद् भृगुः॥ इतिहासान्तरमाह सरस्वत्या इति। (१)

यहाँ श्रीविष्णु का स्थान,— क्षीरोदसमुद्रादि हैं। कारण पद्मपुराण के उत्तर खण्डादि में जगत् पालन निमित्त निवेदनार्थ ब्रह्मादि देवगण क्षीर समुद्र के तट पर बारम्बार जाते रहते हैं—यह वार्त्ता प्रसिद्ध है। 'विष्णुलोक' नाम से क्षीर समुद्र की ख्याति भी है। वृहत् सहस्रनाम में "क्षीराब्धिनिलय" श्रीविष्णु का एक नाम है। "क्षीराब्धिमन्दिर" श्रीविष्णु के नामों के मध्य में लिखित है। स्थान विशेष में श्वेतद्वीप-पति को अनिरुद्ध कहा जाता है। कारण—श्वेतद्वीपाधिपति साक्षात् अनिरुद्ध का ही आविर्भाव हैं।

यह कथन श्रीशुकदेव का है ॥११॥

इस प्रकार परीक्षा से ब्रह्मा विष्णु महेश्वर नामक देवतात्रय में तरतमता सुस्पष्ट हुई है। उस तारतम्य को सुविशद् रूपसे प्रमाणित करने के निमित्त भागवत के श्लोकद्वय को उपस्थापित करते हैं। उसमें से भा० १।२।२३ में एक श्लोक है—

"यद्यपि एक परमपुरुष प्रकृति के सत्त्व रजः तमः गुणत्रय से युक्त होकर विश्व के सृष्टि स्थिति लय कार्य्य सम्पादन हेतु "हरि, विरिञ्चि, हर" यथाक्रम से पृथक् पृथक् संज्ञा से अभिहित होते हैं। तथापि सत्त्वमूर्त्ति वासुदेव से मनुष्यादि का श्रेयः एवं मोक्ष होता है। (१२)

इस श्लोक में वर्णित यद्यपि एक परमपुरुष, परिदृश्यमान विश्व के स्थित्यादि हेतु स्थिति सृष्टि लय के

युक्तः पृथक् पृथक् तत्तदधिष्ठाता, तथापि परस्तदसंश्लिष्टः सन् हरि-विरिञ्चि-हरेति संज्ञा भिन्ना धत्ते, तत्तद्रूपेणाविर्भवतीत्यर्थः। तथापि तत्र तेषां मध्ये श्रेयांसि धर्मार्थ-काम-मोक्ष-भक्त्याख्यानि शुभफलानि सत्त्वतनोरधिष्ठितसत्त्वशक्तेः श्रीविष्णोरेव स्युः। अयं भावः—उपाधिदृष्ट्या तौ द्वौ सेवमाने रजस्तमसोर्घोरविमूढ़त्वात् भवन्तोऽपि धर्मार्थकामा नातिसुखदा भवन्ति, तथोपाधित्यागेन सेवमाने भवन्नपि मोक्षो न साक्षान्न च झटिति, किन्तु कथमपि परमात्मांश एवायमित्यनुसन्धानाभ्यासेनैव परमात्मन एव भवति। तत्र तत्र साक्षात्परमात्माकारेणाप्रकाशात् तस्मात्ताभ्यां श्रेयांसि न भवन्तीति। अथोपाधिदृष्ट्यापि श्रीविष्णुं सेवमाने सत्त्वस्य शान्तत्वात् धर्मार्थकामा अपि सुखदाः। तत्र निष्कामत्वेन तु तं सेवमाने (गीता १४।१६)—"सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्" इति, (भा० ११।२५।२४) "कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानम्" इति चोक्ते-

सर्वसम्वादिनी

किञ्च, जीवस्य साक्षादणुत्वमपि श्रूयते,—(मु० ३।१।९) "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश" इति प्राण-सम्बन्धोक्तेः; उन्मानमपि दृश्यते—(श्वे० ५।९) 'बालाग्रशतभागस्य

निमित्त उक्त प्रकृति के सत्त्व रजः तमोगुणों से युक्त होकर विष्णु ब्रह्मा शिव रूप पृथक् पृथक् सत्त्व रजः तमो के क्रमशः अधिष्ठाता होकर "हरिविरिञ्चि हर" तीन भिन्न संज्ञा धारण करते हैं। अर्थात् उन उन रूप में आविर्भूत हुए हैं। तथापि उक्त 'विष्णु विरिञ्चि हर' के मध्य में श्रेयः—अर्थात् धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष एवं भक्ति नामक शुभ फलसमूह की प्राप्ति सत्त्वगुण के अधिष्ठाता श्रीविष्णु से ही होती है। इस कथन का अभिप्राय यह है—भिन्न भिन्न नाम एवं गुण रूप उपाधि दृष्टि से विरिञ्चि हर, सेवित होने पर रजोगुण एवं तमोगुण का जो प्रभाव घोरमूढ़त्व है, उससे धर्म, अर्थ, काम उपस्थित होने पर भी उक्त धर्म-अर्थ-काम उपास्य उपासक के निमित्त सुखप्रद नहीं होते हैं।

यद्यपि उपाधि दृष्टि परित्याग के द्वारा सेवित होने पर सेवमान जन का मोक्ष लाभ होता है, तथापि उक्त मोक्षलाभ न तो साक्षात् रूपसे होता है, और सत्वर भी नहीं होता है।

किन्तु ब्रह्मा शिव को परमात्मा बुद्धि से उपासना करने पर,—अर्थात् विरिञ्चि एवं हर, परमात्मा के अंश हैं, इस प्रकार ज्ञान एवं अभ्यास से ही परमात्मा से ही मोक्ष लाभ होता है।

विरिञ्चि एवं हरमें साक्षात् परमात्मस्वरूप का अप्रकाश हेतु विरिञ्चि एवं शिव से आत्यन्तिक कल्याण साधित नहीं होता है।

अपर पक्षमें सत्त्व उपाधि दृष्टि को प्रधान करके भी यदि श्रीविष्णु उपासित होते हैं, तब सत्त्वगुण—शान्त स्वभावाक्रान्त होने से ही उससे प्राप्त धर्म-अर्थ-काम समूह उपास्य उपासक के निमित्त परम सुखद होते हैं। यदि निष्काम भाव से श्रीविष्णु उपासित होते हैं तो मुक्ति भी होती है।

गी० १४।१७ में कथित है—"सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं, रजसो लोभ एव च।

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥

"ईदृक् फलवैचित्र्ये प्रागुक्त हेतुमाह,—सत्त्वादिति। सत्त्वात्—प्रकाशलक्षणं ज्ञानं जायते; अतः सात्त्विकस्य कर्मणः प्रकाशप्रचुरं सुखं फलम्। रजसो लोभतृष्णाविशेषो यो विषयकोटिभिरप्यभिसेवितै र्दुष्पूरस्तस्य च दुःखहेतुत्वात्तत् पूर्वकस्य कर्मणो दुःखप्रचुरं किञ्चित् सुखं फलम्। तमसस्तु प्रमादादीनि भवन्त्यतस्तत् पूर्वकस्य कर्मणोऽचैतन्य प्रचुरं दुःखमेव फलम्।" (१७)

"सत्त्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ, एवं तमोगुण से अज्ञान, प्रमाद मोह उत्पन्न होते हैं।"
भा० ११।२५।२४ में उक्त है,—

मोक्षश्च साक्षात्। अत उक्तं स्कान्दे—

"बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः। कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः" ॥५१॥ इति।

उपाधि-परित्यागेन तु पञ्चमपुरुषार्थो भक्तिरेव भवति, तस्य परमात्माकारेणैव प्रकाशात्। तस्मात् श्रीविष्णोरेव श्रेयांसि स्युरिति। अत्र तु यत्त्रयाणामभेद-वाक्येनोपजप्तमतयो विवदन्ते, तत्रेदं ब्रूमः—यद्यपि तारतम्यमिदमधिष्ठानगतमेव, अधिष्ठाता तु परः पुरुष एक एवेति भेदासम्भवात्। सत्यमेवाभेदवाक्यम्, तथापि तस्य तत्र तत्र साक्षात्त्वासाक्षात्त्वभेदेन प्रकाशेन तारतम्यं दुर्निवारमेवेति सदृष्टान्तमाह (भा० १।२।२४)—

(१३) "पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः।
तमसस्तु रजस्तस्मात् सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम्" ॥५२॥

सर्वसम्वादिनी

शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः" इत्यत्र, (श्वे० ५।८) "आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" इत्यत्र च।

नन्वणुत्वे सत्येकदेशस्थस्य सकल-देहगतोपलब्धिर्विरुध्यते ? न;- हरिचन्दन-विन्दोः सकल-देहह्लादन-

"कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकञ्च यत्। प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥"

टीका—इदानीं सगुणनिर्गुणभेदेन ज्ञानादीनां चातुर्विध्यमाह। कैवल्यं—देहादिव्यतिरिक्तात्मविषयं वैकल्पिकं देहादिविषयम्। यत् तद्रजो राजसम्। प्राकृतं - बालमुकादिज्ञानतुल्यम्। मन्निष्ठं—परमेश्वर-विषयम् ॥

"सात्त्विक ज्ञान से मुक्ति होती है, रजोगुण विकल्पाधायक है। प्राकृत ज्ञान ही तामस है। परमेश्वर विषयक ज्ञान ही गुणातीत है। इस उक्ति से श्रीविष्णु भजन से ही साक्षात् मोक्ष लाभ होता है।"

स्कन्द पुराण में वर्णित है,—भवपाश के द्वारा बन्धनकारी, भवपाश से मोचनकारी, एवं मोक्षप्रद सनातन परम विष्णु ही हैं।

"भक्तिरस्य भजनं, तदिहामुत्रोपाधिपरित्यागेन अमुष्मिन् मनः कल्पनम्" श्रीकृष्ण सन्तोष के निमित्त यह लोक परलोक के यावतीय पदार्थ के प्रति महत्त्व बुद्धि को छोड़ कर श्रीकृष्ण में मनोनिवेश करना ही भक्ति है। उक्त प्रकार भक्तियोग के द्वारा श्रीविष्णु का भजन करने से धर्म अर्थ काम मोक्ष के अतीत पुरुषार्थ, (जो पञ्चम पुरुषार्थ नाम से अभिहित है) का लाभ होता है। श्रीविष्णु का प्रकाश परमात्मा स्वरूप में ही होता है। अतएव श्रीविष्णु भजन से ही सर्वविध कल्याण साधित होते हैं।

इस प्रकरण में कतिपय व्यक्ति ब्रह्मा विष्णु शिव को अभेद मानकर विवाद करते रहते हैं, उस विषय में हम ऐसा कह सकते हैं—यद्यपि तारतम्य, अधिष्ठान गत ही है। अधिष्ठाता, परमपुरुष तद्वय तत्त्व एक ही हैं, इसमें भेद की सम्भावना नहीं है। अभेद वाक्य सर्वथा ही सत्य है। तथापि सत्त्व रजः तमः स्थल में साक्षात् एवं असाक्षात् भेद के द्वारा तरतमता दुर्निवार ही है। अर्थात् भेद सर्वथा अनपलपनीय है। इसका दृष्टान्त प्रतिपादन भा० १।२।२४ में है—

"पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः। तमसस्तु रजस्तस्मात् सत्त्वं यद् ब्रह्मदर्शनम् ॥"

टीका—"उपाधिवैशिष्ट्येन फलवैशिष्ट्यं स दृष्टान्तमाह। पार्थिवात्—स्वतः प्रवृत्तिप्रकाशरहितात् दारुणः काष्ठात् सकाशात् धूमः प्रवृत्ति स्वभावः त्रयीमयः वेदोक्तकर्मप्रचुरः ईषत् कर्मप्रत्यासत्तेः। तस्मादपि अग्निस्त्रयीमयः, साक्षात् कर्मसाधनत्वात्। एवं तमसः सकाशात् रजोब्रह्मदर्शनं ब्रह्म प्रकाशकम्। तु शब्देन

पार्थिवान्न तु धूमवदंशेनाग्नेयात्, तत एव वेदोक्तकर्मणः साक्षात्प्रवृत्तिप्रकाशरहिताद्दारुणो यज्ञीयान्मथनकाष्ठात् सकाशादंशेनाग्नेयो धूमस्त्रयीमयः पूर्वापेक्षया वेदोक्त-कर्माधिक्याविर्भावास्पदम् । तस्मादपि स्वयमग्निस्त्रयीमयः साक्षात्तदुक्तकर्माविर्भावास्पदम् । एवं काष्ठस्थानीयात् सत्त्वगुणविदूरात्तमसः सकाशाद्धूमस्थानीयं किञ्चिदसत्त्वसन्निहितं रजो ब्रह्मदर्शनम् । वेदोक्त-कर्मस्थानीयस्य तत्तदवतारिणः पुरुषस्य प्रकाशद्वारम् । तु-शब्देन लयात्मकात्तमसः सकाशाद्रजसः सोपाधिकज्ञानहेतुत्वेनेषत्तद्गुणच्छविप्रादुर्भावरूपं किञ्चिद्ब्रह्मदर्शनप्रत्यासत्तिमात्रमुक्तम्, न तु सर्वथा, विक्षेपकत्वात् । यदग्निस्थानीयं सत्त्वम्, तत् साक्षाद् ब्रह्मणो दर्शनम् । साक्षादेव सम्यक् तत्त्वद्गुणरूपाविर्भावद्वारम्, शान्त-स्वच्छ-स्वभावात्मकत्वात् । अतो ब्रह्मशिवयोरसाक्षात्त्वं श्रीविष्णौ तु साक्षात्त्वं सिद्धमिति भावः। तथा च श्रीवामनपुराणे—

सर्वसम्वादिनी

वदिहाप्यविरोधात् । न च हरिचन्दनविन्दोरेकदेशस्थत्वं प्रत्यक्षसिद्धम्, न त्वात्मन इति दृष्टान्तवैषम्यम्;— (प्रश्न० ३।६) "हृदि ह्येष आत्मा"; (छा० ८।३।३) "स वा एष आत्मा हृदि"; (वृ० ४।३।७) "कतम

लयात्मकात् तमसः सकाशात् रजसः सोपाधिकज्ञानहेतुत्वेन कथञ्चिद् ब्रह्मदर्शन प्रत्यासत्तिमात्रमुक्तं नतु सर्वथा तत् प्रकाशकत्वं विक्षेपजत्वात् । यत् सत्त्वं तत् साक्षात् ब्रह्मदर्शनम् । अत स्तत्तद् गुणोपाधीनां ब्रह्मादीनामपि यथोत्तरं वैशिष्ट्यमिति भावः ।"

प्रत्यक्ष ही दृष्ट है कि—पार्थित अर्थात् जड़ स्वभावयुक्त प्रवृत्ति एवं प्रकाश रहित काष्ठ से धूम श्रेष्ठ है। कारण धूम में प्रवृत्ति स्वभाव है, अर्थात् काष्ठ से धूमांश में वेदोक्त कर्म करणोपयोगिता का आधिक्य है। जिस अग्नि के द्वारा यज्ञीय कर्म निष्पन्न होता है, उसका प्रथम प्रकाशक है। उक्त धूम से भी त्रयीमय अग्नि श्रेष्ठ है। कारण साक्षात् वेदोक्त कर्माविर्भावास्पदता अग्नि में है। इस दृष्टान्त द्वारा तमोगुण से सत्त्वगुण का प्राधान्य स्थापित हुआ। कारण—सत्त्वगुण साक्षात् ही ब्रह्म दर्शक है। अतएव सत्त्व रजः तमः गुणोपाधि हरि विरिञ्चि हर का वैशिष्ट्य सिद्ध हुआ।

पार्थिवात्—पृथिवी सम्बन्धीय काष्ठ से, किन्तु धूम के समान आग्नेय अंश से नहीं, कारण काष्ठ में यज्ञीय कर्म सम्पादक अग्नि का सुस्पष्ट प्रकाश नहीं है। धूम में वेदोक्त कर्मकरण योग्यता का पूर्वाभास, काष्ठ की अपेक्षा सुस्पष्टतर है। अर्थात् काष्ठ मन्थन से धूम उत्पन्न होने से ही यज्ञीय कार्य्य सुसम्पन्न जिस अग्नि से होता है, उसका निश्चय ज्ञान होता है। अतः जड़ काष्ठ से अग्नि का अंशविशिष्ट धूम में यज्ञीय कर्माविर्भाव योग्यता अधिक है। उस धूम से भी स्वयं अग्नि त्रयीमय है। अर्थात् अग्नि, साक्षात् वेदोक्त कर्माविर्भाव का आस्पद है।

इस प्रकार सत्त्वगुण से विदूरवर्त्ती काष्ठ स्थानीय तमोगुण से धूम स्थानीय किञ्चित् सत्त्वगुण सन्निहित रजोगुण ब्रह्म दर्शक है। अर्थात् वेदोक्त कर्म स्थानीय उन उन अवतारी पुरुषों का प्रकाश द्वार है। तु शब्द के द्वारा, लयात्मक तमोगुण से रजोगुण का सोपाधिक ज्ञान हेतुक स्वल्प रजोगुणच्छवि प्रादुर्भाव रूप यत् किञ्चित् ब्रह्म दर्शन का नैकट्यमात्र उक्त हुआ है। रजोगुण विक्षेपकारक होने से रजोगुण को ब्रह्म दर्शन के निमित्त सर्वथा योग्य नहीं माना गया है।

अग्नि स्थनीय जो सत्त्वगुण है, वह साक्षात् ब्रह्मदर्शक है। अर्थात् सत्त्वगुण—शान्त स्वच्छस्वभाव विशिष्ट होने से साक्षात् ही सम्यक् रूपसे उन उन गुण रूप का आविर्भावक है। अतएव विरिञ्चि एवं हर में ब्रह्म का असाक्षात्त्व एवं श्रीविष्णु में ब्रह्म का साक्षात् दर्शन सिद्ध हुआ।

"ब्रह्मविष्ण्वीशरूपाणि त्रीणि विष्णोर्महात्मनः। ब्रह्माणि ब्रह्मरूपः स शिवरूपः शिवे स्थितः ॥
पृथगेव स्थितो देवो विष्णुरूपी जनार्द्दनः" ॥ इति ;

तदुक्तं ब्रह्मसंहितायाम् (५।४९,४५,४६)—

"भास्वान् यथाश्मसकलेषु निजेषु तेजः, स्वीयं कियत् प्रकटयत्यपि तद्वदत्र।
ब्रह्मा य एव जगदण्डविधानकर्त्ता, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥४९॥
क्षीरं यथा दधिविकारविशेषयोगात्, संजायते न तु ततः पृथगस्ति हेतोः।
यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्याद्,-गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥४५॥

सर्वसम्वादिनी

आत्मेति,—योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" इत्याद्युपदेशेभ्यस्तस्यापि तथात्व-सिद्धेः। सिद्धायां चाणुतायामित्थमप्यविरोधः। चिद्रूपस्यापि जीवस्य चेतयितृत्व-लक्षण-चिद्गुणव्याप्तेरणोरपि सतो निखिलदेहव्यापिता स्यात्। लोके दीपादयः प्रकाशा ह्येकदेशस्था अपि सम्यग्गृहादिकं स्वकीयेन

श्रीवामन पुराण में वर्णित है—"ब्रह्मा, विष्णु, शिव ये तीन महात्मा श्रीविष्णु के रूप हैं। विष्णुरूपी जनार्द्दन देव किन्तु ब्रह्मा में ब्रह्मरूप में, शिव में शिवरूप में अवस्थित होकर भी स्वयं पृथक् रूपमें ही अवस्थित हैं।

उक्त विषय का वर्णन ब्रह्मसंहिता में है—

"यथा भास्वान् स्वीयं कियत् तेजः" अपि निजेषु अश्मसकलेषु प्रकटयति, यद्वद् अत्र यः, एषः ब्रह्मा जगदण्डविधानकर्त्ता भवति, तं आदि पुरुषं गोविन्दं अहं भजामि।४९।

टीका—तदेवं देव्यादीनां तदाश्रयकत्वं दर्शयित्वा प्रसङ्गसङ्गत्या ब्रह्मणश्च दर्शयन् अतीव भिन्नतया जीवत्वमेव स्पष्टयति, भास्वानिति। भास्वान्—सूर्य्यो, यथा निजेषु नित्य स्वीयत्वेन विख्यातेषु अश्म सकलेषु सूर्य्यकान्ताख्येषु स्वीयं किञ्चित्तेजः प्रकटयति, अपि शब्दात्तेन तत्तदुपाधिकांशेन दाहादिकार्य्यं स्वयमेव करोति, तथा य एव जीवविशेष किञ्चित्तेजः प्रकटयति, तेन तदुपाधिकांशेन स्वयमेव ब्रह्मा सन् जगदण्डे ब्रह्माण्डे विधानकर्त्ता—व्यष्टिसृष्टिकर्त्ता भवतीत्यर्थः। यद्वा महाब्रह्मैवायं वर्ण्यते, तदुपलक्षितो महाशिवश्च ज्ञेयः। ततश्च जगदण्डानां विधानकर्त्तृत्वयुक्तमेव। यद्यपि दुर्गाख्या माया कारणार्णवशायिन एव कर्मकरी, यद्यपि च ब्रह्मविष्ण्वाद्या गर्भोदकशायिन एव अवतारा स्तथापि तस्य सर्वाश्रयतया तेऽपि तदाश्रिततया गणिताः। एवमुत्तरत्रापि।४९।

ब्रह्मा का स्वरूप कथन के उद्देश्य से कहते हैं—श्रीगोविन्द से ब्रह्मा अतीव पृथक् हैं। ब्रह्मा,—प्रचुर पुण्य सम्पन्न जीव होते हैं। सूर्य्य जिस प्रकार सूर्य्यकान्त मणिसमूह में किञ्चित् निज तेज को प्रकटित कर उसे प्रदीप्त करते हैं। उस प्रकार जो ब्रह्माण्ड विधान कर्त्ता ब्रह्मा को भी सृष्टि शक्ति प्रदान करते हैं, मैं उन आदि पुरुष गोविन्द का भजन करता हूँ।४९।

यथा क्षीरं विकारविशेषयोगात् दधिसञ्जायते। तथा यः कार्य्याद् शम्भुतां अपि समुपैति, तु ततः हेतो पृथक् न अस्ति, तं आदि पुरुषं गोविन्दं अहं भजामि।४५।

टीका—क्रमप्राप्तं महेशं निरूपयति, क्षीरमिति। कार्य्यकारणभावमात्रांशे दृष्टान्तोऽयं, दार्ष्टान्तिक कारणस्य निर्विकारत्वात् तदादि कार्य्यतयापि स्थितत्वात्। श्रुतिश्च,—एक नारायण एवाग्र आसीत्, न ब्रह्मा न शङ्करः। स मुनिर्भूत्वा समचिन्तयत्। तत एवैते व्यजायन्त विश्वो हिरण्यगर्भोऽग्निर्वरुण-रुद्रेन्द्राः, इति, तथा स ब्रह्मणा सृजति रुद्रेण नाशयति, सोऽनुत्पत्तिलय एव हरिः, कारणरूपः परः परमानन्दः" इति। शम्भोरपि कार्य्यत्वं गुणसम्बलनात्। यथोक्तं श्रीदशमे—

"हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुष प्रकृतेः परः। शिवः शक्तियुतः शश्वत्त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः॥" इति। एतदेवोक्तं विकारविशेषयोगादिति।

दीपार्च्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य, दीपायते विवृतहेतुसमानधर्मा।
यस्तादृगेव हि च विष्णुतया विभाति, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि" ॥४६॥ इत्यादि।

सर्वसम्वादिनी

प्रकाशाकारेण गुणेन प्रकाशयन्ति, तद्वत्। न च दीपप्रभा दीपाद्विशीर्णाः परमाणव एव। परम-रक्तादिच्छविदुकूलादीनां महाहीरकादि-मणीनाञ्च रक्तादयो गुणा निजपर्य्यन्त-भूमिं रञ्जयन्तीति दृश्यते ;—तत्र गुणगुणिनोः पृथगुपलम्भनाद्दुकूलाद्यनाशात् हीरके तु पराग-क्षरणात्यन्तासम्भवाच्च। सति च पराग-

कुत्रचिदभेदोक्ति र्या दृश्यते, तामपि समादधाति। ततो हेतोः पृथक्त्वं नास्तीति। यथोक्तं ऋग्वेद-शिरसि, अथ नित्यो देव एको नारायणः, ब्रह्मा नारायणः, शिवश्च नारायणः, शक्रश्च नारायणः द्वादशादित्याश्च नारायणः, कालश्च नारायणः, दिशश्च नारायणः, सर्वे ऋषयो नारायणः, वासवो नारायणः, अश्विनी नारायणः, ऊर्द्धश्च नारायणः, अन्तर्वहिश्च नारायणः। नारायण एवेदं सर्वम् जातं जगत्यां जगदित्यादि। द्वितीये ब्रह्मणात्वेवमुक्तम्। सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः। विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति-त्रिशक्तिधृक्' इति।४५।

अनन्तर क्रमप्राप्त महेश स्वरूप का वर्णन करते हैं। जिस प्रकार दुग्ध,—विकार जनक अम्लादि द्रव्य संयोग से दधि रूपमें परिणत होता है, तद्रूप कार्य्यवशतः जो शम्भुरूप धारण करते हैं, मौलिक तत्त्व में पृथक् कारण नहीं है। यहाँपर कार्य्य-कारण बोधक दृष्टान्त है, विकारांश में नहीं। कारण स्वरूप श्रीगोविन्द अविकारी तत्त्व हैं। अनन्तादि पुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ। चिन्तामणि प्रभृति के समान अचिन्त्यशक्ति द्वारा ही कार्य्य रूपमें स्थित होते हैं। श्रुति इस प्रकार है,—प्रथम एकमात्र नारायण ही थे। ब्रह्मा, शङ्कर नहीं थे। उन्होंने मुनि होकर चिन्ता की, अनन्तर विश्व हिरण्यगर्भ, अग्नि, वरुण, रुद्र, इन्द्र प्रभृति आविर्भूत हुए थे। तथा वह ब्रह्मासे सृजन, एवं रुद्रसे नाश करते हैं। श्रीहरि ही एकमात्र अनुत्पत्ति एवं लयशून्य हैं। परमकारणरूप, एवं परमानन्दस्वरूप हैं। तमोरूप गुण का सम्बलन से ही शम्भु का भी कार्य्यत्व है। श्रीदशम में उक्त है, श्रीहरि ही निर्गुण हैं, साक्षात् स्वरूप हैं, पुरुषस्वरूप हैं, एवं प्रकृति से अतीत हैं। श्रीशिव शक्तियुक्त हैं, नित्य त्रिलिङ्ग एवं गुण संवृत हैं, इसको स्पष्टरूपसे कहा है,—विकास, विशेष योग के कारण—स्थलविशेष में श्रीहरि के सहित श्रीशिव का अभेद कथन है। उसका समाधान करते हैं। मूल कारणतत्त्व से शिव,—पृथक् कारणतत्त्व नहीं हैं। ऋग्वेद शिरसि में कथित है—अथ नित्य देव एक नारायण हैं, द्वादशादित्यगण भी नारायण हैं, शिव भी नारायण हैं, शक्र भी नारायण हैं, सकल ऋषिगण नारायण हैं, काल भी नारायण हैं, दिक्समूह नारायण हैं, अधोदेश भी नारायण हैं, ऊर्द्धदेश भी नारायण हैं, अन्तर्वहि नारायण हैं, जगत् के समग्र सृष्ट पदार्थ एवं जगत् भी नारायण हैं। द्वितीय स्कन्ध में ब्रह्मा ने भी इस प्रकार कहा है,—मैं श्रीहरि के द्वारा नियुक्त होकर सृजन करता हूँ। श्रीशिव, श्रीहरि के अधीन होकर संहार कार्य्य करते हैं। त्रिशक्ति धृक् हरि, विश्व का पुरुष रूप से परिपालन करते हैं।४५।

विवृतहेतु समानधर्मा दीपार्च्चिः, एव दशान्तरं अभ्युपेत्य हि दीपायते, यः तादृग् एव हि च विष्णुतया विभाति तं आदि पुरुषं गोविन्दं अहं भजामि।४६।

टीका—अथ क्रमप्राप्तं हरिस्वरूपमेकं निरूपयन् गुणावतारमहेशप्रसङ्गाद् गुणावतारं विष्णुं निरूपयति दीपार्च्चिरिति। तादृक्त्वे हेतुः, विवृतहेतु समानधर्मेति। यद्यपि श्रीगोविन्दांशांशः कारणार्णवशायी, तस्य गर्भोदकशायी, तस्य चावतारोऽयं विष्णुरिति लभ्यते तथापि महादीपात् क्रमपरम्परयातिसूक्ष्मनिर्म्मल-दीपस्योदितस्य ज्योतिरूपत्वांशे यथा तेन सह साम्यम्। तथा गोविन्देन विष्णुर्गम्यते। शम्भोस्तु तमोऽ-धिष्ठानत्वात् कज्ज्वलमयसूक्ष्मदीपशिखास्थानीयस्य न तथा साम्यमिति बोधनाय तदित्थमुच्यते, महाविष्णोरपि कलाविशेषत्वेन दर्शयिष्यमाणत्वात्।४६।

न च दधि-दृष्टान्तेन विकारित्वमायातम्; तस्य (ब्र०सू० २।१।२७) 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्'

सर्वसम्वादिनी

क्षरणे वायु-प्रातिकूल्येन मण्यादि प्रभाया एकस्यां दिशि न विसरणं स्यात्। यस्यां तु दिशि तदानुकूल्यम्, तत्र तु विसरणबाहुल्यं स्यादिति तद्वद्दीपादीनां गुण एव प्रभा भविष्यति। अतएवाद्रव्यत्वाद्दीपादिवदसौ वाय्वादिभिर्न विक्षिप्यते। श्रीगीतोपनिषद्स्वपि तथा दृष्टान्तितम् (गी० १३।३३)—

अनन्तर क्रमप्राप्त एक श्रीहरि स्वरूप को निरूपित करने के निमित्त गुणावतार श्रीविष्णु का स्वरूप वर्णन करते हैं। जिस प्रकार प्रदीप की शिखा दशान्तर को प्राप्त कर उसके तुल्य ही अन्य प्रदीप में परिणत होती है, उस प्रकार जो कारणावतार विष्णु रूप को धारण करते हैं, मैं उन आदि पुरुष श्रीगोविन्द का भजन करता हूँ। दीपार्च्चि के प्रति हेतु समानधर्मा है। यद्यपि श्रीगोविन्द का अंशांश कारणार्णवशायी है। उनका अंश गर्भोदकशायी हैं, उनका ही अवतार यह विष्णु होते हैं। तथापि महादीप से 'क्रम परम्परा से' अति निर्म्मल दीप का उदय होता है। ज्योतिरूपांश में पूर्वदीप की समानता है, उस प्रकार विशुद्ध सच्चिदानन्दांश में श्रीगोविन्द के सहित समता है। किन्तु शम्भु लीलाहेतु तमोऽधिष्ठानता के कारण,— ब्रह्मा कज्ज्वलमय सूक्ष्म दीप शिखा स्थानीय होने से विष्णु के साथ जिस प्रकार साम्य है, उस प्रकार साम्य शम्भु के साथ नहीं है। इसका बोध कराने के निमित्त यह प्रकरण उठाया गया है, महाविष्णु भी कला विशेष हैं। इसका प्रदर्शन आगे होगा।४६।

दधि दृष्टान्त के द्वारा विकारित्व प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है। कारण श्रुति प्रामाण्य स्वीकृत होने से ही उक्त आशङ्का का निरास बारम्बार हुआ है।

गो० भा०—"अथैतौ दोषौ ब्रह्मकर्त्तृत्व पक्षे स्यातां न वेति वीक्षायां सर्वेषु कार्य्येषु कृत्स्नेन स्वरूपेण चेत् प्रवर्त्तते, तर्हि तृणोदञ्चनादौ कृत्स्नस्य प्रसक्ति र्न च सा सम्भवेदंशेन तत् सिद्धेः। क्वचिदंशेन चेत् प्रवर्त्तते, तर्हि निष्कलं निष्क्रियमित्यादि श्रुति व्याकोपापत्तिरतः स्यातामिति प्राप्ते—श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्, शङ्काच्छेदाय 'तु' शब्दः। उपसंहारसूत्रान्नेत्यनुवर्त्तते। ब्रह्मकर्त्तृत्वपक्षे लोकदृष्टादोषा न स्युः, कुतः? श्रुतेः। अलौकिकमचिन्त्यं ज्ञानात्मकमपि मूर्त्तं ज्ञानवच्चैकमेव बहुधावभातं च, निरंशमपि सांशं च, मितमप्यमितं च, सर्वकर्त्तृ निर्विकारं च ब्रह्म इति श्रवणादेवेत्यर्थः, तत्राहि "बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्य-रूपमिति" मुण्डके अलौकिकत्वादि श्रुतम्। "तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्"। बर्हापीड़ाभिरामाय कृष्णायाकुण्ठमेधसे। "एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति।" इति गोपालोपनिषदि ज्ञानात्मकत्वादिति। "अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः" इति माण्डूक्योपनिषदि निरंशत्वेऽपि सांशत्वम्। "आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः" इति काठके मितत्वेऽप्यमितत्वञ्च। "द्यावाभूमी जनयन् देव एकः, एष देवो विश्वकर्मा महात्मा स विश्वकृत् विश्वहृदात्मयोनि र्निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनमिति श्वेताश्वतर श्रुतौ सर्वकर्त्तृत्वेऽपि निर्विकारत्वञ्चेत्येतत् सर्वं श्रुत्यनुसारेणैव स्वीकार्य्यं, नतु केवलया युक्त्या प्रतिविधेयमिति।

ननु श्रुत्यापि बाधितार्थकं कथं बोधनीयं, तत्राह,—शब्देति। अविचिन्त्यर्थस्य शब्दैकप्रमाणत्वादित्यर्थः। तादृशे मणिमन्त्रादौ दृष्टं ह्येतत् प्रकृते कैमुत्यमापादयति।

इदमत्र निष्कृष्टम्। प्रत्यक्षानुमानशब्दाः प्रमाणानि भवन्ति। प्रत्यक्षं तावत् व्यभिचारि दृष्टं, माया-मुण्डावलोके चैत्रस्यैदं मुण्डमित्यादौ। वृष्ट्या तत् कालनिर्वापितवह्नौ चिरमधिकोदित्वर धूमे पर्वते वह्नि-मान् धूमादित्यमानं च। आप्तवाक्यलक्षणः शब्दस्तु न क्वापि व्यभिचरति। हिमालये हिमं, रत्नमित्यादिः। स हि तदनुग्राही तन्निरपेक्षस्तदवगम्ये साधकतमश्च। दृष्टचरमायामुण्डस्य पुंसो भ्रान्त्या सत्येऽप्यविश्वस्ते तदेवेदमित्याकाशवाण्यादौ। "अरे शीतार्त्ताः पान्था मास्मिन् वह्निं सम्भावयत दृष्टमस्माभिः स इदानीं

इति न्यायेन मुहुः परिहृतत्वात्; यथोक्तम् (भा० १०।८७।१५) "यत उदयास्तमयौ विकृते

सर्वसम्वादिनी

"यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत" ॥२॥ इति।

एवमेव ब्र०सू० २।४।८) "अणवश्च" इति न्यायसिद्धाणुत्वानां मनआदीन्द्रियाणां प्रकाशो व्याततो

वृष्टचैव निर्वाणः। किन्त्वमुष्मिन् धूमोद्गारिणि गिरौ स दृश्यत" इत्यादौ च तदुभयानुग्राहिता। मणिकण्ठस्त्वमसीत्यादौ तन्निरपेक्षता, तदवगम्ये ग्रहचेष्टादौ साधकतमता चेति शब्दस्य सर्वतः श्रैष्ठेच स्थिते ब्रह्मबोधकस्तु श्रुति शब्द एव। "नावेदविन्मनुते तं वृहन्तमित्यादि श्रवणात्, स्वतः सिद्धत्वेन निर्दोषत्वाच्चेति"।

ब्रह्म जगत् कर्त्ता हो सकते या नहीं? यदि कर्त्ता हो, तो समस्त कार्य्य के प्रति कर्त्तृत्व होना आवश्यक है, तब तृण उत्तोलनादि कार्य्य में भी ब्रह्म का कर्त्तृत्व को मानना होगा? वहाँ अंश मात्र से उक्त कार्य्य सिद्धि हो सकती है। अंश प्रवृत्ति में "निष्कल निष्क्रिय" इत्यादि श्रुति का विरोध होगा। अतः ब्रह्म कर्त्तृत्व पक्ष में (ब्र० सू० २।१।२६) "कृत्स्न प्रसक्तिर्निरवयवशब्दस्यव्याकोपो वा"। सूत्रोक्त उभय दोष होना सम्भव है, इस प्रकार पूर्वपक्ष की सङ्गति में कहते हैं—"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" ब्रह्म कर्त्तृत्व पक्षमें लोक दृष्ट दोष की सङ्गति नहीं होती है। कारण—ब्रह्म का कर्त्तृत्व, श्रुति प्रमाण सिद्ध है। शङ्कापनोदन हेतु 'तु' शब्दोपन्यास है। उपसंहार सूत्र से 'न'-कार का अनुवर्त्तन होगा। अर्थात् ब्रह्म कर्त्तृत्व पक्ष में दृष्ट दोष समूह नहीं है। क्योंकि ब्रह्म प्रतिपादक श्रुति से उसका स्पष्टीकरण हुआ है।

ब्रह्म,—अलौकिक अचिन्त्य ज्ञानात्मक होने पर भी मूर्त्तिविशिष्ट एवं ज्ञान सम्पन्न हैं, एक होकर भी बहु रूपविशिष्ट हैं, निरंश भी अंशयुक्त, परिमित होकर अपरिमित, सर्वकर्त्ता, विकार रहित हैं, इसका प्रतिपादन श्रुति से होता है, मुण्डक में कहा है,—ब्रह्म वृहत् एवं अलौकिक अचिन्त्य हैं। गोपालोपनिषद् में ज्ञानात्मकत्वादि का उल्लेख है, "अद्वितीय सच्चिदानन्दविग्रहस्वरूप, उन गोविन्द को, वर्हापीड़ाभिराम, रमणीय, अकुण्ठबुद्धिवाले उन गोविन्द को, एक होकर भी अनेक स्वरूप में विराजमान हैं।" निरंश होकर भी अंशपूर्ण हैं। कठोपनिषद् में लिखित है—"ब्रह्म एकत्र स्थित होकर भी अर्थात् समीपस्थ होकर भी दूरगत, शयन करके भी सर्वगामी हैं।" यहाँ परिमित होकर भी अपरिमित हैं। श्वेताश्वतर में वर्णित है, —"ब्रह्म आकाश-जल-भूमि-लोकत्रयों का सृष्टिकर्त्ता हैं। विश्व का कर्त्ता, विश्व का स्रष्टा, विश्व का विलय कर्त्ता, आत्मयोनि, निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य, निरञ्जन हैं।" सर्वकर्त्ता होने पर भी ब्रह्म निर्विकार हैं, उक्त श्रुतियों से प्रमाणित हुआ है। ब्रह्म में विरुद्धार्थ का समावेश कैसे हो सकता है? उत्तर,—ब्रह्म लौकिक तर्कागोचर रूप अविचिन्त्य तत्त्व हैं। ब्रह्म एवं उनकी शक्तिवर्ग प्रतिपादन में श्रुति ही एकमात्र प्रमाण है। जब भौतिक मणिमन्त्रादि का अचिन्त्य प्रभाव दृष्ट होता है, द्रव्यगुण को सब मानते हैं, तब अलौकिक ब्रह्म का उस प्रकार प्रभाव मानने से कुछ भी हानि नहीं है। सारार्थ यह है कि—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, प्रमाणत्रय हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण का व्यभिचार—मायामुण्डावलोक में होता है, वृष्टि निर्वापित वह्नि से द्विगुणित धूमोद्गीरण होने पर उक्त धूम के द्वारा वह्नि अनुमित होने पर अनुमान में व्यभिचार अवश्यम्भावी है, किन्तु आप्तवाक्यरूप शब्द का व्यभिचार कुत्रापि नहीं होता है। "हिमालय में हिम" प्रसिद्ध प्रामाणिक दृष्टान्त है। प्रत्यक्षानुमान का उपजीवक भी शब्द प्रमाण है। शब्दप्रमाण—प्रत्यक्षानुमान का मुखापेक्षि नहीं है। जहाँ प्रत्यक्षानुमान की गति नहीं है वहाँ शब्द प्रमाण ही साधकतम है, मायामुण्ड विलोकन के पश्चात् सत्यमुण्ड दर्शन से भी जब विश्वस्त नहीं होता है, तब उसका विश्वास उत्पादन नभोवाणी से होता है। "शीतार्त्त पान्थ! इस पर्वत में वह्नि की सम्भावना न करना, वह्नि निर्वापित, वृष्टि से हुआ है। अन्यत्र धूमोद्गारिणी पर्वतमें वह्नि है," यह शब्द प्रत्यक्षानुमान का अनुग्राहक है। कण्ठमणि विस्मृत होने पर तो स्मारक शब्द ही होता है, इसमें प्रत्यक्षानुमान की अपेक्षा नहीं रहती है,

र्मृदिवाविकृतात्" इति। दृष्टान्तत्रयेण तु क्रमेणेदं लभ्यते,—सूर्य्यकान्तस्थानीये ब्रह्मोपाधौ सूर्य्यस्येव तस्य किञ्चित् प्रकाशः, दधिस्थानीये शम्भूपाधौ क्षीरस्थानीयस्य न तादृगपि प्रकाशः दशान्तरस्थानीये विष्णूपाधौ तु पूर्ण एव प्रकाश इति॥ श्रीसूतः॥

१४। एवमेवाह त्रिभिः (भा० १०।८८।३-५)—

सर्वसम्वादिनी

दृश्यते, "मनसा मेरुं गच्छति" इत्यादौ दूरश्रवण-दर्शनादि-सिद्धौ च। श्रुतिश्च (ऋक्सं० १म० २२सू० २०मः) "दिवीव चक्षुराततम्" इत्यादिका। तदेवम् "अणवश्च" इत्यत्रैव माध्वभाष्योदाहृता शाण्डिल्य-श्रुतिः; सा यथा,—"न ह्यणुचक्षुषः प्रकाशो व्याततोऽणुर्ह्येवैष पुरुषः" इति।

ग्रहचेष्टादि में तो शब्द ही प्रमाण है, प्रत्यक्षानुमान नहीं। इस प्रकार 'शब्द का सर्वश्रेष्ठ प्रमाणत्व सिद्ध हुआ है। श्रुति शब्द से ही ब्रह्म का बोध होता है, प्रत्यक्षानुमान से नहीं। श्रुति में उक्त है—अवेदवित् व्यक्ति ब्रह्म को नहीं जान सकता है। वेद,—स्वतः सिद्ध होने से ही स्वतः प्रमाण है।

भा० १०।८७।१५—"बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदिवाविकृतात्।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्॥"

टीका—"ननु कथं मामेवं प्रतिपादयन्ति। यत इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजेत्यादिभिरिन्द्रो यातो जङ्गमस्य अवसितस्य स्थावरस्य च राजेति प्रतिपाद्यते। तथा अग्निर्मूर्द्धादिव इत्यादिभिश्चैवम्भूतत्वेन अग्न्यादयः प्रतिपाद्यन्ते। तत्राह बृहदुपलब्धमेतदिति। अयमर्थः, एतदुपलब्धं दृष्टमिन्द्रादि सर्वं बृहद्ब्रह्मत्वमित्यव-यन्ति जानन्ति। कथम्? बृहत् एव अवशेषतया अवशिष्यमाणत्वेन। कुतः? यतो बृहतः सर्वस्य उदयास्तमयौ उत्पत्तिलयौ। सर्वोपादानत्वात्। तर्हि किं विकारित्वं बृहतः? न, अविकृतात्। विवर्त्ता-धिष्ठानत्वेनाविकारादित्यर्थः। वा शब्द उपमार्थः। यथा घटादेर्विकृतेर्मृदि उदयास्तमयौ तद्वत्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादिभिस्तथा प्रतिपादनादित्यर्थः। अतः कारणात् ऋषयो मन्त्रास्तद् द्रष्टारो वा त्वय्येव मनोवचनाचरितं दधुः मनसा आचरितं तात्पर्य्यं वचनाचरितं अभिधानञ्च धृतवन्तः। न पृथग् विकारेष्वित्यर्थः। अत्र निदर्शनं कथमयथेति। नृणां—भूचराणां यत्र कुत्रापि दत्ताणि निक्षिप्तानि पदानि भुवि कथमयथा भवन्ति अदत्तानि भवन्ति।

अतो यथा मृत्पाषाणेष्टकादिषु दत्तानिपदानि भुवं न व्यभिचरन्ति, तथा यत् किमपि विकारजातं वदन्तो वेदा स्त्वामेव सर्वकारणं परमार्थभूतं प्रतिपादयन्तीत्यर्थः।

एक बृहत् वस्तु ही ब्रह्माण्डस्थ समस्त वस्तु हैं। जिस प्रकार मृत्तिका से उत्पन्न मृन्मय घटादि के उदयास्त में मृत्तिका ही अवशेष रहती है, तद्वत् ब्रह्म एक अद्वय तत्त्व हैं, निज शक्ति बहुविध होते हैं, पुनर्वार अविकृत रूप एक अद्वय तत्त्व में अवशिष्ट होते हैं। मन्त्र एवं मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण इसकी उपलब्धि कर कहते हैं,—काष्ठ पाषाण प्रभृति में पदक्षेप से पृथिवी में ही पदक्षेप होता, उस प्रकार सर्वत्र एक अद्वय तत्त्व ही स्वीय शक्ति से विलसित है। केवल निर्विशेष प्रतिपादक श्रुतिगण भी श्रीभगवान् को ही वर्णन करती हैं। कारण—अविकृत मृत्तिका से उद्भूत विकृत घटादि के उत्पादविनाश के समान अविकृत ब्रह्म से ही विकृत विश्व का उदयास्त सम्पन्न होता है।

'सूर्य्य, दुग्ध, दीप', क्रमशः दृष्टान्तत्रय से प्रतीत होता है कि—यद्रूप सूर्य्यकान्त स्थानीय ब्रह्मोपाधि में सूर्य्य स्थानीय श्रीभगवान् का किञ्चित् प्रकाश होता है, तद्रूप प्रकाश, दधि स्थानीय शम्भूपाधि में क्षीर स्थानीय श्रीभगवान् का नहीं होता है। किन्तु दशान्तर स्थानीय बिष्णु उपाधि में श्रीभगवान् का सम्पूर्ण प्रकाश है। यह उक्ति श्रीसूत महाशय की है॥१३॥

(१४) "शिवः शक्तियुतः शश्वत्रिलिङ्गो गुणसंवृतः ।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ॥३॥
ततो विकारा अभवन् षोड़शामीषु किञ्चन ।
उपाधावन् विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम् ॥४॥
हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः ।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत्" ॥५॥

शश्वच्छक्तियुतः प्रथमतस्तावन्नित्यमेव शक्त्या गुणसाम्यावस्थ-प्रकृतिरूपोपाधिना युक्तः, गुणक्षोभे सति त्रिलिङ्गो गुणत्रयोपाधिः, प्रकटैश्च सद्भिस्तैर्गुणैः संवृतश्च । ननु तमउपाधित्वमेव

सर्वसम्वादिनी

अन्यत्र च गुणो गुणि-समीपदेशं व्याप्नोतीति दृश्यते; यथा—पुष्पादौ गन्धः। गन्धस्यापि सहैवाश्रयांशेन विश्लेष इति चेत् ? न;—मूलद्रव्योन्मानहानि-प्रसङ्गात् । परमाणूनामेव विश्लेषान्नाल्पकाले न मान-हानिरिति चेत् ? तेषामतीन्द्रियत्वेन तद्गुणग्रहणायोगात् स्फुटगन्धस्तु कस्तूर्य्यादिष्विति । एवं कायव्यूहे

श्रीमद्भागवत के १०।८८।३-५ श्लोकत्रय के द्वारा उक्तार्थ का प्रदर्शन करते हैं। अर्थात् तत्त्व विचार के द्वारा श्रीकृष्ण को परम तत्त्व रूपमें स्थापन कर उपास्य विचार से भी सर्वश्रेष्ठत्व स्थापन करने के निमित्त श्रीकृष्णांशविशेष श्रीविष्णु के माहात्म्य का वर्णन करते हैं। हे राजन् ! शिव सर्वदा शक्तियुक्त, त्रिलिङ्ग एवं गुणसंवृत हैं, कारण वैकारिक, तैजस, तामस भेद से अहङ्कार त्रिविध हैं, तज्जन्य शिव को त्रिलिङ्ग कहते हैं।३। उससे दश इन्द्रिय, पञ्चभूत, मन, षोड़श विकार उत्पन्न होता है। इसके मध्यमें किसी प्रकार विकारोपाधि का भजन करने से समुदाय विभूति गति की प्राप्ति होती है।४।

श्रीहरि, साक्षात् निर्गुण पुरुष, प्रकृति से पर, सर्व साक्षी हैं। उनका भजन करने से निर्गुणत्व प्राप्ति होती है।५।

टीका—"अन्योन्योपमर्देन तमस्त्रैविध्यात् त्रिलिङ्गः। त्रिलिङ्गत्वमाह-वैकारिक इति। अहमहङ्कारः।३। विकारा, मन इन्द्रियभूतरूपाः। षोड़शेति इन्द्रियदेवानामभेदविवक्षया। कञ्चन यत्किञ्चित् विकारोपाधिं भजन् उपाध्यनुरूपं विभूतीनां प्राप्नोतीति।४। उपद्रष्टा—साक्षी सन्। यतः सर्वदृक् सर्वं पश्यति अतः प्रकृतेः परः इति। अत्रेदं तत्त्वम्। वस्तुनो गुणसम्बन्धे रूपद्वयमिहेष्यते। तद्धर्मयोगायोगाभ्यां विम्ववत् प्रतिविम्ववत्। गुणाः सत्त्वादयः शान्त घोरमूढ़ाः स्वभावतः विष्णुब्रह्मशिवानाञ्च गुणयन्तृ स्वरूपिणाम्। नातिभेदो भवेद्भेदो गुणधर्म्मैरिहांशतः। सत्त्वस्य शान्त्या नो जातु विष्णोर्विक्षेपमुच्यते। रजस्तमोगुणाभ्यान्तु भवेतां ब्रह्मरुद्रयोः। गुणोपमर्दनो भूयस्तदंशानाञ्चभिन्नता। अतः समग्रसत्त्वस्य विष्णो र्मोक्षकरी मतिः।"

"अंशतो भूतिहेतुश्च तथानन्दमयी स्वतः। अंशतस्तारतम्येन ब्रह्मरुद्रादि सेविनाम् ॥
विभूतयो भवन्त्येव शनैर्मोक्षोऽप्यनंशतः।

इदमेवाभिप्रेत्य तत्र तत्रोच्यते श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनो र्नृणां स्युरिति। तथा सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्त्तिरिति। तथा सत्त्वं तत् तीर्थसाधनमिति।५।

"शश्वच्छक्तियुतः" शिव, प्रथमतः नित्य शक्ति के सहित युक्त हैं, अर्थात्—गुण की साम्यावस्था रूप उपाधि युक्त है, काल के द्वारा सत्त्व रजः तमः गुणत्रय क्षुब्ध होने से त्रिलिङ्ग—सत्त्व रजः तमः गुणत्रय-उपाधि होती है, नित्य प्रकटित गुणत्रयोपाधि द्वारा संवृत आच्छन्न होते हैं।

आशङ्का हो सकती है,—शिव, तमोगुणोपाधि युक्त हैं, किन्तु यहाँ उनको गुणत्रयोपाधियुक्त कहना

तस्य श्रूयते, कथं तत्तदुपाधित्वम् ? तत्राह—वैकारिक इति। अहमहन्तत्त्वं हि तत्तद्रूपेण त्रिधा ; स च तदधिष्ठातेत्यर्थः। मुख्यतया नास्तां नामान्यद्गुणद्वयम्, गौणतया त्वास्त एवेत्यर्थः। ततस्तेन भगवत्प्रतिनिधिरूपेणाधिष्ठितादहन्तत्त्वात् षोड़श विकारा ये अभवन्नमीषु विकारेषु मध्ये सर्वासां विभूतीनां सम्बन्धि किञ्चन उपाधावन् तदुपाधिकत्वेन तमुपासीनो गतिं प्राप्यं फलं लभते। हि प्रसिद्धौ हेतौ वा ; हरिस्तु प्रकृतेरुपाधितः परस्तद्धर्मैरस्पृष्टः ; अतएव निर्गुणोऽपि कुतस्त्रिलिङ्गत्वादिकमिति भावः। तत्र हेतुः— साक्षादेव पुरुष ईश्वरः, न तु प्रतिविम्ववद्व्यवधानेनेत्यर्थः। अतः (भा० ११।११।३) "विद्याविद्ये मम तनु" इतिवत् तनु-

सर्वसम्वादिनी

गन्धदृष्टान्तो ज्ञेयः ; पृथिवीगन्धस्य पृथिवीव्यतिरिक्ते जलादाविव जीवगुणस्य देहान्तरवृन्देऽपि व्याप्तिः सम्भवति दृष्टान्ते, तद्गन्धस्य नेता वायुर्दार्ष्टान्तिके त्वीश्वर एवेति। तथैव (ब्र०सू० २।३।२७) माध्वभास्य-

कैसे सङ्गत होगा ? समाधान हेतु कहते हैं—वैकारिक, अहङ्कार तत्त्व—सत्त्व रजः तमः, गुणत्रय रूपमें तीन प्रकार होते हैं। अर्थात् भगवान् शिव उक्त गुणत्रय के अधिष्ठाता हैं। एवं गुण के अधिष्ठाता होने से अपर गुणद्वय गौण रूपमें रहते हैं। अतएव भगवत् प्रतिनिधि रूपमें अधिष्ठित अहं तत्त्व से जो षोड़श उत्पन्न हुआ है, उक्त विकार समूह के मध्य में अर्थात् समस्त विभूतियों के मध्य में जिस किसी उपाधि का भजन करने से अभीप्सित फल लाभ होता है। अर्थात् उक्त उपाधिविशिष्ट रूपमें उपासना करने से फल लाभ होता है। "हि" शब्द का अर्थ प्रसिद्धि एवं हेतु है। श्रीहरि किन्तु प्राकृतिक उपाधि रूप सत्त्व रजः तमः रूप गुणत्रय के द्वारा अस्पृष्ट हैं, अतएव निर्गुण हैं। अर्थात् प्राकृत सत्त्व रजः तमः रूप गुणत्रय विवर्जित हैं। अतएव वैकारिक तैजस तामस रूप त्रिलिङ्ग की सम्भावना कैसे होगी ? उसके प्रति हेतु पुरुष; साक्षात् ही ईश्वर हैं, प्रतिविम्ववत् व्यवधान से नहीं।

अतएव भा० ११।११।३ श्लोक में श्रीभगवान् कहे हैं—

"विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्। बन्ध मोक्षकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते॥

हे उद्धव ! विद्या एवं अविद्या उभय ही मेरी शक्ति है। उभय ही शरीरीगण की बन्ध मोक्ष करी है। उभय ही अनादि है। उभय ही मेरी मायासे निर्मित है।

क्रमसन्दर्भ—कथम् ? तत्राह,—विद्येति। अतो वस्तुतो नित्यमुक्तोऽपि प्रतीतितोऽनादिबद्ध इति युगपदुभयत्वं घटत इत्यर्थः। अत्र मे मम मायया शक्त्या कर्त्र्या तद्रूप-स्वरूप-स्वदृष्टान्तरूपत्वात् स्वांशरूपे, अतएवानादी ये निर्मिते प्रसारिते, 'ते एव मम शरीरिणां मदीयानां जीवानां मोक्षबन्धकार्यौ भवतः' इति स्थिते; सा धर्मराजवद्भक्ता। (भा० ११।२।३७) "भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्" इति न्यायेन यस्य यावन्मद् वैमुख्यम्, तस्य तावदविद्यां प्रसार्य्य स्वरूपावरण पूर्वकं गुणावेशं कुर्वती बन्धं करोति। मत् साम्मुख्ये तु विद्यां प्रसार्य्य गुणावेश-त्याजन-पूर्वकं स्वरूपस्फुरणं कुर्वती मोक्षं करोतीति ज्ञेयम्।

अतस्तस्या एव तयोः कर्त्तृत्वेऽपि मद्धेतुकत्वात् 'बन्धको भवपाशेन' इत्याद्युच्यत इति भावः। 'मोक्ष-बन्धकरी' इति 'सुपांसुलुक् पूर्वसवर्णः' इत्यादिना पूर्वसवर्णश्छान्दसः।

यद्वा, निमित्त रूपांशस्य प्रथने द्वे वृत्तीत्याह,—विद्येति अत्र टीका दृश्या। अत्र टीकायां 'माया वृत्ति रूपत्वात्' इति वस्तुतो माया वृत्ती एव ते। विनिर्मितत्वं त्वपरानन्त वृत्तिकया तदा प्रकाशमानत्वादेवोच्यते, यतोऽनादीत्यर्थः। तथास्फुरतीत्यस्य 'मोक्षः' इत्यनेनैवान्वयः। जीवस्य स्वतोमुक्तत्वमेव। बन्धस्तु अविद्या मात्रेण प्रतीतः, विद्योदये तु तत् प्रकाशतेमात्रम्। ततो नित्य एव मोक्ष इति भावः।

न च वाच्यम् (भा० ११।३।१६) 'एषा माया' इत्यादौ सामान्य लक्षणे मोक्ष प्रदत्वं तस्या नोक्तमित्य-

शब्दोपादानात् कुत्रचित् सत्त्वशक्तित्वश्रवणमपि प्रेक्षादिमात्रेणोपकारित्वादिति भावः। अतएव सर्वेषां शिव-ब्रह्मादीनां दृक् ज्ञानं यस्मात्तथाभूतः सन्नुपद्रष्टा तदादिसाक्षी भवति। अतस्तं भजन्निर्गुणो भवेद्गुणातीतफलभाग्भवतीति ॥ श्रीशुकः ॥

१५। अतएव विष्णोरेव परमपुरुषेण साक्षादभेदोक्तिमाह (भा० २।६।३२)—

(१५) "सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्" ॥३२॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

प्रमाणिता शाण्डिल्य-श्रुतिः—"अथैक एव स गन्धवद्व्यतिरिच्यते, तथैकीभवत्यथ बह्वीभवति ; तं यथेश्वरः प्रकुरुते, तथा तथा भवति ; सोऽचिन्त्यः परमो गरीयान्" इति।

सम्यक्त्वमिति। अन्तकारित्वेनात्यन्तिक प्रलयरूपस्य मोक्षस्याप्युपलक्षितत्वात्। अत्र विद्याख्यावृत्तिरियं स्वरूपशक्तिवृत्तिविशेषविद्याप्रकाशे द्वारमेव, नतु स्वयमेव सेति ज्ञेयम्।

अथाविद्याख्यस्य भागस्य द्वे वृत्ती—(क) आवरणात्मिका, (ख) विक्षेपात्मिका च। तत्र (क) पूर्वा जीव एव तिष्ठन्ती, तदीयं स्वाभाविकं ज्ञानमावृण्वाना; (ख) उत्तरा च तं तदन्यथा ज्ञानेन सञ्जयन्ती वर्त्तते' इति। (भा० ११।११।३)

जीव वस्तुत नित्यमुक्त होनेसे भी प्रतीति से अनादिबद्ध है, इस प्रकार युगपत् उभय प्रकार मायासे होता है। मेरी शक्ति माया है, उसकी शक्ति ही उस प्रकार है, उस वृत्ति को अनादि कालसे ही माया द्वारा प्रसारित है। उससे मदीय विभिन्नांश रूप जीवके बन्धमोक्षरूप कार्य्य होते हैं। माया—धर्मराजके समान भक्त है। (भा० ११।२।३७) 'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्।' भयरूप संसार द्वितीय—शरीराविष्ट होनेसे ही होता है। जब मेरे प्रति वहिर्मुखता जीवकी होती है, उस समय—अविद्या स्वरूपावरण करती है। गुणावेश कराती, इससे बद्धता होती है। भगवत् साम्मुख्य होने से गुणावेश का परित्याग होता है, और स्वरूप स्फुरण होता है। वह ही मोक्ष है। कर्त्तृत्व माया में होने से भी मेरे द्वारा ही सम्पादित होता है। "बन्धक है, भवपाश के द्वारा" इससे मेरा कर्त्तृत्व सुस्पष्ट है। "मोक्ष बन्धकरी" यहाँ सुपां सुलुग् सूत्रसे बन्धमोक्षकरी में एकवचन हुआ है। द्विवचन होना आवश्यक था।

पक्षान्तर में निमित्त रूपांश की दो वृत्ति है, अपरानन्त वृत्तिके प्रकाशमान है। वह अनादी है। जीव स्वतः मुक्त है, अविद्या संसर्ग से बद्ध होता है, विद्योदय में आत्म प्रतीत होता है।

'माया को मोक्षद' कैसे कहा गया है? विद्या शक्ति की अनुकम्पा से है। माया अन्तकारिणी होने से मोक्षप्रद भी है। स्वरूप शक्ति विद्या प्रकार का द्वार है। अविद्या का आवरण विक्षेप रूप भागद्वय है। आवरण विक्षेप। प्रथम जीव में है, द्वितीया स्वरूप को आवृत करके अन्यथा प्रतीति कराती है।

अतः (भा० ११।११।३)—"विद्याविद्ये ममतनू" श्लोक में विद्याविद्या को "तनू" शब्दसे उल्लेख कर जिस प्रकार शक्ति स्वीकार किया गया है, उससे सत्वशक्तित्व का प्रकाश हुआ है, उसका उपयोग, सृष्टि कार्य हेतु 'स ऐक्षत' रीति से होता है, परमपुरुष के सङ्कल्प मात्रसे ही समस्त कार्य्य सम्पादित होते हैं। तज्जन्य ही शिव, ब्रह्मा प्रभृति का अखिल ज्ञान जिनसे प्रर्वात्तत होते हैं, उस प्रकार स्वरूप प्रकट कर ही श्रीभगवान् उन सबका उपद्रष्टा होते हैं, अर्थात् सबके साक्षी होते हैं। इस प्रकार भजनीय गुणविशिष्ट होने से ही कहा गया है, उन श्रीहरि का भजन जो करता है, वह निर्गुण—"प्राकृत सत्त्व रजः तम" गुणातीत होता है, अर्थात् गुणातीत फलका उत्तमा भक्ति का अधिकारी होता है। यह कथन श्रीशुक का है ॥१४॥

उपरोक्त कारण वशतः ही परमपुरुष के सहित श्रीविष्णु का ही अभेद कथन साक्षात् रूपसे हुआ है।

अहं ब्रह्मा ; श्रुतिश्चात्र (महोप० २।३।१४) "स ब्रह्मणा सृजति, स रुद्रेण विलापयति, सोऽनुत्पत्तिरलय एव हरिः परःपरमानन्दः" इति महोपनिषदि ।। श्रीब्रह्मा श्रीनारदम् ।।

१६ । तथैवाह (भा० १२।५।१)—

(१६) "अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान् हरिः ।
यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः" ।।१।। इति ।

सर्वसम्वादिनी

तस्माज्जीवः स्वगुणेनैव व्याप्नोतीति । तथा (ब्र०सू० २।३।२७,२८—शा०भा०) "हृदयायतनत्वमणुपरिमाणत्वञ्चात्मनोऽभिधाय तस्यैव (छा० ८।८।१) 'आलोमेभ्य आनखेभ्यः' इति चेतना-गुणेन सर्वशरीर

(भा० २।६।३२) श्रीब्रह्मा कहते हैं—हे नारद ! श्रीहरि के नियोग से ही मैं विश्व सृजन करता हूँ । रुद्र भी उनके वशतापन्न होकर विश्व संहार कार्य्य करते हैं, चिदचिच्छक्ति युक्त श्रीहरि—विष्णुरूप धारण कर विश्व पालन करते हैं ।

टीका—यत् परस्तमित्येतत् प्रश्नोत्तरं यदुक्तं स एव भगवान् विष्णुः सर्वेषां मम चेश्वर इति, तदुपसंहरति सृजामीति । पालनन्तु स्वयमेव करोतीत्याह विश्वमिति । पुरुषरूपेण—विष्णुरूपेन । त्रिशक्तिर्माया, तां धरतीति तथा सः ।३२।

परमपुरुष की वार्त्ता कही गई है, वह परमपुरुस भगवान् श्रीविष्णु ही हैं । सबके एवं मेरा भी ईश्वर स्वामी आप ही हैं, उपसंहार करते हैं,—पालन कार्य्य, स्वयं ही करते हैं । स्वयं विष्णुरूप धारण कर उक्त विश्व पालन कार्य्य करते हैं, त्रिशक्ति—वहिरङ्गाशक्ति, मायाशक्ति है, वह शक्ति उनकी है, एवं उन शक्तिके द्वारा विचित्र सृजनादि कार्य एकपाद विभूति में करते हैं ।३२।

क्रमसन्दर्भः—आत्मनो हरस्य च तन्नियम्यत्वमुक्त्वा विष्णोस्तु साक्षात्तद्रूपत्वं दर्शयति—पुरुषरूपेणेति । पुरुषः परमात्मा साक्षात् तद्रूपेणैव विष्णुनामावतारेण । त्रिशक्तिधृक् पुरुष एव परिपाति ; नतु सर्गसंहारयोस्तत्र तत्राविष्टांशेनेत्यर्थः ।३२।

ब्रह्मा स्वयं नियम्य हैं, 'हर' भी नियम्य हैं, इसे कहकर श्रीविष्णु का साक्षात् स्वरूप को कहते हैं । पुरुष-परमात्मा, साक्षात् स्वरूप श्रीविष्णु नामक अवतार ग्रहण कर—विश्व पालन करते हैं । त्रिशक्ति मायाशक्तिविशिष्ट पुरुष ही पालन कार्य्य करते हैं । किन्तु सृजन संहार कार्य्य हेतु जिस प्रकार उन उन गुणों से आविष्ट होकर करते हैं, उस प्रकार पालन कार्य्य नहीं करते हैं ।३२।

सृजामि श्लोक में प्रयुक्त 'अहं' शब्द का अर्थ,—'ब्रह्मा' है, यह अर्थ प्रकरण प्राप्त है । इस विषय में श्रुति संवाद यह है,—स्वयं भगवान् ब्रह्मारूप धारण कर विश्व सृजन करते हैं । रुद्ररूप धारण कर विलीन करते हैं । श्रीहरि, परमपुरुष परमानन्द हैं, उत्पत्ति लय शून्य भी हैं । महोपनिषद् की वार्त्ता है । श्रीब्रह्मा श्रीनारद को बोले थे ।।१५।।

उक्त प्रसङ्ग के अनुरूप कथन ही (भा० १२।५।१) में है । हे राजन् ! जिनका श्रवण मैं करा रहा हूँ, श्रीमद्भागवत के सर्वत्र पुनः पुनः उन विश्वात्मा श्रीहरि वर्णित हैं । जिनके प्रसाद से ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं, एवं क्रोध से रुद्र का उद्भव हुआ है ।

टीका,—एतत् पुराणं शृण्वन्नमयं प्राप्नोतीत्यभिप्रेत्य पुराणार्थमनुस्मारयति अत्रेति, अयं भावः । जगतः कर्त्ता ब्रह्मापि यस्य प्रसादजः । प्रसादोऽत्र रजोवृत्तिर्हर्षः । ततो जातत्वात् परतन्त्रः । सर्वसंहर्त्ता रुद्रश्च यस्य क्रोध क्रोधसम्भवो नतु स्वतन्त्रः । स विश्वस्य आत्मा नियन्ता अत्रानुवर्ण्यते । अतः एवम्भूतं भागवतं शृण्वतः कुतोऽन्यस्माद् भयशङ्केति ।१।

अत्र श्रीविष्णुर्न कथित इति तेन साक्षादभेद एवेत्यायातम्; तदुक्तम् (भा० ३।८।१५)—**"स उ एव विष्णुः" इति; श्रुतिश्च** (नारा० १) **"पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत। अथ नारायणादजोऽजायत, यतः प्रजाः सर्वाणि भूतानि।**

सर्वसम्वादिनी

व्यापित्वं दर्शयति। एवं (कौषी० ३।६) 'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' इति चात्मप्रज्ञयोः कर्त्तृकरणभावेन पृथगुपदेशाद्गुणेनैवास्य सर्वशरीरव्यापित्वं गम्यते।"

अत्र यदि प्रज्ञा-शब्दं बुद्धौ वर्त्तयेत्, तथापि तस्या अणुत्वाभ्युपगमात् तया शरीरव्याप्तिरशक्या।

श्रीमद्भागवत श्रवण से ही अभय मोक्ष होता है। इस विषय को सूचित करने के निमित्त कहते हैं, अत्र—श्रीमद्भागवत में श्रीहरि गुण वर्णन हैं, जिनसे ब्रह्मा, रुद्र उत्पन्न होते हैं। ये सब परतन्त्र होते हैं, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र विश्वात्मा श्रीहरि हैं। उनका वर्णन ही श्रीमद्भागवत में है, अतः श्रीमद्भागवत श्रवण से अन्य से भय नहीं रहता है।१।

क्रमसन्दर्भः—अत्रानुवर्ण्यते इत्यादि। प्राक् कल्पलीनसाधकभक्त उत्पद्य मद्भक्तिं करिष्यन्तीति भावनामयाद् यस्य प्रसादात् जातास्तेषु मुख्यो ब्रह्मा। तथा कालेन तद् विमुखप्राये लोके तद्वैमुख्य हेतुं भावं प्रतिजाताद् यस्य क्रोधाज्जातः स्वाभक्तशास्तारुद्र इत्यर्थः।१।

पूर्वकल्प में सुप्त साधकभक्तगण मद्भक्ति का आचरण करेंगे—इस प्रकार भावनामय प्रसन्नता से उत्पन्न व्यक्तिवर्ग समूह के मध्य में मुख्य ब्रह्मा हैं। उस प्रकार कलि प्रभाव से कुशिक्षा के द्वारा भगवद्विमुखप्राय लोक की शिक्षा को देखकर जिन श्रीहरि का क्रोध होता है, उस क्रोध से उत्पन्न निज अभक्तगण का शास्ता रुद्र हैं। उन श्रीहरि का वर्णन श्रीमद्भागवत में हैं। अतः परम क्षेमकर श्रीमद्भागवत हैं।१।

श्रीमद्भागवत १२।५।१ श्लोक में ब्रह्मा रुद्र का वर्णन परतन्त्र रूपमें हुआ है। उन दोनों के सहित श्रीविष्णु का कथन नहीं हुआ है। अतः श्रीविष्णु के सहित ही स्वयं भगवान् का साक्षाद् अभेद है। इस श्लोक से उक्तार्थ का लाभ हुआ है।

श्रीमद्भागवत ३।८।१५ में उक्त है—

"तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः प्रावीविशत् सर्वगुणावभासम्।
तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता स्वयं भुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत्॥"

मैत्रेय बोले,—हे विदुर! उक्त पद्म ही लोकस्वरूप एवं जीव भोग्य समस्त गुण अर्थात् गुण कार्य्य जीव के भोगयोग्य स्वर्ग-नरकादि का प्रकाशक है। उसका प्रकाश गर्भोदकशायी विष्णु से हुआ है। अनन्तर अविलुप्त शक्ति श्रीविष्णु अन्तर्य्यामी रूपमें उसमें प्रविष्ट हुये।१५।

श्रीविष्णु का अधिष्ठान होने से उक्त पद्मसे वेदमय ब्रह्मा आविर्भूत हुए। जनक दृष्ट न होने से पण्डित गण ब्रह्मा को स्वयम्भू कहने लगे। अर्थात् कल्पान्त में ब्रह्मा श्रीनारायण के सहित एकीभूत थे, तत् पश्चात् नारायण प्रबुद्ध होने से पाद्मकल्प में ब्रह्मा भी उक्त पद्म में अभिव्यक्त हुए। तज्जन्य स्वयम्भू नाम से अभिहित होते हैं।

टीका—तल्लोकात्मकं पद्मं सर्वान् जीवान् जीवभोग्यान् अर्थान् अवभासयतीति तथा तत् तस्माज्जातं स एव विष्णुः। उ इति सम्बोधने। प्रावीविशत्—प्रकर्षेण अलुप्तशक्तिरेव अन्तर्य्यामितया विवेश। तस्मिन् विष्णुना अधिष्ठिते पद्मे विधाता ब्रह्माभूत्। कथम्भूतः? स्वयमेव वेदमयः, नतु अध्ययनेन प्राप्त वेदः। कोऽसौ अदृष्टपितृकत्वेन यं स्वयम्भुवं वदन्ति सः। प्राक् कल्पान्ते नारायणेन सह निद्रयैकीभूत आसीत् तस्मिंश्च प्रबुद्धे तत एव पाद्मे कल्पे पद्मद्वारेणाभिव्यक्तिं प्राप्त इत्यर्थः।१५।

श्रुति—(नारा० १) पुरुष नारायण कामना किए थे। अनन्तर श्रीनारायण से ब्रह्मा उत्पन्न हुए।

"नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परम्। ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्"॥ इति। (ना०पू०ता० १।४) "एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः। स मुनिर्भूत्वा समचिन्तयत्। तत एवैते व्यजायन्त विश्वो हिरण्यगर्भोऽग्निर्वरुणरुद्रेन्द्राः" इति च। तस्मात्तस्यैव वर्णनीयत्वमपि युक्तम्॥ श्रीसूतः॥

१७। ननु (भा० ४।७।५४) "त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्," तथा (भा० १२।१०।२२) "न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते" इत्यादावभेद एव श्रूयते,

सर्वसम्वादिनी

प्रज्ञारूपेऽपि जीवे 'प्रज्ञया' इति (ब्र०सू० २।३।२९—शा०भा०) "भेद-व्यपदेशः शिलापुत्र-शरीरवत्" इत्यत्र तु श्रुत्यर्थः क्लिष्टः स्यात्। तदेकमात्रेऽपि शक्तिस्थापना तु मुहुरेव दर्शिता; तस्मादणुरेव जीव इति प्राप्ते पुनरेव ते हेतवः प्रत्यवस्थाप्यन्ते।

जिन ब्रह्मा से प्रजा भूत समूह उत्पन्न हुए। नारायण—परमब्रह्म, नारायण परम तत्त्व, नारायण परम सत्य, परमब्रह्म, पुरुष एवं कृष्ण पिङ्गल हैं। (ना० पू० ता० १।४) वर्णित है,—सृष्टि के पूर्व में एक नारायण थे, अपर ब्रह्मा शङ्कर नहीं थे। उक्त नारायण मुनि ने चिन्ता की। उनसे विश्व, हिरण्यगर्भ ब्रह्मा, अग्नि, वरुण, रुद्र एवं इन्द्र उत्पन्न हुए हैं। अतएव उन श्रीभगवान् का वर्णन करना ही समीचीन है। यह कथन श्रीसूत महाशय का है॥१६॥

भा० ४।७।५४ श्लोक में भगवान् दक्ष की उक्ति इस प्रकार है,—"हे ब्रह्मन्! ब्रह्मा विष्णु महेश्वर हम तीन एक स्वरूप के हैं, एवं समस्त प्राणियों के आत्मा हैं। जो जन हम सब तीन जनों के मध्य में भेद दर्शन नहीं करता है, वह शान्ति लाभ करता है।"

क्रमसन्दर्भः—स्वावतारत्वोपदेशेन ब्रह्माशिवावप्यादरयति।

टीका स्वामिकृता—तस्मादेवैक्यं पश्यन् कृतार्थो भवतीत्याह—त्रयाणामेको भावः स्वरूपं येषाम्।५४।

श्रीभगवानुवाच—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्। आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयं दृगविशेषणः॥५०
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज! सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्॥५१
तस्मिन् ब्रह्मण्य द्वितीये केवले परमात्मनि। ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति॥५२
यथा पुमान् न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित्। पारक्यबुद्धिं कुरुत एवं भूतेषु मत्परः॥५३
त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्। सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति॥५४

"देवत्रये तु पृथगीश्वरत्वमपश्यन्नेव कृतार्थोभवतीत्याह—त्रयाणामेकः पुरुषस्यैव भावः (भा० १।२।२४) "पार्थिवाद्दारुणो धूमः" इति न्यायेन यथायथं प्राकट्यं येषु तेषाम्; सर्वभूतस्यात्मनां तत्तत् कार्य्येषु प्रवर्त्तकानाम्।"

ब्रह्मा-विष्णु-महेश नामक देवत्रय में पृथक् ईश्वर बुद्धि स्थापन न करके ही उपासना करें। इससे शान्ति मिलती है। एक अद्वय ज्ञानतत्त्व स्वयं भगवान् ही विश्वकार्य्यार्थ विभिन्न रूप प्रकट करते हैं। स्वतन्त्र ईश्वर एक हैं। भा० १२।१०।२२ में उक्त है—

"न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते। नात्मनश्च जनस्यापि तद् युष्मान् वयमीमहि॥"२२

पूज्यतमत्वे हेत्वन्तरमाह नेति। अण्वपि—अणुमात्रमपि न चक्षते न पश्यन्ति, तत् तस्मात् एवम्भूतान् युष्मान् ईमहि भजेम।२२।

"हे ब्रह्मन्! ब्रह्मा विष्णु महेश्वर हम तीनों में अणुमात्र भी भेद नहीं हैं, सुतरां आत्मा के सहित समस्त

पुराणान्तरे च विष्णुतस्तयोर्भेदे नरकः श्रूयते ; सत्यम्, वयमपि भेदं न ब्रूमः, परमपुरुषस्यैव तत्तद्रूपमित्येकात्मत्वेनैवोपक्रान्तत्वात् । शिवो ब्रह्मा च भिन्नस्वभावादितया दृश्यमानोऽपि प्रलये सृष्टौ च तस्मात् स्वतन्त्र एवान्य ईश्वर इति न मन्तव्यम्, किन्तु विष्ण्वात्मक एव स स इति हि तत्रार्थः ; तदुक्तम् (वामन-पु०) "ब्रह्मणि ब्रह्मरूपः सः" इत्यादि । न च प्रकाशस्य

सर्वसम्वादिनी

ननूत्क्रान्त्यादयो ह्यत्रोपाध्युत्क्रान्त्यादिभिरेव व्यपदिश्यन्ते ? न ;—उत्क्रमवाक्ये (कौषी० ३।४) 'सहैवैतैः' इति सह-शब्दश्रवणात् । सह-शब्दो हि प्रधानाप्रधानयोः समानामेव क्रियां बोधयति । ततश्च

वस्तु की एकता है । अतएव हम सब आपका भजन करते हैं ।" इत्यादि वचन प्रमाणों से "ब्रह्मा विष्णु महेश" तीनों में अभेद प्रतिपादन होता है । एवं पुराणान्तर में भी लिखित है कि—"श्रीविष्णु से शिव ब्रह्मा को भिन्न देखने पर नरक गमन होता है ।" पूर्वपक्ष का समाधान हेतु कहते हैं,—देवत्रय में अभेद कथन, अति सत्य है, हम सब भी ब्रह्मा विष्णु महेश्वर में भेद प्रतिपादन नहीं करते हैं, किन्तु अभेद ही प्रतिपादन करते हैं । मूलतः वास्तव वस्तु सशक्तिक अद्वयज्ञानतत्त्व रूप परतत्त्व एक ही हैं । भा० १।२।२३ के अनुसार—एक परतत्त्व ही विश्व के सृष्टि-स्थिति-प्रलय कार्य्य सम्पादन हेतु ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूप में अवतीर्ण होते हैं ।

"सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणा स्तैर्युक्तः परपुरुष एक इहास्य धत्ते ।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चि हरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र सत्त्व तनो र्नृणां स्युः ।।" इस रीति से ब्रह्मा विष्णु महेश को एकात्मरूप से ही कहा गया है । शिव का कार्य्यक्षेत्र पृथक् है, विनाश कार्य्य हेतु तमोगुणाक्रान्त स्वभाव एवं तदुचित आचरण करना उनमें गुण है । तद्रूप सृष्टि कार्य्य हेतु रजोगुणात्मक होना तदुचित आचरण परायण होना भी उक्त अधिकारोचित कार्य्य सम्पादन के निमित्त भूषण है । साधारण दृष्टि से एक तत्त्व पृथक् पृथक् स्वभावाक्रान्त दृष्ट होता है, किन्तु प्रलय कार्य्य में श्रीशिव का, सृजन कार्य्य में श्रीब्रह्मा का स्वातन्त्र्य नहीं है, एक परमतत्त्व द्वारा परिचालित होकर ही निज निज कार्य्य सम्पादन आप दोनों करते हैं । दो स्वतन्त्र ईश्वरतन्त्र में नहीं है । अधिक स्वतन्त्र ईश्वर होने की तो बात दूर है । अतएव श्रीविष्णु से ब्रह्मा एवं रुद्र पृथक् स्वतन्त्र ईश्वर नहीं हैं, किन्तु ब्रह्मा एवं शिव—श्रीविष्ण्वात्मक ही हैं । इस प्रकार ब्रह्मा शिव को श्रीविष्णु रूप मानना ही कर्त्तव्य है । शास्त्र का सारार्थ भी यह ही है । वामन पुराण में कथित है—"ब्रह्मणि ब्रह्मरूप सः" भगवान् विष्णु ब्रह्मा में ब्रह्मारूप होते हैं । वामन पुराण के एकोनत्रिंशोऽध्याय में उक्त है—

"देव देवो जगद्योनि र्जगदादिजः अनादिरादिर्विश्वस्य वरेण्यो वरदो हरिः ।
परावराणां परमः परापरसतां गति ।।१७
प्रभुः प्रमाणं मानानां सप्तलोकगुरोर्गुरुः ।
स्थितिं कर्त्तुं जगन्नाथः सोऽचिन्त्यो गर्भतां गतः ।।१८
प्रभुः प्रभूणां परमः पराणामनादिमध्यो भगवाननन्तः ।
त्रैलोक्यमंशेन सनाथमेकः कर्त्तुं महात्माऽदितिजोऽवतीर्णः ।।१९
न यस्य रुद्रा न च पद्मयोनि र्नेन्द्रो न सूर्य्येन्दुमरीचिमिश्राः ।
जानन्ति दैत्याधिप यत्स्वरूपं स वासुदेवः कलयावतीर्णः ।।२०
यस्मिन् प्रविष्टा न पुनर्भवन्ति तं वासुदेवं प्रणमामि देवम् ।२१
भूतान्यशेषाणि यतो भवन्ति यथोर्म्मयस्तोयनिधेरजस्रम् ।
लयं च यस्मिन् प्रलये प्रयान्ति तं वासुदेवं प्रणतोऽस्म्यचिन्त्यम् ।।२२

साक्षादसाक्षाद्रूपत्वादि तारतम्यं वयं कल्पयामः, परं शास्त्रमेव वदति, शास्त्रन्तु दर्शितम्।

सर्वसम्वादिनी

गत्यागत्यपि तथैव भवतः। अचलने प्रमाणान्तराभावात्तदुत्क्रान्ति-श्रवणादेव च घटाकाशवद्बुधद्दर्याभिप्रायमिति न च वक्तव्यम्। श्रीगीतोपनिषदस्तु (१५।८) दृष्टान्तविशेषाद्ग्रहणोपादानाच्च तस्यैव चलनाग्रणीत्वं बोधयन्ति,—

न यस्य रूपं न बलं प्रभावो न च प्रतापः परमस्य पुंसः।
विज्ञायते सर्वपितामहाद्यैस्तं वासुदेवं प्रणमामि नित्यम् ॥२३
रूपस्य चक्षु ग्रहणे त्वगेषा स्पर्श ग्रहित्री रसना रसस्य।
घ्राणं च गन्धग्रहणे नियुक्तं न घ्राणचक्षुः श्रवणादि तस्य ॥२४
स्वयं प्रकाशः परमार्थतो यः सर्वेश्वरो वेदितव्यः स युक्त्या।
शक्यं तमोऽयमनघं देवं ग्राह्यं नतोऽहं हरिमीशितारम् ॥२५
येनैकदंष्ट्रेण समुद्धृतेयं धराचला धारयतीह सर्वम्।
शेते ग्रसित्वा सकलं जगद् यस्तमीड्यमीशं प्रणतोऽस्मि विष्णुम् ॥२६"

"देव देव, जगद्‌योनि, स्वयं अयोनि, विश्व के प्रारम्भ में विद्यमान, स्वयं अनादि, विश्व के आदि, वरणीय हरि, सर्वश्रेष्ठ, सबका आश्रय, प्रमाणों के प्रमाणस्वरूप प्रभु, सप्त लोकों के गुरुवर्ग के गुरु, एवं एकमात्र अचिन्त्य विश्व में धर्म मर्य्यादा स्थापन हेतु अदिति के गर्भ में आ गए हैं। प्रभुओं के प्रभु, श्रेष्ठों में श्रेष्ठ, आदि मध्य रहित, अनन्त भगवान् तीन लोकों को सुखी करने के निमित्त अदिति के पुत्र रूपमें अवतीर्ण हुए हैं।१६-१६।

जिन वासुदेव भगवान् को रुद्र, ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य्य, चन्द्र एवं मरीचि आदि श्रेष्ठ पुरुष नहीं जानते हैं, वे ही वासुदेव भगवान् अवतीर्ण हुए हैं। वेदज्ञ व्यक्तिगण जिनको अक्षर कहते हैं, निष्पाप ब्रह्मज्ञगण जिनमें प्रविष्ट होते हैं, जिनमें प्रविष्ट होने से पुनर्जन्म नहीं होता है। इस प्रकार वासुदेव भगवान् को प्रणाम करता हूँ। जिनसे समुद्र की तरङ्गों की भाँति समस्त जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। तथा प्रलय काल में जिनमें लीन होते हैं, उन अचिन्त्य वासुदेव को प्रणाम करता हूँ। ब्रह्मा आदि जिन परमपुरुष के रूप, बल, प्रभाव और प्रताप को नहीं जानते हैं, उन वासुदेव को प्रणाम करता हूँ।२०-२३।

रूप देखने के निमित्त जिन परमेश्वर ने नयनों को, स्पर्श ज्ञान प्राप्त हेतु त्वक् को, स्वाद लाभ हेतु जिह्वा को गन्ध ग्रहण हेतु नासिका को नियुक्त किया है। स्वयं अप्राकृत इन्द्रिय युक्त हैं, स्वप्रकाशस्वरूप हैं, तथापि शास्त्रीय युक्ति से ज्ञात होते हैं। उन सर्वसमर्थ, स्तुतियोग्य, विशुद्ध भक्तिग्राह्य श्रीहरि को प्रणाम करता हूँ। जिनके एक दन्त के द्वारा उद्धारप्राप्त नित्या पृथिवी सभी कुछ धारण करने में समर्था है, जो समस्त विश्व को निज शरीर में स्थान प्रदान करते हैं, उन सत्य विष्णु को मैं प्रणाम करता हूँ।२४-२६। इस प्रकार अनेक वर्णन हैं।

श्रीभगवान् के साक्षात् असाक्षात् रूप प्रभृति जो कि प्रयोजनानुरूप शक्ति प्रकाश के निमित्त अनुभूत होते हैं, उन सब में श्रेष्ठ कनिष्ठ प्रभृति दृष्टि से तारतम्य की कल्पना हम सब नहीं करते हैं। किन्तु भगवदाज्ञा रूप अनुशासनात्मक शास्त्र ही उस प्रकार तारतम्य का वर्णन करते हैं। कारण सुख समृद्धि शान्ति अभेद दृष्टि से होती है। भिन्न भिन्न ईश्वर मनन से उपासकों में पारस्परिक विद्वेष ही होता है। वस्तुतः तत्त्व एक ही हैं। शास्त्र-आज्ञा अनुशासन का प्रदर्शन इतिपूर्व में हुआ है। "श्रेयांसि तत्र सत्त्वतनो नृणां स्युः" मनुष्यों का हित, सत्त्वतनु श्रीविष्णु की उपासना से ही सम्भव है, श्रीविष्णु विद्वेष से नहीं।

एवं भगवदवतारानुक्रमणिकासु त्रयाणां भेदमङ्गीकृत्यैव केवलस्य श्रीदत्तस्य गणना, सोम-दुर्वाससोस्त्वगणना। किञ्च, ब्राह्मे ब्रह्मवैवर्त्ते च ब्रह्मवाकचम्—

सर्वसम्वादिनी

"शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्" ॥३॥ इति।

एवमेव च सूत्रमुपोद्बलयति (ब्र०सू०३।१।१)'तदनन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' इति। प्राणस्तु तद्रथस्थानीयः; यथोक्तं श्रुत्या (प्रश्न० ६।३)—"कस्मिन्नहमुत्क्रान्तो भविष्यामि, कस्मिन्

इस प्रकार भगवदवतार की अनुक्रमणिका में ब्रह्मा विष्णु शिव में भेद को मानकर ही केवल श्रीदत्तात्रेय की गणना की गई है। अवतार के मध्य में सोम एवं दुर्वासा की गणना नहीं हुई है। श्रीभगवदवतार की अनुक्रमणिका भागवत के १।२।२६-३४, १।३।२८ में विवृत है, यथा—

मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ। नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥२६

रजस्तमः प्रकृतयः समशीलाः भजन्ति वै। पितृभूत प्रजेशादीन् श्रियैश्वर्य्यप्रजेप्सवः ॥२७

वासुदेवपरा वेदाः वासुदेवपरामखाः। वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥२८

वासुदेवपरोधर्मः वासुदेवपरागतिः ।२९।

स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया। सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यागुणो विभुः ॥३०

तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव। अन्तः प्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः ॥३१

यथा ह्यवहितो वह्नि दारुष्वेकः स्वयोनिषु। नानेव भाति विश्वात्मा विज्ञानेन विजृम्भितः ॥३२

असौ गुणमयै र्भावै र्भूत सूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः। स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेषु तद्गुणान् ॥३३

भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः। लीलावतारानुरतो देवतिर्य्यङ् नरादिषु ॥३४

मुमुक्षु व्यक्तिगण देवतान्तर में असूया रहित होकर भूतपति प्रभृति की उपासना को छोड़ कर नारायणावतार समूह का भजन करते हैं।२६।

रजस्तमः प्रकृतिशील सकामी व्यक्तिगण धनैश्वर्य्य पुत्रादि की कामना से पितृभूत प्रजेश प्रभृति की उपासना करते हैं। कारण—उपासकगण उपास्य के समान ही रजस्तमः प्रकृति के होते हैं।२७।

मोक्षप्रद वासुदेव ही हैं, सर्वथा शास्त्र तात्पर्य्य गोचरता वासुदेव में ही है। वेद एवं वेदानुगत शास्त्र समूह वासुदेव पर हैं। मख, योग, योगक्रिया, ज्ञान, तप, धर्म प्रभृति वासुदेव पर हैं। परमाश्रय भी वासुदेव ही हैं।२८-२९।

सर्व प्रथम, प्राकृत गुण रहित भगवान् विभु सदसद् गुणयुक्ता स्वीय वहिरङ्गा माया के द्वारा परिदृश्यमान् विश्व का सृजन किए हैं।३०।

समस्त पदार्थ सृजन होने के पश्चात् प्रवेश नियमन लीला के निमित्त स्वरूपशक्तियुक्त प्रभु गुणवान् के समान सृष्ट पदार्थ में प्रविष्ट हुए।३१।

बहुरूपी लीला करते हैं—जिस प्रकार अग्नि काष्ठ में रह कर विभिन्न रूप से प्रकाशित होता है, तद्रूप विश्वात्मा परमेश्वर प्राणियों में अन्तर्य्यामि क्षेत्रज्ञ रूपमें बहुविध प्रकाश को प्राप्त करते हैं।३२।

भोग रूप लीला भी करते हैं—श्रीहरि भूत सूक्ष्म, इन्द्रिय, आत्मा, मन के द्वारा निर्मित भूतों में तत्तद् गुणों का अनुरूप भोग करते हैं।३३।

लोककर्त्ता प्रभु सत्त्वगुण के द्वारा लीलावतार में अनुरत स्वरूपों के द्वारा विश्व पालन करते हैं।३४।

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः। सम्भूत षोड़श कलमादौ लोकसिसृक्षया ॥१।३।१

यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः। नाभिह्रदाम्बुजादासीत् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ॥२

यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः। तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्ज्जितम् ॥३

पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् ।
सहस्रमूर्द्धश्रवणाक्षिनासिकं सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥४
एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् । यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्य्यङ्नरादयः ॥५
स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमाश्रितः । चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्य्यमखण्डितम् ॥६
द्वितीयन्तु भवायास्य रसातलगतां महीम् । उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः शौकरं वपुः ॥७
तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः । तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः ॥८
तुर्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी । भूत्वात्मोपशमोपेतमकरोद् दुश्चरं तपः ॥९
पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् । प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥१०
षष्ठमत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया । आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् ॥११
ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत । स यामाद्यैः सुरगणैरपात् स्वायम्भुवान्तरम् ॥१२
अष्टमे मेरुदेव्यान्तु नाभेर्जात उरुक्रमः । दर्शयन् वर्त्मधीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम् ॥१३
ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं वपुः । दुग्धेमामोषधीर्विप्रास्तेनायं स उशत्तमः ॥१४
रूपं स जागृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधिसंप्लवे । नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम् ॥१५
सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम् । दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः ॥१६
धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशममेव च । अपाययत्सुरानन्यान् मोहिन्या मोहयन् स्त्रिया ॥१७
चतुर्दशं नारसिंहं बिभ्रद्दैत्येन्द्रमूर्जितम् । ददार करजैरूरावेरकां कटकृद् यथा ॥१८
पञ्चदशं वामनकं कृत्वागादध्वरं बलेः । पादत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिविष्टपम् ॥१९
अवतारे षोड़शमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृणाम् । त्रिःसप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम् ॥२०
ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात् । चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः ॥२१
नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्य्यचिकीर्षया । समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्य्याण्यतः परम् ॥२२
एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य नामनी । रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम् ॥२३
ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम् । बुद्धो नाम्नाञ्जनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥२४
अथासौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु । जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः ॥२५
अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः । यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ॥२६
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः । कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः ॥२७
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् । इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृड़यन्ति युगे युगे ॥२८

अवतार कथा विषयक प्रश्न के उत्तर में श्रीसुत, अवतार विषयक अनुक्रमणिका प्रस्तुत कर रहे हैं—

भगवान् लोक सृष्टि करने के निमित्त प्रथमतः महत्तत्त्व पञ्चतन्मात्र द्वारा षोड़श कलान्वित पौरुष रूप, अर्थात् एकादशेन्द्रिय, पञ्च महाभूत—षोड़श अंशविशिष्ट विराट् मूर्त्ति धारणा किए थे ।१।

योगनिद्रारूप स्वरूपानन्दास्वादन लीला आस्वादन के समय समस्त पदार्थ समन्वित होकर अर्णव में शयन करने के पश्चात् जब सिसृक्षा हुई, उस समय उनके नाभिरूप ह्रदस्थ अम्बुज से विश्व स्रष्टृगण के अधिपति ब्रह्मा उत्पन्न हुए थे ।२।

उनकी विराट् मूर्त्ति के अवयव संस्थान से अर्थात् चरणादि सन्निवेश द्वारा भूर्लोकादि समस्त कल्पित होते हैं, यह सत्य है । किन्तु विशुद्ध—अर्थात् रजस्तमोगुणादि से अस्पृष्ट जो निरतिशय सत्त्व है, वह ही उनका यथार्थ रूप है ।३।

उक्त विराट् मूर्त्ति,—अपरिमित चरण, उरु, बदन, मस्तक, श्रवण, लोचन, नासिका, शिरोभूषण, वसन एवं कुण्डल से शोभित है । योगिगण अनल्प ज्ञान रूप चक्षु के द्वारा सर्वदा उनका दर्शन करते रहते हैं ।४।

यह विराट् मूर्त्ति अनेक अवतारों का बीज है, अर्थात् जब जब अवतार का प्रयोजन होता है, तब उनसे

ही अवतार प्रकट होता है। आप अव्यय हैं, एवं सब के निधान हैं। अर्थात् प्रलय समय में सब कुछ उनमें विश्राम लाभ करते हैं। आप केवल अवतारों का निदान नहीं हैं। किन्तु सृष्ट पदार्थ मात्र का ही आदि बीज हैं। कारण उनके अंश से ही ब्रह्मा, मरीचि, अङ्गिरा प्रभृति प्रजापतिगण आविर्भूत हुए हैं। मरीच्यादि के अंश से देव-तिर्य्यक्-नरादि का उद्भव हुआ है। सुतरां विराट् मूर्त्ति ही समस्त वस्तु का आदि बीज है।५।

विराट्मूर्त्तिधारी भगवान् 'प्रथमतः' सनत्कुमारादि सृष्टि को आश्रय कर ब्रह्मा अर्थात् ब्राह्मण होकर अखण्डित दुश्चर ब्रह्मचर्य्य व्रताचरण किए थे।६।

विश्व सृष्टि के निमित्त 'द्वितीय' शौकर वपु धारण कर रसातल गत धरणी को उद्धार किए थे।७।

तृतीय ऋषिसर्ग में देवर्षित्व—अर्थात् श्रीनारद रूप ग्रहण कर पञ्चरात्र नामक वैष्णव तन्त्र का प्रचार किए थे। जिससे काम्यकर्म समूह निष्कर्म में परिवर्त्तित होते हैं। अर्थात् कर्म बन्धन का कारण नहीं होता है, प्रत्युत मुक्ति प्रयोजक है।८।

चतुर्थावतार में धर्मपत्नी मूर्त्ति के गर्भ से नरनारायण रूपमें ऋषिद्वय का आविर्भाव हुआ एवं उन दोनों से आत्मोपासनान्वित दुश्चर तपस्या का अनुष्ठान हुआ।९।

पञ्चमावतार में कपिल नामक सिद्धगण के अधिपति होकर आसुरि ब्राह्मण को तत्त्वोपदेशपूर्ण सांख्य शास्त्र कहे थे। उक्त शास्त्र काल वशतः विनष्ट हो रहा था, उनसे पुनर्वार उज्ज्वल हुआ।१०।

षष्ठ दत्तात्रेय अवतारमें अत्रिपत्नी अनसूया कर्त्तृक वृत होकर अर्थात् अनसूया ईश्वर सदृश पुत्र प्रार्थना करने से दोष दृष्टि न करके उनका पुत्रत्व स्वीकार किए थे। उस अवतार में ही अलर्क एवं प्रह्लाद प्रभृति भक्तवृन्द को आत्मविद्या का उपदेश प्रदान किए थे।११।

सप्तमावतार में रुचि आकूति से 'यज्ञ' नाम धारण कर अवतीर्ण हुए, एवं स्वीय पुत्र याम नामक देवगण के सहित स्वायम्भुव मन्वन्तर प्रतिपालन किए थे, अर्थात् आप स्वयं ही इन्द्र हुए थे।१२।

अष्टम में—आग्नीध्र के पुत्र नाभि—मेरुदेवी से 'ऋषभ' अवतीर्ण हुए, एवं सर्वाश्रम नमस्कृत वर्त्म अर्थात् परमहंस सम्बन्धीय परिपाटी का प्रदर्शन किए थे।१३।

नवमावतार में—ऋषिगण कर्त्तृक प्रार्थित होकर पार्थिव वपुः अर्थात् पृथुरूप राजदेह धारण किए थे, एवं पृथिवी से ओषधि प्रभृति समस्त वस्तु का दोहन किए थे। अतः यह अवतार समस्त अवतारों से सर्वजन कमनीय हैं।१४।

दशमावतार में—मत्स्यरूप धारण कर चाक्षुष मन्वन्तर में जो जलप्लावन हुआ था, उस समय पृथिवी को नाव करके वैवस्वत मनु को रक्षा किए थे।१५।

सुर एवं असुरगण अमृतार्थी होकर मन्दर पर्वत को मन्थन दण्ड करके क्षीरसागर को मन्थन करने में प्रवृत्त होने से उक्त पर्वत आधार हीन होकर निमज्जित होने लगा था। भगवान् एकादशावतार में कूर्मरूप धारण निज पृष्ठ में उसको धारण किए थे।१६।

द्वादश एवं त्रयोदश अवतारमें धन्वन्तरि रूपमें आविर्भूत होकर अमृत आहरण किए थे, अनन्तर अमृत वण्टन के निमित्त मोहिनी रूप धारण कर असुरों को विमुग्ध करतः देवगण को अमृत पान कराये थे।१७।

चतुर्दश में नरसिंह रूप धारण कर बलदर्पित दैत्याधिपति हिरण्यकशिपु को स्वीय ऊरू में स्थापन कर कट निर्म्माणार्थी के कट विदारण के समान नख के द्वारा हिरण्यकशिपु के वक्षःस्थल को विदीर्ण किए थे।१८।

पञ्चदश में—वामनमूर्त्ति धारण कर बलिराज को निगृहीत कर सुरगण को स्वर्गराज्य प्रदान करने के उद्देश्य से बलि महाराज से त्रिपाद भूमि भिक्षा किए थे।१९।

षोड़शावतार में—परशुराम रूप में अवतीर्ण होकर क्षत्रियगण के द्वारा अनुष्ठित ब्राह्मण हत्या को देख कर एकविंशबार पृथिवी को निःक्षत्रिय किये थे।२०।

"नाहं शिवो न चान्ये च तच्छक्त्येकांशभागिनः। बालक्रीड़नकैर्यद्वत् क्रीड़तेऽस्माभिरच्युतः" ॥ इति।

अतएव श्रुतौ—"यं कामये तमुग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्" इत्युक्त्वा "मम योनिरपस्वन्तः" इति शक्तिवचनम्। अपस्वन्तरिति कारणोदशायी सूच्यते; (वि०पु० १।४।६),

सर्वसम्वादिनी

वाहं प्रतिष्ठास्यामि" इति। अतः स्वयं तत्र स्थित एव तृण-जलौकावच्चलति, न तु पक्ष्यादिवदङ्गं विक्षिपन्नेव; अतो (बृ० ४।३।७)—'लेलायतीव' इति श्रुतावित्व-शब्दप्रयोगः। तथापि तस्यैव तत्राग्रणीत्वं रथिवत्; तच्चोक्तं श्रुत्या (बृ० ४।४।२)—"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" इति।

ननु (मु० ३।१।९) 'एषोऽणुरात्मा' इत्यादौ परमात्मन एव प्रकरणम्, ततोऽणुत्वञ्च दुर्ज्ञेयत्वेनैव

सप्तदशावतार में—पराशर पत्नी सत्यवती से व्यास नाम से उत्पन्न होकर अल्पबुद्धिविशिष्ट मानवों के निमित्त वेद की अनेक शाखा प्रणयन किए थे।२१।

अष्टादशावतार में देव कार्य्य करने के निमित्त नरदेव अर्थात् रामचन्द्र रूपमें अवतीर्ण होकर समुद्रनिग्रह प्रभृति किए थे।२२।

एकोनविंश एवं विंश अवतार में वृष्णि वंश में रामकृष्ण रूपमें अवतीर्ण होकर पृथिवी का भार अपनोदन किए थे।२३।

कलियुग प्रवृत्त होने से देवद्वेषि असुरगण को मुग्ध करने के निमित्त कीकट अर्थात् गया प्रदेशमें अञ्जन पुत्र बुद्ध अवतीर्ण होंगे।२४।

अन्तिम काल में अवनी मण्डलस्थ शासक वर्ग दस्युतुल्य आचरण परायण होने से विष्णु यशाः ब्राह्मण के गृह में जगत्पति भगवान् कल्कि नाम से अवतीर्ण होंगे।२५।

हे द्विजगण! सत्त्वगुण निधिस्वरूप श्रीभगवान् के अवतार असंख्य हैं। अपक्षयशून्य जलाशय से जिस प्रकार सहस्र-सहस्र क्षुद्र जलप्रवाह निर्गत होते रहते हैं, तद्रूप श्रीभगवान् से नानाविध अवतार हुए हैं।२६।

उक्त श्रीभगवान् की अत्याश्चर्य्य विभूति हैं। महा प्रभावसम्पन्न देवगण, ऋषि, मनु, मनुपुत्र एवं प्रजापति प्रभृति उन श्रीभगवान् के अंश हैं।२७।

पूर्वोक्त अवतारसमूह कारणार्णवशायी परमेश्वर सर्वान्तर्य्यामी पुरुष के अंश, कला, विभूति हैं। मत्स्यादि अवतारसमूह सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमत्त्व होने पर भी लीलास्थल की उपयोगिता के अनुरूप ज्ञान क्रियाशक्ति का आविष्कार होता है। कुमार नारदादि अधिकारिवर्ग में प्रयोजनानुरूप अंश कलावेश है। कुमार में ज्ञानावेश, पृथु आदि में शक्त्यावेश है। किन्तु श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं। उनमें ही अखिल शक्ति, ऐश्वर्य्य, वीर्य्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य का परिपूर्ण आविर्भाव है। दैत्य स्वभावाक्रान्त जनगण के द्वारा विश्व प्रपीड़ित होने से उसकी रक्षा हेतु अवतारसमूह होते हैं।२८।

उक्त अवतारानुक्रमणिका में ब्रह्मा विष्णु शिव में शक्ति प्रकाशकृत भेद को अङ्गीकार करके ही श्रीभगवान् के षष्ठ अवतार गणन में 'दत्तात्रेय' का नामोल्लेख हुआ है, भगवदवतार के मध्य में सोम एवं दुर्वासा का उल्लेख नहीं हुआ है। और ब्रह्मपुराण एवं ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में ब्रह्मवाक्य इस प्रकार है—

मैं,—'ब्रह्मा', शिव एवं मरीच्यादि ऋषिगण उन भगवान् श्रीविष्णुशक्ति के एकांश भागी नहीं हूँ। बालक जिस प्रकार क्रीड़नक द्रव्य द्वारा क्रीड़ा करता है, उस प्रकार अच्युत भगवान् हम सब को लेकर क्रीड़ा करते हैं।

अतएव श्रुतिमें उक्त है—"सृष्टि कार्य्य के निमित्त मैं उग्रमूर्त्ति रुद्र को, ऋषि को, एवं सुमेधा को सृजन करता हूँ।" इस प्रकार कथन के अनन्तर कहते हैं—मेरी योनि, उत्पत्ति स्थान, जल के मध्य में है। यह शक्ति वचन है, अर्थात् देवीसूक्त है। "अपस्वन्त" शब्द से कारणार्णवशायी को जानना होगा।

(अग्नि-पु० १७।७) "आपो नारा इति प्रोक्ताः" इत्यादेः। योनिः कारणम्। एवमेव स्कान्दे—
"ब्रह्मेशानादिभिर्देवैर्यत् प्राप्तुं नैव शक्यते। तद्वत् स्वभावः कैवल्यं स भवान् केवलो हरिः"॥ इति।
तथा विष्णुसामान्यदर्शिनां दोषश्च श्रूयते, यथा वैष्णवतन्त्रे—

"न लभेयुः पुनर्भक्तिं हरेरैकान्तिकीं जड़ाः। एकाग्रमनसश्चापि विष्णुसामान्यदर्शिनः"॥ इति;

अन्यत्र (पाद्म० उ० ९३।८)—

"यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः। समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम्"॥८॥ इति।

तथा च मन्त्रवर्णः—"मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते" इति। ननु क्वचिदन्यशास्त्रे शिवस्यैव परमदेवत्वमुच्यते; सत्यम्, तथापि शास्त्रस्य सारासारत्वविवेकेन तद्बाधितमिति। तथा च पाद्म-शैवयोरुमां प्रति श्रीशिवेन श्रीविष्णुवाक्यमनुकृतम् (पाद्म०उ० ४२।१०५-१०६)—

"त्वामाराध्य तथा शम्भो ग्रहीष्यामि वरं सदा। द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु॥१०५॥
स्वागमैः कल्पितैस्त्वन्तु जनान् मद्विमुखान् कुरु। माञ्च गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा"॥१०६॥ इति;

सर्वसम्वादिनी

वक्तव्यम्? न;—प्राणलिङ्गेन प्रकरण-बाधात्। तदुक्तम्,—(पूर्व-मी०सू० ३।३।१४) "श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-स्थान-प्रकरणसमाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" इति। गोपवनश्रुतावपि स्पष्टमेवाहैतत्;—(ब्र०सू० २।३।१८—माध्वभाष्य-धृतायाम्) "अणुह्येष आत्मायं वा एते सिनीतः पुण्यं वापुण्यञ्च' इति।

कारणार्णवशायी ही जीवतत्त्व समूह का आश्रय हैं। विष्णुपुराण १।४।६, अग्निपुराण के १७।७ में उक्त है—"आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः, तस्य ता अयनं पूर्वं तेन नारायण स्मृतः" 'आप' शब्द का जीवतत्त्व समूह, उक्त तत्त्वसमूह का आश्रय, अन्तर्य्यामी नारायण नाम द्वारा अभिहित होता है, इत्यादि वचन से कारणार्णवशायी का बोध होता है। 'योनि' शब्द का अर्थ कारण है। स्कन्दपुराण में भी इस प्रकार ही लिखित है,—

ब्रह्मा, शिव प्रभृति देवतासमूह जिनको प्राप्त करने में सक्षम नहीं हैं, अतएव जिनका स्वभाव ही कैवल्य है, उन श्रीहरि आप केवल हैं।

उस प्रकार श्रीविष्णु के सहित ब्रह्मा शिव को समता के दृष्टि से देखने पर दोषावह होता है। वैष्णव तन्त्र में उसका कथन इस प्रकार है,—जो सब मूर्ख श्रीहरि के सहित ब्रह्मा शिव को एक पर्य्यायभुक्त करते हैं, वे सब एकाग्रमनाः होने पर भी श्रीहरि में ऐकान्तिकी भक्ति प्राप्त नहीं करते हैं।

अन्यत्र, पद्मपुराण के उ० ९३।८ में लिखित है—"जो व्यक्ति ब्रह्मा रुद्रादि देववृन्द के सहित श्रीनारायण देव को समान दृष्टि से देखता है, वह व्यक्ति सुनिश्चित शास्त्राज्ञालङ्घनकारी होगा"।८।

मन्त्र वर्ण में उक्त है—"देवतासमूह के मध्य में समासीन वामन देव की उपासना समस्त देववृन्द करते रहते हैं।" कतिपय शास्त्र श्रीशिव को ही परम देवता कहते हैं। उक्त कथनों का समीचीन समाधान क्या है? श्रीशिव को परमेश्वर रूपमें शास्त्र का कथन सत्य है। तथापि शास्त्रों की पूर्वापर पर्य्यालोचना के द्वारा सारासारत्व की उपलब्धि होने पर उक्त कथन बाधित होगा। उदाहरण स्वरूप पद्मपुराण एवं शिवपुराण का प्रसङ्ग की अवतारणा करते हैं। उसमें उमा के प्रति श्रीशिव श्रीविष्णु वाक्य का अनुकरण कर कहे थे। श्रीशिव कहते हैं—"हे शाङ्करि! श्रीविष्णु मुझको कहे थे, हे शम्भो! मैं तुम्हारी आराधना करके उस प्रकार वह ग्रहण करूँगा, जिससे तुम द्वापरादि युग में कला द्वारा अवतीर्ण होकर, अर्थात् मनुष्य रूप में आविर्भूत होकर स्वीय कल्पित आगम के द्वारा जनसमूह को मुझसे विमुख करो, एवं मुझको गोपन करो, इससे यह सृष्टि, प्रवाह रूपमें उत्तरोत्तर वर्द्धित होगी।१०५-१०६।

वाराहे च (७०।३५-३६)—

"एष मोहं सृजाम्याशु यो जनान् मोहयिष्यति। त्वञ्च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय ॥३५॥
अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज। प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशञ्च मां कुरु" ॥३६॥ इति।

पुराणानाञ्च मध्ये यद्यत्सात्त्विककल्पकथामयं तत्तत् श्रीविष्णुमहिमपरम्, यद्यत्तामस-कल्पकथामयं तत्तच्छिवादिमहिमपरमिति श्रीविष्णुप्रतिपादकपुराणस्यैव सम्यग्ज्ञानप्रदत्वम्, (गी० १४।१७) "सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्" इति दर्शनात्; तथा च मात्स्ये (५३।६७-६८)—

"सात्त्विकेषु च कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः। राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः॥
तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च। सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणाञ्च निगद्यते" ॥६७॥ इति;
"वैष्णवं नारदीयञ्च तथा भागवतं शुभे। गारुड़ञ्च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने॥

सर्वसम्वादिनी

ननु (श्वे० ५।९) बालाग्रशतभागस्य' इत्याद्यन्ते 'स चानन्त्याय कल्पते' इति श्रवणादौपाधिकमेवाणुत्वम्, पारमार्थिकं तु विभुत्वमित्यवगम्यते? न;—आनन्त्य-शब्दस्य मोक्षे रूढ़त्वात्; 'अन्तो' मरणम्, तद्राहित्य-मानन्त्यमित्यर्थः। ब्रह्मप्रविष्टस्य तत्तादात्म्यापत्त्या विश्वद्रीचीन-तच्छक्तिस्पर्शाद् वानन्त्य-व्यपदेशः;

वराहपुराण (७०।३५-३६) में उक्त है—"मैं सत्वर मोह को सृजन कर रहा हूँ। यह मोह जनसमूह को मुग्ध करेगा। हे महाबाहो रुद्र! तुम भी मोह शास्त्र का प्रणयन करो।३५।

हे महाभुज! अतत्थ्य वितत्थ्य का प्रदर्शन करो, एवं अपने को सर्वत्र प्रकाश करो, एवं मुझको गोपन करो।३६।

पुराणों के मध्य में जो जो सात्त्विक कल्पकथामय पुराण है, उन उन पुराणों में श्रीविष्णु की महिमा ही वर्णित हैं। जो जो पुराग—तामस कल्पकथामय हैं, उन उन पुराणों में श्रीशिवादि की महिमा वर्णित है। श्रीविष्णु प्रतिपादक पुराणों का ही सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्रदत्त्व है। कारण श्रीगीता के १४।१७ श्लोक में कथित है—"सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च। प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७

सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ, एवं तमोगुण से अज्ञान, प्रमाद, मोह उत्पन्न होते हैं।३६।

"सत्त्वात् प्रकाशलक्षणं ज्ञानं जायते, अतः सात्त्विकस्य कर्मणः प्रकाशप्रचुरं सुखं फलम्। रजसो लोभ तृष्णाविशेषो यो विषय कोटिभिरप्यभिसेवितैर्दुष्पूरस्तस्य च दुःख हेतुत्वात्तत् पूर्वकस्य कर्मणो दुःखप्रचुरं किञ्चित् सुखं फलम्। तमसस्तु प्रमादादीनि भवन्त्यतस्तत् पूर्वकस्य कर्मणोऽचैतन्य प्रचुरं दुःखमेव फलम्।१७।

सत्त्वगुण से सात्त्विक कर्म होता है, उससे निर्मल फल प्रकाशस्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। अतएव "कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्म्मलम्" सात्त्विक कर्म का प्रकाश प्रचुर सुख फल ही है। रजोगुण से लोभ तृष्णा विशेष होता है, जिस की पूर्त्ति विश्व की समस्त सामग्री से भी नहीं हो सकती है। वह दुःख हेतु होने से राजस कर्म का दुःख प्रचुर किञ्चित् सुख फल होता है। तमोगुण का प्रमाद प्रभृति फल है। अतः तमोगुण प्रधान कर्म का अचैतन्य प्रचुर दुःख ही फल होता है।१७।

मत्स्यपुराणमें कथित है—"सात्त्विक कल्पमय पुराणसमूह में श्रीहरि का माहात्म्य अधिक रूपसे वर्णित है। राजस में ब्रह्मा का माहात्म्य अधिक वर्णित है। तामस कल्पकथामय शास्त्रसमूह में अग्नि शिव प्रभृति का माहात्म्य वर्णित है। सङ्कीर्ण अर्थात् मिश्रित शास्त्रसमूह में सरस्वती एवं पितृलोक का माहात्म्य अधिक वर्णित है।६७।

विष्णुपुराण, नारदीय पुराण, श्रीमद्भागवत, गरुड़, पाद्म, वाराह पुराण सात्त्विक पुराण हैं।

ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्त्तं मार्कण्डेयं तथैव च। भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निगद्यते ॥
मात्स्यं कूर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च। आग्नेयकं तथैतानि तामसानि निगद्यते" ॥६८॥ इत्यादि।
अत उक्तं स्कान्दे षण्मुखं प्रति श्रीशिवेन—
"शिव-शास्त्रेषु तद्ग्राह्यं भगवच्छास्त्रयोगि यत्। परमो विष्णुरेवैकस्तज्ज्ञानं मोक्षसाधनम् ॥
शास्त्राणां निर्णयस्त्वेषस्तदन्यन्मोहनाय हि" ॥ इति।
तथैव च दृष्टं मोक्षधर्मे नारायणीयोपाख्याने; वैशम्पायन उवाच (मोक्षधर्मे ३४९।६४-७३)—
"सांख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा। ज्ञानान्येतानि राजर्षे बिद्धि नानामतानि वै ॥६४॥
सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते। हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः ॥६५॥
अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्य्यः स उच्यते। प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्ति हि केचन ॥६६॥
उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः। उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः ॥६७॥
पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता तु भगवान् स्वयम्। सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते ॥६८॥
यथागमं यथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुः। न चैनमेवं जानन्ति तमोभूता विशाम्पते ॥६९॥
तमेव शास्त्रकर्त्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः। निष्ठां नारायणमृषिं नान्योऽस्तीति वचो मम ॥७०॥
निःसंशयेषु सर्वेषु नित्यं वसति वै हरिः। ससंशयाद्धेतुबलान्नाध्यावसति माधवः ॥७१॥

सर्वसम्वादिनी

सालोक्ये तु तदनुग्रहात्तत्स्पर्श इति। तदुक्तं श्रीभगवता श्रीमदुद्धवं प्रति,—(भा० ११।२५।३६)
"जीवो जीवेन निर्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः। मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न वहिर्नान्तरं चरेत्" ॥४॥ इति;

ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन, ब्राह्म पुराणसमूह राजस हैं।
मात्स्य, कूर्म्म, लिङ्ग, शिवपुराण, स्कन्दपुराण, अग्निपुराण, तामस पुराण है।६८।
अतएव श्रीषण्मुख के प्रति श्रीशिव की उक्ति इस प्रकार है—"शिव प्रतिपादक शास्त्र में भगवत् प्रतिपादक शास्त्र के उपयोगि जो अंश है, वह सर्वथा स्वीकार्य्य है। कारण—परमेश्वर श्रीविष्णु ही सर्व श्रेष्ठ है। श्रीविष्णु विषयक ज्ञान ही मोक्ष साधक है। शास्त्रसमूह का यह ही निर्णय है। तद्भिन्न शास्त्रसमूह विष्णु वहिर्मुख रूप मोह प्रदायक है"।

मोक्षधर्मरूप नारायणीयोपाख्यान में वर्णित है,— वैशम्पायन कहे थे—(मोक्षधर्म ३४९।६४-७३)
"हे राजर्षे! सांख्य—आत्मानात्म तत्त्व विचार शास्त्र, योग—उपासना शास्त्र, पञ्चरात्रशास्त्र—ईश्वर जीव, प्रकृति काल कर्म-विचार शास्त्र, वेद—ईश्वर निश्वसित कर्त्तव्याकर्त्तव्य निर्णायक शास्त्र, पाशुपत शास्त्र—श्रीशिवोक्त शास्त्र, ये शास्त्रसमूह ज्ञानप्रद हैं। इसमें अनेक प्रकार मतवाद हैं। सांख्य तत्त्व संख्यान, शास्त्र वक्ता महर्षि कपिल हैं। योगशास्त्र वक्ता हिरण्यगर्भ हैं। उनसे प्राचीन अपर कोई नहीं है।६४-६५।

अपान्तरतमाः वेदाचार्य्य, उनको कहते हैं। उन ऋषि को प्राचीनगर्भ भी कतिपय व्यक्ति कहते हैं।६६। ब्रह्मा के पुत्र, उमापति, भूतपति, श्रीकण्ठ, शिव, अव्यग्र अर्थात् स्थितचित्त से पाशुपत ज्ञान उपदेश दिये थे ६७। स्वयं भगवान् समग्र पाञ्चरात्र शास्त्र का वक्ता हैं। हे नृपश्रेष्ठ! पाञ्चरात्र में समस्त श्रेष्ठ ज्ञान वर्णित है।६८। हे विशाम्पते! शास्त्रसमूह एवं ज्ञानसमूह का एकमात्र लक्ष्य श्रीनारायण हैं, आप ईश्वर हैं। तमोगुण सम्पन्न व्यक्तिगण उनको जानने में समर्थ नहीं है।६९। निज निज शास्त्र में शास्त्र-कर्त्तागण श्रीविष्णु को ही एकमात्र मूल कारण कहते हैं। श्रीनारायण भिन्न ज्ञानप्रदाता अपर कोई नहीं है, यह कथन मेरा है।७०। जिस शास्त्र में हरि विषयक कोई संशय नहीं है, उसमें श्रीहरि निःसन्दिग्ध रूपसे रहते हैं। और जो शास्त्र, हेतु बल प्रदान है, उसमें श्रीहरि नहीं रहते हैं।७१।

पञ्चरात्रविदो ये तु यथाक्रमपरा नृप। एकान्तभावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति वै ॥७२॥
सांख्यञ्च योगश्च सनातने द्वे, वेदाश्च सर्वे निखिलेऽपि राजन्।
सर्वैः समस्तैर्ऋषिभिर्निरुक्तो, नारायणो विश्वमिदं पुराणम्" ॥७३॥ इति।

अत्र 'अपान्तरतमाः' इति श्रीकृष्णद्वैपायनस्यैव जन्मान्तर-नामविशेष इति तत्रैव ज्ञेयम्। अत्रैवं व्याख्येयम्—पञ्चरात्रसम्मतं श्रीनारायणमेव सर्वोत्तमत्वेन वक्तुं नानामतं दर्शयति—सांख्यमिति। तत्र पञ्चरात्रमेव गरिष्ठमाचष्टे—पञ्चरात्रस्येत्यादौ भगवान् स्वयमिति। अथ (गी० १६।६) "द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च" इति श्रीगीतासु श्रूयते। यदेव तानि 'नानामतानि' इत्युक्तं तत्त्वासुरप्रकृत्यनुसारेणेत्येव ज्ञेयम्। दैवप्रकृतयस्तु तत्तद्-

सर्वसम्वादिनी

श्रुत्यन्तरे तु सूक्ष्मत्वरूपेणोपाधि-गुणेन तद्रूपेणैव स्वगुणेन चाणुत्वमुक्तम्—(श्वे० ५।८) "बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव, आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" इति।

नन्वणोश्चन्दन-दृष्टान्तेन व्यापकता न घटते,—चन्दनस्य सूक्ष्मावयव-विसर्पणेन सकलदेहाह्लादयितृत्व-

हे नृप! जो जन पञ्चरात्र शास्त्रज्ञ, एवं यथाक्रमपरायण हैं, एवं श्रीहरि में एकान्त भाव को प्राप्त किए हैं, वे सब जन ही श्रीहरि को प्राप्त करते हैं।७२। हे राजन्! सांख्य, योग एवं वेद समूह नित्य हैं। समस्त शास्त्रों के द्वारा ऋषिगण पुराणपुरुष एकमात्र शिवरूपी नारायण को हि निरूपण किए हैं।७३।

उक्त प्रकरण के ८१ श्लोकमें "अपान्तरतमाः" शब्द का प्रयोग है। "अपान्तरतमाः" नाम श्रीवेदव्यास के जन्मान्तरीय नाम है। मोक्षधर्म में ही इसका विवरण है। यहाँ पर इस प्रकार व्याख्या करना समीचीन होगा। पञ्चरात्र सम्मत श्रीनारायण को ही सर्वोत्तम रूपमें स्थापन करने के निमित्त ही विभिन्न शास्त्रों का मत प्रदर्शन करते हैं। सांख्य इत्यादि उसका ही विवरण है। उक्त शास्त्रसमूह के मध्य में पञ्चरात्र शास्त्र ही गरिष्ठ अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं। "पञ्चरात्र का वक्ता स्वयं भगवान् हैं।" श्रीगीता के १६।६ में उक्त है—"द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च, दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।" ।६। हे पार्थ। इस जगत् में दैव आसुर भेद से भूत सृष्टि दो प्रकार हैं। दैव सम्पत् का विवरण इसके पहले कहा हूँ सम्प्रति आसुरिक सम्पत् का विवरण कहता हूँ, सूनो।६।

"तथाप्यनिवृत्तशोकं तमालक्ष्यासुरीं सम्पदं प्रपञ्चयति, द्वाविति,—अस्मिन् कर्माधिकारिणि मनुष्यलोके द्विविधो भूतसर्गो मनुष्यसृष्टी भवत यदायं मनुष्यः शास्त्रात् स्वाभाविकौ रागद्वेषौ विनिर्धूय शास्त्रीयार्थानुष्ठायी तदादैवः, यदा शास्त्रमुत्सृज्य स्वाभाविक रागद्वेषाधीनोऽशास्त्रीयान् धर्मान् आचरति, तदा त्वासुरः। न हि धर्माधर्माभ्यामन्या कोटि स्तृतीयास्ति। श्रुतिश्चैवमाह—"द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च" इत्यादिना। तत्र दैवीविस्तरशः प्रोक्तः, "अभयम्" इत्यादिना। अथासुरं विस्तरशो वक्ष्यामि।६।

शास्त्र श्रवणानन्तर शोक निवृत्ति न होने से आसुरी सम्पद की वर्णना करते हैं। मनुष्यों के मध्य में कर्माधिकारी दो प्रकार होते हैं। एक दैवी, एक आसुरी, दोनों शिक्षा है। तृतीय प्रकार नहीं है। अभय सात्त्विक वृत्ति प्रभृति सद्गुणों से मण्डित होना दैवी है। आसुरिक प्रवृत्ति तो मनमुखी चलने से ही होती हैं। इसमें ईश्वरीय सत्शिक्षा की उपेक्षा की जाती है। आसुरिक प्रवृत्ति को आश्रय प्रदान हेतु राजसिक तामसिक मत समर्थक पुराणों की रचना होती है। मोक्षधर्म में कथित है कि—सांख्य योग पाशुपत पञ्चरात्र वेदसमूह से अनेक प्रकार ज्ञान विस्तृत होते हैं। इसको "नानामतानि वै" शब्द से कहा गया है। आसुरिक भाव में मुख्यतः भोग, सुख, अर्थ, पदलोलुपता प्रभृति होते हैं। अव्यवस्थित होने के कारण इस आसुरि प्रवृत्ति में वैविध्य होना स्वाभाविक है। दैवी भाव में स्थिति व्यवसायात्मिका है, अर्थात्

सर्वावलोकनेन पञ्चरात्र-प्रतिपाद्ये श्रीनारायण एव पर्य्यवस्यन्तीत्याह—सर्वेष्विति। आसुरांस्तु निन्दति—न चैनमिति। तदुक्तं विष्णुधर्माग्निपुराणयोः (अग्नि–पु० ३८१।३९)—

"द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च। विष्णुभक्तिपरो दैव आसुरस्तद्विपर्य्ययः" ॥३९॥ इति।

ननु तत्र तत्र नानामतय एव दृश्यन्ते, तत्राह—तमेवेति। पञ्चरात्रेतरशास्त्रकर्त्तारो हि द्विविधाः—किञ्चिज्ज्ञाः सर्वज्ञाश्च। तत्राद्या यथा स्वस्वज्ञानानुसारेण यत्किञ्चित्तत्त्वैकदेशं वदन्ति, तत्तु समुद्रैकदेशवर्णनं समुद्र इव पूर्णतत्त्वे श्रीनारायण एव पर्य्यवस्यतीति ते तमेव किञ्चिद्वदन्ति। ये तु सर्वज्ञास्ते चैवमभिप्रयन्ति—नास्माभिरासुराणां मोहनार्थमेव कृतानि शास्त्राणि, किन्तु दैवानां व्यतिरेकेण बोधनार्थम्। ते हि रजस्तमःशवलस्य खण्डस्य च तत्त्वस्य

सर्वसम्वादिनी

सम्भवात्? तदयुक्तम्—अदृष्ट-कल्पनापत्तेः। तर्हि कथमिति चेत्? अचिन्त्यो हि मणि-मन्त्र-महौषधीनां प्रभाव इति लोकप्रसिद्धिरेव भविष्यति। क्वचिज्जतु-जटित-महौषध्यादि-द्रव्येण हस्तादि-बद्धेनापि तत्तत्-प्रभावो दृश्यते। स्पर्शमणिनैकदेश-स्पर्शेऽपि लोह-लोष्ट्रस्य सुवर्णता च। स्वीकृतञ्चैतत् पञ्चमवेदेन (ब्र०सू० २।३।२३ – माध्वभाष्यधृत-ब्रह्माण्डपुराणे)—

ईश्वर के कथनानुसार कर्त्तव्याकर्त्तव्य निर्णय होता है। इसके एक ही साध्यसाधन उपास्य उपासक लक्ष्य प्रभृति हैं, ऋषिगण एवं श्रीभगवान् एक सिद्धान्त को ही कहते हैं। आसुरिक भाव में पृथक् पृथक् उद्देश्य वर्णित है, अतः मतानैक्य स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। उक्त श्लोक में नाना मत की कथा उक्त आसुरिक प्रकृति को लक्ष्य करके ही हुई है। दैव प्रकृतिसमूह का चरम लक्ष्य पाञ्चरात्र शास्त्र प्रतिपाद्य श्रीनारायण ही हैं। आसुरिक शास्त्रों की विविधता को देखकर ही भगवान् एवं ऋषिगण निज निज कथन का पर्य्यवसान श्रीनारायण में करते हैं। अतः उक्त—

"निःसंशयेषु सर्वेषु नित्यं वसति वै हरिः। स संशयाद्धेतुबलान्नाध्यावसति माधवः ॥८६

समस्त नारायण प्रतिपादक शास्त्र में श्रीहरि निःसन्देह विराजित हैं। श्रीहरि में जो शास्त्र संशय पोषण करता है, उसमें माधव अवस्थान नहीं करते हैं। उस आसुरिक रीति की निन्दा नारायणीय प्रकरण के (८४) "यथागमं यथा ज्ञानं निष्ठा नारायणं प्रभुः। न चैनमेवं जानन्ति तमोभूता विशाम्पते॥" तमोगुणाच्छन्न जनगण समस्त शास्त्र प्रतिपाद्य श्रीनारायण प्रभु को नहीं जानते हैं। विष्णुधर्म एवं अग्नि पुराण में वर्णित है,—इस जगत् में देव एवं आसुर भेद से दो प्रकार सृष्टि की धारा है। विष्णुभक्ति प्रतिपादक ज्ञान धारा को दैव कहते हैं, विष्णुभक्ति प्रतिपादक भिन्न ज्ञान धारा को आसुर कहते हैं।३९।

यद्यपि विष्णुभक्ति प्रतिपादक शास्त्रसमूह में भी ऐकमत्य नहीं है। नाना मुनि नाना मत। "नासा-वृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्" कथानक की सार्थकता उक्त विभिन्नता के कारण ही हुई है? समाधान के निमित्त कहते हैं—"तमेव शास्त्रकर्त्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः। निष्ठां नारायणमृषिं नान्योऽस्तीति वचो मम॥"८५

मनीषि शास्त्रकर्त्तागण एक वाक्य से श्रीनारायण ऋषि को ही मानते हैं। यह छोड़ कर अन्य कुछ भी विभिन्न वर्णन उक्त विष्णु प्रतिपादक शास्त्र में नहीं है। पञ्चरात्र भिन्न शास्त्रों के कर्त्ता दो प्रकार होते हैं, एक—किञ्चिज्ज्ञ, अपर—सर्वज्ञ, किञ्चिज्ञ शास्त्रकर्त्तागण निज निज ज्ञानके अनुसार उक्त यथार्थ विष्णुतत्त्व का यत् किञ्चित् एकदेश का वर्णन कहते हैं। किन्तु वह वर्णन भी समुद्र का एकदेश वर्णन करने पर उक्त वर्णन समुद्र वर्णन में ही पर्य्यवसित होता है, तद्रूप उक्त मनीषिगण का वर्णन भी पूर्ण तत्त्व रूप श्रीनारायण में पर्य्यवसित होता है। वे सब मनीषिगण उन श्रीनारायण तत्त्व का ही एकदेश वर्णन करते हैं।

सर्वज्ञ शास्त्रकर्त्तागण का कथन है कि—असुर मोहन के निमित्त हम सब शास्त्र प्रणयन नहीं करते हैं।

तथा क्लेशबहुलस्य साधनस्य च प्रतिपादकान्येतानि शास्त्राणि दृष्ट्वा वेदांश्च दुर्गमान् दृष्ट्वा च निर्विद्य सर्ववेदार्थसारस्य शुद्धाखण्डतत्त्व-श्रीनारायणस्य सुखमयतदाराधनस्य च सुष्ठु प्रतिपादके पञ्चरात्रे एव गाढ़ं प्रवेक्ष्यन्तीति। तदेतदाह––निःसंशयेष्विति। तस्मात् झटिति वेदार्थप्रतिपत्तये पञ्चरात्रमेवाध्येतव्यमित्याह––पञ्चरात्रेति। यत एवं तत उपसंहरति–– सांख्यञ्च योगश्चेति। तदेवं पञ्चरात्रप्रतिपाद्यरूपस्य श्रीभगवत एवमुत्कर्षे स्थिते (भा० १।७।१०) 'आत्मारामाश्च मुनयः' इत्याद्यसकृदपूर्वमुपदिशता श्रीभागवतेन प्रतिपाद्यरूपस्य

सर्वसम्वादिनी

"अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति। यथाव्याप्य शरीराणि हरिचन्दनविप्रुषः" ॥५॥ इति ;
अत्र प्रभावातिशय-बोधनायैव हि हरिचन्दन-शब्दः प्रयुक्तः।

ननु चेतना-गुण-व्याप्ति-सिद्धान्ते गुणस्य गुणिदेशत्वाद्गुणिनमनाश्रितस्य गुणत्वमेव हीयते ; नागुणस्य,

किन्तु व्यतिरेक मुख से दैव शास्त्र का वर्णन कर उक्त दैव शास्त्र प्रतिपाद्य तत्त्व में मति संलग्न कराने के निमित्त ही शास्त्र प्रणयन करते हैं। आसुरिक प्रवृत्ति सम्पन्न व्यक्तिगण रजः तमो मिश्रित एकदेश वर्णन रूप खण्ड तत्त्व प्रतिपादक शास्त्र को देखकर, एवं क्लेशबहुल साधन प्रतिपादक शास्त्रसमूह को देखकर, वेद को भी दुर्गम जानकर निर्विण्ण होकर सर्ववेदार्थसार शुद्धाखण्डतत्त्व श्रीनारायण का, एवं सुखमय तदाराधन का सुष्ठु प्रतिपादक पञ्चरात्र शास्त्र में निविड़ रूपसे प्रविष्ट हो जायेंगे। इसको ही कहते हैं— "निःसंशयेषु सर्वेषु नित्यं वसति वै हरिः।" पाञ्चरात्रादि शास्त्रमें निःसन्देह श्रीहरि नित्य निवास करते हैं। अतएव सत्वर वेदार्थ अवगत होने के निमित्त पञ्चरात्र का अध्ययन करना आवश्यक है, उसको कहते हैं— "पञ्चरात्रविदो ये तु यथाक्रम परा नृप। एकान्तभावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति वै।"८७ पञ्चरात्रविद् व्यक्तिगण एवं तदनुसार क्रियापरायण जनगण एकान्त भक्ति को प्राप्त कर श्रीहरि को प्राप्त करते हैं। जब स्थिति इस प्रकार ही है, तब उपसंहार करते हैं—

"सांख्यञ्च योगश्च सनातने द्वे, वेदाश्च सर्वे निखिलेऽपि राजन्!
सर्वैः समस्तै ऋषिभि निरुक्तो, नारायणो विश्वमिदं पुराणम्॥"८८

हे राजन्! सांख्य एवं योगशास्त्र तत्त्वज्ञानद उपासनाप्रद भेद से एक अनुशासन ही नामद्वय से विख्यात है। उभय ही सनातन नित्य है। समस्त वेद, समस्त ऋषिगण एकवाक्य से निरूपण किए हैं कि— "श्रीनारायण एवं विश्व पुराण है, अर्थात् नित्य है।"

उक्त समुदय प्रमाणों से पञ्चरात्र शास्त्र प्रतिपाद्य श्रीभगवान् का ही जब सर्वोत्कर्ष स्थित हुआ, तब भा० १।७।१० में वर्णित––"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे,
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतो गुणो हरिः।" श्लोक द्वारा उपदिष्ट श्रीमद्भागवत प्रतिपाद्य श्रीभगवद्रूप का असमोर्द्ध उत्कर्ष ही है, उसकी बात क्या कहूँ। इस विषय की विवेचना करना एकान्त आवश्यक है।

क्रमसन्दर्भः—"तमेतं श्रीवेदव्यासस्य समाधिजातानुभवं श्रीशौनक प्रश्नोत्तरेण विशदयन् सर्वात्मारामानुभवेन सहेतुकं संवादयति—आत्मारामाश्चेति। निर्ग्रन्था विधिनिषेधातीताः, निर्गताहङ्कारग्रन्थयो वा; अहेतुकीं फलाभिसन्धिरहिताम्। इत्थमित्यात्मारामाणामत्याकर्षण-स्वभावो गुणो यस्य स इत्यर्थः।"

टीका—निर्ग्रन्थाः ग्रन्थेभ्यो निर्गताः। तदुक्तं गीतासु—यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च, इति। यद्वा ग्रन्थिरेव ग्रन्थिः, निवृत्तः क्रोधाहङ्काररूपो ग्रन्थि र्येषां ते निवृत्तग्रन्थय इत्यर्थः। ननु मुक्तानां किं भक्त्या चेति वाक्षेपपरिहारार्थमाह इत्यम्भूतो गुणो हरिरिति।

तस्य किमुतेत्यपि विवेचनीयम्। तदेतदुक्तानुसारेण सदाशिवेश्वरत्रिदेवीरूपव्यूहोऽपि निरस्तः। तस्मादेव च श्रीभगवत्पुरुषयोरेव शैवागमे सदाशिवादिसंज्ञे तन्महिमख्यापनाय धृते इति। गम्यते। सर्वशास्त्रशिरोमणौ श्रीभागवते तु त्रिदेव्यामेव तत्तारतम्यजिज्ञासा, पुरुष-भगवतोस्तु तत्प्रसङ्ग एव नास्ति। (भा० ३।१४।२९)—

सर्वसम्वादिनी

तदतिरिक्त-व्यापिताया दुकूलादौ दर्शितत्वात्,—अतिरिच्य स्थितस्यापि गुणस्य तमाश्रित्यैवावस्थितिप्रतिपत्तेः। अतएव गन्धस्यापि न स्वाश्रयत्व-व्यभिचारः;—तत एव तत्प्रवाहात्। अतएवोक्तं श्रीकृष्णद्वैपायनेन (ब्र०सू० २।३।२६—शा०भा०-धृतम्)—

आत्माराम के द्वारा अनुभूत श्रीव्यासदेव की समाधिलब्ध वस्तु है, उसका वर्णन करते हैं। विधिनिषेध से अतीत, अहङ्कारशून्य आत्मारामगण फलाभिसन्धि रहित भक्ति श्रीभगवान् में करते हैं। कारण श्रीभगवान् के गुण समूह उस प्रकार ही हैं।

स्वामिटीका—चित् जड़ात्मक ग्रन्थि से जो अपने को उद्धार करता है, वह ग्रन्थिशून्य है। गीता में उक्त है—जब तुम्हारी बुद्धि आत्मोन्मुखी होगी अर्थात् शरीर के प्रति आत्मबुद्धि को छोड़ देगी तब शरीर की उन्नति के निमित्त जो कुछ सुन चुके हो एवं सुनने के निमित्त कर्त्तव्यपरायण हो रहे हो, उस विषयों में अवश्य निर्वेद होगा। अथवा ग्रन्थि के समान गाँठ ही ग्रन्थि है। वह ग्रन्थि—क्रोध अहङ्कार रूप होती है। तत्त्वज्ञानानुशीलन के द्वारा जिनके हृदय से क्रोधाहङ्कार रूप ग्रन्थि विनष्ट हो गई है। वे लोक भी श्रीभगवान् का ही भजन करते हैं। जो लोक मुक्त हो जाते हैं, "अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम" कहावत को सार्थक कर शरीर निर्वाह व्यतीत अपर क्रिया नहीं करते हैं, अपर कुछ भी कर्त्तव्य उन सबके मन में नहीं रहते हैं, वे लोक दूसरे के लिए काम न करने से मुक्त कहलाते हैं, उन मुक्त पुरुषों की भगवत् परिचर्य्या, भगवदाज्ञा पालन, विधिनिषेध पालन, विश्ववासियों की सेवा में क्या प्रयोजन है? वे सब आत्माराम होते हैं। इन समस्त आक्षेपों का एकमात्र समाधान हेतु कहते हैं,—"इत्थम्भूतो गुणो हरिः" श्रीहरि के गुणसमूह ऐसे ही होते हैं, जिससे आत्मारामगण—आत्मारामत्व को जलाञ्जलि देकर भगवान् में भक्ति करते हैं। भगवान् तथा भगवत्सम्बन्धीय विश्ववासियों की सेवा में परम निष्काम भावसे अपने को सदा के लिए समर्पण कर देते हैं। वे लोक पढ़ते भी हैं, शास्त्राध्ययन का विद्वेषी नहीं होते हैं। आत्माराम शुकदेव ने श्रीभागवत शास्त्र का अध्ययन निज पिता श्रीव्यासदेव से किया था।

अतएव श्रीभगवदुत्कर्ष प्रतिपादित प्रमाण समूह के द्वारा "पाशुपत शास्त्रादि में वर्णित सदाशिव परमेश्वर हैं, उनके ब्रह्मा विष्णु रुद्र त्रिदेव व्यूह हैं", सिद्धान्त भी निरस्त हुआ।

तज्जन्य ही श्रीभगवान् एवं पुरुषों की संज्ञा भी 'सदाशिव' होती है। पुरुषों की ईश्वर संज्ञा भी होती है, यह भी श्रीभगवान् की महिमा प्रकटन के निमित्त ही है। शास्त्र पर्य्यालोचन करने से उस प्रकार ही बोध होता है।

सर्वशास्त्र शिरोमणि श्रीमद्भागवत शास्त हैं, उक्त श्रीमद्भागवत में 'त्रिदेवी' समस्या समाधान निबन्धन एक प्रकरण है, जिसमें त्रिदेवी में कौन देव श्रेष्ठ हैं? इस प्रकार जिज्ञासा क्रमसे साक्षात् अनुभव के द्वारा निर्णय किया गया है। उस प्रकरण में किन्तु पुरुष श्रीशिव एवं श्रीभगवान् के मध्यमें श्रेष्ठ कनिष्ठ, पूज्य-अपूज्य रूप तारतम्य का कोई प्रसङ्ग ही नहीं है, केवल ब्रह्मा विष्णु महेश्वर रूप त्रिदेव में कौन उपास्य श्रेष्ठ हैं? यह जिज्ञासा है। (भा० १०।८९।१-२०)

"श्रीशुक उवाच—सरस्वत्यास्तटे राजन् ऋषयः सत्रमासत।
वितर्कः समभूत् तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान् ॥१

तस्य जिज्ञासया ते वै भृगुं ब्रह्मसूतं नृप। तज्ज्ञप्त्यै प्रेषयामासुः सोऽभ्यगाद्ब्रह्मणः सभाम् ॥२
न तस्मै प्रह्वणं स्तोत्रं चक्रे सत्त्वपरीक्षया। तस्मै चुक्रोध भगवान् प्रज्वलन् स्वेन तेजसा ॥३
स आत्मन्युत्थितं मन्युमात्मजायात्मना प्रभु। अशीशमद् यथा वह्निं स्वयोन्या वारिणात्मभूः ॥४
ततः कैलासमगमत् स तं देवो महेश्वरः। परिरब्धुं समारेभे उत्थाय भ्रातरं मुदा ॥५
नैच्छत् त्वमस्युत्पथग इति देवश्चुकोप ह। शूलमुद्यम्य तं हन्तुमारेभे तिग्मलोचनः ॥६
पतित्वा पादयोर्देवी सान्त्वयामास तं गिरा। अथो जगाम वैकुण्ठं यत्र देवो जनार्दनः ॥७
शयानं श्रिय उत्सङ्गे पदा वक्षस्यताड़यत्। तत उत्थाय भगवान् सह लक्ष्म्या सतां गतिः ॥८
स्वतल्पादवरुह्याथ ननाम शिरसा मुनिम्। आह ते स्वागतं ब्रह्मन् निषीदात्रासने क्षणम्।
अजानतामागतान् वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो ॥९
पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मद्‌गतान्। पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा ॥१०
अद्याहं भगवन् लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनम्। वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः ॥११
इति ब्रुवाणे वैकुण्ठे भृगुस्तन्मन्द्रया गिरा। निर्वृतस्तर्पितस्तूष्णीं भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचनः ॥१२
पुनश्च सत्रमाव्रज्य मुनीनां ब्रह्मवादिनाम्। स्वानुभूतमशेषेण राजन् भृगुरवर्णयत् ॥१३
तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः। भूयांसं श्रद्दधुर्विष्णुं यतः शान्तिर्यतोऽभयम् ॥१४
धर्मः साक्षात् यतो ज्ञानं वैराग्यञ्च तदन्वितम्। ऐश्वर्य्यञ्चाष्टधा यस्माद् यशश्चात्ममलापहम् ॥१५
मुनीनां न्यस्तदण्डानां शान्तानां समचेतसाम्। अकिञ्चनानां साधूनां यमाहुः परमां गतिम् ॥१६
सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्त्तिर्ब्राह्मणास्त्विष्टदेवताः। भजन्त्याशिषः शान्ता यं वा निपुणबुद्धयः ॥१७
त्रिविधाकृतयस्तस्य राक्षसा असुराः सुराः। गुणिन्या मायया सृष्टाः सत्त्वं तत्तीर्थसाधनम् ॥१८

श्रीशुक उवाच

इत्थं सारस्वतं विप्रा नृणां संशयनुत्तये। पुरुषस्य पदाम्भोजसेवया तद्‌गतिं गताः॥
नवशोतितमे देवः को महानिति संशये। परीक्ष्य विष्णोरुत्कर्षं मुनिभ्योऽवर्णयद् भृगुः॥

राजन्! सरस्वती के तटदेश में ब्रह्मसत्र आरम्भ हुआ था। वहाँ पर "ब्रह्मा विष्णु महेश" अधीश त्रय में महान् कौन है? इस प्रकार वितर्क उपस्थित हुआ था।१। परीक्षा हेतु ब्रह्मपुत्र भृगु को नियुक्त किया, भृगु भी ब्रह्मा की सभा में उपस्थित हुए।२। वहा जाकर भृगु ने न-तो स्तुति की न प्रणाम। इससे ब्रह्मा आग बबुला हो गये।३। स्वयम्भु ने क्रोध को संयत कर लिया, कारण आप समर्थ हैं।४। अनन्तर भृगु कैलास में उपस्थित हुए, उनको देखकर आलिङ्गन करने के निमित्त महादेव ज्यों ही आगे बढ़े तो भृगु ने मना कर दिया, और कहने लगा "तुम उत्पथगामी हो", सुनकर महादेव क्रुद्ध हो गये, और त्रिशूल उठा कर भृगु के उपर हमला बोल दिया।५-६। पार्वती मैया ने, महादेव के पैर पकड़ कर मिठी वाणी से महादेव को शान्त किया, अनन्तर भृगु वैकुण्ठ पहुँच गये, जहाँ जनार्द्दन विराजते हैं।७। लक्ष्मी के सहित श्रीविष्णु एक शय्या में आराम कर रहे थे। इस अवस्था में भृगु ने सहसा श्रीविष्णु के वक्षःस्थल में लात मार दी। लक्ष्मी के साथ सज्जनों के पति भगवान् उठ कर खड़े हो गये।८। निज शय्या से उतर कर मस्तक के द्वारा मुनि के चरणों में प्रणाम कर कहने लगे। आपका आगमन मङ्गलमय हो, मैं जान न सका, आपका आगमन हुआ है, क्षमा करें प्रभो।९। आपके चरणकमल तो अतीव कोमल है, हे महामुने! मेरा वक्षःस्थल तो वज्र से भी कर्कश है। उसके स्पर्श से चरण परिपीड़ित हो गया है। यह कहकर निज हस्तों से विप्र के पाद सम्बाहन करने लगे। और विनती करने लगे—प्रभो! लोकपाल गण के सहित मुझको आप पवित्र करें। आपके चरणोदक तीर्थों को भी पवित्र करता है।१०। हे भगवन्! आज तक मेरा वक्षःस्थल में एकमात्र लक्ष्मी का ही अधिकार था, किन्तु उसके सहित आज से आपका पदचिह्न भी अङ्कित होकर रहेगा।११। श्रीशुकदेव बोले—

"ब्रह्मादयो यत्कृतसेतुपाला, यत्कारणं विश्वमिदञ्च माया।
आज्ञाकरी यस्य पिशाचचर्य्या, अहो विभूम्नश्चरितं विड़म्बनम्" ॥२८॥

इत्यत्र तृतीये गुणावतारत्वेन परमेश्वराभेददृष्ट्या तथात्वमुक्तमिति ज्ञेयम्। ननु (भा० ८।७।३१)

"न ते गिरित्राखिललोकपाल,-विरिञ्च-वैकुण्ठसुरेन्द्रगम्यम्।
ज्योतिः परं यत्र रजस्तमश्च, सत्त्वं न यद्ब्रह्म निरस्तभेदम्" ॥३१॥

इत्यत्र तस्य परत्वं श्रूयत एवाष्टमे। मैवम्; "महिम्ना स्तूयमाना हि देवा वीर्य्येण वर्द्धन्त' इति वैदिक-न्यायेन तदयुक्तेः; स हि स्तवः कालकूटनाशार्थमेव। तत्रैव (भा० ८।७।४०)—

सर्वसम्वादिनी

"उपलभ्याप्सु चेद्गन्धं केचिद्ब्रूयुरनैपुणाः। पृथिव्यामेव तं विद्यादपो वायुञ्च संश्रितम्" ॥६॥ इति।
तस्मादणुरेव जीवः, चेतनागुणेन तु स्वशरीर-व्यापीति।

अत्राशङ्कते,—(वृ० ४।४।२२) "स वा एष महानज आत्मा,—योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" इत्यत्र

वैकुण्ठ मधुर वाणी से उस प्रकार कहने पर भृगु परम आनन्दित हुए और आनन्दाश्रु से गदगदायमान हो गये।१२। ब्रह्मवादियों के सत्र में प्रत्यावर्त्तन कर स्वानुभूत वृत्तान्त को सुस्पष्ट रूपसे आपने कहा।१३। समस्त सभासद्गण श्रीविष्णु के महत्त्व को जान परम श्रद्धा निवेदन किए। कारण जिनसे शान्ति एवं अभय की प्राप्ति होती है, वह ही विष्णु हैं।१४। साक्षात् धर्म, ज्ञान, वैराग्य, अष्ट प्रकार ऐश्वर्य्य, आत्ममलापह यशः जिनसे प्रकाशित होते हैं।१५।

न्यस्तदण्ड, शान्त, समचित्त, अकिञ्चन मुनि, साधुजनों का परम आश्रय श्रीविष्णु हैं।१६। यद्यपि श्रीभगवान् त्रिविध मूर्त्ति हैं, तथापि सत्त्वमूर्त्ति ही उनकी अति प्रिय है। उनके इष्टदेव ही ब्राह्मणगण हैं। आशीर्वाद की भी आकाङ्क्षा न करके निपुण बुद्धिमान् जनगण शान्त भावसे उनकी उपासना करते हैं।१७। राक्षस, असुर, सुर त्रिविध मूर्त्ति ही श्रीविष्णु की हैं। किन्तु वे सब त्रिगुणमयी माया द्वारा सृष्ट हैं, उसमें से सत्त्व सात्त्विकगुण ही तीर्थ साधन पवित्र कारक पुरुषार्थ हेतु है।१८। श्रीशुकदेव बोले—

सरस्वती तीरवासी मुनिवृन्द उक्त प्रकार निश्चय कर श्रीविष्णु के पदाम्भोज सेवन किए एवं परमगति को प्राप्त किए।१९।

भा० ३।१४।२८ में उक्त है—ब्रह्मादि देवगण जिनके आदेश पालन परायण हैं, जो निखिल विश्व का एकमात्र कारण हैं, माया जिनकी आज्ञाकरी है, स्वसुख को त्याग कर पिशाच चर्य्या जिनकी सुभगता है। इस प्रकार परमेश के चरित्र अतर्क्य है।

टीका—अहो अतर्क्यं तस्याचरणमित्याह। ब्रह्मादयो येन कृतान् सेतून् स्वस्वाधिकारान् पालयन्ति। यः कारणं यस्य, येन कृतमिदं विश्वम्। माया च यस्य आज्ञाकरी। विभुम्नः परमेशस्य। विड़म्वनम्—अतर्क्यमित्यर्थः।२८।

इस प्रकार वर्णन शिव गुणावतार होने के कारण परमेश्वर के सहित अभेद दृष्टि से हुआ है।

भा ८।७।३१ के—"न ते गिरित्राखिललोकपाल, विरिञ्चिवैकुण्ठसुरेन्द्रगम्यम्।
ज्योतिः परं यत्र रजस्तमश्च, सत्त्वं न यद् ब्रह्मनिरस्तभेदम्॥"

श्लोक में,—हे गिरित्र! आप की परम ज्योतिः, अखिल लोकपाल ब्रह्मा, विष्णु, एवं सुरेन्द्र गम्य नहीं है। उक्त ज्योति में रजः, तमः किम्वा सत्त्व नहीं है, निरस्त भेद है, अर्थात् वह परम ब्रह्मस्वरूप है।" श्रीशिव का श्रेष्ठत्व कीर्त्तित है? इस प्रकार कथन समीचीन नहीं है। "देवतागण महिमा के द्वारा स्तुत होने से बलवत्तर होते हैं" इस वैदिक न्याय से महत्त्व कथन युक्तियुक्त नहीं है। उक्त स्तुति समुद्रमन्थन से उद्भूत कालकूट नाशन के लिए ही हुई थी।

"प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं सचराचरः" इति ; तथा नवमे (भा० ९।४।५६)—

"वयं न तात प्रभवाम भूम्नि, यस्मिन् परेऽन्येऽप्यजजीवकोषाः ।

भवन्ति काले न भवन्ति हीदृशाः, सहस्रशो यत्र वयं भ्रमामः" ॥५६॥ इति ;

(भा० ५।१७।२३) "एते वयं यस्य वशे महात्मनः, स्थिताः शकुन्ता इव सूत्रयन्त्रिताः" इति च तद्वाक्यविरोधात् । अथवा यत् शिवस्य ज्योतिस्तत्र स्थितं परमात्माख्यं चैतन्यं तत्सम्यग्-

सर्वसम्वादिनी

महच्छब्दान्न सम्भवत्यणुत्वमिति ? उच्यते ।—युक्ति-सम्बद्धेनाणुत्व श्रवणेन महच्छब्दस्य विभुतायाम-प्रसिद्धावर्थान्तरोपस्थितावणुरप्युत्कर्ष-गुणेन सारत्वादेव महानिति व्यपदिश्यते, महारत्नवत् ; यथैव प्राज्ञः परमात्मा विभुरपि दुर्ज्ञेयता-गुणेनैव (कठ० १।२।२०) 'अणोरणीयान्' इत्युच्यते । तदेवं (ब्र०सू० २।३।२८)

भा० ८।७।३८ में श्री शिव की उक्ति इस प्रकार है—

"आसां प्राणपरीप्सूनां विधेयमभयं हि मे । एतावान् हि प्रभोरर्थो यद्दीनपरिपालनम् ॥३८

प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभङ्गुरैः । बद्ध वैरेषु भूतेषु मोहितेष्वात्ममायया ॥३९

पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः । प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं सचराचरः ।

तस्मादिदं गरं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे ॥४०

समर्थ होकर विपन्नों की रक्षा करना परम कर्त्तव्य है ।३८। क्षणभङ्गुर शरीर के द्वारा साधुगण अपर की रक्षा करते हैं । कुछ लोक बद्ध वैरता से काल यापन करते हैं । माया बद्धता का ही उक्त कार्य्य है ।३९। हे भद्रे ! प्राणियों के प्रति दया करने से सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न होते हैं । श्रीहरि प्रसन्न होने से सचराचर सब प्रसन्न होंगे, इससे मेरी प्रसन्नता होगी । अतएव मैं विष भक्षण करता हूँ, समस्त प्रजाओं का मङ्गल होवे ।४०।

भा० ९।४।५६ में वर्णित है,—हे राजन् ! भक्तापराधग्रस्त दुर्वासा शरणप्रार्थी होकर श्रीब्रह्मा से प्रत्याख्यात होने पर कैलास गमन किए थे । विष्णु चक्र से उद्विग्न होकर कातर भाव से तत्रस्थ भगवान् श्रीशिव के शरणापन्न हो गये । श्रीशङ्कर बोले,—हे तात ! उन महान् परमेश्वर के समीप में मेरा प्रभुत्व नहीं चलेगा । परमेश्वर में ब्रह्मादि के सहित निखिल ब्रह्माण्ड एवं दृश्यमान ब्रह्माण्ड के समान अन्यान्य पदार्थ भी आधारित हैं । जिससे समस्त लोकपालाभिमानी हम सब भ्रान्त हो रहे हैं ।५६।

टीका—"श्रीरुद्रोऽपि प्रत्याचष्टे वयमिति । चतुर्भिः, भूम्निः—महति । महत्त्वमेवाह यस्मिन् परे परमेश्वरे, अजाः—ब्रह्माणः, त एव जीवाः, तेषां कोशा, उपाधिभूताः, ब्रह्माण्डविग्रहाः । ईदृशा दृश्यमान ब्रह्माण्ड प्रमाणाः, अन्येऽपि भवन्ति, जायन्ते नश्यन्ति च । यत्र येषु ब्रह्माण्डेषु लोकेशाभिमानिनो वयं भ्रमामः ।५६।

भा ५।१७।२३ में वर्णित है—"एते वयं यस्य वशे महात्मनः स्थिताः शकुन्ता इव सूत्र यन्त्रिता ।

महानहं वैकृततामसैन्द्रियाः सृजाम सर्वे यदनुग्रहादिदम् ॥"२३

जिनके अधीन रहकर हम सब महत् अहङ्कार, देव, भूत, इन्द्रियवर्ग, सूत्रबद्ध पक्षि के समान क्रिया शक्ति के द्वारा यन्त्रित हैं, एवं जिनके अनुग्रह से ब्रह्माण्ड सृजन कर रहा हूँ ।२३।

टीका—"एते वयं महदादयः, सर्वे यस्यानुग्रहात् इदं ब्रह्माण्डं सृजामः कथम्भूताः ? यस्य महात्मनो वशे स्थिताः सन्तः । यत सूत्रेण क्रिया सक्त्या यन्त्रिताः प्रोताः शकुन्ताः पक्षिण इव लौकिकेन सूत्रेण । वयमित्युक्तं, तमेवाह,—महान् अहङ्कारश्च वैकृतादयः पूर्वोक्ता वर्गाश्च" ।२३।

इस प्रकार श्रीशिव की निजोक्ति के सहित विरोध ही होगा, यदि श्रीशिव को स्वयं भगवान् रूपमें

ज्ञाने तस्याप्यक्षमता युक्तैव ; यदुक्तम् (भा० १०।८७।४१) **"द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया, त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः" इति। ब्रह्मसंहितामते तु भगवदङ्गविशेष एव सदाशिवः, न त्वन्यः। यथा तत्रैव सर्वादिकारणगोविन्दकथने** (ब्र०सं० ५।७-८)—

"नियतिः सा रमा देवी तत्प्रिया तद्वशम्वदा ।।७।।

सर्वसम्वादिनी

"तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्" इत्यपि व्याख्यातम्। अपर इदमेव व्याचष्टे।—स-चेतना-लक्षणो यो गुणो महौषध्यादिवदचिन्त्यप्रभावः, स एव सारो व्यभिचार-रहितो यत्र तथाभूतत्वात् सर्व-शरीर-व्यापितादि-निर्द्देशः सम्भवति। यथैव प्राज्ञस्य श्रुतावचिन्त्य-शक्तित्वं दृश्यते, तथैवास्यानुरूप

स्वीकार किया जाय तो, प्रधान ईश्वरद्वय का वर्णन शास्त्र में नहीं है।

अथवा श्रीशिव की ज्योतिः है, उसमें स्थित जो परमात्मस्वरूप चैतन्य है, उनको सम्यक् रूपसे अवगत होने की क्षमता श्रीशिव में न होना, युक्तियुक्त ही है। तज्जन्य ही श्रीमद्भागवत १०।८७।४१ में वर्णित है—

"द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः।

खे इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ।।४१

टीका—त्वदवगमी न वेत्ति सुखदुःखे न च विधिनिषेधाविरयुक्तं, तत्र कथमवगन्तुं शक्यते, दुरधिगमत्वस्येत्युक्तत्वादित्येवमाशङ्क्य सत्यमेवम्, अनवग्राह्य महिम्नोऽवाङ्मनसागोचरत्वात् अविषयत्वेनैव ज्ञानमिति दर्शयन् यदूर्द्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक् पृथिव्या यदन्तराद्यावा पृथिवी इमे यद्भूतं भवच्च भविष्यच्चेत्यादि श्रुतिप्रतिपादितमपरिमितं महिमानमाह द्युपतय एवेति। हे भगवन्! ते अन्तं द्युपतयः स्वर्गादिलोकपतयो ब्रह्मादयो न ययु र्न प्रापुः। तत् कुतः? यदन्तवद् वस्तु तत् किमपि त्वं न भवसि। आस्तां द्युपतयो न ययुरिति। यद् यस्मात् त्वमपि आत्मनोऽन्तं न यासि। कुतस्तर्हि सर्वशक्तिता वा अत आह—अनन्ततया अन्ताभावेन। न हि शशविषाणाज्ञानं सार्वज्ञ्यं तदप्राप्तिर्वा शक्तिवैभवं विहन्ति। अनन्तत्वमेवाह—यदन्तरेति। यस्य तव अन्तरा मध्ये। ननु अहो सावरणा-उत्तरोत्तरं दशगुणसप्तावरणयुक्ता अण्डनिचया ब्रह्माण्डसमूहा वान्ति परिभ्रमन्ति। वयसा कालचक्रेण खे रजांसीव सह एकदैव नतु पर्य्यायेन। हि यस्मादेवन्, अतः श्रुतयस्त्वयि फलन्ति तात्पर्य्यवृत्त्या पर्य्यवस्यन्ति। नतु साक्षात् वदन्ति, अयमेतावानिति। सगुणस्य गुणानन्त्यात् निर्गुणस्य चागोचरत्वात्। कथं तर्हि अपदार्थे तात्पर्य्यम्? इति। तत्र विधिमुखे वाक्ये भवेदयं नियमः, पदार्थस्यैव वाक्यार्थत्वमिति। निषेधमुखे तु नायं नियमः' इत्याह,—अतन्निरसनेनेति। अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् अस्थूलमनणु इत्यादि प्रकारेण लक्षणया च तत्त्वमसीत्यादयः पर्य्यवस्यन्ति। न च वाच्यं, निषेधैः शून्यमेव ज्ञाप्यते इति। यतो भवन्निधनाः भवति त्वयि निधनं समाप्तिर्यासां ता स्तथा, न हि निरवधिनिषेधः सम्भवति अतोऽवधिभूतेत्वयि फलन्तीत्यर्थः।४१।

श्रुति कहती है—हे भगवन्! आप अनन्त हैं, अतएव देवतावृन्द आपको सर्व प्रकार से जानने में सक्षम नहीं हैं। कारण आवरण के सहित ब्रह्माण्ड समूह आकाश में धूलिकणा के समान काल चक्र से आपके मध्य मेंभ्रमण करते रहते हैं। आप चरम अवधि हैं। श्रुतिगण निषेध मुख से आप में ही पर्य्यवसित होकर फलवती होती हैं।४१।

ब्रह्मसंहिता के मत में तो श्रीसदाशिव श्रीभगवदङ्ग विशेष ही है। अन्य नहीं है। उक्त ब्रह्मसंहिता में सर्वादि कारण श्रीगोविन्द का ही कथन हुआ है।

ब्रह्मसंहिता के ७-८-९-१० श्लोक में उसका विस्तृत विवरण है,—

"नियतिः सा रमा देवी तत्प्रिया तद्वशम्वदा ।।७

तल्लिङ्गं भगवान् शम्भुर्ज्योतीरूपः सनातनः। या योनिः सा परा शक्तिः" ॥८॥ इत्यादि।

सर्वसम्वादिनी

स्यादित्यस्मिन् व्याख्याने महच्छब्दस्योत्कृष्टता-मात्रं वाच्यं स्वयमूह्यम्। हरिचन्दन-दृष्टान्तेन तादृगर्थो न सूत्रे तस्मिन्नभिव्यक्त इति पुनः सूत्रञ्चेदमित्यपि ज्ञेयम्।

किञ्च, तेषां जीव-गुणानां वह्नेरौष्ण्यादिवदनाद्यनन्त-कालावस्थाय्यात्मसमानकालमेव व्याप्य भवन-

तल्लिङ्गं भगवान् शम्भु र्ज्योतिरूपः सनातनः। या योनिः सा पराशक्तिः कामो वीजं महद्धरेः॥८

लिङ्गयोन्यात्मिका जाता इमा माहेश्वरीः प्रजाः॥९

शक्तिमान् पुरुषः सोऽयं लिङ्गरूपी महेश्वरः। तस्मिन्नाविरभूल्लिङ्गे महाविष्णुर्जगत्पति॥१०

प्रपञ्च सृष्टिकर्त्ता पुरुष भगवदंश होने पर भी लीला में जीववत् मायाबद्ध नहीं होते हैं। प्राकृत प्रलय होने से भी आप का लय नहीं होता। क्यों नहीं जीववत् मायाबद्ध होते हैं? उत्तर में कहते हैं,—माया के द्वारा वहिर्भाग में सेवित होते हैं। स्वयं स्वरूपानन्द शक्ति में विलसित हैं। अभ्यन्तर रमा शक्ति से सेवित हैं, माया उन पुरुष के वश में रहती है, मायावश पुरुष नहीं है। जिस समय सृष्टि करने की इच्छा होती है, उस समय काल शक्ति के द्वारा जड़ा मायाशक्ति को प्रेरण करते हैं। काल के प्रभाव से माया ब्रह्माण्ड सृजन कार्य्य में सक्षम होती है। प्रभाव को पौरुष कहते हैं। अधोक्षज तत्त्वरूप परम पुरुष प्रकृति में ईक्षण करते हैं। अर्थात् जीवशक्ति का आधान करते हैं।

रमा शक्ति को 'नियति' कहते हैं। स्वयं भगवान् विराजित होने से ही 'नियति' आख्या हुई है, वह स्वरूपभूता चिच्छक्ति है। देवी शब्द से द्योतमाना स्वप्रकाशरूपा अर्थ होता है। अतएव श्रीभगवान् की प्रिया एवं वशम्वदा है।

द्वादशस्कन्ध ११।२० श्लोकमें उक्त है—"अनपायिनी हरेः श्रीः साक्षादात्मनो हरेः" टीका—"अनपायिनी हरेः शक्तिः, तत्र हेतुः। साक्षादात्मनः स्वरूपस्य चिद्रूपत्वात् तस्यास्तदभेदादित्यर्थः।"

साक्षात् श्रीहरि की आत्मभूता अनपायिनी श्री शक्ति है। कारण—साक्षात् आत्मस्वरूप चिद्रूप है। श्रीहरि एवं श्री अभिन्न हैं। यहाँ साक्षात् शब्द से वहिरङ्गा माया का निरास हुआ है। वह दृष्टि पथ में आने में लजाती है।

उक्त चिद्रूपिणी श्री शक्ति श्रीविष्णु के अनुरूप देह धारण कर प्रकट होती है, श्रीविष्णु कभी भी देवी को छोड़ कर नहीं रहते हैं।७।

शास्त्रान्तर में श्रीशिव को जगत्कारण कहा गया है, उसका समाधान करते हैं। जिस प्रकार विराट् पुरुष की वर्णना में विश्व को विष्णुरूप कहा गया है, उस प्रकार श्रीभगवान् के अङ्ग विशेष रूपमें शिव-शक्ति का समावेश होता है, और जगत् कारण भी कहा जाता है।८।

अतएव शिव शास्त्र, एवं तन्त्रादि शास्त्र का वर्णन जहाँ पर स्वतन्त्र रूप से हुआ है, वह वास्तविक नहीं है। पूर्वोक्त विष्णु तात्पर्य्य प्रकाशक शास्त्र के अनुकूल से ही अर्थ करना होगा। प्रस्तुत "लिङ्ग-योन्यात्मिका जाता इमा माहेश्वरीः प्रजाः।" पुरुष एवं प्रकृति से उत्पन्न माहेश्वरी, महेश्वर-पुरुषावतार से उत्पन्ना प्रजा समूह हैं।९।

पूर्व श्लोकस्थ अभिप्राय को सुस्पष्ट रूपसे इस श्लोक में कहते हैं। अप्रकट पूर्वसिद्ध रूप की अभिव्यक्ति प्रकट में होती है। वह लिङ्गरूपी, जिससे सब कुछ जाना जाता है। कारणरूपी प्रपञ्चोत्पादक शक्ति है। प्रथम पुरुष कारणार्णवशायी का अंश होने पर भी उनको शक्तिमान् पुरुष कहते हैं, महेश्वर भी कहते हैं। अतः उक्त भूत सूक्ष्म पर्य्यन्त प्राप्त लिङ्गरूप कारण पुरुष में स्वयं तदंशी महाविष्णु आविर्भूत होते हैं। अर्थात् अप्रकट स्वरूप पुरुष में महाविष्णु प्रकट होते हैं। महाविष्णु, समस्त जगत् के पूर्वापरोत्पन्न जीव समूह के पति हैं।१०।

(ब्र०सं० ५।१०)'तस्मिन्नाविरभूल्लिङ्गे महाविष्णुः' इत्याद्यन्तम्। तदेतदभिप्रेत्य सदाशिवःवादि-प्रसिद्धिमप्याक्षिप्याह (भा० १।१८।२१)—

(१७) "अथापि यत्पादनखावसृष्टं, जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात्, को नाम लोके भगवत्पदार्थः" ॥२१॥

स्पष्टम् ॥ श्रीसूतः ॥

१८। तस्मात् (ब्रह्मवैवर्ते) "नाहं शिवो न चान्ये च तच्छक्त्येकांशभागिनः" इत्येवं साध्वेव उक्तमित्याह (भा० १०।६८।३७)—

(१८) "ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः" इति।

स्पष्टम् ॥ श्रीबलदेवः ॥

१९। अथ परमात्मपरिकरेषु जीवस्तस्य च तटस्थलक्षणम् (भा० ५।११।१२)'क्षेत्रज्ञ एताः'

सर्वसम्वादिनी

शीलत्वान्न कदाचिद्व्यभिचाराशङ्का। तथा च दर्शयति श्रुतिः—(वृ० ४।३।३०) "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" इत्याद्या। मोक्षे तु तेषामभिव्यक्तिर्जायते, यौवने पुंस्त्रीभाव-विशेषवत्। तदुक्त

श्रीब्रह्मसंहिता की उक्ति से सदाशिव भी श्रीगोविन्द के अंश हैं। किन्तु यदि आग्रहवश सदाशिव संज्ञा को पृथक् स्वतन्त्रेश्वर रूपमें स्थापन किया जाय तो श्रीमद्भागवत १।१८।२१ श्लोकार्थ का समाधान नहीं होगा। "जिनके पदनख से निःसृत जल को अर्घ्योदक कर ब्रह्मा महादेव को उपहार प्रदान किए थे, उक्त जल 'ईश' सहित समस्त जगत् को पवित्र कर रहा है। अतएव मुकुन्द भिन्न भगवत् पदवाच्य अपर कौन व्यक्ति हो सकता है ? अर्थात् श्रीमुकुन्द ही एकमात्र सर्वेश्वर हैं।"

टीका—अथेति अर्थान्तरे। यस्य पादनखादवसृष्टं निःसृतमपि विरिञ्चिनोपहृतं समर्पितं अर्हणाम्भः अर्घ्योदकम्। ईशसहितं जगत् पुनाति। विरिञ्चिनोपहृतं सेशमिति च तयोरप्युपासकत्वमुक्तम्। तस्मात् मुकुन्दव्यतिरिक्तः को नाम भगवत्पदस्यार्थः सर्वेश्वरः स एवेत्यर्थः ।२१।

इस श्लोक में ब्रह्मा महेश का भगवन्मुकुन्द उपासकत्व का वर्णन सुस्पष्ट रूपमें है। यह उक्ति श्रीसूत की है ॥१७॥

तज्जन्य ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में लिखित है,—मैं (बलदेव) शिव, अन्यान्य सनकादि ऋषिगण भगवत् शक्ति का एकांश भागी नहीं हूँ। यह उक्ति उक्त अभिप्राय से ही हुई है। भा० १०।६८।३७—

"यस्याङ्घ्रिपङ्कज रजोऽखिललोकपालै मौंल्युत्तमैर्धृ तमुपासिततीर्थ तीर्थम्।
ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः श्रीश्चोद्वहेमचिरमस्य नृपासनं क्व ॥३७

टीका—"मौल्युत्तमैर्मौलियुक्त रुत्तमाङ्गैः उत्तमैमौंलिभिरिति वा। उपासितानि तीर्थानि यै र्योगिभिस्तेषामपि तीर्थम्। यद्वा उपासितं सर्वैः सेवितं तीर्थं गङ्गा तस्य तीर्थं तीर्थत्वनिमित्त्वम्। किञ्च ब्रह्मा भवः श्रीश्चाहमपि उद्वहेम। कथम्भूता वयम् ? यस्य कलाया अंशस्य कला अंशाः" ।३७।

लोकपाल समूह योगिगण के तीर्थस्वरूप जिनकी पदरजः को मस्तक में धारण करते हैं, एवं ब्रह्मा शिव मैं (बलदेव) लक्ष्मी प्रभृति जिनके अंशमात्र हूँ। हम सब जिनकी पदरजः को चिरकाल मस्तक से वहन करते हैं, राजसिंहासन में उनका प्रयोजन ही क्या ? ।३७। इसमें भी सुस्पष्ट रूपसे परम भगवत्ता श्रीकृष्ण में स्थापित हुई है। यह कथन श्रीबलदेव का है ॥१८॥

अनन्तर परमात्म परिकर समूह के मध्य में जीव प्रधान परिकर है, जीवतत्व के कारण ही परमात्म

लीला होती है। जीव वहिर्मुख होकर स्व-स्वरूप विस्मृत होता है, नश्वर को अविनश्वर मानकर अशिव पूति गन्धबहुल परिवेश में सुखानुसन्धान करता रहता है। जीव के कर्णकुहर में ईश्वर की अमृतमय वाणी प्रविष्ट नहीं होती है। मतिघ्नी कुकथा श्रवण कर हृदय को विषाक्त करता रहता है। भोगेच्छा, अर्थ लिप्सा, सुख वासना, पदलोलुपता जीव चतुर्द्दिक से कवलित करने के निमित्त उद्यत है। जीव नहीं जानता मैं ईश्वर अंश हूँ, परमात्मा का अंश हूँ। परमात्मा ही मेरा नियन्ता हैं, कायिक वाचिक मानसिक जो कुछ कर्म मैं निरन्तर करता रहता, उसका फल भोग मुझे ही करना पड़ता है। उस कर्मफल का विधाता परमात्मा है।

कार्य्य को देखकर जिसको जाना जाता है, वह उसका तटस्थ लक्षण है। यह स्वरूप के बाहर रह कर स्वरूप का बोधक होता है। स्वरूपलक्षण—स्वरूपमें अवस्थित होकर ही स्वरूप का बोधक होता है।

"कारणस्य आत्मभूता शक्तिः, शक्तेश्च आत्मभूतं कार्य्यम्" इस नियम से कारणतत्त्व नियत शक्तिपूर्ण ही होते हैं। शक्ति उनकी आगन्तुक नहीं होती अपितु निजी होती है। इस शक्ति को कभी कभी अंश की भाँति अंश कहते हैं। उक्त शक्तिविशिष्ट परमात्मा के परिकर वर्ग में जीव का विशिष्ट स्थान है। जीव के निमित्त ही परमात्मा की समस्त शक्ति प्रकाशित होती रहती हैं। परमात्मा को सक्रिय रूपमें कार्य्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने का सु-अवसर प्राप्त होता है, वहिर्मुख कतिपय जीव के द्वारा ही। अतः जीव का तटस्थलक्षण के द्वारा निरूपण होना अत्यावश्यक है। भा० ५।११।१२ में लिखित है—

"क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूतिर्जीवस्य माया रचितस्य नित्याः।
आविर्हिता क्वापि तिरोहिताश्च, शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्त्तुः॥"

जीव शुद्ध है, सच्चिदानन्दस्वरूप है, माया से भिन्न है, अर्थात् जड़ाशक्ति है, और जीव चित्शक्ति है। अन्तरङ्गा वहिरङ्गा तटस्था शक्तित्रय में जीव अन्तरङ्गा स्वरूपशक्ति में वहिरङ्गा त्रिगुणात्मिका जड़ाशक्ति में अन्तर्भुक्त नहीं होता है। अतः वह तटस्था शक्ति, अन्तरङ्गा वहिरङ्गा शक्ति से भिन्ना शक्ति है। किन्तु वह जीव त्रिगुणात्मिका रचित शरीरस्थ मनः बुद्धि अहङ्कार चित्त की वृत्ति समूह को अभिनिवेश के सहित देखता है। देख देख कर उसमें आविष्ट हो जाता है। उस चेतन शक्ति को जीव नाम से कहते हैं। उस जीव के दो शरीर होते हैं। वासनात्मक सूक्ष्म शरीर जिसको लेकर जीव देह से देहान्तर गमन करता रहता है, अपर भोगायतन स्थूल शरीर है, जिसका जन्म विनाश होता रहता है। उक्त लक्षणाक्रान्त शरीर का ज्ञाता वह जीव है। अतः उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। भा० १।७।५ में उक्त है—

श्रीव्यासदेव भक्तियोग के द्वारा मनः निर्मल होने पर पूर्णपुरुष को देखे थे, एवं अपाश्रय माया को भी देखे थे। जो प्रभु के पीछे के ओर छिप कर खड़ी थी। उस माया नामक अज्ञान का प्रभाव को भी आपने देखा, ईश—माया के द्वारा सम्मोहित होकर जीव स्वयं चेतन त्रिगुणातीत होकर भी अपने को त्रिगुणात्मक ही मानने लगे।

"ईशमायाकृताञ्च जीवानां संसृतिमपश्यदित्याह— यया मायया, सम्मोहितः स्वरूपावरणेन विक्षिप्तः, परोऽपि गुणत्रयाद् व्यतिरिक्तोऽपि तत्कृतं त्रिगुणात्वाभिमानकृतमनर्थं कर्त्तृत्वादिकञ्च प्राप्नोति। अनर्थमुपशमयति योऽधोक्षजो साक्षाद्भक्तियोगः, तञ्चापश्यत्। एतत् सर्वं स्वयं दृष्ट्वा एवमजानतो लोकस्यार्थे सात्वतसंहितां श्रीभागवताख्यां चक्रे। एतदुक्तं भवति– विद्याशक्त्या मायानियन्ता नित्याविर्भूतपरमानन्द स्वरूपः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरः। तन्मायया सम्मोहितस्थिरीभूतस्वरूपस्तद्विपरीतधर्मा जीवाः। तस्य चेश्वरस्य भक्त्या लब्धज्ञानेन मोक्ष इति।"

अन्तरङ्गा शक्तिसम्पन्न मायाशक्ति प्रभाव रहित माया नियन्ता नित्याविर्भूत परमानन्दस्वरूप, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् इश्वर है। उनसे विपरीत धर्मा जी है। जीव मायामोहित है। माया से भिन्न एवं शुद्ध स्वरूप होने से भी वक्ष्यमाण रूपमें क्षेत्रज्ञता को प्राप्त करता है। अर्थात् माया के द्वारा कल्पित मनः बुद्धि

इत्यत्रोक्तं स्वरूपलक्षणं पाद्मोत्तरखण्डादिकमनुसृत्य श्रीरामानुजाचार्य्यमताचार्य्यवरेण परम-वृद्धश्रीवैष्णवसम्प्रदायगुरुणा श्रीजामातृमुनिनोपदिष्टम् । तत्र प्रणवव्याख्याने पाद्मोत्तरखण्डं (६० अ०) यथा—

"ज्ञानाश्रयो ज्ञानगुणश्चेतनः प्रकृतेः परः । न जातो निर्विकारश्च एकरूपः स्वरूपभाक् ॥
अणुर्नित्यो व्याप्तिशीलश्चिदानन्दात्मकस्तथा । अहमर्थोऽव्ययः क्षेत्री भिन्नरूपः सनातनः ॥
अदाह्योऽच्छेद्य अक्लेद्य अशोष्योऽक्षर एव च । एवमादिगुणैर्युक्तः शेषभूतः परस्य वै ॥
मकारेणोच्यते जीवः क्षेत्रज्ञः परवान् सदा । दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन ॥" इति ;

श्रीजामातृमुनिनाप्युपदिष्टं यथा—

"आत्मा न देवो न नरो न तिर्य्यक् स्थावरो न च । न देहो नेन्द्रियं नैव मनः प्राणो न नापि धीः ॥

सर्वसम्वादिनी

(ब्र०सू० २।३।३१) "पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्" इत्यत्र शङ्कर-शारीरकेऽपि—(शा० भा०) "तत् पुनरीश्वर-समानधर्मत्वं तिरोहितं सत् परमभिध्यायतस्तिमिर-तिरस्कृतेव दृक्शक्तिरोषधि-वीर्य्यादीश्वर-प्रसादादाविर्भवति" इति । श्रुतिश्च (श्वे० १।११)—

अहङ्कार चित्त रूप अन्तःकरण की विभूति-वृत्तिसमूह को अभिनिवेश के सहित देखता है, यह ही जीव का तटस्थलक्षण है। देखकर उसको महत्त्व प्रदान कर आविष्ट होता है, वह जीव नाम से अभिहित होता है। निज शरीरद्वय लक्षण क्षेत्र का ज्ञाता होने से उसे क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं। इससे जीव निरन्तर भगवद् वहिर्मुख कर्म करता रहता है। मायिक अन्तःकरण रूप विभूतिसमूह अनादि काल से अनुगत भाव से विद्यमान है। जाग्रत-स्वप्न अवस्था में भी विभूतिसमूह आविर्भूत होते हैं। सुषुप्ति में तिरोहित होकर रहते हैं।

क्रमसन्दर्भः—"यः शुद्धोऽपि मायातः परोऽपि मायरचितस्य वक्ष्यमाण सर्वक्षेत्रज्ञस्य मायया कल्पितस्य मनसः अन्तःकरणस्यैताः प्रसिद्धा विभूतीर्वृत्तीर्विचष्टे—विशेषेण पश्यति, पश्यन् तत्राविष्टो भवति, स खल्वसौ जीव नामा स्वशरीरद्वयलक्षणक्षेत्रज्ञज्ञातृत्वात् क्षेत्रज्ञ उच्यते' इत्यर्थः। तदुक्तम् भा० १।७।५ "यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्" इत्यादि। तस्य मनसः। कीदृशतया मायारचितस्य ? तत्राह,—जीवस्य—जीवोपाधितया जीव तादात्म्येन रचितस्य, ततश्च तत्तयोपचर्य्यमाणस्येत्यर्थः। ततश्च कीदृशस्य ? अविशुद्धं भगवद्वहिर्मुखं कर्म करोतीति तादृशस्य, कीदृशी विभूतीः ? नित्या अनादित एवानुगताः। तत्र च कया कीदृशीरित्यपेक्षायामाह, जाग्रत्स्वप्नयोराविर्भूताः सुषुप्तौ तिरोभूताश्चेति।"१२।

यह है जीव का कार्य्यरूप तटस्थ लक्षण, स्वरूपलक्षण का वर्णन पाद्मोत्तरखण्ड प्रभृति में है, उसके अनुसार श्रीरामानुजाचार्य्यमताचार्य्यवर्य्य परम वृद्ध श्रीवैष्णव सम्प्रदायगुरुवर श्रीजामातृ मुनि कर्त्तृक उपदिष्ट पद्यसमूह से प्राप्त है। उक्तोपदेशसमूह के मध्य में प्रणव व्याख्या के अवसर पर पाद्मोत्तर खण्ड (६० अ०) से उद्धृत श्लोक इस प्रकार है—

जीव,—ज्ञानाश्रय, ज्ञानगुण, चेतन, प्रकृत्यतीत, अज, विकार शून्य, एकरूप, स्वरूपस्थित। अणु, नित्य, व्याप्तिशील, चिदानन्दस्वरूप, अहमर्थ, अविनाशी, क्षेत्री, भिन्नरूप, सनातन, अदाह्य, अच्छेद्य, अक्लेद्य, अशोष्य, अक्षर इत्यादि गुणयुक्त, परमेश्वर के शेषभूत (अंशरूप) है। अ, उ, म, वर्णत्रय युक्त है। प्रणव है, उक्त प्रणवान्तर्भूत "म" कार का ही अर्थ जीव है। वह क्षेत्रज्ञ एवं सदा परमात्मा के अधीन है। उक्त जीव श्रीभगवान् का ही नित्य दास है, अपर किसी का भी दास नहीं है।

श्रीजामातृमुनि का उपदेश—"आत्मा, देव नहीं है, मनुष्य, तिर्य्यक्, पशु, पक्षी, नहीं है, स्थावर

न जड़ो न विकारी च ज्ञानमात्रात्मको न च। स्वस्मै स्वयंप्रकाशः स्यादेकरूपः स्वरूपभाक्।
चेतनो व्याप्तिशीलश्च चिदानन्दात्मकस्तथा॥
अहमर्थः प्रतिक्षेत्रं भिन्नोऽणुर्नित्यनिर्मलः। तथा ज्ञातृत्व-कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वनिजधर्म्मकः॥
परमात्मैकशेषत्वस्वभावः सर्वदा स्वतः॥" इति।

श्रीरामानुजभाष्यानुसारेण व्याख्या चेयम्। तत्र देवादित्वं निरस्तमेवास्ति तत्त्वसन्दर्भे

(भा० ११।३।३९)"अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु, प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते, कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः"॥३९॥

सर्वसम्वादिनी

"ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः, क्षीणैः क्लेशैर्जन्म-मृत्यु-प्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे, विश्वैश्वर्यं केवलमाप्तकामः" ॥७॥ इत्येवमाद्या;
"बलमानन्दमोजश्च सहो ज्ञानमनाकुलम्। स्वरूपाण्येव जीवस्य व्यज्यन्ते परमाद्विभोः" ॥८॥

नहीं है, शरीर नहीं है, इन्द्रिय नहीं है, मनः, प्राण, बुद्धि नहीं है। जड़, विकारी, ज्ञानमात्र स्वरूप नहीं है। जीव स्वयं प्रकाश है, एकरूप, स्वरूपविशिष्ट है, चेतन, व्याप्तिशील, चिदानन्दरूप, अहमर्थ, प्रतिक्षेत्र भिन्न, सूक्ष्म, नित्य निर्मल, तथा ज्ञातृत्व भोक्तृत्व कर्त्तृत्व निज युक्त है। परमात्मा का अंशरूप एकशेष स्वभाव में सर्वदा विद्यमान है।"

श्रीरामानुज भाष्य के अनुसार ही उक्त व्याख्या है। तत्त्वसन्दर्भ के ५३ अनुच्छेद में जीवस्वरूप प्रतिपादन के समय शुद्ध जीवस्वरूप का प्रदर्शन हुआ है, एवं उसका देवादि स्वरूप भी प्रत्याहृत हुए हैं।

इन्द्रियादि लय होने पर भी निर्विकार आत्मा की उपलब्धि होती है। दृष्टान्त द्वारा दर्शाते है—"अण्डेषु पेशिषु" (भा० ११।३।३९) "जिस प्रकार प्राण—अण्डज, जरायुज, उद्भिज्ज एवं स्वेदज इन चार प्रकार भेदयुक्त शरीर में अवस्थित होकर भी स्वयं अविकृत रूपसे जीव का अनुवर्त्तन करता रहता है, उस प्रकार सुषुप्ति काल में इन्द्रियगण एवं अहङ्कार विलीन होने पर निज निज व्यापार से विरत होने पर विकार के हेतुभूत लिङ्गशरीराश्रय नहीं रहता है, उस समय कूटस्थ आत्मा अविकारी रूपमें विद्यमान है। सुषुप्ति से उत्थित होने से सुषुप्ति साक्षी आत्मा का अनुभव हम सब को होता है।

टीका—"दृष्टान्तं विवृण्वन् इन्द्रियादि लयेन निर्विकारात्मोपलब्धिं दर्शयति अण्डेष्विति,—पेशिषु जरायुजेषु, तरुषु उद्भिज्जेषु। अविनिश्चितेषु स्वेदजेषु। उपधावति—अनुवर्त्तते। एवं दृष्टान्ते निर्विकारत्वं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकेऽपि दर्शयति। कथम्? तदेव आत्मा सविकार इव प्रतीयते यद-यदा जागरे इन्द्रियगणः, यदा च स्वप्ने तत् संस्कारवान् अहङ्कारः, यदा तु प्रसुप्तं, तदा तस्मिन् प्रसुप्ते इन्द्रियगणे सन्ने लीने अहमि, अहङ्कारे च सन्ने कूटस्थो निर्विकार एवात्मा। कुतः। आश्रयमृते लिङ्गशरीरमुपाधिं बिना। विकार हेतोरुपाधेरभावादित्यर्थः।

ननु अहङ्कारपर्य्यन्तस्य सर्वस्य लये शून्यमेव अवशिष्येत तत् कथं तदा कूटस्थ आत्मा? अत आह तदनुस्मृति र्नः। तस्य दर्शनस्पर्शनादिविशेषज्ञानशून्यस्य सुखात्मनः सुषुप्ति साक्षिणः स्मृतिर्नोऽस्माकं भवति। एतावन्तं कालं सुखमहं सुप्तो न किञ्चिदवेदिषमिति। अतोऽननुभूतस्य अस्मरणात्, अस्यैव सुषुप्तावात्मानुभवः, विषयसम्बन्धाभावात् तु न स्पष्ट इति भावः। तथा च श्रुतिः—यद्वैतन्न पश्यति पश्यन् वै तद् द्रष्टव्यं न पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते इति" ।३९।

उक्त श्लोकस्थ अण्ड शब्द का अर्थ—अण्डज, पेशि का अर्थ—जरायुज, तरु शब्द का अर्थ—उद्भिज्ज, अविनिश्चित का अर्थ है—स्वेदज। उपधावन शब्द से अनुवर्त्तन, जानना होगा। प्राणवायु—उक्त अण्डजादि चतुर्विध शरीर में एक रूपसे विद्यमान होने के कारण निर्विकार है, यह दृष्टान्त है। दार्ष्टान्तिक

के द्वारा जीवात्मा का निर्विकारत्व स्थापन करते हैं। जाग्रत अवस्था में इन्द्रियगण निज निज विषय ग्रहण में उन्मुख रहती हैं। स्वप्नावस्था में स्थूल देह निद्रित होने से भी सूक्ष्म देह जाग्रत रहता है। उस समय जाग्रह देह के संस्कारयुक्त अहङ्कार से जीवात्मा सविकार अनुभूत होता है। वस्तुतः जीवात्मा का विकार नहीं है, विकार बुद्धि तत्त्व का है। जिस समय स्थूल सूक्ष्म शरीरद्वय सुप्त हो जाते हैं, इन्द्रियगण एवं अहङ्कार भी लीन हो जाते हैं, उस समय एकमात्र आत्मा ही निर्विकार रूपमें रहता है। अर्थात् उस विकार जनक उपाधिरूप लिङ्ग शरीर की यथावत् स्थित नहीं रहती है। सुतरां उस समय स्वाभाविक ज्ञानोदय होता है, जिससे परमात्मा का अनुभव होता है। जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में वह ज्ञान मनोवृत्ति विशिष्ट होता है। अतः उसे विषय प्रकाशक कहते हैं। आत्मोपलब्धि का कारण नहीं। अतः सुषुप्तावस्था में आत्मा का निर्विकारत्व सिद्ध हुआ। किन्तु स्थूल सूक्ष्म उभय देह का सम्पर्क न होने से भी मुक्ति जीव की नहीं होती है। कारण सक्रिय सम्बन्ध न रहने पर भी वासना संस्कार सूक्ष्म रूपमें आत्मा में होने से ही मुक्ति नहीं होती है। अहङ्कार पर्य्यन्त समस्त लोप होने पर 'शून्य' अवशेष रहना स्वाभाविक है। कूटस्थ आत्मा को पृथक् रूपसे मानने की आवश्यकता ही क्या है ? उत्तरमें कहते हैं,—प्राकृताहङ्कार लीन होने पर भी जीव का स्वरूप सम्बन्ध अहं प्रत्यय देदीप्यमान रहता है। जिससे निद्रा भङ्ग होने के पश्चात् जीवात्मा सब कुछ ठीक ठीक कर लेता है। और "मैं सुखपूर्वक निद्रित था, कुछ भी नहीं जान सका" इस प्रकार सुषुप्ति साक्षी का अनुभव सुस्पष्ट रूप से होता है।

दूसरी शङ्का यह है—आत्मा को उपलब्धि मात्र कहा गया है। किन्तु आत्मा में उपलब्धित्व धर्म किस प्रकार रह सकता है ? उत्तर— सूर्य्यादि प्रकाशशील वस्तु के समान ही आत्मा में उपलब्धित्व धर्म है। अर्थात् सूर्य्यादि स्वप्रकाश वस्तु है, उनकी प्रकाश धर्मादि की उपलब्धिमात्र जिस प्रकार है, उसी प्रकार उपलब्धिमात्र आत्मा की निजाश्रय स्वरूप में उपलब्धि है, इसका अनुभव स्वतः ही होता है।

वृहदारण्यक श्रुति में उक्त है—"वह प्रसिद्ध दर्शक के समान विद्यमान विषय को नहीं देखता है। वह द्रष्टव्य वस्तु को देखकर भी देखता नहीं, उस द्रष्टा पुरुष की दृष्टि का कभी विपरिलोप नहीं होता है।"

सुषुप्ति काल में आत्मा कुछ भी नहीं देखता है, कारण—उस समय द्रष्टव्य विषय नहीं रहता है। अतः साक्षी—परमात्मा एवं साक्ष्य जीवात्मा विभाग से तृतीय तर्क, एवं दुःखी एवं प्रेम स्पद विभाग से चतुर्थ तर्क उपस्थित होता है। अर्थात् जीवात्मा दुःखी एवं परमात्मा परम प्रेमास्पद है। इस प्रकार तर्क दोनों में वास्तव भेद का साधक है।

सुषुप्ति अवस्था में देह एवं इन्द्रियादि का लय होना,— अद्वयवादियों का सिद्धान्त है। उस मत से ही पूर्वोक्त रूप कथन हुआ। वस्तुतः पुनः पुनः इन्द्रियादि के लय एवं व्युत्थान विषयमें कोई प्रमाण नहीं है। सुतरां मूल श्लोकस्थ 'सन्ने' इस शब्द का 'क्रिया रहित होना' ऐसा अर्थ ही समीचीन होगा। कारण आत्म मनः संयोग के विना इन्द्रियादि में कोई क्रिया नहीं हो सकती है। सुषुप्ति अवस्था में आत्मा के सहित मनः का संयोग नहीं होता है। अतः देहेन्द्रियादि क्रिया हीन होते हैं। मूल में "अहमि प्रसुप्ते" इस पद से अन्तःकरण एवं मन को जानना होगा। सुषुप्ति अवस्था में मन "पुरीतति" नामक नाड़ी में प्रविष्ट होकर निश्चल होता, उस समय मन के सहित आत्मा का संयोगाभाव है। अतः ज्ञान सुखादि रूप मनोवृत्ति की उत्पत्ति नहीं होती है। केवल स्वरूपानुभव ही उस समय होता है। क्योंकि उस सुखानुभव का बाधक मायाकृत आवरण उस समय नहीं रहता है।

"अन्वयव्यतिरेकाख्यस्तर्कः स्याच्चतुरात्मकः। आगमापायि-तदवधिभेदेन प्रथमो मातः।
दृष्टदृश्यविभागेन द्वितीयोऽपि मतस्तथा।
साक्षिसाक्ष्य विभागेन तृतीयः सम्मतः सताम्।
दुःखि प्रेमास्पदत्वेन चतुर्थः सुखबोधकः।"

इत्यनेन देहादित्वं निरस्यन्नाह, (भा० ११।१०।८)—

(१९) "विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद्देहादात्मेक्षिता स्वदृक् ।
यथाग्निर्दारुणो दाह्याद्दाहकोऽन्यः प्रकाशकः" ॥८॥

विलक्षणत्वे हेतुः—ईक्षिता तस्य तस्य द्रष्टा प्रकाशकश्च, स्वयन्तु स्वदृक् स्वप्रकाश इति ॥ श्रीभगवान् ॥

सर्वसम्वादिनी

इति (ब्र०सू० २।३।३१) माध्वभाष्ये दृष्टा गोपबनश्रुतिश्च । यदि च तेषां जीवेऽनभिव्यक्तच्यभिव्यक्तिव्यवस्था न कार्य्या, तदा तेषां नित्यमेव तस्मिन्नुपलब्धिः स्यान्नित्यमेव वा न स्यादिति दोष आपतेत् । अन्येषां

पूर्वोक्त चतुर्विध तर्क को प्रमाणित करते हैं, अभियुक्त की उक्ति से—अन्वय व्यतिरेक नामक तर्क चतुर्विध है । आगम—जन्म, अपाय—नाश, दोनों अवस्थाओं के अतीत अवस्था भेद से प्रथम तर्क है । द्रष्टा दृश्य भेद से द्वितीय तर्क है । साक्षी एवं साक्ष्य भेद से तृतीय तर्क है । दुःखी प्रेमास्पद भेद से चतुर्थ तर्क है । जिसका बोध अनायास होता है ।

"ननु यदि सुषुप्तौ निर्विकारानुभवो भवेत्, कथं पुनरपि संसारः स्यात् ? अविद्या तत् संस्काराणां विद्यमानत्वादिति चेत्, भवतु नाम । केवलज्ञानिनां तु ज्ञानेनाहङ्कारपर्य्यन्त लये महत्तत्त्वप्रधानयोर्लयः कथं स्यात् ? सुषुप्तिवत् प्रयत्नान्तरासम्भवादाश्रयाव्याघाताच्च ? तदेवं सति शुद्धत्वम् पदार्थस्य जीवस्याप्युपलब्धेरसम्भवात् । किमुत तत् पदार्थस्य श्रीभगवत इति ? सत्यम् । तत एवेदमुच्यते, इत्याह, यर्हीति यदा पुरुषार्थचतुष्टयैषणां विहायाब्जनामचरणैषणा प्राप्तीच्छा यस्याम्, तया भक्त्या भक्ति प्रभावेन चेतो मलानि विधमेत्, तदा तस्मिन् चित्ते तत् प्रभावेणैवात्मनो जीवस्य तत्त्वमाश्रयः श्रीभगवानुपलभ्यते, किमुतात्ममात्रमित्यर्थः ।"

सुषुप्ति में यदि निर्विकारात्मानुभव होता है, तब सुषुप्ति के पश्चात् पुनर्वार संसार कैसे होता है ? अविद्या एवं अविद्या संस्कार रहने से संसार होता है । ऐसा हो, तथापि केवल स्वरूपानुसन्धानरत ज्ञानियों का अहङ्कार पर्य्यन्त लय होने से महत्तत्त्व प्रधान का लय कैसे होगा ? सुषुप्ति के समान प्रयत्नान्तर का अभाव से एवं आश्रय का अव्याघात् वैसा सम्भव नहीं ? वैसा होने से शुद्ध त्वम् पदार्थरूप जीव की भी उपलब्धि नहीं होगी । तत् पदार्थ श्रीभगवान् की उपलब्धि की वार्त्ता ही कहाँ है ? सत्य है, तज्जन्य ही इस प्रकार कहते हैं—जिस समय पुरुष धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप पुरुषार्थ की एषणा को छोड़कर केवल पद्मनाभ की चरण प्राप्ति की इच्छा से भक्ति करता है, तब उस भक्ति प्रभाव से आत्मतत्त्व-जीवतत्त्व का एवं जीव तत्त्व का आश्रय श्रीभगवत्तत्त्व का साक्षात्कार होता है, एवं मुक्त होता है ।

आत्मा देहादि से विलक्षण है, देहादि रूप नहीं है,- देहादि निरास पूर्वक विलक्षण रूपमें आत्मस्वरूप का कथन श्रीभगवान् भा० ११।१०।८ श्लोकमें कर रहे हैं,—देहादि व्यतिरिक्त आत्मा नामक पदार्थ क्या है, जिसका ऐक्य ज्ञान से सर्वत्र समबुद्धि होगी ? उत्तर में कहते हैं—स्वयं प्रकाश आत्मा चेतन पृथक् हैं । जिस प्रकार दाहक एवं प्रकाशक वह्नि दाह्य काष्ठादि पदार्थ से भिन्न है, तद्रूप जानना होगा ।

जीव शरीर से विलक्षण है, उसमें कारण यह है कि—जीवदेह का ईक्षिता उस उस अवस्था का द्रष्टा एवं प्रकाशक है, किन्तु स्वयं जीव स्वदृक् स्वप्रकाश है ।

"अहो कोऽसौ देहादिव्यतिरिक्त आत्मा, यस्यैकचादर्थः सर्वेषु समः स्यात्, तमाह—विलक्षण इति,—द्वेधा वैलक्षण्यं दर्शयति, ईक्षिताः स्वदृगिति । द्रष्टा हि दृश्याद्विलक्षणः स्व-प्रकाशश्च जड़ाद्विलक्षणः । तयोरन्यत्वे दृष्टान्तः, यथाग्निर्दाहकः प्रकाशकश्च दाह्यात् प्रकाश्याच्च दारुणः काष्ठादन्यस्तद्वदिति ।८।

यह उक्ति श्रीभगवान् की है ॥१९॥

२० । जड़त्वं निरस्यन्नाह (भा० ११।१३।२७)—

(२०) "जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तञ्च गुणतो बुद्धिवृत्तयः ।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः" ॥२७॥

या तु (भा० ११।१३।२८) 'मयि तुर्य्ये स्थितो जह्यात्' इत्यादौ परमेश्वरेऽपि तुर्य्यत्वप्रसिद्धिः, सान्यथैव (भा०दी० ११।१५।१६)—

"विराट् हिरण्यगर्भश्च कारणञ्चेत्युपाधयः ।
ईशस्य यत्त्रिभिर्हीनं तुरीयं तत्पदं विदुः" ॥१६॥

इत्याद्युक्तेर्वासुदेवस्य चतुर्व्यूहे तुर्य्यकक्षाक्रान्तत्वाद्वा ॥ श्रीभगवान् ॥

सर्वसम्वादिनी

प्राकृतानां देहादि-वस्तूनां तत्र तत्र प्रवृत्तौ जड़त्वात् प्रतिबन्ध एव वा स्यात्;—जीवस्वरूप-गुणामनने सति प्रवृत्तिहेत्वभावात् । तस्मात् स्वेन जीवोऽणुः, स्वगुणेन तु देहव्यापीति स्थितम् ।

अत्र श्रीरामानुजपादास्तु स्वयमेवं व्याचक्षते ;—(ब्र०सू० १।१।१—श्रीभाष्ये ६५तम अनु०) "यथैकमेव

जीव का जड़त्व निरास पूर्वक कहते हैं—(भा० ११।१३।२७) जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, बुद्धि की वृत्ति है, किन्तु जीव की स्वाभाविक वृत्ति नहीं है। ये सब सत्त्व रजः तमोगुण के कार्य्य मात्र हैं, जीव उसके साक्षी रूप में वर्त्तमान है, सुतरां जीव सब से भिन्न है।

"ननु जाग्रदाद्यवस्थातः कुतः कूटस्थत्वरूपता ? तत्राह—जाग्रज्जागरः, स्वप्नः सुषुप्तञ्चेति बुद्धेरेता वृत्तयः। नतु जीवस्य। ताश्च न स्वाभाविक्यः। किन्तु सत्त्वाज्जागरणं विद्यात्, रजसा स्वप्नमादिशेत्। प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु सन्ततमिति वक्ष्यमाण क्रमेण गुणत एव। जीवस्तु विलक्षणस्तदवस्थारहित एव विनिश्चितः। कुतः? तासां साक्षित्वेन"।२७।

भा० ११।१३।२८ में कथित है—"यर्हि संसृति बन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः ।
मयितुर्य्ये स्थितो जह्यात् त्यागस्तद्गुणचेतसाम् ॥२८

टीका—ननु तर्हि कथमहं जानामीत्यादि प्रतीति स्तत्राह—यर्हि यस्मात् सम्यक् सृतिः सरणमनयेति संसृति बुद्धिस्तया बन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तीर्ददाति। तस्मान् मयि तुर्य्ये स्थितः सन् इमं संसृतिबन्धं जह्यात्। तत् तदा गुणचेतसां गुणानां चेतसश्चान्योन्यं त्यागो भवति।२८।

जिस समय जीव, तुरीय चैतन्यरूप मुझ में मनः स्थिर करके बुद्धिवृत्ति रूप बन्धन को त्याग करेगा, उस समय गुण एवं चित्त का परस्पर संयोग भी परित्यक्त होगा। इत्यादि प्रमाण से परमेश्वर में भी तुर्य्य संज्ञा की प्रसिद्धि होती है। उक्त संज्ञा अन्य प्रकार से भी होती है। भा० भावार्थ दीपिका ११।१५।१६ में लिखित है—"विराट् हिरण्यगर्भश्च कारणञ्चेत्युपाधयः। ईशस्य यत्त्रिभिर्हीनं तुरीयं तत्पदं विदुः॥"

विराट् क्षीराब्धिशायी, हिरण्यगर्भ—गर्भोदकशायी, कारण—कारणार्णवशायी अर्थात् अनिरुद्ध, प्रद्युम्न सङ्कर्षण ईश्वर की उपाधि हैं। अर्थात् एकपाद विभूति में सृष्टि कार्य्य के निमित्त त्रिविध रूप धारण करते हैं, त्रिविध रूप भिन्न जो रूप चतुर्व्यूह के मध्य में श्रीवासुदेव आख्या से विभूषित हैं। उनको तुरीय कहा जाता है, वस्तुतः तुरीय संज्ञा आपेक्षिक संज्ञा है, अतएव चरम तुरीयत्व श्रीकृष्णचन्द्र में पर्य्यवसित है। "श्रीकृष्णस्तु भगवान् स्वयं" उक्ति की सार्थकता उससे ही सम्भव है।

श्रीधरस्वामिपाद की टीका के अनुसार—विराट् हिरण्यगर्भ एवं कारण—ईश्वर की उपाधि है, जो एतत् उपाधित्रय विहीन हैं, उनको तुरीय कहा जाता है। इस प्रकार उक्ति का कारण, अथवा सृष्टितत्त्व

२१। विकारित्वं निरस्यन्नाह (भा० ११।७।४८)—

(२१) "विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः।
कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना" ॥४८॥

चन्द्रस्य जलमयमण्डलत्वात् कलानां सूर्य्यप्रतिच्छविरूपज्योतिरात्मकत्वाद्यथा कलानामेव जन्माद्या नाशान्ता भावाः, न तु चन्द्रस्य, तथा देहस्यैव ते भावा अव्यक्तवर्त्मना कालेन भवन्ति, न त्वात्मन इत्यर्थः॥ श्रीदत्तात्रेयो यदुम्॥

सर्वसम्वादिनी

तेजोद्रव्यं प्रभाप्रभवद्रूपेणावतिष्ठते, तथैवमेव चैतन्यं तत्सद्रूपेणातिष्ठते। यद्यपि प्रभा द्रव्यगुणभूता, तथापि तेजोद्रव्यमेव; न शौक्लयादिवद्गुणः। स्वाश्रयादन्यत्रापि वर्त्तमानत्वाद्रूपवत्त्वाच्च शौक्लयादि-वैधर्म्यात् प्रकाशवत्त्वाच्च तेजोद्रव्यमेव, नार्थान्तिरम्। प्रकाशवत्त्वञ्च,—स्व-स्वरूपस्यान्येषां प्रकाशकत्वात्;

प्रकरण में श्रीवासुदेव ही चतुर्व्यूह की चरम सीमा है। भा० ११।१५।१६ में उक्त है—

"नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दिते। मनो मय्यादधद् योगीमद्धर्मावशितामियात्॥"

इसके पहले—"विष्णौ त्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत् कालविग्रहे। स ईशित्वमवाप्नोति क्षेत्रज्ञक्षेत्रज्ञचोचनाम्॥"१५

टीका—त्र्यधीश्वरे त्रिगुणमायानियन्तरि अतएव कालविग्रहे, आकलयितृरूपे अन्तर्य्यामिणि, ईशित्वं विशिनष्टि। क्षेत्रज्ञानां जीवानां क्षेत्राणां तदुपाधीनाञ्च चोदनाप्रेरणं, नतु विश्वसृष्ट्यादिकर्त्तृत्वलक्षण-मित्यर्थः।१५।

द्वितीय श्लोक की टीका—तुरीयाख्ये। विराट् हिरण्यगर्भश्च कारणञ्चेत्युपाधयः, ईशस्य यत्त्रिभिर्हीनं तुरीयं तत्पदं विदुः। रित्येव लक्षणे। ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य वीर्य्यस्य यशसः श्रियः, ज्ञानवैराग्योश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना तद्वति भगवच्छब्दिते।१६। यह उक्ति श्रीभगवान् की है॥२०॥

जीव विकारी नहीं है, जीव का विकारित्व संशय निरसन हेतु कहते हैं,—भा० ११।१।४८में उक्त है—जन्मादि षड् विकार—अस्ति, जायते, वर्द्धते, विपरिणमते अपक्षीयते, नश्यति रूप विकार जीव में नहीं है, जीव चेतन एवं अपरिणामी है। किन्तु उक्त विकारसमूह शरीर के ही हैं, चन्द्र दृष्टान्त से उसको दिखाते हैं। कृष्णपक्ष में चन्द्र का ह्रास होता है, वह भी कला के नियम से, किन्तु वह चन्द्र का नहीं है, चन्द्र में आरोपित है, सूर्य्यकिरण पतन के तारतम्य से प्रकाश एवं अप्रकाश होता, चन्द्र अविकृत रूपमें रहता है। उस प्रकार जन्म से आरम्भ कर मरण पर्य्यन्त विकार भावसमूह देह के ही हैं, आत्मा के नहीं।

टीका—आत्मनो जन्मादि षड्विकाराभावश्चन्द्रदृष्टान्तेन सम्भावि इत्याह—विसर्गाद्या इति। विसर्गो जन्म, श्मशानं नाशः। तत्रेयं ज्योतिः शास्त्र प्रक्रिया। आप्यमण्डलं चन्द्रस्तेजोमयं मण्डलमादित्यस्तयोरेक नक्षत्रावस्थाने चन्द्रो न दृश्यते। चक्षुषा आदित्यमण्डलेन समदेशस्थितेन व्यवधानात्। सा अमावस्या। अथ षष्टि घटिकाभिश्चन्द्रो नक्षत्रान्तरं गच्छति, आदित्यस्तु त्रयोदशभिरहोरात्रैः। अतः प्रतिपदमारभ्य विषमस्थितस्यादिमण्डलस्य पञ्चदशः। पञ्चदशो भाग आप्य मण्डले प्रतिविम्वितो दृश्यते साकलेत्युच्यते। एवं पञ्चदशेऽह्नि त्रयोदशभिर्नक्षत्रैरन्तरमिति राशिचक्रस्य सप्तविंशतिनक्षत्रात्मकस्य मध्ये सम्मुखौ यदा चन्द्रादित्यौ तिष्ठतस्तदा सम्पूर्णं प्रतिविम्वं भूच्छाया लाच्छितं दृश्यते सा पूर्णिमा। तस्यामावस्या प्रतिविम्वेन सह षोड़शकलश्चन्द्र उपचर्य्यते। ततः पुनः प्रतिपदमारभ्य मण्डलयोर्विषमीभावात् कलाह्रासः। तत्र यथा कलानामेवोत्पत्त्यादयो नाप्यमण्डलस्य तथात्मनोऽपीत्याह कलानामिवेति।४८।

सूर्य्य ज्योतिः पतन के अनुसार चन्द्रमण्डल के प्रकाश-अप्रकाश जिस प्रकार होते रहते हैं, ज्योतिः स्वरूप प्रयुक्त, यद्रूप कलासमूह का ही जन्मादि नाशान्त भाव है, चन्द्र का नहीं, तद्रूप देह का ही जन्मादि

२२। "ज्ञानमात्रात्मको न च" इति, किन्तर्हि ज्ञानमात्रत्वेऽपि ज्ञानशक्तित्वं प्रकाशस्य प्रकाशनशक्तित्ववत्तादृशत्वमपि; (भा० ११।३।३८)—

"नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ, न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं, प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्" ॥३८॥

सर्वसम्वादिनी

अस्यास्तु [प्रभायास्तु] गुणत्व-व्यवहारो नित्यतदाश्रयत्व तच्छेषत्व-निबन्धनः। न चाश्रयावयवा एव विशीर्णाः प्रचरन्तः प्रभेत्युच्यते, मणि-द्युमणि-प्रभृतीनां विनाशप्रसङ्गात्।"

तस्माद्यथा दीपादेरव्याभिचारि-प्रभा गुणवत्वाद्गुणित्व-व्यपदेशस्तथा जीवस्यापि [यतः प्राज्ञस्याप्यतः]

नाशान्त भाव का संघटन कालकृत है। किन्तु आत्मा में उक्त भावसमूह नहीं है। जलमय मण्डल रूप में चन्द्र की प्रसिद्धि प्राचीन काल में रही। यह उक्ति श्रीयदु के प्रति श्रीदत्तात्रेय की है ।।२१।।

श्रीजामातृमुनि के वाक्य में—"न जड़ो न विकारी च ज्ञानमात्रात्मको न च।
स्वस्मै स्वयं प्रकाशः स्यादेकरूपः स्वरूपभाक्॥
चेतनो व्याप्तिशीलश्च चिदानन्दात्मकस्तथा।"

"जीव ज्ञानामात्रात्मक नहीं है", उक्त है, उसका विश्लेषण पूर्वक समाधान करते हैं—जीव ज्ञानमात्रात्मक नहीं है, कथन का तात्पर्य्य क्या है? कहते हैं,— प्रचुर प्रकाशक स्वरूप सूर्य्य में जिस प्रकार स्वपर प्रकाशकत्व धर्म अक्षुण्ण है, उस प्रकार जीव ज्ञानमात्र होकर भी ज्ञातृत्व शक्तिमान् है। जिस प्रकार प्रकाश में स्व पर प्रकाशन शक्ति होती है, उस प्रकार जानना होगा।" इस विषय का सविशेष वर्णन भा० ११।३।३८ में है—"नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः।
निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवित्तमाः॥"

इस प्रश्न के उत्तर में श्रीपिप्पलायन निमिमहाराज को कहे थे,- ब्रह्म ही श्रीनारायण है, "वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।" उनके तीन नाम हैं, ब्रह्म परमात्मा, भगवान्। समस्त विश्व भगवान् नारायण में आश्रित हैं, एवं स्वयं नारायण स्वरूप शक्ति में महीयान् हैं। आप विकारी नहीं हैं, आपका अंश जीव भी विकारी नहीं है। आत्मा का जन्म मृत्यु वृद्धि क्षय रूप विकार नहीं है। कारण—आत्मा, विनाशशील वस्तु का द्रष्टा है, एवं सर्वत्र सर्वदा नित्य ज्ञानात्मक होकर भी ज्ञानगुणसम्पन्न है। जिस प्रकार ज्ञान, इन्द्रिय द्वारा अनेक प्रकार होता है। किन्तु प्राण तन्मध्य में अवस्थित होकर भी अविकारी है, तद्रूप जानना होगा। तत्त्वसन्दर्भ में प्रस्तुत विषय का विश्लेषण निम्नोक्त रूप है—

"आत्मा शुद्धो जीवः, न जजान न जातः, जन्माभावादेवतदनन्तर अस्तिता लक्षणो विकारो नास्ति। नैधते न वर्द्धते, वृद्ध्यभावादेव विपरिणामोऽपि निरस्तः, हि—यस्मात्, व्यभिचारिणां, आगमापायिनां बालयुवादिदेहानां देवमनुष्याद्याकार देहानां वा, सवनवित्—तत्तत् कालद्रष्टा। नह्यवस्थावतां द्रष्टा तदवस्थो भवतीत्यर्थः। ननु निरवस्थः कोऽसावात्मा? अत आह—उपलब्धिमात्रं ज्ञानैकरूपम्। कथम्भूतम्? सर्वत्र देहे शश्वत् सर्वदा अनुवर्त्तमानमिति।

ननु नीलज्ञानं नष्टं पीतज्ञानं जातमिति प्रतीते र्न ज्ञानस्य अनपायित्वमत आह— इन्द्रियबलेनेति, सदेव ज्ञानम्, इन्द्रियबलेन विविधं कल्पितम्। नीलाद्याकारा वृत्तय एव जायन्ते नश्यन्ति च न ज्ञानमिति भावः। व्यभिचारिषु अव्यभिचारे दृष्टान्तः प्राणो यथेति। अयमागमापायि तदवधि भेदेन प्रथमस्तर्कः, द्रष्टृदृश्य-भेदेन द्वितीयोऽपि तर्को ज्ञेयः।

आत्मा—शुद्ध, जीव—जन्म ग्रहण नहीं करता; जन्म के अभाव से जन्म के अनन्तर प्राप्त अस्तिता

इत्यनेन तत्त्वसन्दर्भ एव दर्शितम्। अत्र उपलब्धिमात्रत्वेऽपि सवनवित्त्वेनोक्तेः स्पष्टमेव ताद्दशज्ञानशक्तित्वम्। अतएव (भा० ५।११।१२) "शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्त्तुः" इत्युक्तम्। प्रकारान्तरेणापि तदाह (भा० ३।२६।५)—

(२२) "गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः।
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया ।।५।।

सर्वसम्वादिनी

ताद्दशत्वं युक्तमतः स्वयमणोर्जीवस्य तेन गुणेनैव विभुत्वम्। स च चैतन्यगुणः स्वयमविच्छिन्न एव सङ्कोच-विकाशावविद्या-कर्म-संज्ञाख्यया शक्त्या भजतीति।

अत्राद्वैत-वादिनामपि परिच्छेदो वा प्रतिविम्बो वाभासो वा जीवः स्यात् – त्रिधाप्यविभुरित्येवायाति।

लक्षण विकार भी जीव में नहीं है। वृद्धि नहीं है, वृद्धि का अभाव निबन्धन परिणाम भी नहीं है, कारण आगमापायि ह्रास-वृद्धिरूप धर्मसमूह, बाल-युवादि, देव-मनुष्यादि धर्मसमूह शरीर के होते हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा उन उन समस्त समयों का द्रष्टा है, द्रष्टा एवं द्दश्य में अन्तर होता है। वह किस स्वरूप का है? उत्तर, – ज्ञान स्वरूप है, उपलब्धि मात्र है, समस्त देह में निज शक्ति से व्याप्त होकर रहता है। नील ज्ञान नष्ट, पीत ज्ञान उत्पन्न, इस प्रकार प्रतीति से ज्ञान नित्य नहीं होता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप होकर नित्य कैसे होगा? वह अनपायी है, जिस प्रकार प्राण – विविध इन्द्रिय वेद्य ज्ञानसमूह में रह कर अविकृत होता है। नील-पीतादि आकार वृत्ति नष्ट होती है, ज्ञान नष्ट नहीं होता है, तद्रूप आत्मा नित्य है।

आगमापायि तदवधि भेदेन प्रथम तर्क। द्रष्टृ द्दश्य भेद से द्वितीय तर्क की अवतारणा यहाँ पर है। व्यभिचारियों में रह कर भी अव्यभिचारी रहने का द्दष्टान्त के निमित्त "प्राण" कहा गया है।

यहाँ उपलब्धिमात्र आत्म रूप का कीर्त्तन होने से भी "सवनवित्" तत्तत् काल द्रष्टा कहने से सुस्पष्ट ही जीव में ज्ञान शक्ति है, इसकी प्रतीति होती है। अतएव श्रीमद्भागवत के ५।११।१२ में उक्त है—

"क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूती र्जीवस्य माया रचितस्य नित्याः।
आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्ध कर्त्तुः ।।१२

तत्र परमात्मानं जगद्‌गत जीवनिरूपणपूर्वकं निरूपयति क्षेत्रज्ञ इति द्वाभ्याम्। यः शुद्धोऽपि मायातः परोऽपि मायारचितस्य वक्ष्यमाण सर्वक्षेत्रज्ञस्य मायया कल्पितस्य मनसोऽन्तःकरणस्यैताः प्रसिद्धा विभूती-र्वृत्तीर्विचष्टे, विशेषेण पश्यति, पश्यं स्तत्राविष्टो भवति। स खल्वसौ जीव नामा स्व शरीरद्वयलक्षण क्षेत्रस्य ज्ञातृत्वात् क्षेत्रज्ञ उच्यते,—इत्यर्थः। तदुक्तम्—(भा० १-७-५) "यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्" इत्यादि। तस्य मनसः। कीद्दशतया—मायारचितस्य? तत्राह—जीवस्य, जीवोपाधि-तया जीव—तादात्म्येन रचितस्य, ततश्च तत्रयोरुपचर्य्यमाणस्येत्यर्थः। ततश्च कीद्दशस्य? अविशुद्धं भगवद्‌वहिर्मुखं कर्म करोतीति ताद्दशस्य; कीद्दशीर्विभूतीः? नित्या अनादित एवानुगताः। तत्र च कदा कीद्दशीरित्यपेक्षयामाह— जाग्रत्स्वप्नयोराविर्भूताः सुषुप्तौ तिरोभूताश्चेति।१२।

शुद्ध क्षेत्रज्ञ आत्मा साक्षी भगवद्बहिर्मुख कर्मपरायण जीव शरीर सम्बन्धीय समस्त अवस्था का द्रष्टा है। प्रकारान्तर के द्वारा जीव का ज्ञान शक्तित्व का संवाद देते हैं—भा० ३।२५।५ में उक्त है—

उक्त अनादि नित्या भगवच्छक्तिरूपा प्रकृति निज सत्त्व रजः तमोगुण के द्वारा निज समान रूप गुणत्रय की विचित्र प्रजा सृजन करती रही है, पुरुष उसको अवलोकन कर ज्ञानावरणरूप अविद्या द्वारा सद्यः मुग्ध होता है।५।

"तस्या लीलामाह गुणैरिति,—ज्ञानं गूह्यते, आवृणोतीति ज्ञानगूहा, तया, तथा च श्रुतिः—अजामेकां

अत्र 'विलोक्य' इत्यनेन, 'मुमुहे' इत्यनेन, 'ज्ञानगूहया' इत्यनेन च पराग्भूतायाः प्रकृतेस्तत्कृतादज्ञानाच्च प्रत्यग्भूतं यज्ज्ञानं तत्तस्य स्वरूपशक्तिरेव स्यादिति गम्यते। श्रीगीतोपनिषदश्च तथा (गी० ५।१५) "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" इति॥ श्रीकपिलदेवः॥

२३। शक्त्यन्तरञ्चाहुः (भा० १०।८७।३८)—

सर्वसम्वादिनी

तत्र च बुद्धिलक्षण-तदुपाधेः सूक्ष्मत्वाङ्गीकारात् सूक्ष्मत्वमपि सूचीरन्धाकाशवत्, बालुका-कण-प्रतिफलित-सूर्य्यतेजोवत्, तदाभासवच्च। यत्र यत्रैवोपाधयश्चलन्ति, तत्र तत्रैव परिच्छिन्नत्वेनैवोदयन्ते तानीतीत्थमेव स्वयं तदाचार्य्येणेन्द्रियाणां विभुत्व-वादो दूषितः;— 'सर्वगतानामपि वृत्तिलाभः शरीरदेशे स्यादिति चेत् ?

लोहितशुक्लकृष्णं वह्वीः प्रजा जनयन्तीं सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य इति। मुमुहे—आत्मानं विस्मृतवान्।

प्रस्तुत पद्य में 'विलोक्य' 'मुमुहे' 'ज्ञानगूहया' पदत्रय के द्वारा जीवात्मा का स्वतन्त्र ज्ञानवत्त्व कथित हुआ है। प्रकृति को देखकर, मुग्ध हुआ, अज्ञान के द्वारा निज ज्ञान आवृत हुआ। अवस्था त्रय में ही जीव का ज्ञानवत्त्व सुस्पष्ट उक्त है। पराग्भूता—अर्थात् विदूरस्थिता, प्रकृति के अज्ञान के द्वारा जीव का ज्ञान प्रत्यग्भूत अर्थात् आच्छन्न हुआ। इससे जीव के स्वरूप में स्वरूपात्मक सक्रिय ज्ञान का प्रमाण सुस्पष्ट होता है।

श्रीगीतोपनिषद् के ५।१५ में कथित है—"नादत्ते कस्यचित् पापं न चैवं सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

ईश्वर में वैषम्य नहीं है जो स्वैच्छानुरूप कर्म करता रहता है। कर्मानुरूप फल विधान परमात्मा करते हैं। जीव स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञानवान् है। अविद्या शक्ति कर्त्तृक उक्त स्वरूप आवृत होने से जीव बद्ध दशा को प्राप्त करता है, एवं देहात्माभिमान के कारण मोह वशतः स्वयं को "कर्मकर्त्ता" मानता है।१५।

गी० भा०—ननु यदि विशुद्धस्य जीवस्य तादृशकर्मकर्त्तृत्वादि नास्तीति ब्रूषे, तर्हि कौतुकाक्रान्तः परमात्मा प्रधानं तद्गले निपात्य तत् परिणामदेहेन्द्रियादिमतस्तस्य तद्वद्धितवानित्यापद्यते। युक्तञ्चैतत्, अन्यथा "एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते" इति श्रुतिः। "अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वाश्वभ्रमेव च।" इति। स्मृतिश्च व्याकुप्येत्। तथा च पापपुण्यमयीमवस्थां नयति। प्रयोजके तस्मिन् वैषम्यादिकं पापादिभागित्वञ्च स्यादिति चेत्तत्राह,—नादत्त इति। विभुरपरिमित विज्ञानानन्दोऽनन्तशक्तिपूर्णः, स्वानन्दैक रसिकस्ततोऽत्रोदासीनः परमात्मानादि प्रधानवासनानिबन्धं बुभुक्षुं स्वसन्निधिमात्रपरिमाणत प्रधानमयदेहादिमन्तं जीवं तद्वासनानुसारेण कर्माणि कारयन् कस्यचिज्जीवस्य सुकृतञ्च नादत्ते न गृह्णाति। एवञ्चोक्तं श्रीवैष्णवे—"यथा सन्निधिमात्रेण गन्धः क्षोभाय जायते। मनसो नोपकर्त्तृत्वात् तथासौ परमेश्वरः॥ सन्निधानाद् यथाकाशकालाद्याः कारणं तरोः। तथैवापरिणामेन विश्वस्य भगवान् हरिः।" इति। औदासीन्य मात्रेऽयं गन्धानि दृष्टान्तो, नत्विच्छाया अभावे तस्याः—"सोऽकामयत" इति श्रुतत्वात्। तर्हि जीवास्तं विषमं कुतो वदन्ति, तत्राह, अज्ञानेनेति। अनादित तद्वैमुख्येनाज्ञानेन जीवानां नित्यमपि ज्ञानमावृतं तिरोहितं, तेन हेतुना जन्तवो जीवा मुह्यन्ति, सममपि तं विमूढ़ा विषमं वदन्ति न विज्ञा इत्यर्थः। आह चैवं सूत्रकारः—"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति;" न कर्माविगादिति, चे ज्ञानादित्वात्" इति।१५।

अज्ञान द्वारा जीवका ज्ञान आवृत होने से जीव मुग्ध होता है। यह उक्ति श्रीकपिलदेव की है॥२२॥

(२३) "स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः" इति।

टीका च—"स तु जीवो यद् यस्मादजया मायया अजामविद्यामनुशयीत आलिङ्गेत्, ततो गुणांश्च देहेन्द्रियादीन् जुषन् सेवमान आत्मतया अध्यस्यन् तदनु तदनन्तरं सरूपतां

सर्वसम्वादिनी

न;—वृत्तिमात्रस्य करणत्वोपपत्तेः। यदेवोपलब्धि-साधनं वृत्तिरन्यद्वा, तस्यैव नः करणत्वम्; तेन संज्ञामात्रे विवाद इति करणानां व्यापित्व-कल्पना निरर्थिका" (ब्र०सू० २।४।७—शा०भा०) इत्यनेन।

जीव में शक्त्यन्तर भी है, उसका विवरण कहते हैं,—उक्त जीव जब मुग्ध होकर मायारूप अज्ञान का सेवन प्रीति पूर्वक करता है, तब वह उसका धर्म प्राप्त हो जाता है। निविड़ तन्मयता निबन्धन निज सच्चिदानन्दमय स्वरूप की विस्मृति होती है एवं निरन्तर जन्म-मरण रूप संसार को प्राप्त करता है। भा० १०।८७।३८ में वर्णित है—

"स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन् भजति सरूपतां तदनुमृत्युमपेतभगः।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः॥

क्रमसन्दर्भः—मदीश्वरस्य प्रधानास्पृष्टत्वमेव जीववैलक्षण्यदर्शयन्त्याः काश्चित्तदनुगताः स्तुवन्ति। किञ्च, ननु, भवतु जगतो मद्वैलक्षण्यं नाश जाड्यादितः, जीवस्य त्वनाश्यचिद्रूपत्वात् सालक्षण्यमेव। ततः कथं ममैव भजनीयत्वं पूर्वाभि र्दर्शितम्? इत्याशङ्कच तदर्थमेव जीवेश्वरस्वरूपवैलक्षण्यं प्रतिपादयन्त्यः स्तुवति, स यदजया त्वजामिति।

अनन्तर परमप्रिय सर्वेश्वर प्रधान से अस्पृष्ट हेतु जीव से विलक्षण हैं, इसको प्रकाश करने के निमित्त कतिपय अनुगत श्रुति कहती हैं,—और भी जगत् से मुझमें वैलक्षण्य हो, कारण—जगत् विनाशी एवं जड़ है, मैं अविनाशी अजड़ हूँ। जीव तो अनाशी चिद्रूप है, अतः वह समानधर्मा है। उसका भजनीय रूपमें प्रतिपादन होना शोभनीय है? पूर्व श्रुतिगण कैसे मेरा ही भजनीयत्व दर्शायी हैं? इस संशय को उठाकर सर्वेश्वर-जीव में जो महदन्तर है, उसका प्रतिपादन हेतु स्तव करती हैं। वह जीव जब प्रीतिपूर्वक अज को सेवन कर मृत्यु रूप संसार को प्राप्त कर लेता है, उस समय आप निज समस्त गुणों से महीयान् होकर रहते हैं, अतः आप ही उपास्य हैं, जीव नहीं।

स्वामि टीका—ननु यदि प्रपञ्चो नाम नास्त्येव तदा असता तेन न चैतन्यस्य सम्बन्धगन्धोऽपि। तर्हि किमपराद्धं जीवेन यतोऽयं संसरति किंवा बहुपुण्यमीश्वरस्य यतो नित्यमुक्तः। किं विषयश्च तदा कर्मकाण्ड-मित्यपेक्षायां जीवेश्वरविशेषं, "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति। अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णामित्याद्या वदन्तीत्याह स यदजयेति। स तु जीवो यद् यस्मादजया मायया अजामविद्यामनुशयीत आलिङ्गेत, ततो गुणांश्च देहेन्द्रियादीन् जुषन् सेवमान आत्मतया अध्यस्यन् तदनु तदनन्तरं सरूपतां तद्धर्मयोगञ्च जुषन् अपेतभगः—पिहितानन्दादिगुणः सन् मृत्युं संसारं भजति प्राप्नोति। तद्विषयमेव च कर्मकाण्डमिति भावः। त्वमुत त्वन्तु जहासि तामजां मायाम्।

ननु सा मय्येवास्ति कथं त्यागस्तत्राह, अहिरिव त्वचमिति। अयं भावः। यथा भुजङ्गः स्वगतमपि कञ्चुकं गुणबुद्धचा नाभिमन्यते तथा त्वमजाम्। स हि निरस्ताह्लादि संवित्कामधेनुवृन्दपते रजयाकृत्य-मिति तामुपेक्षस इति। कुत एतत् तदाह। आत्तभगो नित्यप्राप्तैश्वर्य्यः। महसि परमैश्वर्य्येऽष्टगुणिते—अणिमाद्यष्टविभूतिमति महीयसे पूज्यसे-विराजसे। कथम्भूतम्? अपरिमेयभगः—अपरिमितैश्वर्य्यः। न हि—अन्येषामिव देशकालादिपरिच्छिन्नं तवाष्टगुणितमैश्वर्य्यम् अपितु परिपूर्णस्वरूपानुबन्धित्वादपरिमित-मित्यर्थः।

तद्धर्मयोगञ्च जुषन्नपेतभगः पिहितानन्दादिगुणः सन् मृत्युं संसारं भजति प्राप्नोति" इत्येषा ॥ श्रुतयः ॥

२४ । तथा (भा० ६।५।१५)—

(२४) "तत्सङ्गभ्रंशितैश्वर्य्यं संसरन्तं कुभार्य्यवत् ।
तद्गतीरबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत्" ॥१५॥

सर्वसम्वादिनी

किञ्च, स्वयं तेनैव च (मु० २।२।५) 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरीक्षम्' इत्यादि-श्रुतौ (ब्र०सू० १।३।१) "द्युभ्वाद्यायतनत्व-न्यायेन ब्रह्मैवाङ्गीकुर्वता तदायतनत्वाभावान्न जीवस्तत्प्रतिपाद्य इति (ब्र०सू० १।३।४) "प्राणभृच्च" इत्यत्र सूत्रे स्वीकृतम् । (ब्र०सू० १।३।४ – शा०भा०) "न चोपाधि-परिच्छिन्नस्याविभोः प्राण-

नृत्यन्ती भववीक्षणाङ्गनगता कालस्वभावादिभिर्भावान् सत्त्वरजस्तमोगुणमयानुन्मीलयन्ती बहून् । मामाक्रम्य पदा शिरस्यतिभरं संमर्द्दयन्त्यातुरं माया ते शरणं गतोऽस्मि नृहरे त्वामेव तां वारय ।३८।

यदि संसार नामक पदार्थ ही नहीं है, तो असत् वस्तु के सहित जीव का सम्बन्ध भी नहीं होगा । तब जीव का दुर्भाग्य कैसे हुआ, वह संसारी बना ? और ईश्वर ने कैसे पुण्य प्राप्त किया कि वह नित्यमुक्त एवं सम्पन्न बना ? उपदेष्टा शास्त्र का भी प्रयोजन क्या है ? जिसने काम्यकर्म करने के लिए जीव को निर्देश दिया ? समाधान हेतु कहते हैं—शरीर रूपी वृक्ष में सख्य भावापन्न दो पक्षी, जीवात्मा परमात्मा निवास करते हैं । जीवात्मा नश्वर शरीर का फल सुख-दुःख का सेवन प्रीति से करता है । परमात्मा, उसमें आसक्त न होकर स्वरूपानन्द से देदीप्यमान रहते हैं । वह जीव मनमुखिता के कारण अविद्या को आलिङ्गन कर लेता है, पश्चात् अविद्या से उत्पन्न देहेन्द्रियादि के द्वारा रूप-रस-गन्ध-स्पर्श को प्रेम से सेवन करके सर्वहारा होकर अविद्या को ही अपना लेता है, और उसमें तन्मय होकर अविद्या में डूब जाता है । वह भूल ही जाता है कि—मैं आनन्दादि गुणसम्पन्न हूँ । फलस्वरूप उसे पुनः पुनः जन्म-मरण संसार को प्राप्त करना पड़ता है । उपदेश मानकर चलने का अभ्यासहेतु कर्मकाण्डप्रधान वेद वचनों की सार्थकता है ।

ईश्वर, अविद्या को सर्वथा छोड़ ही देता है, यदि कहें कि अविद्या तो ईश्वर में ही रहती है, उसका त्याग करना ईश्वर से कैसे सम्भव होगा ? कहते हैं, साप जैसे अपना कञ्चुक को त्यागता है । अयंभावः—भुजङ्ग निज शरीर के कञ्चुक को बहुमान देकर नहीं रखता है, उस प्रकार अविद्या को महत्त्व प्रदान ईश्वर नहीं करते हैं । कारण है कि—निरन्तरा ह्लादि संवित् कामधेनुवृन्द पति का एक बकरी से प्रयोजन ही क्या है ? अतः आप उपेक्षा करते हैं । कैसे ऐसा सम्भव हो ? आत्तभगः—नित्य प्राप्त ऐश्वर्य्य ईश्वर हैं । नित्य अणिमादि अङ्ग ऐश्वर्य्य से परिपूरित हैं, और अपरिमित ऐश्वर्य्य भी ईश्वर में है । यह सम्पद् स्वरूपानुबन्धि है, आगन्तुक तथा परिच्छिन्न नहीं है ।

इससे जीवेश्वर का महदन्तर सूचित हुआ, एवं जीव में निज अनेक शक्ति है, उसका प्रकाश भी हुआ । यह कथन, श्रुतिवृन्द का है ।।२३।।

उस प्रकार विवरण, भा० ६।५।१५ में है—

"नानारूपात्मनो बुद्धि स्वैरिणीव गुणान्विता । तन्निष्ठामगतस्येह किमसत् कर्मभिर्भवेत् ।।" देवर्षि के इस वचन से ज्ञात होता है कि—पुरुष स्वैरिणी रूपा बुद्धि में आसक्त होकर सर्वस्वान्त होता है, अर्थात् माया में आसक्त होने से जिस का ऐश्वर्य्य विनष्ट हो गया है । अतएव कुत्सित भार्य्या के भर्त्ता के समान जो पुरुष माया की सुख-दुःखरूप गति का अनुगमन करता रहता है, उस जीव को न जानकर अविवेककृत कर्मानुष्ठान समूह से लाभ क्या होगा ?

तस्याः पुंश्चलीरूपाया मायायाः सङ्गेन भ्रंशितमैश्वर्य्यं किञ्चित् स्वीयज्ञानादिसामर्थ्यं यस्य तम्; तस्या गतीः, संसरन्तं गच्छन्तं जीवं स्वस्वरूपमबुधस्याजानत इत्युत्तरेणान्वयः ॥ हर्य्यश्वाः ॥

२५। तथा (भा० ३।७।९)—

(२५) "ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम्" इति।

ईश्वरस्य किञ्चिज्ज्ञानादिशक्तिमतः ॥ श्रीमैत्रेयः ॥

२६। तथा (भा० ४।२५।६२)—

(२६) "विप्रलब्धो महिष्यैवं सर्वप्रकृतिवञ्चितः।
नेच्छन्ननुकरोत्यज्ञः क्लैव्यात् क्रीड़ामृगो यथा" ॥६२॥

सर्वसम्वादिनी

भृतो द्युभ्वाद्यायतनत्वमपि सम्यग्भवति" इति स्वयं लिखितञ्च; अन्यथा, तत्सिद्धान्तो हीयेत। (ब्र०सू० २।३।४८) "असन्ततेश्चाव्यतिकरः" इत्यत्रापि लिखितम् (शा०भा०)—'उपाध्यसन्तानाच्च नास्ति जीवसन्तानः'

टीका— पुमांसं पुंश्चली पतिमित्यस्यार्थमाह। तस्याः सङ्गेन भ्रंशितमैश्वर्य्यं स्वातन्त्र्यं यस्य। कुत्सिता भार्य्या यस्य तद्वत्। तस्या गतीः सुखदुःखलक्षणाः संसरन्तं गच्छन्तं जीवम् अबुधस्याजानतः। असद्भिः; बुद्ध्यविवेकप्राप्तेः।१५।

उक्त पुंश्चली रूपा माया सङ्ग के द्वारा ऐश्वर्य्य अर्थात् किञ्चित् निज ज्ञानादि सामर्थ्य भ्रंसित होने से उक्त माया के सुखदुःख में अभिनिविष्ट जो जीव निज स्वरूप को नहीं जानता है, अविवेककृत कर्म के द्वारा उसका क्या होगा? यहाँ जीव की स्वतन्त्रता एवं दुःखबहुल असदावेश में निज कृति प्रगति का वर्णन है। इससे जीव में ज्ञानादि शक्ति अव्याहत रूप में है।

यह उक्ति, श्रीनारदोपदेश वाक्य के विचारपरायण हर्य्यश्वगण की है ॥२४॥

भा० ३।७।९ में भी उक्त उक्ति के अनुरूप उक्ति है—

"सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते। ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुतबन्धनम् ॥"

टीका - भगवतोऽचिन्त्यशक्तेरीश्वरस्य सेयं माया नयेन तर्केण विरुध्यत इति यत्। तर्कविरोधमेवानुवदति विमुक्तस्यैव पुंसोऽविद्यया बन्धनं कार्पण्यञ्चेति।९।

अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न भगवान् की माया शक्ति लौकिक तर्कगोचर नहीं है। कारण शुद्ध स्वरूपतः जीव निज स्वरूप को भूल कर अनायास अविद्या कवलित हो जाता है। यह उक्त जीव का बन्धन है। अथवा दीनता है, अर्थात् अल्पज्ञता है? ईश्वरस्य—किञ्चिज्ज्ञानादि शक्तिमतः। अर्थात् सर्वज्ञ ईश्वर का ईश्वरत्व वह ही है, जिससे स्वतन्त्र ज्ञानवान् भी जीव स्वीय अदूरदर्शिता के कारण ईश्वर की माया से बद्ध होता है। "विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्।"

यह कथन श्रीविदुर के प्रति श्रीमैत्रेय का है ॥२५॥

उक्तार्थ के अनुरूप कथन भा० ४।२५।६२ के पुरञ्जन उपाख्यान में उपलब्ध है—

"विप्रलब्धो महिष्यैवं सर्वप्रकृतिवञ्चितः। नेच्छन्ननुकरोत्यज्ञः क्लैव्यात् क्रीड़ामृगो यथा ॥"

टीका—"सर्वा असङ्गत्वादिलक्षणा प्रकृतिः स्वभावो वञ्चिता यस्य, सर्वथा प्रकृत्या वञ्चित इति वा। नेच्छन्—अनिच्छन्। क्लैव्यात्—पारवश्यात्।"

श्रीनारद बोले,—हे राजन्! पुरञ्जन इस प्रकार निज महिषी द्वारा प्रतारित होकर निज असङ्गत्वादि

महिष्या पुरञ्जन्या विप्रलब्धः पुरञ्जनः सर्वथा प्रकृत्या ज्ञानादिरूपया वञ्चितस्तयाजितः सन् नेच्छन् तदिच्छयैवेत्यर्थः ; अनुकरोति तद्धर्म्ममात्मन्यध्यस्यति। अत्र जीवस्य शक्ति-मत्तायां (ब्र०सू० ३।२।५) "पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्य्ययौ" इत्येतत् सूत्रमप्यनुसन्धेयम् ॥ श्रीनारदः श्रीप्राचीनवर्हिषम् ॥

२७। पूर्वोक्तमेवार्थं व्यञ्जयितुं स्वस्मै स्वयंप्रकाश इत्युक्तम्। तथाभूतत्वञ्च (भा० ११·१०।८) 'विलक्षणः' इत्याद्युक्त-पद्य एव 'स्वदृक्' इत्यनेन व्यक्तमस्ति। तत्र प्रकाश-

सर्वसम्वादिनी

इति। तस्मादुभयवादि-मतेऽप्यविभूर्जीव इति। एवमेव (ब्र०सू० २।३।२८) "पृथगुपदेशात्" इत्यत्र माध्व-भाष्योदाहृता सोपपत्तिक-कौशिक श्रुतिः—

"भिन्नोऽचिन्त्यः परमो जीवसङ्घात्, पूर्णः परो जीवसङ्घो ह्यपूर्णः।
यतोऽप्यसौ नित्यमुक्तोऽप्यहंश्च, बन्धान्मोक्षं तत एवाभिवाञ्छेत्" ॥६॥ इति।

स्वभाव से वञ्चित हो गये। सुतरां परतन्त्र होने से इच्छा न होने पर भी क्रीड़ामृग के समान वनिता का अनुवर्त्तन करने लगे। अर्थात् जीव, आत्म बुद्धि के अनुवर्त्ती होकर समस्त कर्म करता रहता है।

महिषी पुरञ्जनी के सहित विप्रलब्ध पुरञ्जन ज्ञानादि रूपा प्रकृति समूह द्वारा परित्यक्त होकर इच्छा नहीं किए थे। किम्वा पुरञ्जनी की इच्छानुसार अनुकरण करते थे। अर्थात् प्रकृति धर्म समूह का अध्यास अपने में करते थे। यहाँ जीव में निज शक्ति है, किन्तु माया का अभिध्यान हेतु वह शक्ति तिरोहित हो गई है। तज्जन्य जीव का बन्ध विपर्य्यय नामक सूत्र के द्वारा जीव के बन्ध मोक्ष की विवेचना करें।

वेदान्त दर्शन ३।२।५ में लिखित है—"पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्य्ययौ" ।५।

परमेश्वरस्याभिध्यानात् सङ्कल्पात्तिरोहितं स्वाप्निकं रथादि नतु शुक्तिरजतवत्तस्य बाधः। हि यतोऽस्य जीवस्य ततः परेशादेव बन्धमोक्षौ भवतः। संसारबन्धस्थितिमोक्ष हेतुः', इत्यादि श्रुतेः। बन्धमोक्षकर्त्तुः स्वप्न तत् परिहारकर्त्तृत्वं न चित्रमिति भावः। ततश्च तस्यापि तस्मादेवाविर्भावतिरोभावौ मन्तव्यौ। "स्वप्नादि बुद्धिकर्त्ता च तिरस्कर्त्ता स एव तु। तदिच्छया यतो ह्यस्य बन्धमोक्षौ प्रतिष्ठितौ" इति स्मृतेश्च ॥ तस्मात्सत्या स्वप्नसृष्टिरैश्वरीति।

निद्रा भङ्ग के पश्चात् स्वप्नदृष्ट वस्तु के विलोप होने के कारण जो मिथ्यात्व की प्रतीति है, उसके विषय कहते हैं,—स्वाप्निक रथादिकों का तिरोभाव, परमेश्वर के सङ्कल्प से होता है। किन्तु शुक्ति में रजत की भाँति उसका बोध होता है। कारण ही जीव के बन्ध मोक्ष के कर्त्ता हैं। जीव का बन्धन एवं मोक्ष—ईश्वर से ही होता है। श्रुति में उक्त है,—"संसार बन्धन, स्थिति, तथा मोक्ष का हेतु परमेश्वर हैं। ईश्वर में बन्धन कर्त्तृत्व, एवं मोचन कर्त्तृत्व होना, आश्चर्य्य जनक नहीं है। स्मृति भी इस प्रकार है,—"परमेश्वर स्वप्नादि बुद्धि के कर्त्ता तथा उसका तिरोभाव के कर्त्ता हैं।" उनकी इच्छा से ही संसार बन्धन एवं मोक्ष जीव का होता है। अतएव ईश्वर कर्त्तृक स्वप्न सृष्टि सत्य है ।५।

श्रीनारद महाशय श्री प्राचीन वर्हिष को कहे थे ॥२६॥

पूर्वोक्त अर्थसमूह को प्रकाश करने के निमित्त कहते हैं—"स्वस्मै स्वयं प्रकाश इत्युक्तम्।" जीव स्वयं प्रकाश है, इसका कथन भा० ११।१०।८ में विलक्षण एवं स्वदृक् शब्द के द्वारा हुआ है।

"विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद्देहादात्मेक्षिता स्वदृक्। यथाग्निर्दारुणो दाह्याद्दाहकोऽन्यः प्रकाशकः ॥"

टीका—अहो कोऽसौ देहादिव्यतिरिक्त आत्मा यस्यैकचादर्थः सर्वेषु समः स्यात्। तमाह विलक्षण इति। स्थूल

स्तावद्गुणद्रव्यभेदेन द्विविधः ;-प्रथमो निजाश्रयस्य स्फूर्त्तिरूपः, द्वितीयः स्व-परस्फूर्त्तिनिदानं वस्तुविशेषः। तत्रात्मनो द्रव्यत्वादयमेव गृह्यते,—यथा दीपश्चक्षुः प्रकाशयन् स्व-पर-स्फूर्त्ति स्वयमेव करोति, न तु घटादिप्रकाशवत्तदादिसापेक्षः ; तस्मादयं स्वयंप्रकाशः ; तथापि स्वं प्रति न प्रकाशते, यत एव जड़ इत्युच्यते। आत्मा तु स्वं परञ्च प्रकाशयन् स्वात्मानं प्रति प्रकाशमानत्वात् स्वस्मै स्वयंप्रकाशः ; यत एव चिद्रूप उच्यते। तदुक्तमन्यैरपि—स्वयं-प्रकाशत्वं स्वव्यवहारे परानपेक्षत्वम्, अवेद्यत्वे सत्यपरोक्ष-व्यवहारयोग्यत्वं वेति। तत्र पूर्वत्र परानपेक्ष्यत्व-स्वरूपलक्षणे दीपसाधर्म्यजड़त्ववारणाय स्वस्मैपदरूपेक्ष्यम्, परत्वलक्षणे दीपादेर्वेद्यत्वरूपवैलक्षण्यं स्पष्टमेव स्वस्मैपदमपेक्ष्यम्, उत्तरत्र स्पष्टतार्थम्। अतः स्वदृक् स्वस्मै स्वयंप्रकाश इत्यर्थः। न चासौ परमात्मप्रकाश्यत्वे घटवत् परप्रकाश्यः, परमात्मन-

सर्व्वसम्वादिनी

तस्मादणुरेव जीवः। तथा (श्रीजामातृमुनिवाक्ये) ज्ञातृत्वेत्यतः पूर्वयुक्त्या ज्ञातृत्वादयस्तस्यैव धर्मा इत्यर्थः। तत्र नित्यत्वं चात्मनो ब्र०सू० २।३।१७) "नात्मा श्रुतेः" इत्यत्र प्रसिद्धमेव। (ब्र०सू० २।३।१८) "ज्ञोऽतएव" इत्यत्र "ज्ञः" इति व्यपदेशेन ज्ञानाश्रयत्वं च स्वाभाविकमेवेति। श्रुतयश्च—(बृ० २।४।१४)

सूक्ष्म देहद्वयादात्मा अन्यः, विलक्षणः। येषां वैलक्षण्यं दर्शयति,—ईक्षिताः स्वदृगिति। द्रष्टा हि दृश्याद्विलक्षणः स्वप्रकाशकश्च दाह्यात् प्रकाश्याच्च दारुणः काष्ठादन्य स्तद्वदिति।८।

शरीरातिरिक्त आत्मा कौन है ? जिससे शरीर व्यवहार निष्पन्न होता है, उसका परिचय कराते हैं—जड़ धर्मी शरीर स्थूल सूक्ष्म से—आत्मा विलक्षण चेतन स्वभावाक्रान्त है। दो प्रकार से विलक्षणता को प्रकट करते हैं। प्रथम—द्रष्टा, द्वितीय—सदृक्-स्वप्रकाशलक्षण, द्रष्टा, दृश्य वस्तु से पृथक् होता है। दृश्य शरीरादि से द्रष्टा आत्मा पृथक् है, स्व-प्रकाश भी है - जड़ से विलक्षण है। दृष्टान्त के द्वारा बोध कराते हैं,—जिस प्रकार अग्नि दाहक एवं प्रकाशक है, दाह्य एवं प्रकाश्य काष्ठ से भिन्न है, चेतन स्वप्रकाश जड़ शरीरादि से भिन्न है। उसे प्रकाश कहते हैं, - जो निज एवं अपर का व्यवहार योग्यतापादक है। वह प्रकाश गुण एवं द्रव्य भेद से द्विविध है। प्रथम—गुण रूप प्रकाश, निजाश्रय द्रव्य को प्रकाशित करता है। द्वितीय—द्रव्य है, वह स्व-पर स्फूर्त्ति निदानभूत वस्तु विशेष है। स्वप्रकाशान्तर्गत आत्मादि द्रव्य पदार्थ है। जिस प्रकार, दीप चक्षु को प्रकाशित करके स्व पर का प्रकाश स्वयं ही करता है। किन्तु घटादि के समान अन्यापेक्षा दीप में नहीं है। घटादि में आलोक की अपेक्षा। अतएव दीप स्वयं प्रकाश है। जो अपने को प्रकाशित नहीं कर पाता है, वह जड़ है, स्वयं प्रकाश नहीं है, आत्मा किन्तु निज एवं शरीर को प्रकाशित करके निज के प्रति प्रकाशमान् होने से "स्वस्मै स्वयं प्रकाशः" स्वप्रकाशलक्षण का उदाहरण स्थल होता है। कारण आत्मा चिद्रूप है। अपर के मत में भी प्रकाश का लक्षण इस प्रकार है,—"स्वयं प्रकाशत्वं-स्व व्यवहारे परानपेक्षत्वम्", "अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं वेति" स्वयं प्रकाश उसे कहते हैं—जो व्यवहार में अपर की अपेक्षा नहीं करता है, अवेद्यत्व में अर्थात् अविषय में जो साक्षात् व्यवहार योग्य है, वह ही स्वयं प्रकाश है। पूर्व स्वप्रकाश लक्षण में परानपेक्षत्व रूप स्वरूपलक्षण में दीप साधर्म्य जड़त्व वारण हेतु स्वस्मै पद की अपेक्षा है। द्वितीय लक्षण में दीपादि का वेद्यत्व रूप वैलक्षण्य सुस्पष्ट ही है, अतः स्वस्मै पद की अपेक्षा है। अन्तिम लक्षण का अर्थ सुस्पष्ट है। तन्मध्य में पूर्व 'स्वस्मै' पद की अपेक्षा उत्तर पद के स्पष्टार्थ के लिए है, तज्जन्य स्वदृक् पद का अर्थ—स्वयं प्रकाश है। अर्थात् आत्मा स्वयं प्रकाश है, "आत्मानं प्रत्यपि प्रकाशमानः स्वस्मै स्वयं प्रकाशः" अतएव आत्मा जड़ नहीं है।

स्ततुपरमस्वरूपत्वेन परप्रकाश्यत्वाभावात् । एवमेवाह द्वाभ्याम् (भा० ११।२२।३०-३१)—

(२७) "ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा, विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते ।
वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेक,-मथाधिभूतमधिदैवमन्यत् ॥३०॥
दृग्रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे, परस्परं सिध्यति यः स्वतः खे ।
आत्मा यदेषामपरो य आद्यः, स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धिः" ॥३१॥

सर्वसम्वादिनी

"विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ?" (बृ० ४।३।३०) "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते", (१।१।१—श्रीभाष्ये ६६तम अनु०) 'जानात्येवायं पुरुषः', (छा० ७।२६।२) न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगं नोत दुःखताम्',

आत्मा, परमात्मा द्वारा प्रकाशित होने से घट के समान पर प्रकाश अर्थात् जड़ क्यों नहीं होगा ? उत्तर—परमात्मा जीव का सजातीय चिद्रूप परमस्वरूप हैं। उससे जीवात्मा को घटवत् परप्रकाश्य नहीं कहा जा सकता है। स्वदृक् की व्याख्या में पाठान्तर इस प्रकार है,—

"प्रकाशोऽपि नाम स्वस्य परस्य च व्यवहार योग्यतापादको वस्तु विशेषः। स च पदार्थान्तरे घटादौ दीपादिभास्यमानत्वाद् अन्याधीन इति न स्वयं प्रकाशः। अनन्याधीन प्रकाशता तु स्व-स्वसत्त्वयैव स्वाश्रयं प्रति प्रकाशमानता यथा दीपादौ, न हि दीपादेः स्वबलनिर्भासितत्वेनाप्रकाशत्वमन्याधीन प्रकाशत्वं वा। किन्तु तर्हि दीपः प्रकाशस्वभावः, स्वयमेव प्रकाशते, अन्यानपि प्रकाशयति। एवमपि दीपादिः स्वयं यत् प्रकाशते, तन्न, स्वार्थं किन्तु पदार्थमेव, यत एव जड़ोऽसौ, आत्मा तु स्वयं स्वात्मानं प्रत्यपि प्रकाशमानः स्वस्मै स्वयं प्रकाशः। अत एवास्याजड़त्वम्।"

प्रकाश उसे कहते हैं—जो निज एवं अपर का व्यवहार योग्यतापादक वस्तु विशेष हो। पदार्थान्तर घटादि में प्रकाश शब्द का प्रयोग नहीं होता है। कारण घटादि दीपादि के द्वारा प्रकाशित है। अन्याधीन प्रकाश होने से घटादि स्वयं प्रकाश नहीं है। अनन्याधीन प्रकाशता उसे कहते हैं—जो निज सत्त्वा से ही निजाश्रय को प्रकाशित करता है, जिस प्रकार दीपादि। दीपादि का निज प्रभाव के द्वारा अप्रकाशत्व अथवा अन्याधीन प्रकाशत्व नहीं है। किन्तु दीप स्वयं प्रकाशस्वभाव है, अतएव स्वयं प्रकाश प्राप्त होता है, वह अपने लिए नहीं, किन्तु अपर के लिए प्रकाशित होता है। कारण दीप जड़ वस्तु है। आत्मा किन्तु स्वयं के प्रति भी स्वयं प्रकाशमान है। अर्थात्, स्वयं प्रकाश है। अतएव आत्मा जड़ नहीं है। उक्त विषय का स्पष्टीकरण श्लोकद्वय के द्वारा ११।२२।३०-३१ हुआ है—

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! त्रिगुणमयी मेरी माया, गुणविशेष के द्वारा अनेकविध भेद बुद्धि का प्रकाशक है। वह अनेक विचार विशिष्ट होने से भी सामान्यतः त्रिविध है। अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक भेद है। चक्षु आध्यात्मिक,-रूप अधिभौतिक एवं चक्षु गोलक में प्रविष्ट सूर्य्यांश आधिदैविक है, यह सब परस्पर भिन्न हैं। किन्तु आकाशमण्डलस्थ सूर्य्य स्वतःसिद्ध है, कारण—आत्मा, आध्यात्मादिकादि का कारण है, अतएव आत्मा, सब से भिन्न होकर निज स्वतःसिद्ध प्रकाश द्वारा अखिल प्रकाशकों का प्रकाशक है। सुतरां आत्मा का प्रकाश स्वतःसिद्ध है।३०-३१।

टीका—नानात्वमाह—ममेति। विकल्पं—भेदं, तद्बुद्धीश्च। अनेकधात्वं प्रपञ्चयति। वैकारिकोऽनेकविकारवानपि स्थूलेन मार्गेण तावत् त्रिविधः। त्रैविध्यमाह, अध्यात्ममिति। एकं रूपम्।३०।

तानि रूपाणि दर्शयति। दृग् अध्यात्मम्। रूपमधिभूतम्। अत्र रन्ध्रेन चक्षुर्गोलके प्रविष्टमार्कं वपुरंशोऽधिदैवमिति सापेक्षप्रकाशतामाह, परस्परमिति। चक्षुषा रूपं ज्ञायते, तदन्यथानुपपत्त्या चक्षुः। तत् प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या तदधिष्ठात्री देवता। ततश्च चक्षुषः प्रवृत्तिस्ततो रूपज्ञानमित्येवमेतत् त्रयम्

विकल्पं भेदं तद्बुद्धीश्च । अनेकधात्वं प्रपञ्चयति— वैकारिक इति । अनेकविकार-वानप्यसौ स्थूलदृष्ट्या तावत्त्रिविधः । त्रैविध्यमाह— अध्यात्ममित्यादिना । तानि क्रमेणाह— दृगादित्रयेण । वपुरंशः ; अत्र रन्ध्रे दृग्गोलोके प्रविष्टं तत्त्रयञ्च परस्परमेव सिध्यति, न तु स्वतः । यस्तु खे आकाशे अर्को वर्त्तते, स पुनः स्वतः सिध्यति । चक्षुर्विषयत्वेऽपि स्वविरोधिनः प्रतियोग्यपेक्षाभावमात्रेण स्वत इत्युक्तम् । एवं यथा मण्डलात्मार्कः स्वतः सिध्यति, तथात्मापीत्याह— यद् यतः पूर्वोक्तदृष्टान्तहेतोरात्मा एषामध्यात्मादीनां योऽपर आद्यस्तेषा-माश्रयः, सोऽपि स्वतः सिध्यति, किन्तु स्वयानुभूत्येति चिद्रूपत्वाद्विशेषः । न केवलमेतावदपि त्वखिलानां परस्पर-प्रकाशसिद्धानां सिद्धिर्यस्मात्तथाभूतः सन्निति ।। श्रीभगवान् ।।

२८ । यस्मात् स्वरूपभूतयैव शक्त्या तथा प्रकाशते, तस्मादेकरूप-स्वरूपभाक्त्वमपि दीपवदेव । (भा० ११।३।३८) "नात्मा जजान" इत्यादौ "उपलब्धिमात्रम्" इत्यनेनैवोक्तं

सर्वसम्वादिनी

(छा० ८।१२।३) 'स उत्तमः पुरुषः, नोपजनं स्मरन्नीदं शरीरम्'; (प्रश्न० ६।५) 'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोड़श कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' इत्याद्याः ।

तदेवं तस्य स्वाभाविके ज्ञातृत्वे सिद्धे, यदविद्यया देहोऽहमित्यादिकं ज्ञातृत्वम्, तदपि तस्यैव; किन्तु-

परस्परं सिद्धयति । अत्र रन्ध्र इति विशेषणाव्यावर्त्यमाह दृष्टान्तोपयोगितया । यस्तु खे आकाशे अर्को वर्त्तते मण्डलात्मा स्वतः सिध्यति । चक्षुर्विषयत्वेपि प्रतियोग्यपेक्षाभावमात्रेण स्वत इत्युक्तम् । इदानी-मात्मानो विकारित्वाद्य भावेन भेदमाह । यद् यस्मात् आत्मा एषामध्यात्मा दीनामाद्यः कारणम्, अउ एकरूपोऽभिन्नश्च तस्मात् एतेभ्योऽपरो भिन्नः । स्वप्रकाशत्वादपीत्याह स्वयानुभूत्या स्वतःसिद्ध प्रकाशेन अखिलानां सिद्धानां परस्पर प्रकाशानामपि प्रकाशकः, सर्वेषामपि सामान्यतश्चित्प्रकाशविषयत्वात् । अतएव स्वप्रकाशकत्वं सिद्धम् ।३१।

विकल्प शब्द का अर्थ है—भेद अथवा भेदबुद्धि । अनेक प्रकार से विस्तार करते हैं । वैकारिक इति । यह जीव अनेक विकारविशिष्ट होकर भी स्थूल दृष्टि के द्वारा तीन प्रकार होते हैं । तीन प्रकार को कहते हैं—अध्यात्म, अधिभूत, अधिदेव । अध्यात्म इत्यादि द्वारा उक्त समूह को दृगादि त्रय में क्रमशः कहते हैं । वपुः शब्द का अर्थ अंश है । इस रन्ध्र में अर्थात् दृक् गोलक में प्रविष्ट उक्त तीन परस्पर सिद्ध होते हैं । किन्तु स्वतःसिद्ध नहीं हैं । आकाश में जो सूर्य्य विद्यमान है, वह स्वतःसिद्ध है । चक्षु का विषय होने से भी प्रतियोगि की अपेक्षा का अभाव मात्र से स्वतः प्रकाश होता है । जैसे मण्डलस्वरूप सूर्य्य, स्वतःसिद्ध हैं । तद्रूप आत्मा भी स्वतःसिद्ध है । इसको कहते हैं—यत् शब्द का यतः अर्थ होता है, अर्थात् पूर्वोक्त दृष्टान्त से आत्मा, अध्यात्मादि से भिन्न है, आद्य है, उन सब का आश्रय है । वह आत्मा स्वतःसिद्ध है, किन्तु निजानुभूति चिद्रूपत्व प्रयुक्त वह विशेष है । केवल यह ही नहीं, अपितु परस्पर प्रकाशसिद्ध अखिल वस्तुओं का जिनसे होता है, उक्तरूप ही आत्मा है । यह कथन श्रीभगवान् का है ।।२७।।

स्वरूपभूत चिच्छक्ति के द्वारा ही आत्मा स्वतः प्रकाशित है । एतज्जन्य एकरूप स्वरूप में दीपवत् ही आत्मा विलसित हैं । भा० ११।३।३८ में—

"नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि ।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रम्, प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत् ।।

टीका—ननु सर्वात्मकं चेत् तर्हि सर्वस्य कार्य्यस्य जन्मादिविकारवत्त्वात् ब्रह्मणोऽपि तत् प्रसङ्गः स्यात्-अतः

मात्रपदं तद्धर्माणामपि स्वरूपानतिरिक्तत्वं ध्वनयति । अथ चेतनत्वं नाम स्वस्य चिद्रूपत्वेऽप्यन्यस्य देहादेश्चेतयितृत्वं दीपादि प्रकाशस्य प्रकाशयितृत्ववत् । तदेतत् (भा० ११।१०।८) "विलक्षणः" इत्यादावेव दृष्टान्तेनोक्तम्, "प्रकाशकः" इति चेतयितृत्वे हेतुः । व्याप्तिशीलत्वमुदाहरिष्यमाणे (भा० ७।६।२७) "आत्मा" इत्यादौ श्रीप्रह्लादवाक्ये व्यापक इत्यनेनोक्तं व्याप्ति-

सर्वसम्वादिनी

अविद्या-सम्बन्धात्तस्य तत् स्वाभाविकं न भवति, अपि तु विक्रियात्मकमेव । एतदपेक्ष्यैव श्रुतौ (वृ० ४।३।७) 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यत्र 'इव'-शब्दप्रयोगः कृतः । अतस्तत्तद्देहाद्युपाधि स्वास्थ्य-तारतम्यात्तस्य ज्ञातृत्वस्य प्रकाश-तारतम्यं भवतीति ज्ञेयम् । शुद्धस्य ज्ञातृत्वं तूदाहृतमेव ।

आहुः, नात्मेति । आत्मा— ब्रह्म, न जजान, न जातः, जन्माभावादेव तदनन्तरास्तितालक्षणोऽपि विकारो नास्ति, न एधते, न वर्द्धते, वृद्ध्यभावादेव विपरिणामोऽपि निरस्तः । कुतः ? हि यस्मात् व्यभिचारिणाम् आगमापायिनां बालयुवादिदेहानां सवनवित् तत्तत् कालद्रष्टा । नह्यवस्थावतां द्रष्टा तदवस्थो भवतीत्यर्थः । ननु निरवस्थः कोऽसौ आत्मा ? अत आह, उपलब्धिमात्रमिति । ननु आयातं तर्हि क्षणिकत्वं नेत्याह सर्वत्रेति । सर्वत्र देशे, शश्वत्—सर्वदा, अनपायि—अनुवर्त्तमानम् । ननु नीलज्ञानं जातं, पीतज्ञानं नष्टमिति प्रतीतेर्न ज्ञानस्य अनपायित्वम् । आह इन्द्रियबलेनेति—सदेव ज्ञानम् इन्द्रियबलेन विविधं कल्पितम् । नीलाद्याकारवृत्तय एव जायन्ते नश्यन्ति च न ज्ञानमिति भावः । व्यभिचारिषु अव्यभिचारे दृष्टान्तः,— प्राणो यथेति ।३८।

उक्त श्लोक में आत्मा का जन्मादि राहित्य एवं उपलब्धिमात्रत्व कथित हुआ है । उपलब्धिमात्र— अर्थात् ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञातृत्ववान् है, वह धर्म उनका अन्तरङ्ग शक्त्यपरनाम चिच्छक्ति रूप है । वह धर्म होने से भी द्रव्य पदार्थ है, एवं स्वस्वरूपात्मक है । शब्दतः ही धर्म धर्मी भेद है, वह्निवत् आत्मा चेतनस्वरूप है । चेतन उसको कहते हैं, जो स्वयं चिद्रूप होकर भी अन्य देश प्रभृति को प्रकाश करता है । उदाहरण—दीपादि का प्रकाश, जिस प्रकार स्वयं को प्रकाशित कर अपर वस्तुसमूह को प्रकाश करता है, तद्रूप आत्मा है । उस विषय को ही भा० ११।१०।८ पद्य द्वारा सदृष्टान्त कहा गया है—

"विलक्षणस्थूलसूक्ष्माद् देहादात्मेक्षिता स्वदृक् । यथाग्निर्दारुणो दाह्याद्दाहकोऽन्यः प्रकाशकः ।।"

व्याख्या,—अहो ! कोऽसौ देहादिव्यतिरिक्त आत्मा यस्यैकादर्थः सर्वेषु समः स्यात् । तमाह विलक्षण इति । स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयादात्मा अन्यः यतो विलक्षणः । द्वेधा वैलक्षण्यं दर्शयति, ईक्षिता, स्वदृगिति । द्रष्टा हि दृश्याद्विलक्षणः स्वप्रकाश्य जड़ाद्विलक्षणः । तयोरन्यत्वे दृष्टान्तः, यथाग्निर्दाहकः प्रकाशश्च दाह्यात् प्रकाश्याच्च दारुणः काष्ठादन्यस्तद्वदिति ।८।

अहो ! वह आत्मा कौन है, जो देहादि से भिन्न है, एवं जिनके अवस्थान से सम रूप सब में चेतनता आती है ? लक्षण के द्वारा आत्मा को सूचित करते हैं,— आत्मा देहादि से भिन्न धर्माक्रान्त है । दृश्यमान् स्थूल देह, एवं अदृश्य, समवश अवयवविशिष्ट सूक्ष्म देह से आत्मा अन्य है, कारण वह आत्मा देहादि से भिन्न धर्मी है । दो प्रकार से विलक्षणता को कहते हैं, आत्मा देहादि का ईक्षिता द्रष्टा है । अपर— स्वदृग् है, स्वप्रकाश है । द्रष्टा सर्वदा ही दृश्य से भिन्न होता ही है, अतः जड़ से भिन्न, चेतन है ।

आत्मा देह द्वय से भिन्न है, उसको समझाने के लिए दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं,— जैसे अग्नि, दाहक है, प्रकाशक है, दाह्य प्रकाश्य काष्ठ से भिन्न है । उस प्रकार ही आत्मा को देहद्वय से भिन्न जानना होगा । उक्त श्लोक में विलक्षण भिन्न दृष्टान्त हेतु उपन्यास हुआ है, द्रष्टा दृश्यरूप से भिन्न धर्मिता हेतु । प्रकाशक शब्द ज्ञानशक्ति सञ्चारक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । सर्वत्र सक्रियता के प्रति हेतु ही आत्मा है ।

शीलत्वमतिसूक्ष्मतया सर्वचेतनान्तःप्रवेशस्वभावत्वम् "ज्ञानमात्रात्मको न च" इत्यत्र चिदानन्दात्मक इत्यपि हेत्वन्तरम्। तत्र तस्य जड़-प्रतियोगित्वेन ज्ञानत्वं दुःख-प्रतियोगित्वेन तु ज्ञानत्वमानन्दत्वञ्च। ज्ञानत्वन्तूदाहृतम्; आनन्दत्वञ्च निरुपाधिप्रेमास्पदत्वेन साधयति,

सर्वसम्वादिनी

तदेवं ज्ञातृत्वे सिद्धे, कर्त्तृत्वमपि तद्वदेवेति कर्त्तृत्वमाह। तच्च कर्त्तृत्वन्—अचेतनस्य स्वतः कर्त्तृत्वासम्भवात्तथा चैतन्य-सामानाधिकरण्येनैव तत्प्रतीतेः—तस्यैव तद्धर्मः। क्वचित्त्वचेतनस्य यद्दृश्यते, तदपि जीवभाव-वशादन्तर्यामिसम्बन्धाच्च; यथा—रतस्य-क्षरणादि तथा च,—(वृ० ३।८।९) 'एतस्य वा

भा० ७।६।१९-२२ के प्रह्लाद वाक्य से 'आत्मा' चेतन प्रिय, व्यापक व्याप्तिशील अति सूक्ष्म रूप में सर्वत्र स्थित रूप में विवरण मिलता है,—

"न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः। आत्मत्वात् सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः ॥१९
परावरेषु भूतेषु ब्रह्माण्डस्थावरादिषु। भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथ महत्सु च ॥२०
गुणेषु गुणसाम्ये च गुणव्यतिकरे तथा। एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः ॥२१
प्रत्यगात्मस्वरूपेण दृश्यरूपेण च स्वयम्। व्याप्यव्यापकनिर्देश्यो ह्यनिर्देश्योऽविकल्पितः ॥२२

व्याख्या—आत्मत्वात् सर्वत्र सिद्धत्वादिति हेतु द्वयमुपपादयति परावरेति चतुर्भिः। ब्रह्मा अन्तो येषां स्थावर आदि येषां तेषु भूतेषु जीवेषु भौतिकेषु अजीवेषु घटादिषु महत्सु च भूतेष्वाकाशादिषु।२०। गुण-साम्ये प्रधाने, गुणव्यतिकरे महत्तत्त्वादौ च परो ब्रह्मस्वरूपः।२१। कथं तर्हि द्रष्टृदृश्य भोक्तृभोग्यादि भेदो माययेत्याह—प्रत्यगात्मा, द्रष्टा, भोक्ता तत् स्वरूपेण व्यापकतया निर्देश्यः, दृश्यं भोग्यं देहादि तद्रूपेण च व्याप्यतया निर्देश्यो मायया ईयते इत्युत्तरेणान्वयः। वस्तुतस्तु स्वयमविकल्पितोऽनिर्देश्योऽपि सन्। यद्वा अनिर्देश्योऽप्येवं निर्देश्यः सन् विकल्पित ईयते। इत्यन्वयः।२२। यतः केवलोऽनुभवात्मक आनन्द एव स्वरूपं यस्य।

आत्मा होने से सर्वत्र अवस्थित है, व्यापक है, ब्रह्मादि स्थावर पर्य्यन्त समस्त वस्तुओं में भूत भौतिक वस्तु में महद् आकाश प्रभृति में गुणसाम्य रूप प्रधान में गुणव्यतिकर रूप महत्तत्त्वादि में सूक्ष्म चेतनरूप में अनुस्यूत होना ही जिनका स्वभाव है। स्वयं केवल अनुभवात्मक आनन्दस्वरूप हैं।२२।

श्रीजामातृमुनि के वचन में—"न जड़ो न विकारी च ज्ञानमात्रात्मको न च। स्वस्मै स्वयं प्रकाशः एकरूपः स्वरूपभाक् चेतनोव्याप्तिशीलश्च चिदानन्दात्मकस्तथा।"

ज्ञानमात्रात्मक चिदानन्दस्वरूप भी प्राप्त है। जड़ प्रतियोगित्व हेतु ज्ञानत्व, एवं दुःख प्रतियोगित्व हेतु ज्ञानत्व एवं आनन्दत्व, कहा गया है। ज्ञानत्व का उदाहरण चिद्रूप में इसके पहले प्रस्तुत हुआ है। सम्प्रति आनन्दत्व का साधन—निरुपाधि प्रेमास्पदत्व रूप से करते हैं—

शरीर जीर्ण होने पर जीवित रहने की आशा भी जब नहीं रहती है, उस समय भी पुत्र-कलत्रादि को छोड़कर जीवित रहने की आशा बलवती होती है। अतः ममतास्पद एकमात्र आत्मा है, अथवा अविवेक दशा में शरीर जीर्ण होने पर भी जीवित रहने की आशा बलवती होती है, किन्तु आत्मोपलब्धि होने से अर्थात् मैं देह नहीं हूँ, इस प्रकार बोध होने से देह के प्रति उस प्रकार ममता नहीं होती है, यह ही शरीर से भिन्न निरुपाधि प्रेमास्पद आत्मा का स्वरूप है। अतएव महाराज के प्रश्नोत्तर में श्रीशुकदेव ने कहा—एकमात्र ममतास्पद जब आत्मा है, उसके सम्पर्क से ही शरीरादि अपरापर सब प्रिय होते हैं। इन सब प्रत्यक्ष कारणों से निरूपित होता है कि—समस्त देहधारियों के निमित्त प्रियतम एकमात्र ममतास्पद निजात्मा ही है। उस प्रेमास्पद आत्मा की ममता पोषण निबन्धन ही जागतिक स्थावर-जङ्गम प्रिय होते हैं। प्राकरणिक पद्यसमूह इस प्रकार है--

(भा० १०।१४।५४)—(२८) "तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामेव देहिनाम् ।
तदर्थमेव सकलं जगच्चैतच्चराचरम्" ॥५४॥

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

२९ । तस्मिंश्चानन्दात्मके ज्ञाने प्रतिबिम्बं युष्मदर्थत्वं न भवति, किन्त्वात्मत्वादस्मदर्थत्वमेव ; तच्चास्मदर्थत्वमहम्भाव एव । ततोऽहमित्येतच्छब्दाभिधेयाकारमेव ज्ञानं शुद्ध आत्मा प्रकृत्यावेशोऽन्यथा नोपपद्यते । यत एवावेशात्तदीयसङ्घात एवाहमित्यहम्भावान्तरं, प्राप्नोति, तदेतदभिप्रेत्य तस्याहमर्थत्वमाह (भा० ३।२६।६)—

(२९) "एवं पराभिध्यानेन कर्त्तृत्वं प्रकृतेः पुमान् ।
कर्म्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते" ॥६॥

सर्वसम्वादिनी

अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्यो नद्यः स्यन्दन्ते चैतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां याञ्च दिशमनु' इत्यादौ, (ऋक्सं १०म० ११२सू० ९मः) 'न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे' इत्यादौ च । तस्माच्चैतन्यरूपस्य जीवस्यैव कर्त्तृत्वं धर्मः । एतदेव (ब्र०सू० २।३।३३) 'कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" इत्यारभ्य (ब्र०सू० २।३।३९)

"सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः । इतरेऽपत्य वित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ॥
तद्राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम् । न तथा ममतालम्बि पुत्रवित्तगृहादिषु ॥
देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम । यथा देहप्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम् ॥
देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः । यज्जीर्य्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशा बलीयसी ॥
तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् । तदर्थमेव सकलं जगदेतत् चराचरम् ॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् । जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥
वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च । भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विह किञ्चन ॥
सर्वेषामिह वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः । तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तुरूप्यताम् ॥
(भा० १०।१४।५०-५७)

यह सुस्पष्ट उक्ति श्रीशुकदेव की है ॥२८॥

अनन्तर आत्मस्वरूप जीव का निरूपण करते हैं—वह जीव, आनन्दात्मक ज्ञान में प्रतिबिम्बित युस्मदर्थ नहीं होता है, किन्तु वह आत्मा है । अतएव वह जीव अस्मद् शब्द का साक्षात् वाच्य है । उक्त अहमर्थ ही अहम्भाव है, वह अहम्भाव शब्द की मुख्यावृत्ति, अभिधावृत्ति से ही होता है । अहं शब्द वाच्य शुद्ध ज्ञानस्वरूप ही आत्मा है । जो ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञातृत्ववान् है । उक्त अस्मद् शब्दवाच्य ज्ञानस्वरूप आत्मा का प्रकृति जनित सङ्घात समूह शरीर प्रभृति में जो अहम्भाव होता है, उसका कारण स्वरूपगत अस्मच्छब्द वाच्य अहम्भाव है । प्रकृति को वह स्वतन्त्रता के कारण स्वयं आरोप कर तन्मयता को प्राप्त कर लेता है । उक्त अहम्भाव को लक्ष्य करके ही आत्मा का अहमर्थत्व वर्णित है । भा० ३।२६।६—प्रकृति दर्शन के अनन्तर निज स्वैरिता निबन्धन आत्मविस्मृत होता है, पश्चात् मैं प्रकृति ही हूँ, इस प्रकार ध्यान करते करते अपने को प्रकृति के सहित अभिन्न मनन कर प्रकृति के गुण एवं कर्मसमूह को अपना ही मान लेता है । जिसमें अहम्भाव नहीं है, इच्छा प्रभृति कुछ भी नहीं है । वह कभी भी दूसरे को प्रिय रूप से चयन कर आपना नहीं सकता है । निरहङ्कार व्यक्ति का तो पराभिध्यान सम्भव ही नहीं है, प्रियाप्रिय बोध भी नहीं हो सकता है । अतः अस्मद् शब्द वाच्य आत्मा ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञानगुणक होने से एवं उक्त

पराभिध्यानेन प्रकृत्यावेशेन प्रकृतिरेवाहमिति मननेन प्रकृतेर्गुणैः क्रियमाणेषु कर्म्मसु कर्त्तृत्वमात्मनि मन्यते। अत्र निरहम्भावस्य पराभिध्यानासम्भवात् परावेशजाताहङ्कारस्य चावरकत्वादस्त्येव तस्मिन्नन्योऽहम्भावविशेषः। स च शुद्धस्वरूपमात्रनिष्ठत्वान्न संसारहेतुरिति स्पष्टम्। एतदेवाहङ्कारद्वयम् (भा० ११।३।३९) "सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते, कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः" इत्यत्र दर्शितम्। उपाध्यभिमानात्मकस्याहङ्कारस्य प्रसुप्तत्वात्

सर्वसम्वादिनी

"समाध्यभावात्" इत्येतत्पर्यन्तं सूत्रकारेणैव योजितम्। श्रुतिश्च (तै० २।५।१) 'विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि च' इति। न चेदं बुद्धयर्थम्;—(प्रश्न० ४।९) 'एष द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' इति श्रुत्यन्तरात्; (बृ० ३।७।२२) 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' इत्यन्तर्यामि-श्रुतौ तस्य विज्ञानतयातिप्रसिद्धेश्च। अतएव

स्वरूपधर्म ज्ञानादि होने से ही वह स्वतन्त्र रूप से प्रकृति का ध्यान करने में सक्षम है, अन्यथा निरहङ्कार अवस्था में वैसा होना असम्भव है। उक्त स्वतन्त्रता से प्रकृति लोलुपता हुई, उससे प्रकृति में अहं भाव का चरम परिणाम निविड़ अभिनिवेश हुआ। प्रकृति से उत्पन्न देहेन्द्रियादि ही मैं हूँ उससे मेरी सत्त्वा पृथक् कुछ है ही नहीं। इस प्रकार निश्चय करने से उक्त प्रकृत्यावेश रूप अज्ञान के द्वारा जीव का चेतन ज्ञानवस्त्वस्वरूप पूर्णतया आवृत हो गया। तज्जन्य सुनिश्चित होता है कि—आत्मा में शरीरादि भिन्न अहं भाव विशेष है। वह भी अस्मच्छब्द की अभिधावृत्ति से ही सम्भव है।

उक्त अहम्भाव जीव का शुद्धस्वरूप है। कारण—ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञाता अहमर्थ आत्मा कर्त्तृत्वादिमान् जीव ईश्वर भेद से द्विविध होते हैं। उनमें से विभु परमात्मा निज प्रकृति शक्ति के द्वारा जगदुपादान होते हैं। प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधादित्यादि सूत्र के द्वारा उसका प्रतिपादन हुआ है। आनन्दमयाधिकरण में जीवेश्वर का भेद प्रदर्शित हुआ है।

जीव, अणु है, "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः सविज्ञेयः स चानन्त्याय कल्प्यते" "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः।" "सूक्ष्माणामप्यहं जीवः" इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः तस्य कर्त्तृत्वादिकञ्च पारमार्थिकं परायत्तञ्चेति "कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वादित्यादि सूत्रदशकाद् तद्भाष्याच्च विदितम्" बालाग्र शतभाग के समान सूक्ष्मता उसमें है। वह विभूति योग में सूक्ष्म अवधिरूप में निर्णीत है। जीव में अपना जो कर्त्तृत्वादि है, वह पारमार्थिक है, किन्तु ईश्वर आयत्त है। ब्रह्मसूत्र कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वादित्यादि सूत्र में इसका प्रतिपादन किए हैं।

उक्त शुद्ध अहम्भाव जीव में है, वह अहम्भाव विशुद्ध चिदात्मक है, प्रकृति के साथ उसका सम्पर्क नहीं है। अतएव शुद्ध स्वरूपमात्र निष्ठ अहंभाव संसार के प्रति कारण नहीं होता है, संसार का विध्वंसक होता है। "स च जीवो भगवद्दासो मन्तव्यः।" "दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचनेति पाद्मात्।" एष एव साधुकर्मकारयतीत्यादि श्रुतेः परात्तुतच्छ्रुतेरिति सूत्राच्च। अहङ्कारद्वय का वर्णन भा० ११।३।३९ में है—

"अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि प्रसुप्ते कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृति र्नः।

दृष्टान्तं विवृण्वन् इन्द्रियादिलयेन निर्विकारात्मोपलब्धिं दर्शयति—अण्डेष्वति। पेशिषु जरायुजेषु तरुषु उद्भिज्जेषु अविनिश्चितेषु स्वेदजेषु। उपधावति, अनुवर्त्तते, एवं दृष्टान्ते निर्विकारत्वं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकेऽपि दर्शयति। कथम्? तदेव आत्मा सविकार इव प्रतीयते, यद्यदा जागरे इन्द्रियगणः, यदा च स्वप्ने तत् संसारवान् अहङ्कारः यदा तु प्रसुप्तं तदा तस्मिन् प्रसुप्ते इन्द्रियगणे सन्ने लीने अहमि अहङ्कारे च सन्ने कूटस्थो निर्विकार एवात्मा। कुतः? आशयमृते—लिङ्गशरीरमुपाधिं विना, विकारहेतावुपाधेरभावा-

"तदनुस्मृतिर्नः" इत्यनेन 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यात्मनोऽहन्तयैव परामर्शाच्च, अतएव 'मामहं नाज्ञासिषम्' इत्यत्र परामर्शेऽपि उपाध्यभिमानिनोऽनुसन्धानाभावः। अन्यस्य त्वज्ञानसाक्षित्वेनानुसन्धानमिति दिक् ॥ श्रीकपिलदेवः ॥

सर्वसम्वादिनी

(वृ० २।१।१७) 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' इत्यत्र (वृ० २।१।१८) 'प्राणान् गृहीत्वा' इत्यत्र च प्राण-ग्रहणविज्ञानादानयोः कर्त्तृत्वं तस्य लौहाकर्षक-मणिवत् केवलस्यैव गम्यते। अन्यग्रहणादौ प्राणादि करणम्, प्राणादिग्रहणादौ तु नान्यदस्तीति।

दित्यर्थः। ननु अहङ्कारपर्य्यन्तस्य सर्वस्य लये शून्यमेवावशिष्येत तत् कथं तदा कूटस्थ आत्मा, अत आह— तदनुस्मृति र्नः, तस्य दर्शनस्पर्शनादिविशेषज्ञानशून्यस्य सुखात्मनः सुषुप्तिसाक्षिणः स्मृतिर्नोऽस्माकं भवति, एतावन्तं कालं सुखमहं सुप्तो न किञ्चिदवेदिषमिति। अतोऽननुभूतस्य अस्मरणात् अस्त्येव सुषुप्तावात्मानुभवो विषयसम्बन्धाभावात् तु न स्पष्ट इति भावः। तथा च श्रुतिः—यद्वै तन्नपश्यति पश्यन् वै तद्द्रष्टव्य न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते इति" ।३६।

यहाँ अहङ्कार की विविधता प्रदर्शित हुई है। उपाधि अभिमानात्मक अहङ्कार प्रसुप्त होता है सुषुप्ति में। "तदनुस्मृति र्नः" "सुखमहमस्वाप्सम्" यहाँ शुद्ध आत्मा का अभिलापन अहं शब्द से हुआ है। अतएव मैं अपने को नहीं जाना, यह कथन देहेन्द्रियादि उपाधि अभिमानी व्यक्ति का अनुसन्धानाभाव प्रतीत होता है। अपर आत्मा अज्ञान साक्षी होने से अनुसन्धान अज्ञान विषय का रहता है। वेदान्तसूत्र—३।२।५ में उक्त विषय की विवेचना है।

यत्तु बोधोत्तरं बाधान्मिथ्या युक्तं तत्राह— पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्य्ययौ ।५। परमेश्वरस्याभिध्यानात् सङ्कल्पात्तिरोहितं स्वाप्निकं रथादि ननु शुक्तिरजतवत्तस्य बाधः। हि यतोऽस्य जीवस्य ततः परेशादेव बन्धमोक्षौ भवतः। संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुरित्यादि श्रुतेः। बन्धमोक्षकर्त्तुः ततश्च तस्यापि तस्मादेवाविर्भावतिरोभावौ मन्तव्यौ। स्वप्नादिबुद्धिकर्त्ता स एव तु। तदिच्छया यतो ह्यस्य बन्धमोक्षौ प्रतिष्ठितौ" इति स्मृतेश्च। तस्मात्सत्या स्वप्नसृष्टिरैश्वरीति ।५।

स्वप्नस्थ विषयों का विलोप निद्राभङ्ग से होता है, उस समय स्वाप्निक विषय की मिथ्या प्रतीति होती है। इस विषय में विचार करते हैं,—स्वाप्निक विषयों का तिरोभाव परमेश्वर के संकल्प से होता है। किन्तु शुक्ति में रजत की भाँति उसका बोध नहीं है। कारण परमेश्वर ही जीव के बन्ध मोक्ष के कर्त्ता हैं। जीव का बन्ध मोक्ष परमेश्वर की इच्छा से ही होते हैं। श्रुति कहती है—"संसार बन्धन, स्थिति, तथा मोक्ष का हेतु परमेश्वर हैं। बन्धन-मोक्ष कर्त्ता परमेश्वर का स्वप्नकर्त्तृत्व अथवा उसका परिहार कर्त्तृत्व उनमें होना कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है। अतएव स्वप्न का आविर्भाव अथवा तिरोभाव परमेश्वर से होता है, जानना होगा। स्मृति कहती है,— परमेश्वर स्वप्नादि बुद्धि के कर्त्ता हैं। उनकी इच्छा से ही संसार बन्धन एवं मोक्ष होते हैं। अतएव ईश्वर कर्त्तृक स्वप्न सृष्टि सत्य हैं ।५।

अतः जीव, भ्रान्त ब्रह्म मलिन सत्त्वाध्यस्त नहीं है। आनन्दस्वरूप ज्ञान में प्रतिबिम्ब रूप युस्मदर्थ भी नहीं, जीव अस्मद् शब्द वाच्य है, ईश्वर का अंश है, अणु है। उसका अहम्भाव दो प्रकार हैं, शुद्ध अवस्था में स्वरूपभूत अहम्भाव, अशुद्धावस्था में प्राकृत अहम्भाव है।

उपाधि का अभिमानस्वरूप अहङ्कार प्राप्त होने से तदनुस्मृति—अर्थात् अहम्भाव नहीं होता है। उससे "सुखमहमस्वाप्सम्" इस श्रुति प्रमाण से "मैं आनन्द से सो गया था" इस प्रकार कथन आत्मगत अहन्ता से ही सम्भव है। "मैं कुछ नहीं जान सका" यह परामर्श भी उपाधि अभिमानी जीव का अनुसन्धानाभाव

३० । तथा (भा० ११।२२।५३)—

(३०) "नृत्यतो गायतः पश्यन् यथैवानुकरोति तान् ।
एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्य्यते" ।।५३।।

सर्वसम्वादिनी

तदेतच्छुद्धस्यैव कर्त्तृत्व धर्मत्वं योजयितुं पुनः (ब्र०सू० २।३।४०) "यथा च तक्षोभयथा" इति सूत्रयित्वा स च जीवः करण-योगेन स्वशक्त्या च कर्त्ता भवतीत्यङ्गीकृतम् । तक्षा यथा तक्षणे वास्यादि-करणेन वास्यादि-धारणे तु स्वशक्त्तैव कर्त्ता स्यादित्युभयथैव कर्त्ता भवति, तद्वदिति सूत्रार्थः । (ब्र० सू० २।३।३३)

से ही हुआ है । अपर का अज्ञान साक्षित्व हेतु अनुसन्धान नहीं हुआ है । यह दिग्दर्शन है ।

उक्ति श्रीकपिलदेव की है ।।२९।।

उस प्रकार ही भा० ११।२२।५३ में वर्णित है—यद्रूप मनुष्य, नृत्य-गीतकारी मनुष्यों के नृत्यगीतादि को दर्शनश्रवण कर उसका अनुकरण करता है, तद्रूप बुद्धि के गुण को अवलोकन कर उस गुण से आकृष्ट होकर निरीह जीव भी उसका अनुकरण करता है ।

टीका—"ननु अकर्त्तुरात्मनः कुतः कर्मभिर्भ्रमणं तत्राह नृत्यतो गायतो जनान् पश्यन् अनुकरोति । तद्गत स्वरतालादिर्गति शृङ्गारकरुणादि रसञ्च मनसि अनुवर्त्तयतीत्यर्थः । अनुकार्य्यते गुणैर्बलादित्यर्थः । अनेन दृष्टान्तेन दृश्यधर्मो द्रष्टरि स्फुरतीति दर्शितम् ।"

क्रमसन्दर्भः—नृत्यत इति—बुद्धिगुणतोऽन्यदपि ज्ञानं जीवस्य दर्शितम्, द्रष्टृदृश्ययोर्मिथो भिन्नगुणत्वात् ।"

स्वामिपाद के मत में श्लोक का तात्पर्य्य—"आत्मा कर्त्ता है, किन्तु कर्माचरण कैसे होता है, एवं उक्त निजाचरित कर्मभोग के निमित्त उक्त आत्मा का विभिन्न देह से देहान्तर में भ्रमण ही कैसे होता है ? उत्तर,—आत्मा सच्चिदानन्द है, अणु परिमाण होने पर भी वह ज्ञानवान् है । अतः वह निजेच्छा से ही जड़ीय वस्तु में निविड़ ममत्व अकारण स्थापन करता है । उस तन्मयता से निज ज्ञानवत्ता का परिपूर्ण आस्वादन जीवात्मा का होता है । ज्ञान ग्रहण किस प्रकार से होता है, उसको तन्मयता एवं तदनुसरण अंश से दृष्टान्त द्वारा बोध कराते हैं । दर्शन एवं श्रवण के द्वारा आत्मा ज्ञानास्वादन करता है । नेत्रेन्द्रिय वहिर्निर्गत होकर विषय ग्रहण कर आत्मा को अर्पण करती है । श्रवणेन्द्रिय में प्राप्यकारिता है, उसमें शब्द धृत होता है । पश्चात् आत्मार्पित होने से आत्मा की विषयोपलब्धि होती है । मनः इसमें प्रधान सहकारी है । आत्म मनः संयोग के विना इन्द्रिय विषय प्रदान करने पर भी आत्मा की विषयोपलब्धि नहीं होती है ।

अविदग्ध व्यक्ति के सामने विषय उपस्थित होने से भी वह उससे आकृष्ट नहीं होता है । अतः आत्मा पूर्ण ज्ञानात्मक होकर ज्ञानगुणवान् है । अतः आत्मा इन्द्रिय के द्वारा विषयों को प्राप्त कर प्रिया-प्रिय रूप से आस्वादन करता है । दृष्टान्त, जिस प्रकार मानव नृत्य गीत को सुनता है, सुनकर वह स्वानुभूत विषयों को नृत्यगीत दर्शन-श्रवण से उद्दीप्त करके आत्मभाव का आस्वादन करता है, यह भाव—पुनः पुनः अनुभव से होता है । आत्मा में अनन्त परिमाण में इसका सञ्चय नित्य रूप से है । अतः नृत्यगीतादि दर्शन-श्रवण से नृत्यगत तालादि भाव प्रकाशक अङ्गविक्षेपादि गीतादि से राग-रागिणी का अनुसरण कर तन्मय होता है, अनन्तर अननुसन्धान से भी जीव उस नृत्य-गीत शृङ्गारादि रस का अनुकरण कर आस्वादन करता है । साधारणीकरण के द्वारा चित्त में उक्त नृत्यगीत शृङ्गारादि भाव का ममत्वेन प्रभाव पड़ता है, उससे वह जीव स्वानुभूत ज्ञानधारा के साथ उसको एकीकरण करके आस्वादन करता है । मन में पुनः पुनः स्मरण होता है । तन्मयता निविड़ होने से पुनः पुनः स्मरण विषयोपस्थिति के द्वारा विषय का संस्कार दृढ़तर होता जाता है, और अज्ञानता के कारण अर्थात् जड़ीय विषयक आध्यासिक सुख को

पूर्ववत् ।। श्रीभगवान् ।।

३१ । एवमेव स्वप्नदृष्टान्तमपि घटयन्नाह (भा० ३।७।१०)—

(३१) "यदर्थेन विनामुष्य पुंस आत्मविपर्य्ययः ।
प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः" ।।१०।।

सर्वसम्वादिनी

"कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" इत्यतः कर्त्तेत्यनुवर्त्तमानत्वात् । तत्र जड़ात्मकशरीरेन्द्रियाद्यावेशेन तैरेव करणैर्यत् कर्त्तृत्वम्, तच्छुद्धादेव पुरुषात् प्रवर्त्तमानमपि प्रकृति-वृत्ति प्राचुर्य्यात् तत्तत्प्रधानत्वेन तत्करणकत्व-मेवेत्युच्यत इत्याह,—(मूले ३४श अनु०) यत्त्विति । यत्तु प्राणग्रहणादि-पूर्वोत्क्रान्त्यादि, तत्र स्व-कारणतैव

ममत्वेन अपनाने के कारण उक्त विषयास्वादन में रत होता है । सत् सङ्ग से भक्ति प्राप्त होने पर वह चेतनानन्द को प्राप्त कर सुखी होता है ।

इस दृष्टान्त से प्रतीत होता है कि— द्रष्टा पृथक् धर्मी है, दृश्य पृथक् है । किन्तु द्रष्टा के स्वकृत अनुध्यान से दृश्य धर्म द्रष्टा में स्फुरित होता है ।

क्रमसन्दर्भ के मत में—"नृत्यतः" दृष्टान्त से दर्शाया गया है कि— बुद्धि के गुण से अन्य प्रकार भी ज्ञान जीवात्मा को होता है । कारण द्रष्टा एवं दृश्य, एतदुभय पदार्थ पारस्परिक भिन्न स्वभावाक्रान्त है । द्रष्टा चेतन है, दृश्यादि अचेतन है, गुणारोपण प्रक्रिया से आनन्दास्वादन जीवात्मा करता रहता है । पूर्वोक्त प्रकरण के समान ही इसमें द्रष्टा दृश्य का विभेद वर्णित है । इसका प्रवक्ता श्रीभगवान् हैं ।।३०।।

इस प्रकार स्वप्न दृष्टान्त को सरल रूप से दिखा कर कहते हैं—भा० ३।७।१० में कथित है, देह धर्म निबन्धन बन्धनादि जीव के ही होते हैं, ईश्वर के नहीं । जिस प्रकार चन्द्रमण्डल जल में प्रतिविम्बित होने से जलोपाधिकृत कम्पनादि धर्म यद्यपि वस्तुतः चन्द्रमें नहीं है, तथापि दृष्ट होते हैं । किन्तु आकाशस्थ चन्द्रविम्व में कम्पनादि दृष्ट नहीं होते हैं । तद्रूप अनात्म देहादि धर्म वस्तुतः मिथ्या होने से भी देहाभिमानी जीव में ही प्रतीयमान होते हैं । देहाभिमान रहित ईश्वर में प्रतीत नहीं होते हैं । "उपद्रष्टुः,— अमुष्य" स्वप्न द्रष्टा जीव कर्त्तृक सब अनुभूत होते हैं ।

व्याख्या—भगवतोऽचिन्त्यशक्तेरीश्वरस्य सेयं माया नयेन तर्केण विरुध्यत इति यत्, तर्कविरोधमेवानु-वदति, विमुक्तस्यैव पुंसोऽविद्यया बन्धनं कार्पण्यञ्चेति । अत्रोदाहरणमाह—यदा यथा अर्थेन शिरश्छेदादिना विनापि उपद्रष्टुः स्वप्नसाक्षिणः ममेदं शिरश्छिन्नमित्यात्मविपर्य्ययः केवलं मृषैव प्रतीयेत तद्वत् । ननु ईश्वरस्यापि किं न प्रतीयेत ? तत्राह—यथा जले प्रतिविम्वितस्यैव चन्द्रमसो जलोपाधिकृतः कम्पादिधर्मो दृश्यते, नतु आकाशे स्थितस्य । तथात्मनोदेहादेर्धर्मोऽसन्नपि तदभिमानिनो द्रष्टुरात्मनो जीवस्यैव नत्वीश्वरस्येत्यर्थः । तन्निवृत्त्युपायमाह—अनात्मनो गुणः वासुदेवानुकम्पा तया च तस्मिन् भक्तियोगः तेन तिरोधत्ते अदृश्यो भवति । शनैः साधनानुसारेणेत्यर्थः । सर्वानर्थनिवृत्तिः कदा स्यात् ? अन्तर्य्यामिरूपे द्रष्टुरात्मनि इन्द्रियाणामुपरामो नैश्चल्यम् । कृत्स्नक्लेश विलयनांशे दृष्टान्तः— संसुप्तस्येवेति । नतु पुनरुत्थाने ।

भगवान् की माया लोकबुद्धि वेद्य नहीं है । ईश्वर बुद्धि को लोक क्यों नहीं समझ सकते ? दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं, मुक्त जीव ज्ञानानन्द से सम्पन्न होकर भी अनुपादेय अज्ञान में अपने को निमज्जित कर लेता है । इसको बन्धन एवं दीनता शब्द से कहते हैं । यह किस प्रकार है, उसमें दृष्टान्त—अपना शिरश्छेद नहीं होता है, अपना शिरश्छेद को कोई नहीं देखता न-तो शिरश्छेदन होने से देख ही पाता, कारण मस्तक मण्डल में ही नेत्र होते हैं । किन्तु स्वप्न में वह जीव उसका अनुभव करता है । यह अनुभव केवल मिथ्या है । ईश्वर तो शरीर में रहते हैं । उनका यह अनुभव क्यों नहीं होता है ? दृष्टान्त—चन्द्रविम्व

का प्रतिविम्व जल में होने से जल कम्पनादि का प्रभाव प्रतिविम्व में जिस प्रकार पड़ता है, आकाशस्थ चन्द्र में नहीं पड़ता है। उस प्रकाश ईश्वर में देह जनिताविद्या का प्रभाव नहीं पड़ता है। जीव देहाभिमानी है। ईश्वर देहाभिमानी नहीं हैं। इस अनात्म गुण की निवृत्ति का उपाय क्या है ? उत्तर, वासुदेव की अनुकम्पा उनमें भक्तियोग के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होती है। किन्तु धीरे धीरे साधन क्रम से निवृत्ति होती है। सर्वानर्थ निवृत्ति कब होगी ? उत्तर,—परमात्मा में समस्त इन्द्रियवृत्ति निबद्ध होने से ही सर्वानर्थ निवृत्ति होगी, दृष्टान्त—निविड़ निद्रा से जीव जिस प्रकार सुखी होता है, जाग्रत होने से उस प्रकार नहीं, तद्वत्।

क्रमसन्दर्भः के मत में—एष एक एव भगवान् परमात्मापि सर्वक्षेत्रेषु देहेषु देहेष्ववस्थितः। तत्र सति कथममुष्यैव भगवद्वदेव चिद्रूपत्वस्वरूपभूतज्ञानवत्त्वाव्यभिचारिण्यो जीवस्य दुर्भगत्वं स्वरूपभूतज्ञानादि-लोपः ? कर्मभिः क्लेशश्च तस्य वा कुतो नास्ति ? न ह्येकस्मिन् जलादौ स्थितयोर्वस्तुनोः कस्यचित् तत् संसर्गः कस्यचिन्नेति युज्यत इत्यर्थः।

तत्र केवलं चिन्मात्रत्वं जीवेऽपि न सम्भवतीति भगवत्त्वमङ्गीकृत्य श्रीमैत्रेय उवाच - सेयमिति। यया विश्वसृष्ट्यादिकं भवति। सेयं भगवतोऽचिन्त्यस्वरूपशक्तेर्माया्ख्याशक्तिः। यद् या च नयेन तर्केण विरुध्यते। तर्कातीततया सेयमप्यचिन्त्येत्यर्थः। यद्यप्येवं द्वयोरप्यचिन्त्यत्वम्, तथापि भगवतो मायेत्यनेन व्यक्तत्वात् स्वरूपशक्तेरन्तरङ्गत्वात् बहिरङ्गया मायया गुणैः सत्वादिभिस्तत्कार्य्यैः स्थापनादिलीलाभिश्च नासौ स्पृश्यत इत्यर्थः। तन्त्रेण चायमर्थः, यद् यया मायया येन भगवता सह न विरुध्यते, नासौ विरुध-विषयी क्रियत इति यद् या येन भगवता न विरुध्यते—न सर्वथा निर्विषयीक्रियते—इति च। एवमेव षष्ठे नवमाध्याये (भा० ६।९।३३) "दुरवबोध इव तवायम्" इत्यादिना गद्येन तस्य सगुणकर्त्तृत्वं विरुध्य, पुनः भा० ६।९।३४, "अथ तत्र भवान्" इति गद्येनान्तर्य्यामितया गुणविसर्ग पतितत्वेन जीववत् भोक्तृत्व योगं सम्भाव्य (भा० ६।९।३५) "नहि विरोध उभयम्" इत्यादि गद्येन तत्र तत्रावितर्क्य शक्तित्वमेव सिद्धान्ते योजितम्।

तत्र स्वरूपशक्तेरवितर्क्यत्वं "भगवति" इत्यादिभिर्विशेषणैर्मायायाश्च "आत्ममायाम्" इत्यनेन दर्शितम्। तत्रैव "स्वरूपद्वयाभावात्" इत्यस्य तथाप्यचिन्त्यशक्त्या तत् कर्त्तृत्वं तदन्तःपातित्वञ्च न विद्यते, इत्यर्थः। (भा० ६।९।३६) "समविषममतीनाम्" इति तु गद्यं तथाप्युच्चावच बुद्धीनां तथा तथा स्फुरसीति प्रतिपत्त्यर्थं ज्ञेयम्। "दुरवबोध इव" इति प्राक्तन गद्ये तु "अशरीरः" इति शारीरचेष्टां विना "अशरणः" इति भूम्याद्याश्रयं विनेत्यर्थः। "अथः तत्र" इत्यादौ 'स्व कृतम्' इति तस्यापि हेतुकर्त्तृत्वाद् योजनीयम्। तस्मादत्रापि स्वरूपशक्तेः प्राबल्य दर्शितम्। अतएव (भा० २।९।३३) "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत" इत्यादौ आभासस्थानीयत्वं प्रदर्श्य तदस्पृश्यत्वमेव भगवतो दर्शितम्। (भा० १।७।२३) "त्वमाद्यः पुरुषः साक्षात्" इत्यादौ "मायांव्युदस्य चिच्छक्त्या" इत्यनेन च तथा ज्ञापितम्। (भा० २।७।४७) माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना इत्यनेन च।

तदेवं भगवति तद् विरोधं परिहृत्य जीवेऽप्यविद्यासम्बन्धमतर्क्यत्वेन दर्शितया तन्माययैव समादधाति—ईश्वरस्येति। यदित्यनेनैव सम्बध्यते, अर्थवशादत्र च तृतीयया परिणम्यते, यद् यया ईश्वरस्य स्वरूप-ज्ञानादिभिः समर्थस्यातएव विमुक्तस्य कार्पण्यं तत्तत् प्रकाशतिरोभावस्तथा बन्धनं तद् दर्शितगुणमयजाल-प्रवेशश्च भवतीति, तदुक्तम्—(भा० ६ ५।१५) "तत् सङ्गभ्रंशितैश्वर्य्यम्" इति। तदेतत् सर्वमिति प्रेत्य श्रुतयोऽप्याहुः (भा० ८।७।३८) "स यदजयात्वजाम्" इत्यादौ "अपेतभगः" इति च। अत्र मूलपद्ये "भगवतो माया" इत्यनेन भगवत्त्वं त्वमायिकमित्यायातम्, "इन्द्रस्य माया" इत्यत्र यथेन्द्रत्वम्। एवं पूर्वत्रापि ज्ञेयम्।

पुनरपि जीवस्य वस्तुतः स्वीय तत्तदवस्थत्वाभावेऽपि भगवन्माययैव तत्तत् प्रतीतिरिति सदृष्टान्त-मुपपादयति। यदर्थेन विनामुष्येति। यद् यस्या मायाया हेतोरर्थेन विनापि। यद्यपि तस्य त्रिकालमेव

सोऽर्थ नास्ति, तथाप्यात्मविपर्य्यय आत्मविस्मृतिपूर्वक पराभिमानेनाहमेव तद्धर्मीत्येवं रूपः सोऽर्थः स्यात्। तथा ह्युपद्रष्टुर्जीवस्य, तृतीयार्थे षष्ठी, स्वप्नावस्थायां जीवेन स्व-शिरश्छेदनादिकोऽतीवासम्भवोऽर्थः प्रतीयते। न हि तस्य शिरच्छिन्नम्, न वा स्वशिरश्छेदं कोऽपि पश्येत्। किन्तु भगवन्माययैवात्रान्यत्र सिद्धं तद्रूपमर्थं तस्मिन्नारोपयति मायामात्रं तु (ब्र० सू० ३।२।३) कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् इति न्यायेन।

अतएव शुद्धस्यापि सतो जीवस्यौपाधिकेनैवरूपेणोपाधिधर्मापत्तिरिति दृष्टान्तान्तरेणोपादयति, यथा जल इति। यथा जले प्रतिविम्बितस्यैव चन्द्रमसोऽयं जलोपाधिकृत गुणोधर्मो दृश्यते, नतु आकाशे स्थितस्य। तद्वदनात्मनः प्रकृति रूपोपाधेर्धर्म आत्मनः शुद्धस्यासन्नपि "अहमेव सोऽयम्" इत्यावेशान्मायोपाधि तादात्म्यापन्नस्याहङ्काराभासस्य प्रतिविम्बस्थानीयस्य तस्य द्रष्टुराध्यात्मिकावस्थस्यैव यद्यपि स्यात्तथापि शुद्धोऽसौ तदभेदाभिमानेन तं पश्यतीत्यर्थः। तदुक्तमेकादशे श्रीभगवता—(भा० ११।२२।५३)

"नृत्यतो गायतः पश्यन् यथैवानुकरोति तान्। एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्य्यते॥" इति। तथैवोक्तम्,—(भा० ५।११।१२) "शुद्धोविचष्टे ह्यविशुद्धकर्त्तुः" इति; अत्र वि-शब्दस्य चात्र तदावेश एव तात्पर्य्यम्। तस्माद् भगवतोऽचिन्त्यस्वरूपान्तरङ्गमहाप्रबलशक्तित्वाद् बहिरङ्गया प्रवलयाप्यचिन्तयापि मायया न स्पृष्टिः। जीवस्य तु तया स्पृष्टिरिति सिद्धान्तितम्। निवृत्तिधर्मेण निष्कामस्वभावेन भक्तियोगेन या वासुदेवानुकम्पा, तया शनैस्तदनुकम्पातारतम्येन तिरोधत्ते।

एक ही भगवान् परमात्मा रूप में समस्त जीव देह में अवस्थित हैं किन्तु जीव का ही दुर्भाग्य उपस्थित कैसे होता है? भगवान् के समान ही जीव चिद्रूप है, ज्ञानवान् भी है। उसका ज्ञानादि का लोप कैसे होता है? कर्म भगवान् भी करते हैं जीव भी, किन्तु कर्म के द्वारा जीव का ही क्लेश होता है, भगवान् का नहीं? एक जलमें स्थित वस्तुद्वय का किसी का जलस्पर्श होगा, किसी का नहीं।

जीव एवं ईश्वर चिद्रूप होने से भी जीव से ईश्वर में विशेषता है। ईश्वर पूर्ण शक्तिमान् स्वराट् हैं, जीव, उनका अधीन अणु शक्तिमान् है। उन भगवान् की विश्वसृष्टिकारिणी शक्ति है, जिसको मायादि शब्द से कहते हैं। अचिन्त्य स्वरूपशक्तिविशिष्ट भगवान् की एकपाद विभूति में कार्य्य सम्पादन कारिणी है। पुरुष बुद्धि के विषय न होने से वह मायाशक्ति भी शास्त्रैक गम्य है। अचिन्त्य है। कार्य्य दर्शन से ही उसका ज्ञान होता है।

भगवान् एवं उनकी शक्ति दोनों ही अचिन्त्य है। पुरुष मति वेद्य नहीं है, तथापि भगवान् की माया शक्ति है। स्वरूपशक्ति—अन्तरङ्गा शक्ति है। उक्त अन्तरङ्गाशक्ति की वहिर्देश में कार्य्यकारिणी शक्ति वहिरङ्गा माया शक्ति है। अतः मायाशक्ति के सत्वादि गुणों से स्पृष्ट भगवान् नहीं होते हैं। ईश्वर मायाधीन नहीं हैं। माया, ईश्वराधीन है। माया के सहित ईश्वर का विरोध नहीं है, माया भी सेविका है। कदापि विरुद्धाचरण नहीं करती है। सर्वदा भगवदनुकूल ब्रह्माण्ड की रचना कर भगवान् को सुखी करती है। भा० ६।९।३३ में दुरवबोध शक्ति का वर्णन है। सगुण कर्त्तृत्व का विरोध उपस्थित करके अन्तर्य्यामी पुरुष रूपमें जीव के भोगायतनादि का सृजन परिचालनादि करते हैं। "न हि विरोध उभयम्" अतर्क्य शक्ति के द्वारा उभय कार्य्य युगपद् विरुद्ध नहीं होता है।

स्वरूपशक्ति, जो अवितर्क्य है, "भगवति" "आत्मामायां" इन विशेषणों से कहा गया है। उन भगवान् में "स्वरूपद्वयाभावात्" अचिन्त्य शक्ति के द्वारा जगत्कर्त्तृत्व एवं जगत् में रहना सम्भव नहीं है, भा० ६।९।३६ "समविषममतीनां" यह गद्य उसको कहता है। अर्थात् जो लोक भगवत्तत्त्व को यथार्थ रूप से समझ नहीं पाते हैं, वे लोक उस प्रकार कहते हैं। "दुरवबोध इव" इस प्रकार प्राक्तन गद्य में "अशरीरः" शरीर चेष्टा के विना "अशरणः" भूमि प्रभृति को आश्रय न करके ही ईश्वर स्थित हैं।

"अथ तत्र" यहाँ "स्वकृतम्" यह प्रयोजककर्त्ता का सूचक है। इससे स्वरूपशक्ति का ही प्राबल्य है। अतएव भा० २।९।३३ में "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत" इत्यादि आभास स्थानीय माया है, और सत्य को आश्रय

उपद्रष्टुरमुष्येति स्वप्नद्रष्ट्रा अमुना जीवेनेत्यर्थः ॥ श्रीमैत्रेयः ॥

सर्वसम्वादिनी

स्फुटा ; यथोदाहृतम्— (भा० ११।३।३९) "प्राणो हि जीवमुदधावति तत्र तत्र" इति ; (ब्र०सू० ३।३।२७, ४।४।२१ माध्वभाष्य-धृता श्रुतिः) "एतत् साम गायन्नास्ते" इति ; (छा० ८।१२।३) "जक्षत् क्रीड़न्" इत्यादौ मुक्तानामपि विहार-लक्षण-कर्त्तृत्व श्रवणात्। न च कर्त्तृत्व-मात्रस्य दुःखावहत्वमेवेति वाच्यम् ; किन्तु

करके ही अवस्थित होती है। उन माया से भगवान् अस्पृष्ट हैं। (भा० १।७।२३) "त्वमाद्यः पुरुषः साक्षात्" इत्यादौ "मायांव्युदस्य चिच्छक्त्या" उससे उक्तार्थ सूचित हुआ है। (भा० ३।७।४७) "माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना" माया लज्जिता होकर श्रीभगवान् के दृष्टिपथ में नहीं रहती है।

भगवान् में माया का योग नहीं हो सकता है, इसे कहकर जीव में माया-अज्ञान का योग भी अतवर्य रूप से होता है। इसको दिखाकर ईश्वर की मायाशक्ति से जीव अज्ञानी बनता है। जीव स्वरूपज्ञानानन्द से समर्थ है, मुक्त है, तथापि ज्ञानानन्द से निःस्व हो जाता है, एवं मायारूप अज्ञानता के सुविस्तृत जाल में अपने को आबद्ध कर लेता है। भा० ६।५।१५ में उक्त है—"तत् सङ्गभ्रंशितैश्वर्य्यम्" यह सब पर्य्यालोचन कर श्रुतिगण कहती हैं—(भा० १०।८७।३८) "स यदजया त्वजाम् अपेतभगः" जब जीव स्वेच्छा से अज्ञान को बरण कर लेता है, तब ही वह निज स्वाभाविक ज्ञानानन्द प्रभृति से रिक्त हो जाता है। इससे भगवत्स्वा मायाकृत नहीं है। प्रतिपादित हुआ। कहा भी है—"इन्द्रस्य माया" 'इन्द्रत्व' ईश्वराधीन माया है, मायाधीन ईश्वर नहीं। जीव निज स्वैरिता के कारण मायाबद्ध दीन निःस्व होता है।

उक्त अवस्था जीव की स्वाभाविकी नहीं है। उस उस रूपमें प्रतीति होती है, इस विषय को सदृष्टान्त दर्शाते हैं। विषय न होने पर भी जिनकी माया के द्वारा उस विषय की प्रतीति होती है। यद्यपि जीव की उक्त अज्ञानता कालत्रय में स्थायी रूप से नहीं रहती है। तथापि अज्ञान को उत्तम मानकर आत्म-विस्मृति जीव की होती है। अविद्या को ध्यान करते करते मैं अविद्या धर्मी हूँ, इस प्रकार बोध हो जाता है, वह ही जीव का ज्ञान विषय होता है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में जीव जानता है कि—शिरमें नेत्र है। शिरश्छेदन जिस का होता है, वह कभी भी निज शिरश्छेदन नहीं देख पाता है। अतीव असम्भव विषय भी जीव देखता और आस्वादन करता है। यह कार्य्य सम्पन्न, भगवन्माया से होता है। अन्यत्र सिद्ध उस प्रकार विषय को लाकर माया आरोप कर दिखा देती है। ब्रह्मसूत्र ३।२।३ "मायामात्रं तु कार्त्स्न्येना-नभिव्यक्त-स्वरूपत्वात्" इस नियम से प्रतिपन्न होता है।

अतएव जीव सर्वथा शुद्ध होने पर भी स्वेच्छा से स्वीकृत आगन्तुक विषयों से स्वरूपाभिभूत अवस्था को प्राप्त करता है। दृष्टान्त—जिस प्रकार जल में चन्द्र का प्रतिविम्ब पड़ता है, जल कम्पनादि प्रतिविम्ब प्रभावित होता है, किन्तु आकाशस्थ चन्द्र प्रभावित नहीं होता है। उस प्रकार आत्मा प्रकृति धर्म से अपने को ग्रस्त मानता है। शुद्ध होकर भी जीव 'मैं वह अशुद्ध ही हूँ' ऐसा मान लेता है। शुद्ध के साथ भी अपना भेदाभिमान होता है, और तन्मय हो जाता है। भा० ११।२२।५३ में इसका दृष्टान्त है—दूसरे को नाचते-गाते देखकर अभिनिविष्ट जीव नाचना गाना का अनुकरण करता है, एवं शृङ्गारादि भाव में भी तन्मय देख सुनकर ही होता है। इसलिए कहा गया है—भा० ५।११।१२ में "शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्ध-कर्त्तुः" यहाँ विचष्टे में वि-शब्द का अर्थ—उसमें आविष्ट होना। अतएव भगवान् महाप्रबल अन्तरङ्ग स्वरूपशक्ति में महीयान् होने के कारण वहिरङ्गा प्रबल अचिन्त्य मायाशक्ति से श्रीभगवान् का स्पर्श नहीं है। जीव का स्पर्श माया से होता है। जीव उच्छृङ्खल एवं मनमुखी होना को पसन्द करता है। भक्ति शिक्षा ही एकमात्र सुशृङ्खल शिक्षा है, निष्काम स्वभाव भक्तियोग के द्वारा प्रिय वासुदेव की आराधना करने से साधन के अनुसार धीरे धीरे उच्छृङ्खलता चली जाती है। यह उक्ति मैत्रेय महोदय की है ॥३१॥

३२। साधिते च स्वरूपभूतेऽहम्भावे प्रतिक्षेत्रं भिन्नत्वमपि साधितम्। यत्तु (भा० ११।१३।२२)—"वस्तुनो यद्यनानात्वमात्मनः प्रश्न ईदृशः।

कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आश्रयः" ॥२२॥

इत्यादौ ज्ञानि-लौकिक-गुरुरीतिं तदीयप्राकृतदृष्टिं वानुसृत्य स्वस्य जीवान्तर-साधारण्य-कल्पनामये श्रीहंसदेव-वाक्ये जीवात्मनामेकत्वम्, तत् खलु अंशभेदेऽपि ज्ञानेच्छून् प्रति ज्ञानोपयोगित्वेन तर्माविविच्यैव समानाकारत्वेनाभेद-व्यपदेशो यथा तत्रैव (भा० ११।१३।२३)—

"पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेष्वपि वस्तुतः।

को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः"। २३॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

प्रकृतिसम्बन्धिन एव कर्त्तृत्वस्य।

तदेवं शुद्धात् प्रवर्त्तमानमपि तत्सम्बन्धि-कर्त्तृत्वं तं शुद्धं न मलिनयति,—चिच्छक्तिप्राधान्यात्। अतएवास्यैवौदासीन्यादकर्त्तृत्वादि-व्यपदेशश्च क्वचिदस्ति। अतएव (भा० ५।११।१२) "शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्त्तुः" इत्युक्तम्; (भा० ११।१०।३१)

स्वप्नद्रष्टा स्वयं जीव है, और यह कार्य्य सम्पन्न भी जीवगत निजाहङ्कार के द्वारा ही होता है। इससे जीव अहं पदवाच्य है, एवं यह अहम्भाव—उसका स्वरूपभूत है, साधित हुआ। इससे जीव प्रति क्षेत्र भिन्न है, यह भी स्वाभाविक रूप से साधित हुआ। किन्तु भा० ११।१३।२२ में श्रीहंसदेव के वाक्य से ऊपरोक्त सिद्धान्त का विरुद्ध विवरण मिलता है। श्रीहंसदेव ने विप्रगण को कहा—"विप्रगण आप सब ने आत्मा को लक्ष्य करके यदि प्रश्न किया हो, तब तो आत्मा की अभिन्नतानिबन्धन ईदृश प्रश्न किस प्रकार सम्भव होगा? मैं भी किस को अवलम्बन करके उत्तर करूँगा?" इत्यादि प्रमाण से ज्ञानी लौकिक गुरु रीति एवं उन सब की प्राकृत दृष्टि को अनुसरण करके ही श्रीहंसदेव ने अपने को साधारण जीव मान लिया था। इससे जीवात्मा की एकता स्थापित होती है? समाधान करते हैं, श्रीहंसदेव के वाक्य में जीवात्मा की एकता कही गयी है, उसका अभिप्राय है,—प्रश्नकर्त्ता को देखकर कहने का अभिप्राय से अभेद वर्णन आत्मा का हुआ है। आत्मस्वरूप ज्ञानेच्छु व्यक्तिगण के लिए अंश भेद से भी स्वरूपज्ञानोपयोगि रूप से आत्मा का एकत्व कहना हितकर है। अतएव आत्मा का विशेष विचार न करके ही साधारण दृष्टि से चेतन दृष्टि को लेकर अभेद कथन आत्मा का हुआ है। उसके अनन्तर पद्य भा० ११।१३।२३ में उसका स्पष्टीकरण हुआ है। "श्रीहंसदेव ने कहा, यदि भूत समूह को लक्ष्य करके आप सब ने प्रश्न किया हो, तो इस शरीर में पञ्चभूत समान रूप से विद्यमान है। अतएव मेरे प्रति "आप कौन हो?" इस प्रकार कथन, अनर्थक ही है।"

क्रमसन्दर्भकार कहते हैं—"कृतपादाभिवन्दनत्वात् को भवनानिति प्रश्नो न अज्ञानजः, किन्तु तेनैव तदभिप्रायज्ञानार्थः।"

चरणों में प्रणाम करने के अनन्तर जब प्रश्न किया गया है कि—"आप कौन हो?" तब यह प्रश्न अज्ञान से नहीं हुआ, किन्तु उस प्रश्न से ही उत्तर रूप अभिप्राय को जानने के निमित्त ही वैसी उक्ति हुई है। अतएव उन ब्राह्मणों को तत्त्व जिज्ञासु कहा गया है।

"किं मां जीवं ज्ञात्वा यं को भवानिति प्रश्नः क्रियते? भौतिकदेहं ज्ञात्वा वा किं वेश्वरं ज्ञात्वेति विकल्प्य जीवपक्षं दूषयति—आत्मनो जीवरूपस्य वस्तुनो यद्यनानात्वं सर्वस्यापि तस्य चिदेकरूपतया विशेषांशनिर्देशायोग्यत्वम्, तर्हीदृशः प्रश्नः कथं घटेत? यदीति निश्चये। तस्मात् हे विप्राः! वो

युस्माकं प्रष्टॄणां वक्तुर्वा मम क्व आश्रयः ? युष्माभिः कं जात्यादिविशेषमाश्रित्य क इति प्रयुक्तं मया चोत्तरयितव्यमित्यर्थः। अत्र ज्ञानिनो लौकिक-गुरुरीति तदीय प्राकृतदृष्टि वा अनुसृत्य स्वस्य जीवान्तर-साधारण्य कल्पनामये श्रीहंसदेववाक्ये यत्तु जीवात्मनामैकत्वम्, तत् खल्वंशभेदेऽपि ज्ञानेच्छून् प्रति ज्ञानोपयोगित्वेन तमविविच्यैव समानाकारत्वेनाभेदव्यपदेशो यथा वक्ष्यमाणग्रन्थे।"

उत्तर करने के लिए प्रश्नस्वरूप को सुस्पष्ट रूप से जानने के अभिप्राय से पूछ रहे हैं,—आप सबने मुझको जान कर ही प्रश्न किया—आप कौन हो ? इस प्रकार कहा ? अथवा भौतिक देह जानकर, किम्वा मुझको ईश्वर जानकर, 'आप कौन हो ?' पूछा। विविध प्रकार से कहकर प्रथम जीव पक्ष का खण्डन करते हैं। जीवस्वरूप आत्मा का वस्तुतः नानात्व है ही नहीं, सब आत्मा ही चिद्रूप हैं, कुछ भी उसमें विशेष नहीं है। तब विशेष वाचक शब्द "कौन हो" प्रयोग कैसे सम्भव है। तब इस प्रकार पूछना कैसे सम्भव होगा ? यहाँ यदि शब्द निश्चयार्थ में प्रयुक्त है। अतएव हे विप्राः ! आप सब का कथन--मेरा किस अंश को लक्ष्य करके हुआ है ? "कौन हो" शब्द का प्रयोग आप सब ने किया है, उसका लक्ष्य "द्रव्य गुण जाति क्रिया" मुझ गत किसको जानने के अभिप्राय से प्रश्न किया है ? जिसको अवलम्बन कर मैं उत्तर करूँ। यहाँ पर लौकिक गुरुशिष्य व्यवहार में जिस प्रकार व्यवहार होता है, उस रीति को अबलम्बन करके ही जीवात्मा की अभिन्नता स्थापन की है, अथवा श्रीहंसदेव ने जान लिया था कि—प्रश्न हुआ है, मुझको साधारण व्यक्ति मानकर। अतएव आपने जीवान्तर साधारण के सहित अपने को अभिन्न मानकर ही जीवात्मा की एकता को कहा है। किन्तु प्रश्नोत्तर प्रसङ्ग में सुस्पष्ट होता है कि—जीवात्मा में भेद सुस्पष्ट है। तथापि आत्मस्वरूपानुसन्धानकारि के लिए अभेद ज्ञान ही उपयोगि है। अतएव आत्म सम्बन्ध में विशेष विश्लेषण न करके ही समानाकार चिद्रूप को लक्ष्य करके ही आपने जीवात्मा का एकत्व को कहा है।

देह पक्ष में दोष दर्शाते हैं—"वस्तुविचारे सति भूतानां पञ्चात्मकत्वात् को भवानित्येकत्वेन प्रश्नोऽयं नार्थवान्। यदि च देहस्वरूपाणां तेषां मिलितत्वेनैकत्वं मन्यध्वे, तथाप्यात्मवत् प्रश्नोऽयं नार्थवान्। ननु विदुषामपि व्यवहारोऽयं दृश्यते, यतो भगवतापि विप्रा इति व इति चोक्तम् ? इत्याशङ्क्याह—वाचारम्भ इति, वाङ्मात्रेणारभ्यते मद्विधेन तदपोहार्थमेव तदनुवादः क्रियते। भवद्भिश्च मद्विधवदिति चेज्ज्ञातमेव तत्त्वम्, किं पृच्छत इति भावः।"

शरीर को लक्ष्य कर यदि 'को भवान् ?" प्रश्न किया गया है, तब दोष होगा। वस्तु विचार में शरीर में पृथिवी, जल, तेजः, वायु, आकाश पञ्चभूत है। पाँच के मध्य में एक एक के लिए उत्तर देना असम्भव होगा। पञ्चतत्त्व मिलित को लक्ष्य बनाने से प्रश्न सुगम होगा ? वह भी सम्भव नहीं होगा। आत्मा जिस प्रकार सर्वसाधारण है, समष्टि शरीर भी उस प्रकार सर्वसाधारण ही होगा। अतः व्यक्ति विशेष को पूछना सम्भव नहीं होगा। व्यवहार में तो होता ही है, आपने भी तो कहा, "भो विप्राः", इत्यादि ? उस प्रकार संशय के उत्तर में कहते हैं—कथन के लिए शब्दावलम्बन होता है। और उसका अनुवाद भी होता है। आप सबने यदि जान ही लिया होगा, तो क्यों पूछते हैं !

"ईश्वरपक्षं दूषयति—मनसेति। मन आदिभिर्यद् गृह्यते तत् सर्वमहमेव, कुतः ? यतो न मत्तोऽन्यत्—परमकारणं मां विना तन्नास्त्येवेत्यर्थः तथापि प्रश्नोऽयं न घटते, इति भावः।"

ईश्वर को लक्ष्य कर यदि आप सब का प्रश्न हो तो भी उत्तर देना सम्भव नहीं है, कारण सब कुछ ही अहम् हैं। मुझ से अन्य परम कारण नहीं है।

"नन्वेवं गुणतश्च मिथः प्रसज्यैव स्थितानि भवत्यपि प्रसज्जन्ति, किमुत जीवे तेषामस्वाभाविकसम्बन्ध कथयन् स्वस्मिं स्तत् कैमुत्यं दर्शयति—गुणेष्विति। गुणेष्वित्यादिकं सत्यमेव, किन्तु जीवस्य तदुभयमपि देह उपाधिमात्रेणैव जीवे सम्बन्धमित्यर्थः। यतो मदात्मनः—अहमेवात्मा परमंशिरूपो यस्य, तस्य मदंशस्य,

तत्राप्यंशभेदोऽस्त्येव। अत उक्तं स्वयंभगवता (गी० ५।१८) 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' इति ; (गी० ५।१९) "निर्द्दोषं हि समं ब्रह्म' इत्यादि च। अत्र ब्रह्मेति जीवब्रह्मै-

सर्वसम्वादिनी

"गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान्। जीवस्तु गुण-संयुक्तो भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्" ।।१०।। इत्यादिकञ्च। शुद्धस्यैव कर्त्तृत्व-शक्तौ च यस्यापि ब्रह्मणि लयस्तस्य ब्रह्मानन्देनावरणात् कर्म-संयोगा-संयोगाच्च कर्त्तृत्वशक्तेरन्तर्भाव एवेत्यभ्युपगन्तव्यम् यस्य च भगवद्भक्तिरूप-चिच्छक्त्याविष्टता,चिच्छक्ति-

ततो मयि तु तत् सम्बन्धः सुतरामेव नास्तीत्यर्थः। अयम्भावः—यथा सूर्य्यांशानां रश्मीनां सूर्य्यकार्य्यभूतेन मेघेन स्वाभाविकसम्बन्धो नास्ति, सूर्य्यस्य तु दूरत एव तद्वार्त्ता, तथा जीवानां मम च तत्तत् सम्बन्ध इति।"

गुण एवं चित्त परस्पर आसक्त होकर विषय ग्रहण करता है। जीव भी उसमें तादात्म्यापन्न होने से तद्रूप होता है। अतः जीव में गुणादि का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है। गुण में चित्त आविष्ट होता है। बात सत्य है, किन्तु जीव का गुण एवं चित्त के सहित सम्बन्ध देहोपाधि से ही होता है। कारण जीव मदात्मा हैं, मैं जीव का अंशी हूँ। जीव मेरा अंश है। जब जीव में ही सम्बन्ध नहीं है, तो मुझमें सुतरां नहीं रहेगा। सरलार्थ यह है कि—सूर्य्यांश रश्मीसमूह का सूर्य्योत्पन्न मेघ के सहित स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है, सूर्य्य के सहित तो सम्बन्ध की बात दूसरी ही है। उस प्रकार जीव एवं मेरा गुण एवं चित्त के सहित सम्बन्ध उस प्रकार हो है।

जीव स्वयं इस प्रकार अध्यास ज्ञान से अपने को मुक्त नहीं कर सकता है, किन्तु "मदभेदोपासनादि लब्ध मच्छक्त्यंशेनैवेत्याह—गुणेषु चेति। मद्रूपो मदभेदभावनाविष्ट इति ज्ञानानुसारेणोक्तम्। भक्ति-रूपोपासना चेन्मम रूपं यत्र स ध्यातेति ज्ञेयम्।"

अभेद भावना से प्राप्त ईश्वर प्रसन्नता रूप शक्त्यंश के द्वारा अध्यास निवृत्त होता है। अथवा, "अभेदभावनाविष्ट" इस प्रकार ज्ञानानुसार से अध्यास विनष्ट होता है, भक्ति उपासना से अध्यास सत्वर विनष्ट होता है। श्रीभगवद्रूप ध्यान ही भक्ति में प्रशस्त है।

यदि भूतसमूह को लक्ष्य कर प्रश्न हो, तो भी अंश भेद अवश्य ही रहेगा। अतएव स्वयं श्रीभगवान् ने कहा है—(गी० ५।१८) "विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनिचैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।

अप्राकृत गुणसम्पन्न ज्ञानी समूह प्राकृत गुणकृत, उत्तम, कनिष्ठ रूप वैषम्य को परित्याग पूर्वक विद्या, विनय सम्पन्न ब्राह्मण, गो, हस्ती, कुक्कुर, चण्डाल के प्रति समदर्शि होकर पण्डित संज्ञा प्राप्त करते हैं। समदर्शन में सम शब्द का अर्थ करते हैं—"इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।" (गी० ५।१)

जिनका मनः साम्य में स्थित है, वे सब जीवित अवस्था में ही सर्ग प्राप्त करते हैं। अर्थात् संसारमुक्त होते हैं। ब्रह्म समत्व प्रयुक्त वे सब निर्दोष हैं। अतएव वे सब ब्रह्म में स्थित होते हैं।

"तान् स्तौति—विद्येति। तादृशे ब्राह्मणे श्वपाके चेति कर्म्मणैव तौ विषमौ गवि हस्तिनि शुनिचेति जात्यैते विषमाः, एवं विषमतया सृष्टेषु ब्राह्मणादिषु ये परमात्मानं समं पश्यन्ति, त एव पण्डिताः, तत् कर्मानुसारिणी तेन तेषां तथा तथा सृष्टिः, नतु रागद्वेषानुसारिणीति। पर्ज्जन्यवत् सर्वत्र समः परमात्मेति।१८

सर्वत्र परमात्म दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति की स्तुति करते हैं। भिन्न भिन्न शिक्षा एवं तदनुरूप आचरण के के द्वारा ब्राह्मण, श्वपाक में विषमता होती है। ब्राह्मण की शिक्षा एकरूप है, चाण्डाल श्वपाकी की घरेलु शिक्षा दूसरी है, मनुष्य में विषमता के प्रति शिक्षा ही प्रधान कारण है। गो, हस्ति, कुक्कुर में

वोच्यते । यथा (भा० १।५।२७) "ययाहमेतत् सदसत् स्वमायया, पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे" इति । मयि ब्रह्मणि देहात्मकं परे ब्रह्मणि च जगदात्मकं सदसत् कार्य्यकारणसङ्घातं

सर्वसम्वादिनी

वृत्तिविशेष-पार्षददेहप्राप्तिर्वा, तस्य तत्सेवा-कर्त्तृत्वे तु न प्रकृति-प्राधान्यम् ;—पूर्वत्र तामुपमर्द्य चिच्छक्तेः प्राधान्यात्, अपरत्र कैवल्याच्च। अतो गुणातीतमपि कर्त्तृत्वमुक्तमित्याह,—(मूले ३७श अनु०) 'अथ (श्रीजामातृमुनिवाक्ये १९श अनु०)- परमात्मैक' इति। किमपरं वक्तव्यम् ? यतो ब्रह्मानन्दमतिक्रम्यापि

जो विषमता है, वह जातिगत है। मनुष्य शरीर भिन्न अन्य शरीर में स्वभावज संस्कार है, शिक्षा जनित संस्कार नहीं है। शिक्षा का अधिकार मनुष्य शरीर में ही है। शिक्षागत एवं स्वभावज भेद से शरीर धारीगण पृथक् पृथक् होने से भी विषम सृष्ट पदार्थ में ब्राह्मणादि में समरूप में स्थित सर्वत्र एक परमात्मा को ही देखता है, वह ही पण्डित है। अर्थात् ज्ञानवान् है। जो जो व्यक्ति शिक्षा एवं स्वभावज ज्ञान से जो जो कर्म करता है, परमात्मा उस कर्म के अनुसार ही शरीर सृजन करते हैं। राग द्वेष के अनुसार सृजन में विषमता नहीं करते हैं। मेघ के समान ही परमात्मा सर्वत्र समदृष्टि सम्पन्न हैं।१८।

"इहेति—इह साधनदशायामेव तैः सर्गः संसारो जितः पराभूतः कैः ? येषां मनः साम्येऽवैषम्याख्ये ब्रह्मधर्मे स्थितं निविष्टम्। कुतो ब्रह्माविषमम् ? तत्राह,—निर्दोषं हीति। हि यतो ब्रह्म निर्दोषं राग-द्वेषशून्यमतः सममविषममित्यर्थः। यतो ब्रह्मणि अवैषम्यादिकं निश्चिक्यु स्तस्मात् प्रपञ्चे तिष्ठन्तोऽपि ते ब्रह्मण्येव स्थिताः मुक्तिस्तेषां सुलभेत्यर्थः।१९।

सर्वत्र परमात्मा विराजित हैं। इस प्रकार दृष्टि सम्पन्न मानव, जीवित अवस्था में ही संसार—जन्म मरण प्रवाह धारा को समाप्त किया है। कौन व्यक्ति उस प्रकार कर सकता है ? उसका विवरण,—जिसका मनः साम्य में निष्ठाशील है। अर्थात् अविषय नामक ब्रह्मधर्म में स्थित है, निविष्ट है। ब्रह्म कैसे अविषम हैं ? उत्तर,—ब्रह्म दोष रहित है। कारण—ब्रह्म राग-द्वेष रहित हैं, अतः सम हैं, अविषम हैं। जब वे लोक ब्रह्म में ही अवैषम्य को देखते हैं। अतः प्रपञ्च में जीवित रह कर भी वे सब ब्रह्म में रहते हैं। उन सब के मन ब्रह्मधर्म्म में निष्ठा प्राप्त हैं। मुक्ति उन सब के लिए ही सुलभ है।

गीता के उक्त स्थल द्वय में—ब्रह्म निर्दोष एवं सर्वत्र सम इत्यादि कहा गया है। यहाँ पर जो ब्रह्म शब्द का उल्लेख हुआ है, उस ब्रह्म शब्द से ब्रह्माधीन होने के कारण जीव को ही ब्रह्म कहा गया है। श्रीमद्भागवत १।५।२७ में ब्रह्म शब्द से जीव का बोध हुआ है।

"तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामते प्रियश्रवस्यास्खलिता मतिर्मम।
ययाहमेतत् सदसद् स्वमायया पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे॥"

टीका—"प्रियं श्रवो यस्य तस्मिन् भगवति लब्धरुचे मम अस्खलिता अप्रतिहता मतिरभवदित्यनुसङ्गः। यया मत्या परे प्रपञ्चातीते ब्रह्मरूपे मयि सदसद् स्थूलं सूक्ष्मञ्च एतच्छरीरं स्वमायया स्वाविद्यया कल्पितं, नतु वस्तुतोऽस्तीति तत्क्षणमेव पश्ये पश्यामि एवं शुद्धे त्वम् पदार्थे ज्ञाते देहादिकृत विक्षेपनिवृत्तेस्तत् कारणभूतरजस्तमो निर्वात्तिका दृढ़ाभक्तिर्जातेत्याह।"

श्रीभगवत् विमल यशः कथा का श्रवण, महत् के मुख से होने से श्रीभगवच्चरणारविन्दों में रुचि एवं दृढ़ामति हुई। उस मति के द्वारा मैं आत्मतत्त्व को जान गया, एवं देखा कि मुझ ब्रह्म में स्वकीय अविद्या के द्वारा जो स्थूल, सूक्ष्म देह कल्पित हुआ है। जो भगवान् निज विमल कीर्त्ति श्रवण से सन्तुष्ट होते हैं, उन श्रीभगवान् में कथा रुचि के कारण, मेरी अप्रतिहता मति हुई। जिस मति से प्रपञ्चातीत ब्रह्म रूप मुझमें सदसत् स्थूलसूक्ष्म यह देह निज अविद्या के द्वारा कल्पित हुआ है। यह वस्तुत नहीं है, उस समय ही मैंने देखा। इस प्रकार शुद्ध त्वम् पदार्थ का ज्ञान होने से देहादिकृत विक्षेप एवं उसका कारणभूत रज

स्वविषयक-मायया जीवमायाख्यया देह एवाहं तथा इन्द्र-चन्द्राद्यात्मकं जगदेवेश्वर इतीदं कल्पितमेव, यया मत्या पश्ये पश्यामीत्यर्थः। समानाकारत्वादेव पूर्ववदन्यत्र च सोऽहं स च त्वमिति। तदेवं सर्वेषामेव जीवानामेकाकारत्वे सति (भा० ११।१०।३२)

"यावत् स्याद्गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः।
नानात्वमात्मनो यावत् पारतन्त्र्यं तदैव हि" ॥३२॥

सर्वसम्वादिनी

तादृश-कर्त्तृत्व-सुखं दृश्यते; यथा—(भा० ४।९।१०) "या निर्वृतिरतनुभृताम्" इत्यादौ। तदेतत् प्रकृतिमतीतस्यापि कर्त्तृत्वम्, तत्रैव क्लेशहानि-पूर्वकं सुखञ्च तक्षदृष्टान्तेनैव सूचितम्। तक्षा हि वास्यादि-योगं विनापि स्वयं गृहे भोजन-पानादि-कर्त्तृत्वं भजते, क्लेशहानि-पूर्विकां निर्वृतिञ्च भजत इति।

स्तम विनाशिक दृढ़ा भक्ति हुई।

क्रमसन्दर्भ के मत में—"ततश्च तस्मिन् भगवति चापरमार्थारोपस्य मृषात्वदर्शकः परमपरमार्थतदीय स्वरूपरूपगुणचिन्तनावेशो जात इत्याह, तस्मिन्निति द्वाभ्याम्। यया मत्याहम् एतत् सदसद् व्यष्टि-समष्ट्यात्मकं यज्जगत् तद्व्यष्ट्यंशं मयि जीवरूपे स्वविषयक भगवन्मायया कल्पितं पश्ये ज्ञातवानस्मि। तत्र तत्र तत् सम्बन्धः पुनर्मम नास्फुरदेवेत्यर्थः। ततः किं वृत्तमित्याशङ्क्याह, इत्थमिति। या पूर्वोक्ता रजस्तमोपहा मतिरूपाभक्तिः, सैव प्रवृत्ता। नदीव मुहुर्वर्द्धमानाभूत् इत्यर्थः। एवं पूर्वोक्त प्रकारेण प्रसन्न मनसोऽस्ततोमुक्तसङ्गस्य त्यक्तकामादिवासनस्य भक्तियोगतः पुनरपि क्रियमाणात् तस्मात् विज्ञानं साक्षात्कारः मनसि वहि र्वा भावनां विनैवानुभवो यः, स जायते।"

परमपावन श्रीभगवान् की कथा श्रवण से निज में एवं श्रीभगवान् में जो कुछ मिथ्या आरोप हुआ है, (आपने में शरीरादि का आरोप भगवान् में विद्या का आरोप को) मिथ्या रूपमें उसको जानने की एकमात्र वस्तु है, भगवद्भक्ति। अतः भक्तयात्मक परम पुरुषार्थ तदीय स्वरूप रूप गुण चिन्तन में आवेश हुआ। जिस निश्चयात्मिका बुद्धि के द्वारा समष्टि व्यष्टिरूप जगत् को एवं जगत् का जो व्यष्टि अंश मुझ जीवरूप में जीव विषयक भगवन्माया के द्वारा कल्पित हुआ है, उसको मैंने देखा। परब्रह्म में समष्टि रूप विश्व का आरोप जीव बुद्धि से हुई है, उसको भी मैंने देखा। उभय तत्त्व को सम्यक् रूपसे अवगत होने से परब्रह्म में आरोपित मिथ्या सम्बन्ध एवं जीवात्मा में आरोपित देहादि मिथ्या सम्बन्ध का स्फुरण पुनर्वार मेरा नहीं हुआ। इसके बाद रजस्तमो विनाशक भक्ति प्रवृत्ता हुई, और वेगवती नदी के समान वह भक्ति पुनः पुनः वर्द्धित होने लगी। इस प्रकार भक्तियोग के द्वारा कामादि वासना विदूरित होने से भगवत् साक्षात्कार मन में एवं नेत्र से निरन्तर होने लगा।

अर्थात् मैं ब्रह्माधीन होने से ब्रह्म हूँ। मुझमें अज्ञानता के कारण देहादि का आरोप है, मैं जड़ नहीं हूँ, देहादि सङ्घात नहीं, नित्य शुद्धस्वरूप जीव चैतन्य हूँ। परब्रह्म में भी कार्य्य-कारणात्मक जगत् आरोपित हैं। परब्रह्म मायिक गुणरहित निर्लेप हैं, किन्तु उनमें इन्द्र-चन्द्रादि नाम से अनेक ईश्वरत्व की कल्पना की गई है। भक्तिरूप निश्चयात्मिका आनुकूल्यविधायिनी बुद्धि के द्वारा उक्त दोनों को देखा। चैतन्य रूपमें समानाकार होने से ही शुद्ध अवस्था में मैं जिस प्रकार आप का ही था, पश्चात् अज्ञानता के कारण देहाद्यावेश होने से आपके सहित भेदबुद्धि हुई है। भक्ति के द्वारा ज्ञान प्राप्त होने पर इस शरीर में अवस्थित होकर भी "वह ही मैं हूँ, वह ही आप हैं" इस प्रकार जान गया हूँ। इस प्रकार सर्वत्र जीव-जगत् में जीवस्वरूप का बोध होने से उपाधिकृत विषमता नष्ट हो गई। और समस्त जीवों को जीवात्मा दृष्टि से एक देखने लगा। श्रीमद्भागवत के ११।१०।३२ में उक्त है—

इत्यादिषु देवादिदेहभेदकृतागन्तुक-नानात्वं निन्द्यते, (वि०पु० २।१४।३२)—

"वेणुरन्ध्रविभेदेन भेदः षड़्जादि-संज्ञितः। अभेद-व्यापिनो वायोस्तथा तस्य महात्मनः" ॥३२॥

सर्वसम्वादिनी

तदेवं भोक्तृत्वमपि सिद्धम्। तच्च प्रकृतिसन्निधानेनापि भगवत्सम्वेदनरूपत्वेन जड़ात्मक-प्रकृति-विरोधिरूपत्वान्न तत्प्रधान्यं भजते, किन्तु चिदात्मक-पुरुषप्राधान्यमेव। तदेतदाह,—(मूले ३६श अनु०)

"यावत् स्याद्गुण्यवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः। नानात्वमात्मनो यावत् पारतन्त्र्यं तदेव हि ॥"

टीका—यच्चोक्तमात्मनो नानात्वं तदप्यौपाधिकमित्याह यावत् स्यादिति। गुणानां वैषम्यमहङ्कारादि कार्य्यरूपम् ननु आत्मन एकत्वे कथं पारतन्त्र्यमुक्तं कथम्वा, लोकपालादीनामपि मद्भयमित्युक्तं तत्राह नानात्वमिति।

जब तक सत्त्व रजः तमो जनित गुण प्रभाव से जीव अपने को प्रभावित करता रहेगा तब तक ही जीवात्मा अपने को शरीर भेद से अनेक प्रकार अनुभव करता रहेगा। जब तक जीवात्मा अपने को शरीरोपाधि भेद से अनेक प्रकार अनुभव करता रहेगा, तब तक ही जीवात्मा को कालकृत भय रूप मृत्यु का सामना करना पड़ेगा।

आत्मा में जो अनेकविधत्व दृष्ट होता है, वह अज्ञानकृत देहात्मबुद्धि रूप उपाधिकृत है। गुणवैषम्य—अर्थात् अहङ्कारादि की स्थिति जब तक रहती है, तब तक ही अनेक शरीर भेदसे आत्मा में अभिमान भेद भी होता रहेगा। आत्मा एक है, एक होने से अपर है ही नहीं। दूसरे से भय की सम्भावना ही कहाँ है ? और लोकपालादि से भय कैसे होगा ? समाधान हेतु कहते हैं—तब तक अभिमान भेद से भिन्न भिन्न शरीर में भिन्न भिन्न आवेश होता रहेगा, तब तक भेद बना रहेगा। द्वितीय रहने से ही अधीन होना स्वाभाविक ही होगा। लोकपाल से भी भय होगा। कारण अधिकारी वर्ग से भय, अधीन जन का होना स्वाभाविक है।

क्रमसन्दर्भकार कहते हैं—यावदिति सार्द्धकम्। नानात्वं चाद्वयवादि मतेन निराकरोति यावदित्यर्द्धेन। तत्रैवाद्वयवादिनां सिद्धान्तनिर्वाहं दर्शयति—नानात्वमित्येकेन। अयमर्थः। एक एव खलु चिदेकलक्षण-सत्त्वामात्रस्वरूप आत्मा, स एवात्मन्यनाद्यविद्यया गुणमयीं मायां तद्वैषम्यजातकार्य्यवर्गं च कल्पयन् अस्मदर्थमेकं युष्मदर्थांश्च बहून् कल्पयति स्वप्नवत्। तत्रास्मदर्थः स्व-स्वरूपः पुरुषः। युष्मदर्थास्त्रिविधाः, (१) पुरुषान्तररूपा, (२) जड़रूपाः, (३) ईश्वराख्य पुरुषविशेषरूपाश्चेति ततस्तस्यामविद्यायां गतायां नानात्वभावादीश्वरो नाम यो वस्तुतो नास्ति, स नास्त्वेव! किमुत तत् पारतन्त्र्यम् ? किमुततरां ततोऽभयम् ? किमुततमां वान्यपारतन्त्र्यादिकमिति। तदेवं मतद्वयेन न हि कदाचिदनीदृशं जगदिति ज्ञानं नित्यं नास्तीति परिहृतम्। तत्तदुपाधेर्जन्मनाशदर्शनाज्ज्ञानस्य त्वनाशदर्शनादिति भावः।

अद्वयवादी के मत के द्वारा समाधान करते हैं। अद्वयवादियों का सिद्धान्त कहते हैं,– एक ही चित् स्वरूप सत्तामात्रलक्षण आत्मा है। वह ही आत्मा में अनादि गुणमयी माया को एवं मायिक कार्य्यवर्ग को कल्पना करके अस्मदर्थ एक, युष्मदर्थ अनेक की कल्पना स्वप्नवत्। उसमें अस्मदर्थ,—निज स्वरूप पुरुष है, युष्मदर्थ,—तीन प्रकार है। (१) पुरुषान्तररूपाः, (२) जड़रूपाः, (३) ईश्वराख्य पुरुषविशेषरूपाः। उस अविद्यागत होने से वास्तविक ईश्वर नामक कोई वस्तु नहीं। वह केवल माया कल्पित स्वप्नवत् नानात्व भावना ही है। वह ईश्वर नहीं रहेगा। दूसरी पराधीनता की बात ही क्या है ? उनसे भय ही कहाँ है ? अन्य पारतन्त्र्यादि भी कहाँ है। मतद्वय में ही कदाचित् "अनीदृश जगत्" इस प्रकार नित्य ज्ञान नहीं है। अतः परिहार हुआ। उपाधि के जन्म नाश दृष्ट होते हैं, ज्ञान के नहीं।

अविद्याकृत गुणवैषम्य जब तक रहता है, तब तक नानात्व होता है। आत्मा का नानात्व रहता है, तब तक उसका पराधीनत्व है', इत्यादि स्थल में देवादि देह भेदकृत आगन्तुक नानात्व की निन्दा करते हैं।

इत्यादिकन्तु परमात्मविषयकमेव। तदेतत् सर्वमभिप्रेत्य जीवानां प्रतिक्षेत्रं भिन्नत्वं स्वपक्षत्वेन निर्दिशन्ति, (भा० १०।८७।३०)—

(३२) "अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगताः" इति।

सर्वसम्वादिनी

'अथ' इति। स्वरूप-सम्वेदन-सुखादौ तु प्राधान्यं सुतरां सिद्धमेव,—(श्रीजामातृमुनिवाक्ये १९श अनु०) 'स्वस्मै स्वयं प्रकाश'मानत्वात्। तदुक्तम,—(भा० ७।७।१९) "स्वदृक्" इति। तदेतद्व्याख्यातं ज्ञातृत्वादि (ज्ञातृत्व-कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वरूप-) त्रयम्। श्रुतिश्च—(छा० ८।१२।४) "अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा'; (वृ० ४।३।७) "कतम आत्मा ?—योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः'; (प्रश्न० ४।९) "एष हि

विष्णुपुराण २।१४।३२ में लिखित है—जिस प्रकार भेद रहित व्यापक वायु वेणु रन्ध्र विभेद से षड्जादि संज्ञक भेद प्राप्त होता है। इस प्रकार उन परमतत्त्व महात्मा का भेद को जानना होगा। यह सब कथन परमात्मा विषयक ही है।

अतएव समस्त प्रकरण की समीक्षा करके जीव अनेक है, एवं प्रति शरीररूप क्षेत्र में भिन्न भिन्न है, यह निज सिद्धान्त है। उसका प्रदर्शन श्रीमद्भागवत के १०।८७।३० द्वारा करते हैं,—

"अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगताः, तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव ! नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्, सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया॥"

टीका—एवं तावत् परमात्मनः सकाशादविद्याकृत कार्य्योपाधयस्तदंशा एव जीवा जाताः संसरन्तो भजन्तीत्युक्तम्। तत्र यदि एका अविद्या तदा जीवस्याप्येकत्वादेकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गः। अथ नाना अविद्यास्तर्हि तस्यैव अंशान्तरेण संसारानपगमात् अनिर्मोक्ष इत्यादि तर्कबलेन वस्तुत एव नानात्मानस्तत्र च तेषामणुत्वे देहव्यापि चैतन्यं न स्यात्। देहपरिमाणत्वे च मध्यमपरिमाणानां सावयवत्वेनानित्यत्वं स्यात्। अतः सर्वगता नित्याश्चेति केचन मन्यन्ते। तत्र न तावदुक्तदोषप्रसङ्गः। अविद्याभेदेन तच्छक्ति भेदेन वा बद्धमुक्त व्यवस्था सम्भवात्। ईश्वरस्य तु केनाप्यंशेन न संसारशङ्का" इत्युक्तमेव। प्रसिद्धञ्चैकात्म्यं सर्वश्रुतिषु। किञ्च इमं पक्षं अन्तर्य्यामिब्राह्मणमपि न सहत इत्याह, अपरिमिता इति।

वस्तुत एवानन्त ध्रुवास्तेनैव रूपेण नित्याः सर्वगताश्च तनुभृतो जीवा यदिस्युस्तर्हि तेषां समस्तात् शाश्वता न घटत इति कृत्वा हे ध्रुव नियमो नियमनं त्वया न स्यात् इतरता तु घटते। कथम् ? यन्मयम् उपाधितो यद्विकारप्रायं यज्जीवाख्य अजनि जातं तत् तस्य विकारस्य नियन्तृनियामकं भवेत्। अविमुच्य कारणतया अपरित्यज्य। किं तत्। समम्, अनुस्यूतम्।

ननु किं यत्तच्छब्दैर्ज्ञायते चेदुच्यतामिदं तदित्यत आह अनुजानतां यदमतमिति। जानीम इति वदतां यदमतमविज्ञातप्रायम्। अविषयत्वात्। तथा च श्रुतिः, यस्यामतं तस्यामतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्। अवचनेनैव प्रोवाच स ह तूष्णीं बभूव इत्यादि। किञ्च मतस्य ज्ञानस्य दुष्टतया दोषश्रवणात्। तथा च श्रुतिः, यदि मन्यसे सुवेदेति दह्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेषु इत्यादि। तस्माद् यत्तच्छब्दावद्योत्यमतर्क्यं किमपि सर्वानुस्यूतत्वेन समं नियन्तृ भवेदित्यर्थः। "अन्तर्यन्ता सर्वलोकस्य गीतः, श्रुत्यायुक्त्या चैवावसेयः।
यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्नृसिंहः श्रीमन्तं तं चेतसैवावलम्वे॥

परमात्मा से अविद्याकृत शरीरादि में अध्यस्त जीवसमूह उत्पन्न होता है, एवं शरीर से शरीरान्तर रूप संसार को प्राप्त करते हैं। यदि अविद्या एक होती है, तो जीव भी एक ही होगा। एक की मुक्ति से सब की मुक्ति होगी। अनेक अविद्या होने से, अंशान्तर से अज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी। अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग होगा। इत्यादि संशय की अवतारणा करके समाधान की प्रचेष्टा करते हैं। अनेकात्मा होने से

अत्र यदि-शब्दात् पूर्वपाठेनापरिमितत्वं ध्रुवत्वञ्चासन्दिग्धमिति तत्र स्वपक्षत्वं पश्चात् पाठेन सर्वगतत्वन्तु सन्दिग्धमिति तत्र परपक्षत्वं स्पष्टमेव। अतएव (श्वे० ६।११) "एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः" इत्यादिकं परमात्मपरं वाक्यं जीवानामनेकत्वं बोधयति ॥ श्रुतयः ॥

३३। प्रतिक्षेत्रभिन्नत्वे हेत्वन्तरम्—"अणुः" इति ; अणुः परमाणुरित्यर्थः। परमाणुश्च

सर्वसम्वादिनी

द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" इत्यादिः।

अथ (मूले ३७श अनु०) (श्रीजामातृमुनिवाक्ये १९श अनु०) "परात्मैकशेषत्वभावः" इति। एतदुक्तं भवति।—न तावद्वास्तवोपाधि-परिच्छेद-पक्षे तत्परिच्छिन्नो ब्रह्मखण्डोऽणुरूपो जीवः ;- अच्छेद्यत्वाद-

वह अणु अवश्य होगा, तब देहव्यापि चैतन्य नहीं होगा। देह परिमाण होने से मध्यम परिमाण के कारण सावयव होने से अनित्य होना स्वाभाविक है। अतः कतिपय व्यक्ति सर्वगत एवं नित्य मानते हैं। ऐसा होने से कोई दोष नहीं होगा। अविद्या भेद से अथवा उसकी शक्ति भेद से बद्धमुक्त व्यवस्था सम्भव होगी। किसी भी अंश में ईश्वर को संसारी होना सम्भव नहीं है। समस्त श्रुति आत्मा की एकता को कहती हैं। किन्तु यह पक्ष अन्तर्य्यामि ब्राह्मण द्वारा स्वीकृत नहीं है। अतः कहते हैं, अपरिमित जीवगण नित्य एवं व्यापक हो तो ईश्वर के द्वारा नियन्त्रित वे सब नहीं होंगे। अन्यथा वश्य होंगे। जिस उपाधि से जो उत्पन्न होता है। उसका रूप वह ही होता है। अतः अविद्या से जीव उत्पन्न होता उस अंश से वह नियम्य होगा। कारण रूप से उसे माना नहीं जायेगा। सम रूपसे नियम्य नियामक को मानने से अनर्थ ही होगा। अतः सम रूपसे जो जानते हैं, उनका मत समीचीन नहीं है। कारण ईश्वर अपरिच्छिन्न एवं इन्द्रिय वेद्य नहीं है। श्रुति भी कहती है,—जिसने परतत्त्व को अज्ञेय रूप से जाना है, उसका मत ठीक है। जिसने ज्ञेय रूपसे जाना है, उसका मत ठीक नहीं है। ज्ञेय है, कहना इन्द्रिय दोष से दुष्ट है। अतएव यत् तत् शब्द से बोध्य सर्वव्यापक एक तत्त्व जीवों का नियन्ता है। "अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगताः" यहाँ पर "यदि" शब्द प्रयुक्त पूर्वपाठ के द्वारा अपरिमितत्व ध्रुवत्व, असन्दिग्धत्व सूचित हुआ है, यह स्व पक्ष है पश्चात् पाठ के द्वारा सर्वगतत्व सन्दिग्ध ही हुआ है। श्लोक में परपक्ष का अभिप्राय सुस्पष्ट ही हुआ है। अतएव "एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः" (श्वे० ६।११) "एक द्युतिशील अन्तर्य्यामी भगवान् समस्त भूतों में निगूढ़ रूप से निवास करते हैं।" इत्यादि परमात्म प्रतिपादक श्रुतिसमूह जीवसमूह के अनेकत्व प्रतिपादन करती हैं। श्रुतिगण श्रीभगवान् को बोली थीं ॥६२॥

सब जीव समान होने पर भी शिक्षा ग्रहण तारतम्य से वे विभिन्न होते हैं।

"अणुचैतन्यरूपत्वज्ञानित्वाद्यविशेषतः। साम्ये सत्यपि जीवानां तारतम्यञ्च साधनात् ॥

जीव अणु चैतन्यरूपत्व एवं ज्ञानित्वादि से परस्पर सम होने पर भी काम्यकर्म एवं भक्ति साधन तारतम्य से वह ऐहिक पारत्रिक तरतमता को प्राप्त करता है।

श्रीजामातृ मुनि ने कहा है—"अणुर्नित्यव्याप्तिशीलः।" "अहमर्थ प्रतिक्षेत्रं भिन्नोऽणु नित्यनिर्मलः"। जीव अणुस्वरूप है, नित्य है, शरीर में व्याप्तिशील है। अहमर्थ, प्रति देह में भिन्न, अणु, नित्य, निर्मलहै।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में उक्त है—"बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥"

बालाग्र को शतभाग करने पर, परिमाण जिस प्रकार होता है, उस प्रकार परिमाण जीव का है। वह अनन्त है।

वह "अणु" परिमाणक है, अर्थात् निरवयव परमाणु तुल्य है। जैसे परमाणु की अवयव कल्पना

यस्य दिग्भेदेऽप्यंशो न कल्पयितुं शक्यते, स एवांशस्य परा काष्ठेति तद्विदः। अणोरप्यखण्ड-देहचेतयितृत्वं प्रभावविशेषरूपाद्गुणादेव भवति। यथा शिर आदौ धार्य्यमाणस्य जतुजटित-

सर्वसम्वादिनी

खण्डत्वाभ्युपगमाच्च ब्रह्मणः आदिमत्तापाताच्च जीवस्य। यत एकस्यैव वस्तुनो द्वैधीकरणं छेदनम्।

अथाच्छिन्न एवाणुरूपोपाधि-संयुक्तो ब्रह्म-प्रदेश-विशेष इति चेत्? तर्हि उपाधौ गच्छत्युपाधिना स्वसंयुक्ता-ब्रह्मप्रदेशाकर्षणायोगादनुक्षणमुपाधि-संयुक्त-ब्रह्मप्रदेश-भेदात् क्षणे क्षणे बन्ध-मोक्षौ स्याताम्।

नहीं की जाती है। दिक् भेद से भी अंश की कल्पना नहीं होती है, किन्तु अवयव धारा की विश्रान्ति जहाँ पर होती है, वह ही निरवयव परमाणु है। परिमाण भी वह ही परमाणु है। वह ही अंश विश्लेषण की चरम पराकाष्ठा है। इस प्रकार परमाणु कारणवादी नैयायिकगण परमाणु का निरूपण करते हैं।

अणु परिमाण होने पर भी उसमें व्याप्तिशीलता नामक शक्ति है। अतएव जीवात्मा अणुपरिमाण होकर भी अखण्ड देह को निज चेतन शक्ति से सचेतन करने की सामर्थ्य रखता है। वह गुण जीवात्मा में है। गीतामें उक्त है—"यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।" जिस प्रकार एक सूर्य्य अखिल लोक को प्रकाशित करता है, तद्रूप क्षेत्रज्ञ जीव भी समस्त देह को प्रकाशित करता रहता है।

ब्रह्मसूत्रकार ने भी कहाहै—"गुणाद्वा लोकवत्" (२।३।२४) अणुरपि जीव चेतयितृत्वलक्षणेन चित् गुणेन निखिल देहव्यापी स्यात् आलोकवत्। यथा सूर्य्यादिरालोक एक देशस्थोऽपि प्रभया कृत्स्नं खगोलं व्याप्नोति तद्वत्। आहचैवं भगवात्। 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्र क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारतेति"। न च सूर्य्यात् विशीर्णः परमाणवः सूर्य्य प्रभेति वाच्यम्। तथा सति तस्य ह्रास प्रसङ्गात्। पद्मरागादि मणयोऽपि प्रभया निजपरिसरान् रञ्जयन्तो दृष्टाः। न च तेभ्यः परमाणवश्च्यवन्ते इति शक्यं वक्तुं अत्यन्तासम्भवात् उन्मान हान्यापत्तेश्च। इत्थं च गुण एव प्रभा।

जीव का अणुत्व सिद्ध होने पर देहव्यापित्व में उसका कोई विरोध नहीं है—जीव अपने गुणों से आलोक के समान देहव्यापी रहता है। जीव अणु होने पर भी चेतयितृत्व लक्षण चिद्गुण के द्वारा आलोक के समान समस्त देह व्यापी होता है, सूर्य्यादि आलोक जिस प्रकार एक देश में रहकर समस्त शरीर को व्याप्त करता है। भगवान् पद्मनाभ ने स्वयं ही कहा है—"सूर्य्य जिस प्रकार एकक एक देश में रहकर समस्त जगत् को उद्भासित करता है, जीव उसी प्रकार समस्त शरीर को प्रकाशित करता है। सूर्य्य से निर्गत परमाणुसमूह सूर्य्य की प्रभा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है, कारण उससे सूर्य्य का ह्रास होना सम्भव है। पद्मरागादि मणियों को भी देखते हैं कि—अपनी प्रभा से वे चतुर्दिक को आलोकित करती हैं। उन मणियों से परमाणुसमूह विश्लिष्ट होते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। कारण वैसा होना असम्भव है। उससे मणि के परिमाण ह्रास होगा। अतएव प्रभा शब्द से गुण ही बोधित होता है। गुण, गुणी से स्वतन्त्र अवस्थान करता है। "व्यतिरेको गन्धवत् तथा हि दर्शयति" (२।३।२५) यथा कुसुमादिगुणस्य गन्धस्य गुणव्यतिरेकेऽपि प्रदेशेवृत्तिर्भवेदेवं चेतयितृत्वस्य जीवगुणस्य तत्प्रदेशे हृद्व्यतिरिक्ते शिरोऽङ्घ्र्यादौ वृत्तिः स्यात्। तथाहि दर्शयति। प्रज्ञया शरीरं समारुह्योति कौषितक्युपनिषद्। गन्धः खलु दूरं प्रसर्पन्नपि स्वाश्रयात् न भिद्यते मणिप्रभावत्। "उपलभ्याप्सु चेद् गन्धं केचिद् ब्रूयुरनैपुणाः। पृथिव्यामेव तं विद्यादपो वायुं च संश्रितमिति स्मृतेः।।

गन्ध के समान व्यतिरेक मानना होगा। श्रुति में इस प्रकार वर्णित है। कुसुमादि का गुण—गन्ध जिस प्रकार कुसुमादि भिन्न प्रदेश में अवस्थित होता है, उस प्रकार चेतयितृत्व प्रभृति जीव गुण, जीव का आश्रय हृदयादि से मस्तक प्रभृति स्थानों में अवस्थान करता है। कौषीतकी उपनिषद् में वर्णित है—

स्यापि महौषधिखण्डस्याखण्डदेहपुष्टीकरणादिहेतुः प्रभावः। यथा वायस्कान्तादेर्लोह-

सर्वसम्वादिनी

अथोपाधि-संयुक्तं ब्रह्मस्वरूपमेव जीवः ? तर्ह्यनुपहित-ब्रह्मण्यपदेशासिद्धिः स्यात्। जीवस्यैकत्वं च (शतपथ-ब्रा० १४।५।३०) "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादि-श्रुतिविरोधः; (ब्र०सू० १।२।५) "शब्दविशेषात्" इत्यादिन्याय-विरोधश्च सर्वत्र।

"प्रज्ञा के द्वारा शरीर को आश्रय कर इत्यादि"। गन्ध, मणि प्रभा की भाँति दूरगत होकर भी निज आश्रय गुणी पदार्थ से भिन्न नहीं होता है। अज्ञ व्यक्तिगण जलादि में गन्ध को प्राप्त कर उसे जलादि का गुण कहते हैं, किन्तु वास्तविक गन्ध जलादि का गुण नहीं है। गन्ध तो पृथिवी का गुण है। जल और वायु को आश्रय कर इस प्रकार प्रतीत होता है। स्मृति में भी इस प्रकार कथित है।

अतएव अणु का अखण्ड देह चितयितृत्व प्रभाव विशेष रूप गुण से होता है। जिस प्रकार मस्तकादि में धार्य्यमाण जतु (लाक्षा) जटित महौषधि खण्ड भी अखण्ड देह को पुष्ट करता है। इससे उसका प्रभाव ही परिलक्षित होता है। अथवा अयस्कान्त (चुम्बक) जिस प्रकार लौह को आकर्षण परिचालन करता है। यहाँ अयस्कान्त का प्रभाव ही कारण है, उस प्रकार जीव का स्वरूपगत धर्म ही शरीर को सञ्चालित करता है।

सर्वसम्बादिनी। ननु अणुत्वे सत्येकदेशस्थस्य सकलदेहोपगतोपलब्धिर्विरुध्यते ? न, हरिचन्दनविन्दोः सकलदेहाह्लादनवद्विहाप्यविरोधात्। न च हरिचन्दनविन्दोरेकदेशत्वं प्रत्यक्षसिद्धं, नत्वात्मनः" इति, दृष्टान्तवैषम्यम्। "हृद्येष आत्मा" प्रश्न (३।६) "स वा एष आत्मा हृदि" (छान्दो० ८।३।३) "कतम आत्मा" इति। "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" (वृ० आ० ४।३।७) इत्याद्युपदेशेभ्य-स्तस्यापि तथात्व सिद्धेः। सिद्धायां चाणुतायामित्थमप्यविरोधः। चिद्रूपस्यापि जीवस्य चेतयितृत्वलक्षण चिद्गुणव्याप्ते रणोरपि सतो निखिलदेहव्यापिता स्यात्। लोके दीपादयः प्रकाशाः ह्येकदेशस्था अपि सम्यग् गृहादिकं स्वकीयेन प्रकाशाकारेण गुणेन प्रकाशयन्ति तद्वत्।

न च दीपप्रभा दीपा द्विशीर्णाः परमाणव एव। परमरक्तादिच्छवि दुकूलादीनां महाहीरकादिमणीनाञ्च रक्तादयोगुणाः निजपर्य्यन्तभूमिं रञ्जयन्तीति दृश्यते। तत्र गुणगुणिनोः पृथगुपलम्भनात् दुकूलाद्यनाशात् हीरके तु परागक्षरणात्यन्तासम्भवाच्च। सति च परागक्षरणे वायुप्रातिकूल्येन मण्यादि प्रभाया एकस्यां दिशि न विसरणं स्यात् यस्यां तु दिशि तदानुकूल्यं तत्र तु विसरण बाहुल्यं स्यादिति तद्वद्दीपादीनां गुण एव प्रभा भविष्यति। अद्रव्यत्वात् दीपादिवदसौ वाय्यादिभि र्न विक्षिप्यते। श्रीगीतोपनिषत्स्वपि तथा दृष्टान्तितम्—"यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। "क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत" इति। गी० १३।३३

एवमेव अणवश्चेति न्यायसिद्धाणुत्वानां मन आदीन्द्रियाणां प्रकाशो व्याततो दृश्यते "मनसा मेरुं गच्छतीत्यादौ" दूर श्रवणदर्शनादि सिद्धौ च। श्रुतिश्च "दिवीव चक्षुराततम्" इत्यादिका। तदेवमणव-श्चेत्यत्रैव माध्वभाष्योदाहृता शाण्डिल्यश्रुतिः। "तत्यथा, नह्यणु चक्षुषः प्रकाशो व्याततोऽणुर्ह्येवैषः पुरुषः" माध्वभाष्ये २।४।८ इति।

अन्यत्र च गुणोगुणिसमीपदेशं व्याप्नोतीति दृश्यते यथा पुष्पादौ गन्धः। गन्धस्यापि सहैवाश्रयांशेन विश्लेष इति चेत् ? न मूलद्रव्योन्मानहानि प्रसङ्गात्।

परमाणूनामेव विश्लेषान्नाल्पकालेन मानहानिरिति चेत्, तेषामतीन्द्रियत्वेन तद् गुणाग्रहणायोगात् स्फुटगन्धस्तु कस्तूर्य्यादिष्विति। एवं कायव्यूह गन्धदृष्टान्तो ज्ञेयः। पृथिवीगन्धस्य पृथिवीव्यतिरिक्ते जलादाविव जीवगुणस्य देहान्तरवृन्देऽपि व्यापिः सम्भवति दृष्टान्ते, तद्गन्धस्य नेता वायुर्दाष्टान्तिकेत्वीश्वर

एवेति, तथैव माध्वभाष्य प्रमाणिता शाण्डिल्य श्रुतिः—"अथैक एव सन् गन्धवद्व्यतिरिच्यते तथैकी भवति, तथा वह्वी भवति। तं यथेश्वरः प्रकुरुते तथा भवति, सोऽचिन्त्यः परमो गरीयान्" इति। (माध्वभाष्य २।३।२७)

तस्माज्जीवः स्वगुणेनैव व्याप्नोतीति। यथा "हृदयातनत्वमणुपरिमाणत्वं आत्मनोऽभिधाय तस्यैव" "आलोमेभ्य आनखेभ्यः" (छा० ८।८।१) इति चेतनागुणेन सर्वशरीरव्यापित्वं दर्शयति। एवं "प्रज्ञया शरीरं समारुह्य" (कौषी ३।६) इति चात्मप्रज्ञयोः कर्त्तृकरणभावेन पृथगुपदेशात् गुणेनैवास्य सर्वशरीर-व्यापित्वं गम्यत्वे" (शाङ्करभाष्य २।३।१७-२८) अत्र यदि प्रज्ञाशब्दं बुद्धौ वर्त्तयेत् तथापि तस्या अणुत्वाभ्युपगमात् तया शरीरव्याप्तिरशक्या। प्रज्ञारूपेऽपि जीवे प्रज्ञयेति "भेदव्यपदेशः शिलापुत्रशरीरवत्" (शङ्कर भाष्य २।३।२८) इत्यत्र तु श्रुत्यर्थः क्लिष्टः स्यात्। तदेकमात्रेऽपि शक्तिस्थापना तु मुहुरेव दर्शिता, "तस्माद् अणुरेव जीवः।"

आत्मा अणु होने पर एकदेशावस्थित आत्मा की सर्वत्र देह में उपलब्धि नहीं होगी? नहीं। हरिचन्दन विन्दु शरीर के एकदेश में स्थित होने से समस्त देह में आनन्द व्याप्त होता है। उस प्रकार जानना होगा। हरिचन्दनविन्दु, प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसके सहित आत्मा का दृष्टान्त नहीं हो सकता। सिद्धान्त में आत्मा अणु है, अणु अप्रत्यक्ष होता है, आत्मा प्रत्यक्ष सिद्ध है। श्रुति प्रमाण लब्ध है,—प्रश्नोपनिषत् में उक्त है, यह आत्मा हृदय में अवस्थित है। छान्दोग्य में—आत्मा हृदय में स्थित है। आत्मा विज्ञानमय आत्मा है, हृदय में स्वप्रकाश रूप में अवस्थित है। इन सब उपदेशों से हरिचन्दन विन्दुवत् आत्मोपलब्धि होने से दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक वैषम्य नहीं। आत्मा अणु परिमाण ही है। इस प्रकार निश्चय होने से अपर संशय का भी समाधान सुष्ठु होगा। वेदान्तसूत्र २।३।१७ "ज्ञोऽतएव" आत्मा ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञातृस्वरूप है। "एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" इति षट्प्रश्नी श्रुति है। श्रुति प्रमाण ही स्वीकृत है। श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्। स्मृति भी "ज्ञाता ज्ञानस्वरूपोऽयमिति।"

अतएव चिद्रूप जीव चेतयिता होने से अणु होकर आत्मा निखिल देह प्रकाशक होगा। लौकिक दृष्टान्त में दीप एवं सूर्य्य है। जो एकदेश स्थित होकर भी समस्त स्थानों को प्रकाशित करते हैं। यह प्रकाश कार्य्य भी निज प्रकाश रूप गुण से ही करते हैं। यदि कहा जाय कि—दीपप्रभा, दीप से विशीर्ण परमाणु समूह हैं? ऐसा संशय नहीं हो सकता। परमरक्त वसन एवं महाहीरक मणि प्रभृति निज रक्तादि गुणों से निज सन्निहित भूमि को अनुरञ्जित करते रहते हैं। वहाँ गुणगुणी को पृथक् रूपसे देख पाते हैं। रक्त पट का नाश नहीं होता है, और हीरक से पराग क्षरण होना भी असम्भव ही है। पराग क्षरण स्वीकार करने पर प्रतिकूल वायु के द्वारा स्थानविशेष में वैषम्य होगा, वैसा नहीं होता है। अतएव दीपादि की गुण ही प्रभा है। अतएव अद्रव्य पदार्थ होने से दीपादि के समान वह पवनादि के द्वारा विक्षिप्त नहीं होता है। श्रीगीतोपनिषत् में भी दृष्टान्त उक्त रूप ही है।

जिस प्रकार एक रवि समग्र लोक को प्रकाशित करता है, उस प्रकार जीवात्मा क्षेत्री समस्त शरीररूप क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

न्याय सिद्धान्त में मनः, अणु है। किन्तु उसका प्रकाश क्षेत्र विस्तृत है। "मनसा मेरु को प्राप्त करता", दूरदर्शन श्रवणादि में उक्त विषय प्रसिद्ध है। श्रुति भी कहती है, दिवीव चक्षु आतत है। "अणु" विषय में माध्वभाष्य प्रमाणित शाण्डिल्य श्रुति इस प्रकार है, "अणु चक्षु का प्रकाश व्यापक नहीं है, अणु ही पुरुष है।

अन्यत्र भी दृष्ट होता है—गुण-गुणी समीपस्थ देश को व्याप्त करता है। जिस प्रकार पुष्पादि में गन्ध। यदि कहो कि—गन्ध आश्रयांश के सहित ही श्लिष्ट होता है? ऐसा होने पर आश्रयगत वजन घटेगा, किन्तु वैसा नहीं होता है।

परमाणु विश्लेष होने से स्वल्प काल में परिमाण ह्रास नहीं होता है। ऐसा कहना भी समीचीन

चालनादिहेतुः प्रभात्र एव, तद्वत् । तदेतदणुत्वमाह (भा० ११।१६।११)—

(३३) "सूक्ष्माणामप्यहं जीवः" इति ।

तस्मात् सूक्ष्मतापराकाष्ठाप्राप्तो जीव इत्यर्थः । दुर्ज्ञेयत्वाद् यत् सूक्ष्मत्वं तदत्र न विवक्षितम्; "महताञ्च महानहं सूक्ष्माणामप्यहं जीवः" इति परस्पर-प्रतियोगित्वेन वाक्यद्वयस्यानन्त-

सर्वसम्वादिनी

अथ ब्रह्माधिष्ठानमुपाधिरेव जीवः ? तदेवं तर्हि मोक्षे जीवनाशः स्यात् । तस्मान्नासौ पक्षः । तदेवमविद्या-कल्पितोपाधिपरिच्छेदे तु न दोषाः कल्पयन्ते ; किन्तु जीवभाव-कल्पनाहेतोस्तस्या मूलाविद्यायाः । न च जीव एवाश्रयः ;—स्वाश्रयादिदोषात् । ऐश्वर्य्यञ्च तथैव कल्पितमिति न चेश्वरः । ततः शुद्धं चैतन्यमेवा-वशिष्टमिति । तत्रैवाविद्यायाः कल्पनीयत्वम् ; तच्चाघटमानं चिदेकरसस्य कथं देवदत्तस्येवाज्ञानं सम्भवेत् ?

नहीं है । वे सब अतीन्द्रिय होने से गुण ग्रहण होता है । स्फुट गन्ध कस्तूरी में है । इस प्रकार कायव्यूह गन्ध दृष्टान्त में उपपन्न होता है । पृथिवी का गुण गन्ध है, वह जलादि में संक्रमित होता है । उस प्रकार जीव का गुण भी समग्र देह में संक्रमित होता है । उस गन्ध का वहनकारी समीरण है, इस प्रकार कथन भी होता है । माध्वभाष्य प्रमाणिता शाण्डिल्य श्रुति भी इस प्रकार है—"एक होकर गन्धवत् पदार्थ के समान विस्तृत होता है, पुनर्वार एक ही होता है, अनेक होता है । समर्थ ईश्वर उसको जिस प्रकार करते हैं, वह उस प्रकार होता है । वह अचिन्त्य है, परम गरीयान् है । (माध्वभाष्य २।३।२७)

अतएव जीव निज निज गुण से ही देह व्यापी होता है । आत्मा का स्थान निर्देश—हृदय में हुआ है । अणु परिमाण है । नख से लोम पर्य्यन्त सर्वत्र जीवात्मा की व्याप्ति है । चेतन गुण आत्मा से ही प्रसारित होता है । "प्रज्ञा के द्वारा शरीर को अवलम्बन कर ।" (कौषी ३।६) आत्म प्रज्ञा को कर्त्तृ करण भाव से पृथक् उपदेश होने से गुण के द्वारा ही समस्त शरीर व्याप्तित्व आत्मा का होता है । ब्र० सू० २।३।२७-२८ का शङ्करभाष्य—यहाँ प्रज्ञा शब्द का अर्थ बुद्धि होने पर अणुत्व स्वीकृत होने पर शरीर व्याप्ति नहीं होती, प्रज्ञा रूप जीव में भी प्रज्ञा द्वारा कहा जाता है । "शिलापुत्र का शरीर, जैसे कहते हैं ।" (शा० भा० २।३।२९) एकमात्र में भी शक्ति स्थापना अनेक स्थलों में प्रदर्शित हुई है । अतएव आत्मा अणु है ।

उस प्रकार अणुत्व का विवरण, भा० ११।१६।११ मे है—

"गुणिनामप्यहं सूत्रं महताञ्च महानहम् । सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्ज्जयानामहं मनः ।।"

सूत्रं—प्रथमकार्य्यत्वं । महान्—महत्तत्त्वम् । सूक्ष्मोपाधि दुर्ज्ञेयत्वाद् जीवस्य सूक्ष्मत्वम् । बुद्धेर्गुणेन आत्मगुणेनात्मगुणेन चैव बालाग्रमात्रोऽह्यवरोऽपि दृष्ट इति श्रुतेः ।११।

गुणवानों के मध्य में प्रथम कार्य्य हूँ । महत्तत्त्व हूँ । जीवोपाधि अति सूक्ष्म होने से वह दुर्ज्ञेय है । अतः जीव सूक्ष्म है । श्रुति भी कहती है,—बुद्धि के गुण से आत्म गुण से, वह बालाग्र शतभाग के समान परिमित होकर देहव्यापी है ।

जितनी सूक्ष्म वस्तु हैं, उन समस्त सूक्ष्म पदार्थों के मध्यमें मैं जीवरूप अणु हूँ । अतएव जीव, सूक्ष्मता का पराकाष्ठा प्राप्त है । जिस प्रकार नैयायिकगण के मत में—कश्चिद् विश्रामो वाच्यः । न्याय से जहाँ अवयव धारा का विश्राम है, वह परमाणु है । अर्थात् सूक्ष्मता की चरम पराकाष्ठा को अणु कहते हैं । उस प्रकार "सूक्ष्माणामप्यहं जीवः" शब्द से सूक्ष्मता की चरम पराकाष्ठा को ही जीव कहा जाता है ।

स्वामि टीका में उक्त है—अद्वयवाद में उपाधि दुर्ज्ञेय होने के कारण, जीव को सूक्ष्म कहा गया है, वह ठीक नहीं है । यदि अविद्या रूपोपाधि का दुर्ज्ञेयत्व को लक्ष्य करके जीव को सूक्ष्म कहने का अभिप्राय होता तो पूर्व्वार्द्ध में समस्त महत् वस्तुओं में मैं महत्तत्त्व हूँ, इस प्रकार कहने के बाद ही महत्तत्त्व का प्रतियोगी पदार्थ—सूक्ष्म पदार्थ का निरूपण में दुर्ज्ञेय उपाधि प्रयुक्त जीव अणु है ।'

र्योक्तौ स्वारस्यभङ्गात्; प्रपञ्चमध्ये हि सर्वकारणत्वान्महत्तत्त्वस्य महत्त्वं नाम व्यापकत्वम्, न तु पृथिव्याद्यपेक्षया सुज्ञेयत्वं यथा तद्वत् प्रपञ्चे जीवानामपि सूक्ष्मत्वं परमाणुत्वमेवेति स्वारस्यम् श्रुतयश्च (मु० ३।१।९) "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो, यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश" इति; (श्वे० ५।९) "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः" इति; (श्वे० ५।८) "आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः" इति च ॥ श्रीभगवान् ॥

सर्वसम्वादिनी

यस्याज्ञानं स एवाज्ञानाश्रयस्तदुपरक्तश्च भवतीति शुद्धस्याप्यज्ञाने चानिर्मोक्ष-प्रसङ्गः।

किञ्च, ईश्वरावस्थायामेतदज्ञानं न विद्यते। तैरेव (ब्र०सू० १।१।५) "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यत्र (शा०भा०) "ज्ञानप्रतिबन्धवान् जीवः; ईश्वरस्त्वप्रतिबन्धस्वरूपभूतज्ञानः" इति सिद्धान्तितम्; (मु० १।१।९) "यः सर्वज्ञः" इत्यादि-श्रुतिश्च। अतएवाज्ञानकल्पितोपाधौ प्रतिविम्वो जीव आभासो वेत्यपि पूर्ववत्। किञ्च,

इस प्रकार कहते हैं। किन्तु परम महान् का वर्णन के बाद परम अणु का जब आपने वर्णन किया है, तब उक्त कल्पित उपाधियुक्त जीव को लक्ष्य करके नहीं कहा है, कहने से निज कथन में विरोध होगा। परम महान् एवं परम अणु परिमाण कहना ही तात्पर्य्य है, न तो भ्रान्त ब्रह्म मायोपाधि ग्रस्त होकर जीव हुआ है, और अणु है। इस प्रकार कथन का अभिप्राय वक्ता के वाक्य से नहीं मिलता है।

एकपाद विभूति के मध्य में सर्व कारण होने से ही महत्तत्त्व को महान् कहा जाता है। कारण वह व्यापक है। किन्तु पृथिवी प्रभृति की अपेक्षा से वह सुज्ञेय नहीं है। उस प्रकार ही परम महत् परिमाण एवं परम अणु परिमाण को स्व स्व प्रतियोगि रूप में ही वर्णन किया गया है। उस प्रकार ही प्रपञ्चस्थ वस्तुसमूह के मध्य में परममहान् वस्तु का निरूपण करने के अनन्तर ही परम अणु पदार्थ का निरूपण किया है, वह ही जीव सूक्ष्म एवं अणु है। कथन का यथार्थ स्वारस्य यह ही है। श्रुति प्रमाण भी भगवद् वचन के पक्ष में ही है। (मु० ३।१।९) "एषोऽणुरात्मा" आत्मा अणु है, चित्त के द्वारा वेद्य है। जिसमें प्राण पञ्च प्रकार से सम्यक् प्रविष्ट हुआ है। (श्वे० ५।) केशाग्र के शतभाग के एकभाग के समान अणु सूक्ष्म जीवस्वरूप है। (श्वे०५।८) चक्र के अग्रभाग के समान जीव दृष्ट होता है।

"नतूत्क्रान्तादयो ह्यत्रोपाध्युत्क्रान्तादिभिरेव व्यपदिश्यन्ते? उत्क्रमवाक्ये "स है वै तं" (कौषीत ३।३) इति सह शब्द श्रवणात् सह शब्दो हि प्रधाना प्रधानयोः समानामेव क्रियां बोधयति ततश्च गत्यागती अपि तथैव भवतः। अचलने प्रमाणान्तराभावात् तदुक्रान्तश्रवणादेव च घटाकाशवदबुधदृष्ट्यभिप्रायमिति न च वक्तव्यम्। श्रीगीतोपनिषदस्तु दृष्टान्तविशेषात् ग्रह्य् पादानाच्च तस्यैव चलनाग्रणीत्वं बोधयन्ति।

"शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥" (गीता १५।८)

एवमेव च सूत्रमुपोद्वलयति "तदनन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्न निरूपणताभ्याम्" (ब्र०सू० ३।१।१) इति प्राणस्तु तद्रथस्थानीयः (यथोक्तं श्रुत्या—"कस्मिन्नह्मुत्क्रान्ता भविष्यामि कस्मिन् वाहं प्रतिष्ठामि" इति (प्रश्न उ० ६।३) अतः स्वयं तत्र स्थित एव चलति नतु पक्षादिवदङ्गं विक्षेपन्नेव। अतो "लेलायति" (वृ० आ० ४।३।७) इवेति श्रुताविवशब्दप्रयोगः। तथापि तस्यैव तत्राग्रणीत्व रथिवत्। तच्चोक्तं श्रुत्या "तमुत्क्रान्तं प्राणोऽनुक्रामति प्राणमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुक्रामन्ति प्राणमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति" (वृ० आ० ४।४।२) इति।

ननु "एषोऽणुरात्मा" इत्यादौ परमात्मन एव प्रकरणं ततोऽणुत्वञ्च दुर्ज्ञेयत्वेनैव वक्तव्यम्। न, प्राण-लिङ्गेन प्रकरणबाधात्।

तदुक्तम्—"श्रुतिलिङ्गवाक्यस्थानप्रकरणसमाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" (मीमांसा सू० ३।४।२) इति गोपवन श्रुतावपि स्पष्टमेवाहैतत्" "अणुर्ह्येष आत्मायं वा एते सिनोतः पुण्यम्" (माध्वभाष्ये २।३।१९ सू० भाष्यम्) इति बालाग्रशतभागस्य" (श्वेता।श्व० ५।९) इत्याद्यन्ते "स चानन्त्याय कल्पते" इति श्रवणात् औपाधिकमेवाणुत्वं पारमार्थिकं विभुत्वमवगम्यते ? न, आनन्त्य शब्दस्य मोक्षेरूढ़त्वात्—'अन्तो' मरणं तद्राहित्वमानन्त्यमित्यर्थः। ब्रह्म प्रविष्टस्य तत्तदात्मा यस्या विष्वद्रीचीन तच्छक्ति स्पर्शाद्वानन्त्यव्यपदेशः। सालोक्ये तु तदनुग्रहात्तत्स्पर्श इति। तदुक्तं श्रीभगवतोद्धवं प्रति—(भा० ११।२५।३६)

"जीवो जीवेन निर्मुक्तो गुणैश्चाशय सम्भवैः। मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न वहि नान्तरं चरेत् ॥"

श्रुत्यन्तरे तु सूक्ष्मत्व रूपेणोपाधिगुणेन तद्रूपेणैव स्वगुणेन चाणुत्वमुक्तम्—बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्र मात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" (श्वेताश्व० ६।८)

ननु चेतनागुणव्याप्तिसिद्धान्ते गुणस्य गुणिदेहित्वात् गुणिगुणिगमनाश्रितस्य गुणत्वमेव हीयते" (शाङ्कर भाष्य २।३।२९) ना गुणस्य तदतिरिक्तव्यापितायां दुकूलादौ दर्शितत्वात्। अतिरिक्तव्यवस्थितस्यापि तमाश्रित्यैवावस्थिति प्रतिपत्तेः। अतएव गन्धस्यापि न स्वाश्रयत्वव्यभिचारः। तत एव तत् प्रभावात्। अतएवोक्तं श्रीकृष्णद्वैपायनेन—"उपलभ्याप्सु चेद्गन्धं केचिद् ब्रूयुरनैपुणाः।

पृथिव्यामेव तं विद्यादयो वायुञ्च संश्रितम् ॥" (शा० भाष्य धृतम् २।३।२)

अत्राशङ्कते—"स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" (बृ० आ० ४।४।२२) इत्यत्र महच्छब्दान्न सम्भवत्यणुत्वमिति।

उच्यते—युक्तिसम्बन्धेनाणुत्व श्रवणेन महच्छब्दस्य विभुतायामप्रसिद्धा वार्थान्तरोपस्थितावणुरप्युत्कर्ष-गुणेन सारत्वादेव महानिति व्यपदिश्यते महारत्नवत्।

परमात्मा विभुरपि दुर्ज्ञेयतागुणेनैव अणोरणीयान् काठकेत्युच्यते। तदेवं "तद्गुणसारत्वात्तु" "तद्व्यदेशः प्राज्ञवत् (ब्र० सू० २।३।२९)" इत्यपि व्याख्यातम्।

अपर इदमेव व्याचष्टे—सचेतनालक्षणो यो गुण महौषध्यादिवदचिन्त्य प्रभावः, स एव सारो व्यभिचार-रहितो यत्र तथाभूतत्वात् सर्वशरीरव्यापिता निर्देशः सम्भवति।

यथैव प्राज्ञस्य श्रुतौ अचिन्त्यशक्तित्वं दृश्यते, तथैव अस्यानुरूपं स्यादिति अस्मिन् व्याख्याने महच्छब्दस्य उत्कृष्टतामात्रं वाच्यं स्वयमुह्यम्। हरिचन्दनदृष्टान्तेन तादृगर्थो न सूत्रे तस्मिन्नभिव्यक्त इति पुनः सूत्रञ्चेद-मित्यपि ज्ञेयम्। किञ्च तेषां जीवगुणानां वह्नेरौष्ण्यादिवत् अनाद्यनन्तकालावस्थाप्यात्मसमानकालमेव वाप्य भवशीलत्वान्न कदाचिद्व्यभिचाराशङ्का। तथा च दर्शयति श्रुतिः "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० आ० ४।३।३०) इत्याद्या, मोक्षे तु तेषामभिव्यक्तिर्जायते, यौवने पुंस्त्रीभावविशेषवत्। तदुक्तं शाङ्कर शारीरकेऽपि—तत् पुनरीश्वरसमानधर्मत्वं तिरोहितं सत् परमभिध्यायतस्तिभिरतिरस्कृतेव दृक्शक्ति-रौपाधिवीर्य्यादीश्वरप्रसादाविभवतीति। श्रुतिश्च—

"ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः तस्याभिधानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्य्यं केवलमाप्तकामः।" (श्वेताश्व० १।११)

"तस्माद् यथा दीपादेरव्यभिचारिप्रभागुणवत्त्वाद् गुणित्व व्यपदेशः। तथा जीवस्यापि तादृशत्वं युक्तम्। अतः स्वयमणो र्जीवस्य तेन गुणेनैव विभुत्वम्। स च चैतन्यगुणः स्वयमविच्छिन्न एव सङ्कोचविकाशाव-विद्याकर्मसंज्ञारूपया शक्त्या भजतीति।

अत्राद्वैतवादिनामपि—परिच्छेदो वा प्रतिविम्बो वा आभासो वा जीवः स्यात्, त्रिधाप्यविभुरित्येवा-याति। तत्र बुद्धिलक्षण तदुपाधेः सूक्ष्मत्वाङ्गीकारात् सूक्ष्मत्वमपि सूचीरन्ध्राकाशवत्, बालुकणप्रतिफलित सर्य्यतेजवत्, तदाभासवच्च। यत्र यत्रैवोपाधयश्चरन्ति तत्र तत्रैव परिच्छिन्नत्वेनैवोदयन्ते तानीति, इत्थमेव स्वयं तदाचार्य्येणेन्द्रियाणां विभुत्ववादो दूषितः।" (सर्वसम्वादिनी)

कह सकते हैं कि—उत्क्रान्ति प्रभृति शब्द से उपाधि की उत्क्रान्ति का बोध होता है, यह कथन ठीक नहीं है। उत्क्रम वाक्य में "सह एव एतैः" इत्यादि स्थल में सह शब्द का प्रयोग है। उक्त शब्द से प्रधान अप्रधान समान क्रिया का ही बोध होता है। गति एवं आगति शब्द के सन्दर्भ में भी वही कथा है। अचलन के सम्बन्ध में प्रमाणान्तराभाव के कारण एवं उत्क्रान्ति के सम्बन्ध में प्रमाण की विद्यमानता हेतु जीवात्मा को घटाकाशवत् अबुधदृष्ट्यभिप्राय कहा नहीं जा सकता है। अर्थात् अविज्ञ व्यक्तिगण जिस प्रकार घटाकाश को महाकाश से पृथक् मानते हैं, उस प्रकार अज्ञगण देहावच्छिन्न जीव को भी ब्रह्म से पृथक् मानते हैं, ऐसा कथन नहीं हो सकता है। कारण, उत्क्रान्ति सम्बन्ध में स्पष्टतः प्रमाण है, किन्तु अचलन के सम्बन्ध में कोई भी प्रमाण नहीं है। विशेषतः गीता उपनिषत्,—दृष्टान्त विशेष के द्वारा एवं ग्रहि धात्वर्थ रूप उपादान प्रक्रिया में जीव का चलनाग्रणीत्व प्रदर्शन करती है। यथा—ईश्वर (जीवात्मा) शरीर प्राप्त होता है, एवं वायु जिस प्रकार गन्ध ग्रहण कर प्रवाहित होता है। उस प्रकार उत्क्रामण के के समय प्राण एवं सूक्ष्म शरीर के सहित जीवात्मा निर्गत होता है।

ब्र० सू० ३।१।१ में उक्त है,—तब जीव एक देह को परित्याग करता है, एवं अपर देह ग्रहण करता है, तब वह देह के कारणभूत सूक्ष्म पदार्थ समूह को साथ लेकर गमन करता है। प्रत्युत प्रश्न निरूपण के द्वारा वह सुव्यक्त होता है। (ब्र० सू० ३।१।१) प्राणस्तु जीव का रथस्थानीय है।

प्रश्नोपनिषद् में लिखित है—"मैं कहाँ से उत्क्रान्त होऊँगा। कहाँ जाकर रहूँगा?" (प्रश्न उ० ६।३) जीवात्मा स्वयं पूर्व देह में अवस्थित होकर तृण जलौका की भाँति अन्य देह को जाता है। किन्तु पक्षी के समान अङ्ग विक्षेप के द्वारा गमन नहीं करता है। वृ० आ० में उक्त है—"लेलायतीव" (जैसा क्रीड़ा करता है) यहाँ इव शब्द युक्त किया पद का प्रयोग है। इससे बोध होता है, जीव रथीवत् अग्रणी है। श्रुति में सुस्पष्ट उल्लेख है—"जीवात्मा का उत्क्रमण के समय प्रधान प्राण जीवात्मा का अनुसरण करता है, अनन्तर अपरापर प्राण समूह उनका अनुसरण करते हैं। (वृ० आ० ४।४।२)

यदि कहो कि—'अणु आत्मा' वाक्य परमात्म प्रकरण में उक्त है। आत्मा को अणु कहा गया है, उसका अर्थ दुर्ज्ञेय है। उत्तर में वक्तव्य यह है कि—वैसा अर्थ नहीं हो सकता है। प्राण के सहित जिस समय आत्मा उत्क्रान्त होता है, तब उस आत्मा को परमात्मा नहीं कहा जा सकता है। इससे प्रकरण की बाधा होती है।

महर्षि जैमिनी प्रणीत सूत्र का अर्थ यह है, अर्थ विप्रकर्ष हेतु श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, स्थान, प्रकरण, समाख्या में पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर दुर्बल है। (मीमांसा दर्शन ३।४।२) गोपवन श्रुति में इसका उल्लेख सुस्पष्ट है—"यह आत्मा अणु, इसमें पाप-पुण्यादि आबद्ध नहीं होता है।" (मध्वभाष्य २।३।२६)

यदि कहो कि—"बालाग्रशतभागस्य इस प्रमाण वचन के अन्त में लिखित है—"आनन्त्याय कल्पते" यहाँ "आनन्त्य" पद से पारमार्थिक अर्थ में विभुत्व का बोध होता है। आदि में जो 'अणु" का उल्लेख है, वह औपाधिक मात्र है, ऐसा नहीं कह सकते। "आनन्त्य" का रूढ़ार्थ "मोक्ष"। अन्त शब्द का अर्थ मरण, तद्राहित्य ही आनन्त्य है। ब्रह्म में प्रविष्ट जीवात्मा की ब्रह्मप्राप्ति होती है। अतः वह विश्वव्यापी होता है। ब्रह्मशक्ति स्पर्श हेतु जीवात्मा में "आनन्त्य" व्यपदेश हुआ है। सालोक्य मुक्ति में भी ब्रह्म के अनुग्रह से तत् स्पर्श हेतु "आनन्त्य" सम्भव है।

भा० ११।२५।३६ में दृष्ट होता है, श्रीभगवान् उद्धव को कहे हैं—"जीव, देह सम्भूत गुणसमूह, एवं जीव भावसमूह से निर्मुक्त होकर ब्रह्मस्वरूप मेरे द्वारा पूर्ण होता है। सुतरां उस समय उसका अन्तर्वहि-विचरण प्रयत्न नहीं रहता है।"

श्वेताश्वतर ६।८ में उक्त है,—सूक्ष्मत्व रूप उपाधि गुण, तद्रूप स्वगुण प्रभृति द्वारा जीव "अणु" रूपसे अभिहित होता है। यदि कहो कि—अणु परिमित जीव की सर्वदेह व्यापकता के सम्बन्ध में, हरिचन्दनबिन्दु

का दृष्टान्त दिया गया है। वह अयुक्त है, कारण चन्दन का सूक्ष्मावयव विसर्पण के निमित्त उससे समस्त देह आह्लादित होते हैं। आत्मा में उस प्रकार कल्पना नहीं हो सकती है। उक्त कल्पना प्रत्यक्षाधीन नहीं है, वह अदृष्ट कल्पनामात्र है। यहाँ उक्त दृष्टान्त की सार्थकता क्या है? उत्तर में वक्तव्य यह है कि —मणिमन्त्र महौषधि प्रभृति का प्रभाव अचिन्त्य है, लोकप्रसिद्ध भी है, जतु समावृत महौषधि विशेष का धारण करने से देह पुष्ट होता है। औषधि प्रभृति का इस प्रकार प्रभाव भी दृष्ट होता है। स्पर्शमणि के द्वारा लौह स्पृष्ट होने से वह सुवर्ण होता है।

महाभारत में उक्त है- हरिचन्दनविन्दु शरीर में स्पृष्ट होने से समस्त शरीर आह्लादित होता है। उस प्रकार जीव अणु होने से भी समग्र शरीर में व्याप्तिशील है। यहाँ प्रभाव का आतिशय्य प्रदर्शन के निमित्त हरिचन्दन दृष्टान्त दिया गया है।

यदि कहो कि—"चेतनागुणव्याप्ति सिद्धान्त में जहाँ गुणी है, वहाँ तक ही गुणी की व्याप्ति है। गुणी का आश्रय प्राप्त न होने से गुणत्व हीन होता है। (शाङ्करभाष्य २।३।२९) ऐसा कहना ठीक नहीं है। रक्तरञ्जित वस्त्रादि का रक्तवर्ण से तन्निकटस्थ भू-भाग भी लोहित वर्ण से रञ्जित होता है। तद्द्वारा यह प्रतिपन्न हुआ है कि - गुणी को आश्रय कर गुण अवस्थित होने पर भी तदतिरिक्त स्थल में भी उसकी स्थिति देखी जाती है। गन्ध, स्वकीय आश्रय को न छोड़कर दूर में विसर्पित होता है, यह कार्य्य प्रभाव का ही है। श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास ने महाभारत में एक पद्य लिखा है, उसका अर्थ इस प्रकार है—अनभिज्ञ व्यक्तिगण, जल में गन्ध उपलब्धि कर मानते हैं कि—यह गुण जल का ही है। किन्तु वास्तविक वैसा नहीं है। गन्ध पृथिवी का गुण है, जल का नहीं। पृथिवी का गन्ध ही जल एवं पवन को आश्रय करता है। (शाङ्करभाष्यधृत २।३।२९) सुतरां सिद्धान्त यह है कि- जीव अणु ही है। एवं निज चेतन गुण से समग्र शरीर में अवस्थित रहता है।

वृहदारण्यक में एक श्रुति भी है—"स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" (४।४।२) यह 'महत्' शब्द प्रयुक्त होने से जीवात्मा को अणु नहीं कहा जा सकता है। उत्तर में कहते हैं, जीवात्मा को अनेक स्थलों में "अणु" कहा गया है। महत् शब्द का विभुत्व अर्थ अप्रसिद्ध है। सुतरां अर्थान्तर उपस्थित होने से ऐसा कहा जा सकता है,—उत्कर्ष गुण से सारत्व निबन्धन वैसा कहा गया है। सुतरां महात् शब्द का अर्थ—उत्कर्ष गुण से सारत्वविशिष्ट वस्तु। जैसे महारत्न।

प्राज्ञ परमात्मा, विभु होकर भी दुर्ज्ञेयत्व निबन्धन अणु से भी अणु नाम से अभिहित हैं। यहाँ "तद् गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्" इस ब्रह्मसूत्र के द्वारा ही जीवात्मा में प्रयुक्त महत् शब्द की व्याख्या हो सकती है। कतिपय व्यक्ति कहते हैं—आत्मा का सचेतनता गुण, महौषधि के समान अचिन्त्य प्रभाव विशिष्ट है। यह गुण, जीवात्मा का प्रधान (सार) गुण है, इस गुण का कोई व्यभिचार नहीं है। सुतरां इस गुण के द्वारा शरीर व्यापित्व होना आत्मा का सम्भव है। प्राज्ञ सम्बन्धीय श्रुति में परमात्मा का अचिन्त्य प्रभाव परिलक्षित होता है। अर्थात् परमात्मा, महान् से भी महत्तर, एवं अणु हैं। जीवात्मा में प्रयुक्त महच्छब्द का भी उस प्रकार अर्थ जानना होगा। महत् शब्द केवल उत्कृष्टता का ही बोधक यहाँ है। हरिचन्दन दृष्टान्त द्वारा उक्त सूत्र में तादृश अर्थ अभिव्यक्त न होने से "तद्गुणसारत्वादेव" इत्यादि सूत्र की अवतारणा हुई है।

अग्नि की उष्णता के समान उक्त गुण, जीव में अनादि काल से स्वाभाविक रूपमें है। इसमें व्यभिचाराशङ्का नहीं है। वृहदारण्यक श्रुति कहती है—"विज्ञाता का ज्ञातृत्व गुण का कभी विपरिलोप नहीं होता है।" (वृ० आ० ४।३।३०)

अद्वैतवादिगण कहते हैं - जीव परमात्मा का प्रतिविम्ब, परिच्छेद-आभासमात्र है, तीन प्रकार स्वीकार करने पर भी जीव को विभु नहीं कहा जा सकता है। परमात्मा बुद्धि को आश्रय करके ही जीव होते हैं।

३४। तथा (भा० १०।८७।३०)—

(३४) "अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया" ॥३०॥

अयमर्थः—परमात्मनोऽंशत्वं तस्माज्जायमानत्वञ्च जीवस्य श्रूयते। तत्र (गी० १५।७)

सर्वसम्वादिनी

तेषां (केवलाद्वैतवादिनां) मतत्रय-विवेचनमिदम्।—

तत्र (१) प्रथम-मते,—तावदविद्या नाम जीवाश्रया, जीवस्य नानात्वान्नाना। ततश्चाविद्या-तदात्म-सम्बन्ध-जीव-तद्विभागानामनादित्वात्तदज्ञानविषयीभूतं ब्रह्म शुक्ति-रजत-वज्जगद्रूपेण विवर्त्तते।

सुतरां बुद्धि एक उपाधि है। यह सिद्धान्त अद्वैतवादि का है। यह बुद्धि उपाधि विभु नहीं है, किन्तु सूक्ष्म है। सूक्ष्म कहने से प्रतीत होता है, जिस प्रकार सूचिरन्ध्रवर्त्ती आकाश, यह परिच्छेद का दृष्टान्त है। बालुका कण प्रतिफलित सूर्य्य तेज प्रतिबिम्ब का ही उदाहरण है, यह भी सूक्ष्म है। प्रतिबिम्ब के योग्य से जो चाक्चिक्य होता है, वह ही आभास है। यह आभास भी विभु नहीं है, सूक्ष्म है। जहाँ जहाँ उपाधि का प्रभाव है। तत्तत् स्थलमात्र में ही उपाधि द्वारा परिच्छिन्न होकर तद्गत वस्तु का विभुत्व धर्म विनष्ट होता है।

"अणवश्च" (ब्र० सू० २।४।७) की व्याख्या में आचार्य्य शङ्कर कहते हैं, यदि कहो कि सर्वगत इन्द्रिय समूह का शरीर में वृत्ति लाभ होता है। अर्थात् सांख्यमत में इन्द्रियसमूह का व्यापकत्व स्वीकृत है। आचार्य्य शङ्कर उसको नहीं मानते हैं। सुतरां प्राणसमूह सूक्ष्म एवं परिच्छिन्न हैं। आचार्य्य शङ्कर जीव को विभु शब्द से नहीं कहते हैं। "प्राणभृच्च" (१।३।४) ब्रह्मसूत्र में आचार्य्य शङ्कर कहते हैं— "प्राणधारी विज्ञानात्मा का आत्मत्व एवं चेतनत्व होने पर भी उक्त ज्ञान परिच्छिन्न है।

"असन्ततश्चाव्यतिकरः" (२।३।४९) ब्रह्मसूत्र भाष्य में आचार्य शङ्कर लिखते हैं— उपाधि का असन्तान अर्थात् अन्य देह के सहित सम्बन्धाभाव निबन्धन अन्य देह में जीव के सहित भी तत् तत् कर्म का सम्बन्धाभाव है। तज्जन्य उभय वादी के मत में ही जीव अविभु अर्थात् अणु है।

प्रवक्ता श्रीभगवान् हैं ॥३३॥

श्रीमद्भागवत के अध्याय १०।८७।३० में उक्त विषय सुपरिस्फुट है, श्रुतिओं ने कही—हे ध्रुव! अर्थात् हे नित्य! यदि जीवसमूह वस्तुतः अनन्त, नित्य एवं सर्वव्यापी होते हैं, तब आपके सहित सादृश्य प्रयुक्त आपमें नियन्तृत्व नहीं रहेगा। अर्थात् आप परमात्मा हैं, स्वतन्त्र हैं, जीव अणु है, आपका अधीन है, नियम्य है, इस प्रकार व्यवहार नहीं होगा। लोक में स्वतन्त्र दो व्यक्ति की एकत्र स्थिति नहीं होती हैं। कारण कोई किसी के नियम्य नियामक नहीं होते हैं। फलतः जीव स्वयं स्वयं का निर्माता होता, पालन कर्त्ता, संहार कर्त्ता भी होगा। कारण मायिकोपाधि से ही जीव संज्ञा ब्रह्म की होती है। उपाधि ही जीव है, वह अनुस्मृत रूप में कारणता का परित्याग न करके स्वीय विकार का नियन्ता होता है। अर्थात् "परमात्मा से जीव होता है", इस कथन से ही नियम्य नियामक भाव होगा, किन्तु उक्त सिद्धान्त को मान लेने से प्रतिदिन भ्रान्त ब्रह्म जीव है, उसको अस्वीकार करना पड़ेगा एवं परमात्मा जीव में भेद को मानकर जीव को अधीन मानना पड़ेगा। इससे जीव की मुक्ति नहीं होगी। कारण उपाधि परित्याग कर ब्रह्मरूप निज स्वरूप में अवस्थिति ही मुक्ति है।

"ममैवांशो जीवलोके" इत्यादिसिद्धेऽंशत्वे तावत्तस्य विभुत्वमयुक्तमित्याहुः—अपरिमिता

सर्वसम्वादिनी

तत्रापरावाहतुः,—तथा चाज्ञानविषयीभूतं 'ब्रह्मैवेश्वरः' इत्यन्तर्यामिश्रुति-विरोधात् यदज्ञानकृतम्, तत्तेनैव गृह्यत इति प्रतिजीवं जगत्-कल्पना-भयाच्च न सम्यगवगम्यते। न च मायावच्छिन्न-चैतन्यमीश्वर-स्तदाश्रयो मायेति वाच्यम्;—तस्यान्तर्यामित्वे द्विगुणीकृत्य वृत्ति-विरोधादिति।

अत्र जीवत्वं चाविद्या-कृतमेवेत्यविद्यादेनामनादित्वेऽप्यविद्याया जीवाश्रयत्वायोग एव,—रजत-शुक्त्यादे

स्वप्रकाशानन्दात्मा की अविद्याकृतानर्थनिवृत्ति मात्र को ही मुक्ति मानी गई है। उपाधि जन्म से ही जीव का जन्म होता है, जीव का स्वतः जन्म नहीं है। अतएव जीव स्वयं ही ब्रह्म है एवं स्वयं का नियन्ता स्वयं है। वास्तविक तथ्य उस प्रकार नहीं है।

श्रुति संवाद इस प्रकार है,—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति। यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवास्मादात्मनः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्तीत्यादि श्रुतिषु चेतनाचेतनप्रपञ्चस्य परमात्मोपादानत्वश्रवणात्।"

श्रुति कहती है,—आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ है। बहुभवन के निमित्त ईश्वर की इच्छा हुई, प्रजा सृजन हेतु कामना हुई। जिस प्रकार अग्नि से अनन्त स्फुलिङ्ग निर्गत होते रहते हैं। उस प्रकार परमात्मा से समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवता, समस्त भूत आविर्भूत होते हैं। इससे "चेतना-चेतन समुदय विश्व परमात्मा से उत्पन्न हैं" बोध होता है। "अपरिमितध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगताः" श्लोक का अर्थ यह है—जीव परमात्मा का ही अंश है, एवं परमात्मा से ही समुत्पन्न है। यह सुनने में आता है। श्रीमद्भगवद्गीता १५।७ में उक्त है—"इस जीव लोक में जीवसमूह मेरा ही अंश है।"

ननु त्वत् प्रपत्त्या यस्तत् पदं याति, स जीवः, क इत्यपेक्षायामाह,—ममैवेति। जीवः सर्वेश्वरस्य ममैवांशो नतु ब्रह्मरुद्रादेरीश्वरस्य। स च सनातनो नित्यो, नतु घटाकाशादिवत् कल्पितः। स च जीवलोके प्रपञ्चे स्थितो मनः षष्ठानीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि कर्षति—पादादिशृङ्खला इव वहति, तानि कीदृशीत्याह—"प्रकृतिस्थानि-प्रकृतिविकारभूताहङ्कारकार्य्याणि" इत्यर्थः। तत्र मनः सात्त्विकाहङ्कारस्य कार्य्यं, श्रोत्रादिकं तु राजसाहङ्कारस्य कार्य्यमिति बोध्यम्। भगवत् प्रपत्त्या प्राकृतकरणहीनो गतस्तु भागवतैर्देहकरणैर्विभूषणैरिव विशिष्टो भगवन्तं संश्रयत् निवसतीति सूच्यते। "स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्यमतिसृज्य ब्रह्माभिसम्पद्य ब्रह्मणा पश्यति। ब्रह्मणा शृणोति ब्रह्मणैवेदं सर्वमनुभवति" इति माध्यन्दिनायनश्रुतेः, "वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्त्तयः" इत्यादि स्मृतेश्च, भगवत—संकल्पसिद्ध-चिद्विग्रहस्तत्र भवतीति। यत्तु घटाकाशवज्जलाकाशवद्वा जीवे ब्रह्मणोऽंशोऽन्तःकरणेनावच्छेदात् तस्मिन् प्रतिविम्वनाशाद्वा जीवे ब्रह्मणोऽंशोऽन्तःकरणेनावच्छेदात्तस्मिन् प्रतिविम्वनाशाद्वा घटजलनाशे तत्तदाकाशस्य शुद्धाकाशत्ववदन्तःकरणनाशे जीवांशस्य शुद्धब्रह्मत्वमिति वदन्ति, न तत् परम्, "जीवभूतः" "ममांशः" "सनातनः" इत्युक्ति व्याकोपात्; परिच्छेदादि वादद्वयस्य "देहिनोऽस्मिन् यथा" इत्यत्र प्रत्याख्यानाच्च, प्रतिविम्वसादृश्यात्तु तत्त्वं मन्तव्यमम्वुवदधिकरणविनिर्णयात्। तस्मात् ब्रह्मोपसर्ज्जनत्वं जीवस्य ब्रह्मांशत्वं विधुमण्डलस्य शतांशः शुक्रमण्डलमित्यादौ दृष्टं चेदमेकवस्त्वेकदेशत्वं चांशत्वमाहुः। ब्रह्म खलु शक्तिमदेकं वस्तु, जीवो ब्रह्मशक्तिः—इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूताम्' इति पूर्वोक्तेरतस्तदेक-देशात्तदंशो जीवः।

श्रीभगवत् शरणागति से जिसकी भगवत् पद प्राप्ति होती है, उस जीव का स्वरूप क्या है? उत्तर—मेरा ही अंश है। जीव, मुझ सर्वेश्वर का ही अंश है, किन्तु ब्रह्मरुद्रादि ईश्वर का नहीं, वह जीव, सनातन, नित्य है। घटाकाशादि के समान कल्पित नहीं है। वह जीव स्वरूपत चिदानन्दमय है, शुद्ध है।

वस्तुत एवानन्तसंख्या नित्याश्च ये तनुभृतो जीवास्ते यदि सर्वगता विभवः स्युस्तर्हि तेषां व्याप्यत्वाभावेन समत्वात् शास्यतेति नियमो न स्यात्; ईश्वरो नियन्ता जीवो नियम्य इति वेदकृतनियमो न घटत इत्यर्थः। हे ध्रुव! इतरथा जीवस्याणुत्वेन व्याप्यत्वभावे तु सति

सर्वसम्वादिनी

रज्जु-सर्पादेर्वाज्ञानाश्रयत्वायोगात्, अन्यस्यैव तद्योगाच्च। बीजवृक्षादिवदज्ञान-परम्परया जीवत्वपरम्परा-जन्मनि च जीवस्याद्यन्तवत्त्वं च प्रतिजन्मैव तत्पार्थक्यं च प्रसज्येत।

अथ (२) द्वितीयमते,—चैतन्यस्याविद्या-प्रतिबिम्ब ईश्वरश्चैतन्याभासो जीवः। स च मिथ्येति रज्जुः

किन्तु निज स्वतन्त्रता का दुरुपयोग वह स्वयं करके प्रकृति में आवद्ध ही होता है, इस प्रकृति परिग्रहता के कारण वह मनः प्रभृति इन्द्रियों का अधीन होता है, अर्थात् स्वेच्छाकृत शृङ्खल धारण कर वहन करने के समान उक्त इन्द्रियसमूह को वहन करता है। वे सब प्रकृति विकारभूत अहङ्कार के कार्य्य है। मनः,— सात्त्विक अहङ्कार का, श्रोत्रादि राजस अहङ्कार का कार्य्य हैं।

भगवत् प्रपत्ति के द्वारा जीव निज शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होता है, एवं प्राकृत देहेन्द्रियादि वर्जित भगवल्लोक गमन करता है। वहाँ जाकर भगवद्भक्तगण सम्बन्धीय सच्चिदानन्दमय देहेन्द्रिय से वह जीव विभूषित होने के समान सच्चिदानन्दमय देह विशिष्ट होकर श्रीभगवान् को आश्रय कर उनके पार्षद रूपमें निवास करता है। श्रुति भी कहती है,—'ब्रह्मनिष्ठ जीव मर्त्य शरीर को त्याग कर ब्रह्मभूत होता है। ब्रह्म के द्वारा दर्शन श्रवण कर ब्रह्म के द्वारा ही सब कुछ अनुभव करता है। यह माध्यन्दिन श्रुति है। श्रुति का विवरण भी श्रुति का अनुरूप है, "वैकुण्ठ के अधिवासी जनगण, श्रीभगवान् मूर्त्ति के समान सच्चिदानन्दमय मूर्त्ति के होते हैं।" भगवत् संकल्पसिद्ध चिद्विग्रह ही उन जनों का होता है।

कतिपय जन कहते हैं, "जीव नामक कोई पदार्थ नहीं है। घटाकाश जलाकाश के समान जीव, अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म का अंश है। प्रतिविम्ब नाश होने से, घट जल नाश होने से आकाश का पर्य्यवसान शुद्ध आकाश में जिस प्रकार होता है, उस प्रकार अन्तःकरण नाश होने से जीवांश भी शुद्ध ब्रह्म हो जाता है।" यह कथन सार हीन है। श्रीगीता में ही—"जीवभूतः" "ममांशः" "सनातनः" उक्त है। इसके सहित उक्त कथन का विरोध है। परिच्छेदादि वादद्वय का प्रत्याख्यान तो श्रीगीता के द्वितीय अध्यायस्थ "देहिनोऽस्मिन् यथा" शब्द से ही हुआ है। प्रतिविम्ब साद्दश्य का समाधान तो श्रीव्यासदेव ने अम्बुवदधिकरण में स्वयं ही किया है। वह दृष्टान्त गौण है।

अतएव ब्रह्मसृष्ट जीव ब्रह्मांश है, जिस प्रकार विधुमण्डल का शतांश शुक्रमण्डल है। प्रयोग भी होता है,—"एक ही वस्तु के एक देश को उस वस्तु का एकदेश एवं अंश कहते हैं।" ब्रह्म, शक्तिमत् एक वस्तु है, जीव—ब्रह्म शक्ति है। "इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूताम्" इस वचन से उक्त तत्त्व सुस्पष्ट हुआ है। अतः जीव, ब्रह्म के एकदेश होने से ब्रह्म का अंश है। शक्तिमत्तत्त्व का एकांश शक्ति ही है। वस्तु का अंश जीव, वस्तु का कार्य्य जगत्, वस्तु की शक्ति माया—समस्त ही वस्तु हैं।

उक्त प्रमाणों से जीव का भगवदंशत्व सिद्ध होने पर जीव का विभुत्व, व्यापकत्व प्रतिपादन करना अयुक्त है। श्रुति कहती है, अपरिमित जीव है, अर्थात् वस्तुत एवं अनन्त असंख्य नित्य जीव समूह यदि सर्वव्यापक विभु होते हैं, तब सब ही व्यापक विभु ही होंगे। किन्तु विभु, व्यापक एक ही होता है। उसमें कोई भी व्याप्य नहीं होंगे। व्याप्यत्व का अभाव होने से शास्य शासक भाव ही नहीं रहेगा, अर्थात् गरीब न रहने से राजा की आवश्यकता ही नहीं होगी। सब समान होने से नियम्य नियामक भाव ही नहीं रहेगा। वेद का जो निश्चय है—"ईश्वर नियन्ता है, एवं जीव नियम्य है" यह कथन असत्य ही होगा। वस्तु का अभाव से नियम्य नियामक व्यवस्था का प्रवर्त्तन नहीं हो सकता है। हे ध्रुव! हे नित्य! अन्यथा

न तन्नियम इति न, अपि तु स घटत एवेत्यर्थः। अथ (तै० ३।१।१) "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इति जायमानत्वावस्थायामपि व्याप्य-व्यापकत्वेनैव नियम्य-नियन्तृत्वं भवति। सर्वत्रैव कार्य्य-कारणयोस्तथाभावदर्शनादित्याहुः— अजनीति; यन्मयं यदुपादानकं यदजनि जातं जायत इत्यर्थः, तदुपादानं कर्त्तृ तस्य जायमानस्य यन्नियन्तृ भवेत् तदविमुच्य किञ्चिदप्यमुक्त्वा व्याप्यैवेत्यर्थः। किञ्च, यदुपादानरूपं परमात्माख्यं तत्त्वं केनाप्यपरेण समं समानमित्यनुजानतां यः कश्चित्तथा वदति, तत्रानुज्ञामपि ददतामपमतं ज्ञातं न भवतीत्यर्थः। तत्र हेतुः—मतदुष्टतया तस्य मतस्याशुद्धत्वेन; तत्राशुद्धत्वं श्रुत्या च विरोधात्। श्रुतिश्च— "असमो वा एष परो न हि कश्चिदेवं दृश्यते, सर्वे त्वेते न वा जायन्ते च म्रियन्ते च छिद्रा ह्येते भवन्त्यथ परो न जायते न म्रियते सर्वे ह्यपूर्णाश्च भवन्ति" इति चतुर्वेदशिखायाम्; (श्वे० ६।८) "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इति; 'अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म बृंहति बृंहयति च" इति चान्यत्र (वि०पु० १।१२।५७) "बृहत्वाद्बृंहणत्वाच्च यद् ब्रह्म परमं विदुः" इति श्रीविष्णुपुराणे। अतः परमात्मन एव सर्वव्यापकत्वम्; (श्वे० ६।११) "एको देवः सर्वभूतेषु

सर्वसम्वादिनी

सर्प इतिवद्बाधायां सामानाधिकरण्यम्; निषेधप्रधाना एव श्रुतयः शुद्धसमर्पिका इति तासामेव महावाक्यत्वम्। सुषुप्तौ सर्वमेव विलीयते। उत्थितो जीवः पुनः सम्प्रतिपद्यत इत्यज्ञातसत्त्वानङ्गीकारेण दृष्टिरप्येषा चेश्वरप्रतिपादनेऽप्यविरुद्धा;—ईश्वरेण ज्ञात-संस्कारानुवर्त्तनात्।

जीव अणु होने से ही व्याप्य होगा, तब वह नियम्य नियामक भाव अर्थात् जीव नियम्य है, अधीन है, परमात्मा नियामक हैं, ईश्वर हैं। इस प्रकार नियम्य नियामक भाव नहीं होगा, यह नहीं, किन्तु अवश्य ही होगा।

तैत्तिरीयक उपनिषत् में वर्णित है—"जिनसे भूत समूह उत्पन्न हुए हैं" इससे जायमान अवस्था में भी व्याप्य व्यापक के द्वारा ही नियम्य नियामक भाव सुसम्पन्न होने से ही श्रुति कहती है, अजनीति। अर्थात् जिस उपादान से जो उत्पन्न होता है, उसका कारण पूर्वोपादान ही होता है। उसमें उपादान—कर्त्तृत्व, सुसिद्ध होता है, अतः ईश्वर से उत्पन्न जीव, ईश्वर का व्याप्य है, नियम्य है। ईश्वर—नियन्ता एवं अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। अर्थात् कुछ भी अंश को न छोड़कर ही व्यापक होते हैं, नियन्ता होते हैं। और भी उपादान स्वरूप जो परमात्म नामक तत्त्ववस्तु है, उनकी दूसरी वस्तु के साथ समान कोई माने तो, अर्थात् यदि कोई कहे कि—परमात्मा उस वस्तु के समान हैं, समर्थन भी कोई करता है। उन सब के समीप में परमात्मा "अमत" हैं। अर्थात् वे लोक परमात्मा को जान नहीं सकते हैं, अर्थात् उन सब के ज्ञान विषय परमात्मा नहीं होते हैं। कारण—उस प्रकार मत समूह दुष्ट हैं। उक्त मतसमूह अशुद्ध होने से उससे परमात्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता है। कारण उक्त मत श्रुति विरोधी है। श्रुति कहती है—"उनका कोई समान नहीं है, आप सर्वश्रेष्ठ हैं, उनके समान अपर देवता नहीं है। ये सब उत्पन्न होते हैं, मृत्यु वरण करते हैं। किन्तु परमात्मा का जन्म मृत्यु नहीं हैं। अतएव सब अपूर्ण ही है, पूर्ण परमात्मा ही है।" यह श्रुति चतुर्वेद शिखा की है। श्वेताश्वतर ६।८ में उक्त है—परमात्मा के समान एवं अधिक अपर कोई नहीं है। उनको ब्रह्म क्यों कहते हैं,—परमात्मा वर्द्धित होते हैं, एवं अपर को वर्द्धित करते हैं। अन्यत्र भी उस प्रकार प्रमाण है। विष्णुपुराण में लिखित है—"बृहत्व बृंहणत्व प्रयुक्त, पण्डितगण उनको ब्रह्म कहते हैं।" अतएव परमात्मा का ही सर्वव्यापकत्व है। श्वेताश्वतर में

गूढ़ः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" इत्यादौ। तस्मादणुरेव जीव इति। यत्तु श्रीभगवद्-गीतासु (२।२४) 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' इत्यादिना जीवनिरूपणम्, तत्र सर्वगतः श्रीभगवानेव तत्स्थस्तदाश्रितश्चासावणुश्चेति सर्वगतः स्थाणुर्जीवः प्रोक्तः ॥ श्रुतयः ॥

३५। अथ शुद्धस्वरूपत्वान्नित्यनिर्मलत्वमुदाहृतमेव (भा० ५।११।१२) "शुद्धो विचष्टे

सर्वसम्वादिनी

अत्र चापरावाहतुः,—जीव-नाशस्य मोक्षत्व-भिया न सम्यगपेद्यते तदिति। अत्र च नित्यत्वमेव वेत्तृसम्बन्धिन्या अविद्याया आश्रय-निरूपणाशक्यत्वात्तदवस्थमेव। ईश्वर-कर्त्तृत्व सार्वज्ञ्यादि-संघवादस्तु वेदान्तेषु प्रलाप एव स्यात्। तदग्रे विवेचनीयम्।

उक्त है—"एक देव समस्त भूतों में निगूढ़ रूप में अवस्थित हैं। जो सर्वव्यापी एवं सर्वभूतों के अन्तरात्मा हैं। इन सब प्रमाणों से निर्णीत होता है कि—परमात्मा ही सर्वव्यापी है। अतएव अणु जीव ही है, अर्थात् अति सूक्ष्म जीव है।

श्रीमद्भगवद्गीता २।२४ में उक्त है—"अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।" जीवात्मा—अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सर्वगत अर्थात् सर्व योनि भ्रमणकारी, स्थाणु, अचल एवं सनातन, सदा विद्यमान है।

छेदाद्यभावादेव तत्तन्नामभिरयमाख्यायते इत्याह—अच्छेद्योऽयमिति। एव कारः सर्वैः संबध्यते। सर्वगतः स्वकर्म हेतुकेषु देवमानवादिषु पशुपक्ष्यादिषु च सर्वेषु शरीरेषु पर्य्यायेण गतः प्राप्तोऽपीत्यर्थः। स्थाणुः, स्थिरस्वरूपः। अचलः—स्थिरगुणकः, "अविनाशी वा अरे अयमात्मानुच्छित्तिधर्मा" इति श्रुतेरित्यर्थः। न चानुच्छित्तिरेव धर्मो यस्येतिव्याख्येयम्—तस्यार्थस्याविनाशीत्यनेनैवलाभात्। तस्मादनुच्छित्तयो नित्या धर्मा यस्य स तथेत्येवार्थः। सनातनः, शाश्वतः, पौनरुक्तदोषस्त्वग्रे परिहरिष्यते।" इस श्लोक में जीव निरूपण के समय सर्वगतः शब्द का उल्लेख है। उस सर्वगत शब्द का मुख्यार्थ श्रीभगवान् ही है। उन श्रीभगवान् को आश्रय कर जो अणुस्वरूप है, वह सर्वगत स्थाणु जीव है।

श्रुतिगण श्रीभगवान् को बोली थीं ।।३४।।

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" प्रमाण के द्वारा जीव, श्रीभगवदाश्रित, अणुस्वरूप प्रतिपादित हुआ। जीव शुद्धस्वरूप है, अर्थात् माया विरहित सच्चिदानन्दस्वरूप में नित्य विराजित है।

पाद्मोत्तर खण्ड वचन में इसका उल्लेख है। "जीव, ज्ञानाश्रय चेतनस्वरूप, प्रकृत्यतीत, अज, विकार शून्य, एकरूप स्वरूपविशिष्ट, सूक्ष्म, नित्य, व्याप्तिशील, चिदानन्दस्वरूप, अहमर्थ, अविनाशी, क्षेत्री, भिन्न रूप, सनातन, अदाह्य, अच्छेद्य, अक्लेद्य, अशोष्य, अक्षर इत्यादि परमेश्वर दत्त गुणयुक्त एवं शेषरूप है। सर्वत्र परविशिष्ट जीव, अ, उ, म,-कारात्मक सर्वादि महावाक्य ॐ कार स्थित "म" कार के द्वारा ही उक्त है, वह जीव श्रीभगवान् श्रीहरि का ही दास है, अन्य का नहीं।"

"ज्ञानाश्रयोज्ञानगुणश्चेतनः प्रकृतेः परः। न जातो निर्विकारश्च एकरूपस्वरूपभाक् ॥
अणुर्नित्य व्याप्तिशीलश्चिदानन्दात्मकस्तथा। अहमर्थोऽव्ययः क्षेत्री भिन्नरूपः सनातनः ॥
अदाह्योऽच्छेद्य अक्लेद्य अशोष्यऽक्षर एव च। एवमादिगुणैर्युक्तः शेषभूतः परस्य वै ॥
मकारेणोच्यते जीवः क्षेत्रज्ञः परवान् सदा। दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचनेति ॥

(पद्मोत्तरखण्ड के प्रणव व्याख्यान)

शुद्धस्वरूप होने से जीव नित्य निर्म्मल है, इसका उदाहरण भागवत के ५।११।१२ में है।

"क्षेत्रज्ञ एताः मनसो विभूतीर्जीवस्य मायारचितस्य नित्याः।
आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्ध कर्त्तुः ॥"

ह्यविशुद्धकर्त्तुः" इत्यनेन। तथा तेनैव शुद्धस्यापि ज्ञातृत्वमप्युदाहृतम्। ज्ञानञ्च नित्यस्य स्वाभाविकधर्मत्वान्नित्यम्, अतएव न विक्रियात्मकमपि, तथा चैतन्यसम्बन्धेन देहादेः कर्त्तृत्व-

सर्वसम्वादिनी

तथा (३) तृतीयमते,—सत्व-रजस्तमस्त्रिगुणात्मिकाऽविद्या ब्रह्माश्रया च। सैव लाघवादावरण-विक्षेपशक्तिस्यामविद्या मायेति गीयते। आवरण-शक्त्यां चैतन्यस्य प्रतिविम्बो जीवः; विक्षेप-शक्त्यां प्रतिविम्ब ईश्वरः। उपाधिनिष्ठत्वेन बिम्बाभिन्नत्वेन च प्रतीयमानो विम्ब एव प्रतिविम्बः। प्रतिविम्ब-

क्रमसन्दर्भः—"यः शुद्धोऽपि, मायातः परोऽपि, मायारचितस्य वक्ष्यमाण सर्वक्षेत्रज्ञस्य मायया कल्पितस्य मनसोऽन्तःकरणस्यंताः प्रसिद्धाविभूतीर्विचष्टे—विशेषेण पश्यति। पश्यंस्तत्राविष्टो भवति। स खल्वसौ जीव नामा स्वशरीरद्वयलक्षण-क्षेत्रस्य ज्ञातृत्वात् क्षेत्रज्ञ उच्यते इत्यर्थः। तदुक्तम् (भा० १।७।५) "यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्" इत्यादि। तस्य मनसः। कीदृशतया रचितया रचितस्य? तत्राह,—जीवस्य जीवोपाधितया जीव तादात्म्येन रचितस्य। ततश्च कीदृशस्य? अविशुद्धं भगवद् वहिर्मुखं कर्मकरोतीति तादृशस्य; कीदृशीर्विभूतिः? नित्या अनादित एवानुगताः। तत्र च कदा कीदृशीरित्यपेक्षायामाह, जाग्रत् स्वप्नयोराविर्भूताः सुषुप्तौ तिरोभूताश्चेति।"

जीव नामक भगवत् शक्ति, मायाशक्ति से भिन्न है, अतएव विशुद्ध है, नित्यस्वरूप में नित्य स्थित है। ऐसा होने पर भी ईश्वर शक्ति माया के द्वारा रचित शरीरस्थ मनः अन्तःकरण की प्रसिद्ध विभूतिसमूह को स्वयं स्वेच्छापूर्वक देखता है, देखकर उसमें आविष्ट भी होता है, वह जीव नामक अति प्रसिद्धतत्त्व—माया रचित सूक्ष्म स्थूलस्वरूप शरीर रूप क्षेत्र का ज्ञाता है। क्षेत्रस्थ समस्त विषय को जानकर सुख-दुःख का अनुभव करता है, अतएव उक्त जीव को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। यह क्षेत्रज्ञ दो प्रकार होते हैं, प्रति क्षेत्र को जाननेवाला जीव है, समस्त क्षेत्रों का ज्ञाता ईश्वर हैं। भा० १।७।५ में कथित है, जिस माया से मुग्ध होकर जीव स्वयंशुद्ध चिदानन्दस्वरूप होने पर भी स्वयं को जड़ाशक्ति सत्त्व रजः तमः स्वरूप ही मान लेता है।

संकल्प-विकल्पात्मक मन का निर्माण मायिक गुणों से होता है, उस मन को प्रधान रूपसे अपनाता है, एवं माया के द्वारा रचित जीव के रहने के लिए जो शरीर निर्मित हुआ है। उसको जीव अपना ही स्वरूपाभिन्न मानता है। शरीरगत समस्त वस्तुओं में ही जीव निज स्वरूपाभिन्न स्थापन करता है। उक्त शरीरेन्द्रिय का स्वभाव किस प्रकार है? कहते हैं—निरन्तर अपने लिए विषय ग्रहण में रत हैं। भगवत् वहिर्मुख कर्म सर्वदा करता है। इस प्रकार देह को जीव अपना स्वरूप मानता है। शरीरेन्द्रिय की प्रचेष्टा किस प्रकार होती है? कहते हैं—जाग्रत् स्वप्न के समय सक्रिय होती है, सुषुप्ति के समय निष्क्रिय होकर रहती है। मायामुग्ध जीव जिस प्रकार निज शरीररूप क्षेत्र का ज्ञाता है। माया विरचित शुद्ध जीव भी ज्ञानस्वरूप होकर भी नित्य ज्ञानवान् है। 'ज्ञोऽत एव" ब्र० स० २।३।१७ में महर्षि श्रीबादरायण ने कहा है,—ज्ञ एवात्मा, ज्ञानरूपत्वे सति ज्ञातृस्वरूप एव। "एष हि द्रष्टा स्पष्टा श्रोता रसयिता घ्रातामन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुष" इति "षट्प्रश्नी श्रुतेरेवेत्यर्थः। श्रुति बलादेव तथा स्वीकृतं, नतु युक्तिबलात्। "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इति नः स्थितिः। "ज्ञाता, ज्ञानस्वरूपोऽयमिति स्मृतेश्च। न आत्मा ज्ञानमात्रस्वरूपः, "सुखमहं" इति सुप्तोत्थितपरामर्शानुपपत्तेः, ज्ञातृत्व श्रुतिविरोधाच्च। तस्मात् ज्ञानस्वरूप ज्ञातेति।

आत्मा, ज्ञानस्वरूप होने पर भी ज्ञातृस्वरूप है। कारण षट्प्रश्नी श्रुति कहती है,—आत्मा द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, रसयिता, घ्राता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञानात्मा पुरुष है। श्रुतिप्रमाण से ही आत्मा का ज्ञानस्वरूप होकर ज्ञातृस्वरूप है। इस प्रकार उभय रूप माना गया है। स्मृति प्रमाण भी है—"जीव

दर्शनात्, क्वचिदचेतनस्य कर्त्तृत्वञ्च ; "न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे" इत्यादावन्तर्य्यामि-चैतन्यसम्बन्धेन भवतीत्यङ्गीकाराच्च शुद्धादेव कर्त्तृत्वं प्रवर्त्तते ; तदुक्तम् (भा० ६।१६।२४) "देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी, यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु" इति। तत्तूपाधिप्राधान्येन

सर्वसम्वादिनी

पक्षपातित्वादुपाधेरितीश्वरोऽहं जगत् करोमीति जीवोऽयमहं न जानामीत्यध्यवस्यति। न च शुद्धे स्वप्रकाशे ब्रह्मण्यविद्या सम्बन्ध-विरोधः ; अविरोधे वा सानन्याश्रयैव, नाशकान्तराभावादिति वाच्यम् ;—मध्यन्दिन-वर्त्तिनि सवितर्य्युलूक-कल्पितान्धकारवत् स्वपरनिर्वाहकत्वेनाविरोधात्। तथा साक्षिणो

ज्ञानस्वरूप ज्ञातृस्वरूप है"। यदि केवल ज्ञानमात्र स्वरूप मानने पर "मैं सुखपूर्वक सोया था, कुछ नहीं जाना" यहाँ सुप्तोत्थित परामर्श से उसको उपपत्ति नहीं हो सकती है। और भी ज्ञातृत्व श्रुति का विरोध आ जाता है। अतएव जीव—ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञातृस्वरूप है।

नित्य पदार्थ के धर्मसमूह नित्य होते हैं, "नित्यगतो नित्यः अनित्यगतोऽनित्यः।" आत्मा निर्विवाद सिद्ध नित्य पदार्थ होने से तद्गत ज्ञान, स्वाभाविक नित्य धर्म है। आगन्तुक धर्म ही अनित्य होता है। "पृथगुपदेशात्" (ब्र० सू० २।३।२६) जीव का धर्मभूत ज्ञान नित्य है। अतएव जीव विकारस्वरूप को प्राप्त नहीं करता है। अर्थात् "जायते अस्ति वर्द्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति" इत्यादि यास्काद्युक्त षड्भाव विकार रहित है।

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।" (गी० २।२०)

जीवात्मा चेतन है, एवं निजगुण के द्वारा समस्त शरीर को चेतना प्रदान करते हैं। ब्रह्मसूत्र २।३।२४ "गुणाद्वा आलोकवत्" में वर्णित है, जीव अपने गुण से आलोक के समान देह व्यापी होकर समस्त देह को परिचालन करता रहता है। चेतन गुणसम्पन्न आत्मा के सम्बन्ध से ही शरीर का कर्त्तृत्व देखने में आता है, आत्मा का सम्बन्ध न होने से वह अशिव, जड़ नश्वर हो जाता है। चेतन को छोड़कर जड़ प्रकृति शरीर कुछ करने में सक्षम नहीं है। अतएव अन्तर्य्यामी चित् सम्बन्ध से ही जड़ का कर्त्तृत्व देखने में आता है। अतः शुद्ध चेतनात्मा से ही कर्त्तृत्व होता है। श्रीमद्भागवत के ६।१६।२४ में उक्त विषय वर्णित है—"देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी, यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु।
नैवान्यदा लौहमिवाप्रतप्तं, स्थानेषु तद्द्रष्ट्रपदेशमेति।।"

देहे, इन्द्रिय, प्राण, मनः, बुद्धि जिनके अंश से परिपालित होकर कर्मसमूह का आचरण करते रहते हैं, उक्त उपाधिसमूह को प्रधान रूप से लक्ष्य कर वर्णन होने से उस उपाधि धर्म ही कहा जाता है।

टीका—"तेषां तदज्ञाने हेतुमाह। देहेन्द्रियादयोऽमी यदंशविद्धाः यच्चैतन्यांशेनाविष्टाः सन्तः कर्म्मसु स्व स्व विषयेषु प्रचरन्ति, जाग्रत्स्वप्नयोः। अन्यदा सुषुप्तमूर्च्छादौ नैव प्रचरन्ति। यथा—अप्रतप्तं लौहं न दहति, अतो यथा लौहमग्निशक्त्यैव दाहकं सदग्निं न दहति। एवं ब्रह्मगतज्ञानक्रियाशक्तिभ्यां प्रवर्त्तमाना देहादयो तन्न स्पृशन्ति न विदुश्चेति भावः। जीव स्तर्हि द्रष्टृत्वाज्जानातु नेत्याह,

स्थानेषु जाग्रदादिषु द्रष्टृपदेशं द्रष्टृसंज्ञां तदेवेति प्राप्नोति नान्यो जीवो नामास्ति। नान्यो यतोऽस्ति द्रष्टेत्यादि श्रुतेः।

यद्वा द्रष्टृपदेशं—द्रष्टु संज्ञां जीवमपि तदैवेति जानन्ति, नतु जीवस्तज्जानातीत्यर्थः। तदुक्तं हंसगुह्य स्तोत्रे—देहोऽसवोक्षा इत्यादि।"

परमात्म विषयक ज्ञान न होने के प्रति हेतु है कि—देहेन्द्रिय समूह परमात्मांश रूप जीव के चैतन्य से विषय ग्रहण समर्थ होकर निज निज विषय ग्रहण हेतु जाग्रत् स्वप्न समय में विषय ग्रहण करते हैं।

प्रवर्त्तमानमुपाधिधर्मत्वेन व्यपदिश्यते; यथा (भा० ३।२६।८) "कार्य्यकारणकर्त्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः" इत्यादौ। परमात्मप्राधान्येन प्रवर्त्तमानस्तु निरुपाधिकमेवेत्याह (भा०११।२५।२६)

सर्वसम्वादिनी

घातकत्वाभावात्, प्रत्युत भासकत्वात् प्रमाणवृत्तेरेव द्योतकत्वादीश्वरस्य वशे वर्त्तमानाया अविद्याया अनादि-जीवादृष्टवशात् सत्त्वरजस्तमसां प्रत्येकाधिक्ये स्थिति-सर्ग-लय-कर्त्तृत्वमिति।

अत्रापर आहुः- इदमप्ययुक्तमिति;—अनादित एवानन्याश्रयत्वेन तथैव जीवादिद्वैतं कल्पितमिति

सुषुप्ति मूर्च्छादि में सविषय ग्रहणक्षम नहीं होते हैं। दृष्टान्त - जैसा अतप्त लौह दहन कार्य्य नहीं करता है। अग्नि की शक्ति से शक्तिमय होकर लौह दाहन कार्य्य करता है, उस प्रकार ब्रह्म की ज्ञान क्रिया शक्ति के द्वारा प्रवर्त्तमान देहादि परमात्मा को जानने में सक्षम नहीं हैं। जीव भी स्वतन्त्र द्रष्टा नहीं है, जीव जाग्रत् स्वप्न में द्रष्टा होता है। किन्तु सुषुप्ति में नहीं।

क्रमसन्दर्भः—देहेन्द्रिय इति। अत्राद्वैतशारीरकेऽपि साङ्ख्यमाक्षिप्योक्तं यथा (ब्र० सू० १।१।५) "ईक्षते र्नाशब्दम्।" शाङ्करभाष्यम्—"अथ पुनः साक्षिनिमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य कल्पेत यथाग्निनिमित्तमयः पिण्डादेर्दग्धृत्वम्। तथा सति यन्निमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य, तमेव मुख्यं जगतः कारणमिति। श्रुतिश्चात्र कठ (२।२।१५) तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्। तै० २।७।१) को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्। (वृहदारण्यक ४।४।१८) "चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम्। इत्याद्या इति।" तदुक्तम्, (भा० २।१०।९) "त्रितयं तत्र यो वेद" इति। टीकोत्थापित श्रुतौ (वृ० ३।७।२३) "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इत्यस्यां च जीवो नामतोऽन्यः स्वयं सिद्धो नास्ति, सर्वद्रष्टुस्तस्यापरो द्रष्टा नास्तीत्यर्थ इति व्याख्येयम्।"

स्वरूपभूताख्य अन्तरङ्गाशक्ति श्रीभगवान् में अवश्य स्वीकार्य्य है। यह कार्य्यसमूह को देखकर ही माना गया है। अन्तरङ्गाशक्तिमय परमात्मा है, उनकी शक्ति से शक्तिमान् होकर जीव देहादि को सक्रिय करता है।

विश्वकर्त्तृत्व स्थापन में सांख्यवादिगण प्रधान को कारण कहने पर आचार्य्य शङ्कर कहे थे, ब्रह्मसू०—(१।१।५) "ईक्षते र्नाशब्दम्" जड़ प्रधान में ईक्षण कर्त्तृत्व नहीं हो सकता है। अग्नि सम्पर्क से लौह में दाह शक्ति के समान चेतन पुरुष के सम्पर्क से ईक्षण कर्त्तृत्व स्वीकार करने पर जिनके सम्पर्क से प्रधान में ईक्षण कर्त्तृत्व है। उन सर्वज्ञ को ही मुख्य जगत् कारण मानना उचित् है।

कठ श्रुति कहती है,—परमात्मा के प्रकाश से ही सब प्रकाशित हैं। तै० में उक्त है—कौन जीवित होता—यदि आकाश आनन्द नहीं होता। वृ० परमात्मा चक्षु के चक्षु श्रोत्र के श्रोत्र हैं। श्रीमद्भागवत के २।१०।९ में उक्त है। समस्त वस्तु एवं अवस्था को जो जानते हैं, वह ही परमात्मा हैं। परमात्मा को छोड़कर अपर कोई स्वतन्त्र द्रष्टा नहीं है। अतएव जीव नामक स्वयंसिद्ध कुछ भी वस्तु नहीं है। किन्तु परमात्मात्मक है, परमात्मा के शक्तिरूप अंश है। सर्वद्रष्टा परमात्मा को छोड़कर अपर द्रष्टा नहीं है।

भा० ३।२६।८ में कथित है—"कार्य्य, कारण कर्त्तृत्व अर्थात् देह, इन्द्रिय एवं देवता वर्ग के निज निज विषय में अधिकार प्राप्त करने के निमित्त प्रकृति ही कारण है।"

टीका—"ननु चैतन्य सामानाधिकरण्येनैव कर्त्तृत्वादि प्रतीतेस्तस्यैव तदङ्गीक्रियतां नेत्याह। कार्य्यं शरीरं, कारणं, इन्द्रियं, कर्त्ता—देवतावर्गः। तत्तद्भावापत्तौ पुरुषस्य प्रकृतिं कारणं विदुः। कूटस्थस्य स्वतो विकाराभावात् प्रकृतिपरिणामभूतदेहाद्यहङ्कारकृतमेव कर्त्तृत्वादिकमित्यर्थः। भोक्तृत्वे तु पुरुषं विदुः। इत्यस्यायमभिप्रायः,—यद्यहङ्कारगतमेव कार्य्यत्वादिकं कर्त्तृत्वादिकं भोक्तृत्वञ्च, तथापि विकारस्य जड़ावसानत्वादुपाधिप्राधान्यं भोगस्य चिदवसानत्वात् उपहितप्राधान्यमिति"।

(३५) "सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः ।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः" ॥२६॥

स्पष्टम् श्रीभगवान् ॥

सर्वसम्वादिनी

कल्पकान्तराभावेन च तस्यास्तत्स्वाभाविकत्वेन लब्धायाः कदाचिदप्यग्नेरौष्ण्यवदत्याज्यतया सम्प्रतिपत्ति-भङ्गाद्ब्रह्मणः स्वतःशक्तिमत्त्वाभावेन तदितर-वस्त्वन्तरस्याभावेन शक्तेः शक्तिमदविनाभावेन च, स्वाभाविकत्वारोपितत्व-तटस्थत्वानामेकतर-स्याप्यसम्भावितत्वया तस्याः षष्ठ-बुद्धीन्द्रियादिवदत्यन्ताभाव-

चैतन्य सामानाधिकरण्य से ही जब कर्त्तृत्व की प्रतीति होती है, तब कर्त्तृत्व चेतन का ही होना समीचीन है ? उत्तर नहीं, कार्य्य—शरीर, कारण—इन्द्रिय, कर्त्ता—देवतावर्ग, पुरुष जब शरीर, इन्द्रिय, देवतारूप में तादात्म्य होता है, उस समय प्रकृति ही कारण है, विवेचक का यह ही निर्णय है। प्रकृति के विना कार्य्यादि रूप का निर्माण नहीं हो सकता है। कूटस्थ चैतन्य का विकार स्वाभाविक नहीं होता है। प्रकृति का परिणाम रूप देहादि अहङ्कार कृत ही कर्त्तृत्वादि है। भोक्तृत्व में पुरुष ही कारण है। भावार्थ यह है कि—अहङ्कारगत कार्य्यत्व एवं भोक्तृत्व है। तथापि विकार का पर्य्यवसान प्रकृति जड़ में है। उसमें उपाधि का प्राधान्य है, किन्तु भोग का पर्य्यवसान चेतन में होता है, भोक्ता चेतन ही होता है। उपहित प्राधान्य है।

क्रमसन्दर्भः—"तदुपाधिप्राधान्येन प्रवर्त्तमानमुपाधिधर्मत्वेन व्यपदिश्यत इत्याह—कार्य्येति। अत्र कार्य्यकारणकर्त्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः" इत्यादौ परमात्मप्राधान्येन प्रवर्त्तमानं तु निरुपाधिकमेव। यथा (भा० ११।२५।२६) सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः। तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः।" इति। अथ भोक्तृत्वं संवेदनरूपत्वेन यथा तथा तत्रैव चिद्रूपे पर्य्यवस्यतीत्याह—भोक्तृत्व इति। "कारणं विदुः" इति पूर्वेणान्वयः। अत्र टीका मते प्रतिविम्बदृष्टान्तो ज्ञेयः। तत्र हि कम्पादिक उपाधेर्धर्म्मः, प्रकाशस्तूपहितस्य। स्वमते तु तदपि नेष्यते। क्रियादिचैतन्यं विना न सम्भवतीति दृष्टान्त-वैषम्यात्।"

उपाधि प्राधान्य से प्रवर्त्तमान होने से ही उपाधिधर्म रूप में उसका कथन होता है, कार्य्यकारण कर्त्तृत्व में प्रकृति को कारण कहा गया, आपाततः दृष्टि से। किन्तु परमात्म प्राधान्य से प्रवर्त्तमान को निरुपाधिक ही कहा जाता है। भा० ११।२५।२६ में, "सङ्गरहितकर्त्ता, अर्थात् कर्मफल में आसक्ति विहीन कर्त्ता सात्त्विक है, कर्मफल में निविड़ आसक्तियुक्त कर्त्ता राजस है, स्मृतिविभ्रष्ट कर्त्ता तामस है, एवं मुझको आश्रय कर प्रीति सेवापरायण जन निर्गुण अर्थात् प्राकृत सत्त्व रजः तमः गुण हीन होता है।" भोक्तृत्व के प्रति संवेदनरूपता की आवश्यकता अपरिहार्य्य है। उस संवेदनशीलता को पुष्ट करने के निमित्त जीव को चिद्रूप मानना अत्यावश्यक है। "भोक्तृत्वे कारणं विदुः" पण्डितगण भोक्ता के प्रति कारण चेतन को ही मानते हैं। पूर्व के सहित इस पद का अन्वय है। इस स्थल की स्वामि टीका में प्रतिविम्ब को जीव माना गया है। कम्पादि उपाधि धर्म है, प्रकाश, उपहित का धर्म है। श्रीजीव गोस्वामि के मतमें वैसा सिद्धान्त जीवतत्त्व में स्वीकृत नहीं है, श्रीकृष्णद्वैपायन मत का विरुद्ध मत वह है।

इस मत में सशक्तिक एक वास्तव वस्तु है, उसका अंश जीव है, उसकी शक्ति माया है, उसका कार्य्य जगत् है। सब कुछ वस्तु ही है। क्रिया भी चैतन्य के बिना नहीं हो सकती है। प्रतिविम्बादि वाद में दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक में अत्यन्त वैषम्य है।

भागवत के ११।२५।२६ में लिखित है—सङ्गरहित कर्त्ता सात्त्विक, रागान्ध कर्त्ता राजस, स्मृतिविभ्रष्ट कर्त्ता तामस, एवं शरणागत भक्तजन को प्राकृत गुणातीत कहते हैं।

३६ । अथ भोक्तृत्वं सम्वेदनरूपत्वेन यथा तत्रैव चिद्रूपे पर्य्यवस्यतीत्याह (भा० ३।२६।८)

(३६) "भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्" इति ।

"कारणं विदुः" इति पूर्वेणैवान्वयः ॥ श्रीकपिलदेवः ॥

३७ । अथ परमात्मैकशेषत्वस्वभावश्चेति व्याख्येयम् । एकः परमात्मनोऽन्यः शेषोऽंशः, स चासौ स च एकशेषः; परमात्मन एकशेषः परमात्मैकशेषः, तस्य भावस्तत्त्वं तदेव

सर्वसम्वादिनी

प्रसङ्गात्; अद्वयस्य शुद्धस्यैव सतः प्रतिविम्बत्वापत्ति-स्वीकारे तस्य च कल्पना-कर्त्तृत्वाद्यभावे कल्पनयापि तस्याव्यवहितच्छटा-सम्बन्धस्याभावेन प्रतिविम्बत्वायोगात्; अतएव सिद्ध एव ब्रह्मण्यविद्या-सम्बन्धे तत्-प्रतिविम्वो जीवः सिद्धयति; सिद्ध एव जीवे च तत्कल्पितो ब्रह्मण्यविद्या-सम्बन्धः सिध्यतीति परस्पराश्रय-

टीका,—कारकः—कर्त्ता, असङ्गो—अनासक्तः, रागान्धः—अति अभिनिवेशवान् । स्मृतिविभ्रष्टः, अनुसन्धानशून्यः, मदपाश्रयः—मदेकशरणः ।

क्रमसन्दर्भ के मत में—एवं वासनामात्रस्य तादृशत्वमुक्त्वा सर्वासामेव तत्क्रियाणामाह,—सात्त्विक इति । अत्र च क्रियायामेव तात्पर्य्यम् । न तदाश्रयद्रव्ये । सात्त्विक कारकस्य शरीरादिकं हि गुणत्रय परिणतमेव ।

वासना मात्र का भेद को कहकर क्रियागत भेद को कहते हैं । सात्त्विक राजसिक भेद से क्रिया भी त्रिविध है । यहाँ क्रिया में ही तात्पर्य्य है, क्रियाश्रय द्रव्य में नहीं । सात्त्विक कारक शरीरादि तो सर्वथा गुणत्रय के परिणाम ही हैं । यह सुस्पष्ट उक्ति श्रीभगवान् की है ।।३५।।

अनन्तर भोक्ता होने के लिए ज्ञानवान् होना अत्यावश्यक है, इस निर्णय का विश्लेषण करते हैं । "कार्य्यकारणकर्त्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः । भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ।" (३।२६।८) "कारणं विदुः" इस पद का अन्वय पूर्वपद के सहित होगा । "कूटस्थ आत्मा का स्वतः विकारित्व नहीं है । किन्तु सुखदुःख भोक्तृत्व विषय में प्रकृति भिन्न चेतन पुरुष को ही कारण, विज्ञगण मानते हैं । यद्यपि कर्त्तृत्व भोक्तृत्व—अहङ्कारकृत है । तथापि कार्य्यमात्र का पर्य्यवसान जड़ में होता है । अतः जड़स्वरूपा प्रकृति का प्राधान्य कार्य्यक्षेत्र में है । किन्तु चेतन को छोड़कर अपर भोक्ता नहीं हो सकता है, अतः उस भोग कार्य्य में चेतनात्मा का ही प्राधान्य है । प्रकरण प्रवक्ता श्रीकपिलदेव हैं ।।३६।।

जीव को चेतन एवं भोक्ता रूपमें प्रतिपादन करने के पश्चात् श्रीजामातृ मुनि कर्त्तृक जो जीव विषयक लक्षणों का प्रदर्शन हुआ है । उसका सङ्कलन यह है—

"आत्मा न देवो न नरो न तिर्य्यक् स्थावरो न च । न देहो नेन्द्रियं नैव मनः प्राणो न नापि धीः ॥
न जड़ो न विकारी च ज्ञानमात्रात्मको न च । स्वस्मै स्वयं प्रकाशः स्यादेकरूप स्वरूपभाक् ॥
चेतनो व्याप्तिशीलश्च चिदानन्दात्मकस्तथा । अहमर्थः, प्रतिक्षेत्रं भिन्नोऽणुर्नित्यनिर्म्मलः ॥
तथा ज्ञातृत्व कर्त्तृत्व भोक्तृत्व निजधर्मक । परमात्मैकशेषत्व स्वभावः सर्वदा स्वत इति ॥"

"आत्मा देव, नर, तिर्य्यक्, पशु, पक्षी, स्थावर, देह, इन्द्रिय, मनः, प्राण, बुद्धि, जड़, विकारी ज्ञान मात्र स्वरूप नहीं है । जीवात्मा स्वयं प्रकाश है, एकरूप स्वरूप में सदा अवस्थित है । चेतनस्वरूप व्याप्तिशील है । चिदानन्दरूप, अहमर्थ, प्रति शरीर भिन्न, सूक्ष्म, एवं नित्य निर्म्मल है, एवं जीवात्मा का ज्ञातृत्व भोक्तृत्व रूप निज धर्म है । परमात्मैकशेषस्वभाव में सर्वदा विद्यमान है ।"

अन्यान्य अंश का विवरण इसके पूर्व ग्रन्थ में प्रस्तुत हुआ है, सम्प्रति "परमात्मैकशेषत्वस्वभावः" पद का विश्लेषण करते हैं । जिन परमात्मा का एक-अन्य-शेष-अंश है, वह ही एकशेष है । परमात्मा का

स्वभावः प्रकृतिर्यस्य स परमात्मैकशेषत्वस्वभावः; तथाभूतश्चायं सर्वदा मोक्षदशायामपीत्यर्थः। एतादृशत्वञ्चास्य स्वतः स्वरूपत एव, न तु परिच्छेदादिना। तदीयस्वाभाविकाचिन्त्यशक्त्या स्वाभाविक-तदीयरश्मिपरमाणुस्थानीयत्वात् औपाधिकावस्थायां त्वंशेन प्रकृतिशेषत्वमपि भवतीति च स्वत इत्यस्य भावः। शक्तिरूपत्वञ्चास्य तटस्थशक्त्यात्मकत्वात्, तथा तदीय-रश्मिस्थानीयत्वेऽपि नित्य-तदाश्रयित्वात्तद्व्यतिरेकेण व्यतिरेकात्, (भा० १२।७।१८) "हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेः" इत्यनुसारेण जगत्सृष्टौ तत्साधनत्वात्, द्रव्यरूपत्वेऽपि प्रधानसाम्याच्चाव-

सर्वसम्वादिनी

प्रसङ्गात्; तथा ब्रह्मणस्तत्सम्बन्धं कल्पयतो ब्रह्मस्वरूपस्यैव जीवस्यान्धकार-कल्पकोलूकदृष्टिवदविद्यान्तरे लब्धे तेनैव जीवत्वेश्वरत्वादिविवर्त्ते सिद्धे पुनरपि जीवादि लक्षण-प्रतिबिम्बत्वापादकोपाध्यन्तर-कल्पनाया वैयर्थ्यात्। ज्ञानवत्येवाज्ञानं दृष्टं सम्भावितञ्च; ज्ञानमात्रे तु नेति,—तदत्यन्तविरोधात्; न च मरुमरीचिकायां कल्पितजलवत् कल्पनामयोपाधि-सम्बन्धे प्रतिबिम्बादर्शनात्। अत्र हस्तपरिमितमात्रं किष्कु-

जो एक शेष है, उसका नाम ही एकशेष है। उसका जो भाव, वह ही परमात्मैकशेषत्व है, वह ही जिसका स्वभाव अर्थात् प्रकृति है, वह परमात्मैकशेषत्व स्वभाव है। इस व्युत्पत्ति के द्वारा उक्त जीव, सर्वदा मोक्ष दशा में भी तटस्था शक्तिरूप परमात्मा के अंश रूपमें रहता है। जीव का इस प्रकार स्वरूप स्वभावतः ही है, परिच्छेदप्रतिविम्ब आभास प्रभृति आगन्तुक कल्पित मिथ्याज्ञान के द्वारा नहीं। परमात्मा की स्वाभाविक अचिन्त्य शक्ति है, उससे परमात्मा की स्वाभाविक रश्मि परमाणुस्थानीय शक्ति जीव है। उपाधि अवस्था में भी अंश रूप में प्रकृति शेषत्व है। यह भी स्वतःसिद्ध है, इसका यह ही भावार्थ है। अन्तरङ्गा तटस्था रूप स्वाभाविक शक्तिमान् जो परमात्मा हैं, उनका तटस्थशक्त्यात्मक होने से ही जीव को शक्तिरूप कहते हैं। एवं परमात्मा के रश्मिस्थानीय होने पर भी उक्त जीव नित्य परमात्माश्रयी है। यदि ईश्वर के सहित सम्बन्ध का अभाव होता है तो जीव का भी अभाव होता है। भा० १२।७।१८ में उक्त है—"हेतु जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः। यञ्चानुशायिनं प्रहुरव्याकृतमुतापरे॥"

टीका—'अस्य जगतः सर्गादेर्हेतुर्निमित्तं जीवः, सोऽत्र हेतुरुच्यते' इत्यर्थः। तस्य निमित्ततामाह। अविद्यया कर्मकारकः—कर्मकर्त्ता, जीवादृष्टप्रयुक्तत्वात् विश्वसर्गादेः तत्र हेतुरित्यर्थः। नन्वनुशयी निमित्तमिति केचित् अव्याकृतमित्यपरे तत्राह यमिति। चैतन्य प्राधान्येनानुशयिनम्, उपाधिप्राधान्यविवक्षया अव्याकृतम्॥"

तज्जन्य विश्व सृष्टि के प्रति कारण ही जीव है, अज्ञानग्रस्त होकर ईश्वर वहिर्मुख कर्म करता है, अतः कर्मफल भोगायतन का सृजन परमात्मा को करना पड़ता है।

टीका—परिदृश्यमान जगदादि के सृष्टिकर्त्ता ईश्वर हैं जीव इसका निमित्त है, निमित्त को हेतु कहते हैं। विश्वसृष्टि के लिए जीव कैसे निमित्त बनता है? अविद्या का कर्मकर्त्ता है। विश्व सृष्टि के निमित्त जीव जो जो कर्म करता है, वह अदृष्ट रूपमें सञ्चित रहता है। उक्त सञ्चित कर्मफल भोग हेतु भोगायतन रूप में विश्व सृजन होता है। जीवादृष्ट के निमित्त ही विश्व सृष्टि होती है। प्रलय काल में निज निज कर्मफल को लेकर जो शयन करता है, उसे अनुशयी कहते हैं। चैतन्य प्राधान्य दृष्टि से अनुशयी कहते हैं। उपाधि प्राधान्य से अव्याकृत कहते हैं।

क्रमसन्दर्भः,- हेतुर्निमित्तम्। अस्य—विश्वस्य, यतोऽयं अविद्याकर्मकारकः। यमेव हेतुं—केचिच्चैतन्य प्राधान्येन अनुशायिनं कर्मवासनायुक्तं जीवं प्राहुः। अपरे उपाधिप्राधान्येनाव्याकृतं प्रधानम्॥

इसके अनुसार जगत् सृष्टि के प्रति जीव साधन है, वह द्रव्यरूप होने पर भी प्रधान की समता से ही

गम्यते । उक्तश्च प्रकृतिविशेषत्वेन तस्य शक्तित्वम् (वि० पु० ६।७।६१ ६३)—

"विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा । अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते" ॥६१॥ इति;
"तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञ-संज्ञिता । सर्वभूतेषु भूपाल तारतम्येन वर्त्तते" ॥६३॥

इति च विष्णुपुराणे, (गी० ७।४) "भूमिरापोऽनलो वायुः" इत्यादौ "भिन्ना प्रकृतिरष्टधा" इत्यनन्तरम् (गी० ७।५)—

"अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत्" ॥५॥

सर्वसम्वादिनी

परिमितं (एकहस्तात् प्रादेशाद्दूरवर्त्तीति वा) नभ इति नभसोऽप्येकदेशलक्षणावयव-स्वीकारेण सूर्य्यादि-रश्मि-तादात्म्यापन्नतया तदव्यवहितच्छटासम्बन्धे च तस्य प्रतिविम्बता भानं नात्यसम्भवमिति निरवयवस्य नीरूपस्य च ब्रह्मणस्तु प्रतिविम्बा-सम्भवात्, उपाधेश्च नैरूप्येण तदत्यन्तासम्भवात्, देह-तादात्म्यापन्नस्य

उसका बोध होता है। प्रकृतिविशेष से जीव शक्ति का परिचय विष्णुपुराण में है—"श्रीविष्णु की शक्ति, परा, चित् शब्द से अभिहिता है। एतद्भिन्न शक्ति का नाम अपरा है। जो क्षेत्रज्ञा शक्ति शब्द से अभिहिता है। अन्या शक्ति—अविद्या, कर्मसंज्ञिता तृतीया शक्ति है। अविद्या शक्ति के द्वारा क्षेत्रज्ञसंज्ञिता जीव शक्ति निज स्वरूप को तिरोहित कर लेती है, न्यूनाधिक रूपमें समस्त जीव देह में तारतम्य से उसका प्रभाव परिलक्षित होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में उक्त है, ७।४-५

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं में भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

श्रीभगवत् स्वरूप एवं भगवदैश्वर्य्यात्मक ज्ञान को भगवज्ज्ञान कहते हैं। सदा स्वरूप सम्प्राप्त शक्ति सम्पन्न तत्त्व विशेष ही भगवत् स्वरूप हैं। ब्रह्म—भगवत् तत्त्व का ही निर्विशेष अवस्था विशेष है, ब्रह्म का कुछ भी स्वरूप नहीं है, सृष्ट जगत् की व्यतिरेक चिन्ता से ब्रह्म तत्त्व स्फुरित होता है।

परमात्मा—भगवदंश विशेष हैं, जो जगन्मध्यवर्त्ती कार्य्य निर्वाहक है, वह अनित्य जगत् सम्बन्धि तत्त्व विशेष है। परमात्मा का भी नित्य स्वरूप नहीं है। केवल भगवत् स्वरूप ही नित्यस्वरूप हैं। भगवत् शक्ति के परिचय में—शक्ति दो प्रकार हैं, एक का परिचयात्मक शब्द, वहिरङ्गा-मायाशक्ति। जड़ जननी होने के कारण उसे अपरा शक्ति कही जाती है।

मेरी अपरा अथवा जड़ा सम्बन्धिनी शक्ति के मध्य में तत्त्व संख्या अष्ट विध हैं। भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ये पञ्च महाभूत हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध, यह पाँच तन्मात्र हैं। ये दश तत्त्व हैं। अहङ्कार शब्द से—अहङ्कार एवं तत् कार्य्यभूत एकादशेन्द्रिय, बुद्धि शब्द से—महत्तत्त्व, मनः शब्द से—प्रधान को ग्रहण कर चतुर्विंशति तत्त्व होते हैं, उक्त समुदय तत्त्व ही वहिरङ्गाशक्तिगत हैं।

गी० भा०—"एवं श्रोतारं पार्थमभिमुखीकृत्य स्वस्य कारणस्वरूपं चिदचिच्छक्तिमद्वक्तुं ते शक्ती प्राह—भूमिरिति द्वाभ्यां चतुर्विंशतिधा प्रकृतिर्भूम्याद्यात्मनाष्टधा भिन्ना मे मदीया बोध्या, तन्मात्रादीनां भूम्यादिष्वन्तर्भावादिहापि चतुर्विंशतिधैवावसेया।

तत्र भूम्यादिषु पञ्चसु भूतेषु तत्कारणानां गन्धानां पञ्चानां तन्मात्राणामन्तर्भावः। अहङ्कारे—तत् कार्य्याणामेकादशानामिन्द्रियाणाम्। बुद्धिशब्दो महत्तत्त्वमाह,—मनः शब्दस्तु मनो गम्यमव्यक्तरूपं प्रधानमिति श्रुतिश्चैवमाह,—चतुर्विंशतिसंख्यानां अव्यक्तं व्यक्तमुच्यते" इति। स्वयञ्च क्षेत्राध्याये वक्ष्यति—"महाभूतान्यहङ्कारः" इत्यादिना" ।४।

इसके अनन्तर ७।५ श्लोक में कहा—एतद्व्यतीत मेरी एक तटस्था प्रकृति है, जिसको परा प्रकृति कही जाती है, वह प्रकृति चैतन्यस्वरूपा एवं जीवभूता है। उक्त शक्ति से समस्त जीव निःसृत होकर वे जड़जगत् को स्वीय भोग्य बना लिये हैं। मेरी अन्तरङ्गाशक्ति निःसृत चिज्जगत्, एवं वहिरङ्गाशक्ति निःसृत जड़जगत्,

इति श्रीगीतोपनिषत्सु च ; (वि०पु० ६।७।६१) "विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता" इत्यादि-विष्णुपुराण-वचने तु तिसृणामेव पृथक्शक्तित्वनिर्देशात् क्षेत्रज्ञस्याविद्याकर्मसम्बन्धेनैव शक्तित्वमिति परास्तम्, किन्तु स्वरूपेणैवेत्यायातम्। तथा च श्रीभगवद्गीतायाम् (१५।७)—"ममैवांशः" इति। अतएव (गी० ७।५) "अपरेयमितस्त्वन्याम्" इत्युक्तम् ; (भा० ५।११।१२) "क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूतीः" इत्यादौ क्षेत्रज्ञ-शब्दश्च शुद्धेऽपि प्रवर्त्तते, क्षेत्रशब्दस्योपलक्षणमात्रत्वात्। तदेवं शक्तित्वेऽप्यन्यत्वमस्य तटस्थत्वात्, तटस्थत्वञ्च मायाशक्त्यतीतत्वात्, अस्याविद्यापराभवादिरूपेण दोषेण परमात्मनो लेपाभावाच्चोभयकोटावप्रवेशात्। तस्य तच्छक्तित्वे सत्यपि

सर्वसम्वादिनी

चैतन्यस्य देहप्रतिविम्वत्वानुपलम्भाच्च।

अन्यत्र मुखादेः प्रतिविम्वस्य च दृश्यत्वे द्रष्टाऽन्यो भवति। अत्र तु प्रतिविम्वस्य जीवस्येश्वरस्य च प्रतिविम्वतां प्राप्तस्य ब्रह्मणो वा द्रष्टा कः स्यात्? दृश्यत्वे च जड़त्वं कथं न स्यात्? इत्याद्यनुपपत्तेः।

एतदुभय जगत् के उपयोगी होने के कारण जीवशक्ति को "तटस्थाशक्ति" कहते हैं।५।

गी० भा०—"एषा प्रकृतिरपरा निकृष्टा जड़त्वाद् भोग्यत्वाच्चेतो जड़ायाः प्रकृतेरन्यां परां चेतनत्वाद् भोक्तृत्वाच्चोत्कृष्टां जीवभूतां मे मदीयां प्रकृतिं विद्धि। हे महावाहो पार्थ! परत्वे हेतुः,—ययेति। यया चेतनया इदं जगत् स्वकर्मद्वारा धार्य्यते शय्यासनादिवत् स्व भोगाय गृह्यते, श्रुतिश्च हरेरेवेयं शक्ति,—"प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" इति।५।

"विष्णुशक्ति परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा। अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥"

विष्णुपुराण के इस श्लोक में तीनों को पृथक् शक्ति कहा गया है। अतएव क्षेत्रज्ञ का जो शक्तित्व है, वह अविद्या कर्मसम्बन्ध से हुआ है, इस प्रकार कथन, उक्त विष्णु के कथन से निरस्त हुआ। किन्तु स्वरूप से ही वह शक्ति है, यह ज्ञात हुआ। उस प्रकार ही श्रीभगवद्गीता के १५।७ में लिखित है—

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥"

जीव की दशा क्यों वैसी होती है, उसका कारण– मैं पूर्ण सच्चिदानन्द भगवान् हूँ। मेरा द्विविध अंश हैं, अर्थात् स्वांश एवं विभिन्नांश, स्वांश क्रम से मैं राम नृसिंहादि लीला करता हूँ। विभिन्नांश नित्य किङ्करूप जीव का प्रकाश करता हूँ। स्वांश प्रकाश में मेरा अहं तत्त्व सम्पूर्ण प्रकाशित रहता है, किन्तु विभिन्नांश में मदीय पारमेश्वर अहं तत्त्व नहीं रहता है। इससे जीव में स्वसिद्ध एक अहन्ता का उदय होता है। उक्त विभिन्नांशगत जीव की दो दशा हैं। मुक्त दशा, एवं बद्ध दशा। उभय दशा में ही जीव सनातन अर्थात् नित्य है। मुक्त दशा में जीव सम्पूर्ण रूपसे मदाश्रित एवं प्रकृतिसम्पर्कशून्य है। बद्ध दशा में जीव, स्वीय उपाधि रूप प्रकृतिस्थित मन एवं पञ्च वाह्येन्द्रिय को निज तत्त्व मानकर वहन करता रहता है।७।

जीव की स्थिति वैसी होने के कारण ही गी० ७।५ में श्रीपद्मनाभ ने कहा –

"अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि में पराम्। जीवभूतां महावाहो ययेदं धार्य्यते जगत्॥"

भा० ५।११।१२ "क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूतीः" इस स्थल में क्षेत्रज्ञ शब्द शुद्धस्वरूप का भी बोधक है। क्षेत्र शब्द उपलक्षण मात्र है। जीव ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञाता है। अतएव इस प्रकार शक्ति होने पर भी जीवशक्ति, अन्तरङ्गा वहिरङ्गा प्रभृति शक्तियों में अन्तर्भूत नहीं हो सकती है। यह शक्ति अपरा परा शक्ति के समान ही भिन्न शक्ति है। कारण यह तटस्था है। किसी में अन्तर्भुक्त नहीं है। जीव का तटस्थ शक्तित्व होने का एकमात्र कारण ही है। वह शक्ति माया शक्त्यतीत है। जीवशक्ति निज स्वतन्त्र

परमात्मनस्तल्लेपाभावश्च यथा क्वचिदेकदेशस्थे रश्मौ छायया तिरस्कृतेऽपि सूर्य्यस्यातिरस्कारस्तद्वत्। उक्तश्च तटस्थत्वं श्रीनारदपञ्चरात्रे—

"यत्तटस्थन्तु चिद्रूपं स्वसंवेद्याद्विनिर्गतम्। रञ्जितं गुणरागेण स जीव इति कथ्यते॥" इत्यादौ।

अतो विष्णुपुराणेऽप्यन्तरात्र एव पठितोऽसौ। अन्यत्वञ्च श्रुतौ (श्वे० ४।९) "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेत,-त्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः"; (मु० ३।१।१) "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" इत्यादौ; अतएवोक्तं वैष्णवे (६।७।९४)--

"विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते। आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति" ॥९४॥ इति।

देवत्वमनुष्यत्वादिलक्षणो विशेषतो यो भेदस्तस्य जनकेऽप्यज्ञाने नाशं गते ब्रह्मणः परमात्मनः सकाशादात्मनो जीवस्य यो भेदः स्वाभाविकस्तं भेदमसन्तं कः करिष्यति, अपि तु सन्तं विद्यमानमेव सर्व एव करिष्यतीत्यर्थः। उत्तरत्र पाठे नासन्तमित्येतस्य विधेयत्वादन्यथार्थः कष्टसृष्ट एवेति मोक्षदशायामपि तदंशत्वाव्यभिचारः स्वाभाविकशक्तित्वादेव। अतएवाविद्या-

सर्वसम्वादिनी

प्रतिविम्वे वस्तुनि निजोपाधेः कल्पनाय नाशनाय चालंभावादर्शनेन जीवकर्त्तृक-प्रामाण्यज्ञानेनापि तदुपाधिलक्षणाविद्याया नाशनानुपपन्नत्वात्, तिष्ठतु तावत्तदुपादार्थोपाधेर्नाशन वार्त्ता; पृथगधिष्ठानतया प्रत्यक्ष त एव भेदोपलम्भनेन प्रतिविम्व-क्षोभे बिम्बाक्षोभ-दर्शनेन विपरीततयोदयेन तस्मादाभासद्योतिरुदयास्तम-

अहङ्कार के द्वारा अविद्या को अपना लेती है, इस दोष से परमात्मा से सम्पर्क छिन्न हो जाता है। अतएव वहिरङ्गाशक्ति एवं अन्तरङ्गा में अन्तर्भुक्त होने की योग्यता ही रहती है।

जीव, परमात्मा की शक्ति होने पर भी उनके साथ अविद्या का संसर्ग नहीं होता है। कारण, एकदेशस्थित सूर्य्यरश्मि छाया के द्वारा आवृत होने पर सूर्य्य तिरस्कृत छाया से नहीं होता है, उस प्रकार ही जानना होगा।

श्रीनारद पञ्चरात्र में जीव का तटस्थ स्वरूप उक्त है— जो चिद्रूप तटस्थ स्वीय ज्ञान से विनिर्गत एवं गुण राग द्वारा रञ्जित है, वह जीव नाम से अभिहित होता है" इत्यादि प्रमाण से जीव की तटस्थ संज्ञा है। अतएव विष्णुपुराण में भी—"विष्णुशक्ति परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।

अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥"

शक्ति निर्णय पद्य के मध्य में जीव पठित हुआ है। श्रुति प्रमाण से भी जीव का स्वरूप, परमात्मा से भिन्न होता है, प्राप्त होता है। (श्वेताश्वतर ४।९) ईश्वर से उत्पन्न मायावी ब्रह्मा परिदृश्यमान विश्व की सृष्टि करते हैं, उक्त सृष्ट विश्व में परमात्मा से भिन्न चिद्रूप जीव, माया द्वारा संनिरुद्ध है। (मु० ३।१।१) परमात्मा एवं जीव के मध्य में परमात्मा से भिन्न जीव, स्वोपार्जित कर्मफल सुख-दुःख को भोगता रहता है। इत्यादि प्रमाण से जीवतत्त्व—परमात्म तत्त्व से सर्वथा भिन्न है।

अतएव विष्णुपुराण के ६।७।९४ में लिखित है—परमात्मा एवं जीवात्मा का विभेदकारक अज्ञान है। विभेद जनक अज्ञान का आत्यन्तिक नाश होने पर आत्मा एवं ब्रह्म का भेदापसारण कौन करेगा? तात्पर्य्य यह है कि—जीवात्मा में देवत्व मनुष्यत्वादि स्वरूप विशेष जो भेद है, उसका जनक अज्ञान है। ज्ञान के द्वारा वह विनष्ट होने पर परमात्मा के समीप से जीवात्मा का भेद स्वाभाविक है, उसका अपसारण कौन करेगा? किन्तु उस भेद का स्थापन सब ही जन करेंगे। यह अर्थ है। उक्त पद्य के उत्तरार्द्ध में "नासन्तम्" विभेदार्थ होने के कारण अभेदार्थरूप अन्यार्थ करना कष्टसृष्ट ही है। कारण मोक्ष दशा में भी

विमोक्षपूर्वक-स्वरूपावस्थितिलक्षणायां मुक्तौ तल्लीनस्य तत्साधर्म्यापत्तिर्भवति; (मु० ३।१।३) "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादि श्रुतिभ्यः; (गी० १४।२)—

"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च" ॥२॥

इति श्रीगीतोपनिषद्भ्यश्च। अतएव (मु० ३।२।९) "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इत्यादिषु च ब्रह्मतादात्म्यमेव बोधयति। स्वेनाचिन्तनीयज्ञानं भवति। तत्स्वाभाव्यापत्तिः (ब्र०सू०३।२।३६) "उपपत्तेः" इतिवत्। तदेवं शक्तित्वे सिद्धे शक्तिमतोः परस्परानुप्रवेशात् शक्तिमद्व्यतिरेके शक्तिव्यतिरेकात् चित्त्वाविशेषाच्च क्वचिदभेद-निर्देश एकस्मिन्नपि वस्तुनि शक्ति-वैविध्य-दर्शनाद्भेद-निर्देशश्च नासमञ्जसः। श्रीरामानुजीयास्तु अधिष्ठानाधिष्ठात्रोरपि जीवेशयोरभेद-व्यपदेशो व्यक्तिजात्योर्गवादिव्यपदेशवदिति मन्यन्ते। यथा श्रीविष्णुपुराणे (१।९।६९)—

सर्वसम्वादिनी

दृश्यद्भिरपि दृश्यत इति; केवल स्वच्छवस्तुसंयुक्तदृष्टि-प्रतिगमनोऽपलब्धतद्वस्तुमात्रत्वायोगेन च प्रतिबिम्बस्य बिम्बत्वाभावे तन्नाशस्यैवात्राप्याभासवन्मोक्षताप्रसङ्गात्, तथेश्वरस्य नित्यविद्याश्रयत्वेन जीवस्यानादित एव न जानामीत्यभिमानवत्त्वेन ब्रह्मणि विक्षेपरूपाविद्यांश सम्बन्ध-कल्पनायामप्युदितेरीश्वरावतार-प्रति-

जीव, ईश्वरीय स्वाभाविक शक्त्यंश होने से भिन्न ही रहता है, ईश्वर नहीं होता है। अतएव अविद्या का विलोपपूर्वक स्वीय स्वरूप में अवस्थित रूप मुक्ति दशा में जीव का ब्रह्म में विलीन होने का अर्थ ही है, परमात्मा के समान धर्मसम्पन्न होना। श्रुति कहती है (मु० ३।१।३) जीव, उपाधिशून्य होकर परमात्मा की परम समता को प्राप्त करता है। गी० १४।२ में भी उक्त है—

गुरूपासना के द्वारा वक्ष्यमाण ज्ञान को प्राप्त कर जनगण मुझ सर्वेश्वर के नित्याविर्भूत गुणाष्टक का साधर्म्य को साधन से आविर्भावित गुणाष्टक के द्वारा प्राप्त कर सृष्टि कार्य्य के अन्तर्भूत नहीं होते हैं, प्रलय के समय मृत्यु को भी प्राप्त नहीं करते। इस प्रकार जन्म-मृत्यु से रहित होकर मुक्त होते हैं। मोक्षदशा में जीव को अनेक संख्या में कहा गया है। श्रुति भी कहती है,—"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः"।

अतएव मु० ३।२।९ में उक्त है,—"ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है।" यहाँपर प्रमाण समूह से ब्रह्म तादात्म्य प्राप्ति का ही बोध होता है। अपने के द्वारा अचिन्त्यनीय ज्ञान होता है। ब्रह्मभावापन्न होता है। अर्थात् उपासना के द्वारा चिन्तनानुरूप गति होती है। ब्र० सू० ३।२।३६ में उक्त नियमानुसार "एवं सति यथा क्रतुरित्यादि वाक्यमुपपद्यते नान्यथा। तथाचैकस्य भावतारतम्यं स्थानतारतम्याद् युक्तम्"। इस प्रकार कर्मानुरूप फल बोधक वाक्यसमूह उपपन्न होते हैं, नहीं तो अन्य प्रकार से सङ्गति नहीं हो सकती। अतएव स्थान के तारतम्य से एक ही ब्रह्म अनेक प्रकार प्रतिभात होते हैं। इस प्रकार ही ईश्वर ज्ञान के अनुरूप ही ईश्वर भावापन्न होता है, नियम है।

अतएव उक्त समुदय प्रमाणों से परमात्मा की शक्ति रूपमें जीव तत्त्व निर्णीत होने पर शक्ति जीवतत्त्व, शक्तिमान् परमात्मतत्त्व, 'शक्तिशक्तिमान्' उभय तत्त्व का परस्पर अनुप्रवेश के कारण, शक्तिमान् का अभाव होने से शक्ति का अभाव होता ही है। चैतन्य धर्म में उभय ही अविशेष होने से कहीं कहीं पर अभेद निर्देश होता है। एक वस्तु में भी शक्ति की विविधता दर्शन से भेद निर्देश होता है। यह असमञ्जस नहीं है। अर्थात् असङ्गत नहीं है। किन्तु श्रीरामानुज सम्प्रदाय, अधिष्ठान, अधिष्ठाता, अर्थात् जीव एवं ईश्वर में अभेद मानते हैं। वह भी व्यक्ति एवं जाति में गो एवं गोत्व में जिस प्रकार समान रूपसे

"योऽयं तवागतो देव समीपं देवतागणः। स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान्" ॥६९॥ इति। श्रीगीतासु (११।४०) च—"सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः" इति। तत्र ज्ञानेच्छून् प्रति शास्त्रम-भेदमुपदिशति, भक्तीच्छून् प्रति तु भेदमेव। क्वचित्तु परमात्मप्रतिविम्वत्वं यदस्य श्रूयते, यथा (भा० ४।२८।६३)—

"यथा पुरुष आत्मानमेकमादर्शचक्षुषोः। द्विधाभूतमवेक्षेत तथैवान्तरमावयोः" ॥६३॥इति। तदपि ज्ञानेच्छून् प्रत्यभेददृष्टिपोषणार्थमेवोच्यते, न वास्तववृत्त्यैव प्रतिविम्वत्वेन। अद्वयवाद-

सर्वसम्वादिनी

विम्वानुपपन्नत्वात्, जीवेश्वरयोः पृथक् पृथक् निजोपाधावीश्वरस्य सर्वान्तरत्वश्रुतिविरोधात्, (महाभाष्ये १।२।३२) "क्षीरनीरवत्" परस्पर-मिश्रीभूते च तदुपाधिद्वये प्रतिविम्वैकत्वस्यैव सम्भवात्, ईश्वरस्य माया-प्रतिविम्वाकारत्वे शक्त्यन्तराभावे च वशीकृत-मायात्वाभावेनैश्वर्य्यासिद्धत्वात्, प्रत्युत जल-चन्द्रादिवदुपाधि-

गवादि शब्द का व्यपदेश होता है, उस नियम से ही मानते हैं।

जिस प्रकार श्रीविष्णुपुराण के १।९।६९ में उक्त है—"हे देव! जो देवतागण आपके समीप में आए हैं, वे सब आप ही हैं। कारण, आप जगत् स्रष्टा एवं सर्वगत हैं।" श्रीगीता के ११।४० में उक्त है—

"नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व!
अनन्तवीर्य्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥"

आपके सम्मुख में पश्चात् में नमस्कार करता हूँ, एवं सब दिक् में आपको नमस्कार करता हूँ। हे सर्व! आप सामने पीछे सब ओर स्थित हैं, आपको नमस्कार। हे अनन्तवीर्य्य! आप अपरिमेय शक्तिसम्पन्न हैं, आप ही समस्त जगत् में व्याप्त हैं, अतएव आप ही सर्व हैं।

गी० भा०—भक्त्यतिशयेन नमस्कारेष्वलं भावमविदन् बहुकृत्वः प्रणमति, नमः पुरस्तादिति। हे सर्व! पुरस्तात् पृष्ठतः सर्वतश्च स्थिताय ते नमो नमोऽस्तु। अनन्तेति कर्मधारयः। वीर्य्यं देहबलं, विक्रमस्तु धी बलं, शस्त्रप्रयोगादि प्रावीण्यरूपम्, एकं वीर्य्याधिकमन्यत्तैकं शिक्षयाधिकमिति भीम दुर्य्योधना-वुद्दिश्योक्तेः। सर्वरूपत्वे हेतुमाह—सर्वं समाप्नोषीति। एवमेवोक्तं श्रीवैष्णवे,—"योऽयं तवागतो देव समीपं देवतागणः। स त्वमेव जगत् स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान्॥ इति।४०।

उसके मध्य में निज स्वरूपावबोधात्मक ज्ञानेच्छु के प्रति शास्त्र अभेद उपदेश करते हैं, भक्तीच्छु के प्रति किन्तु भेद ही उपदेश करते हैं।

कभी कभी सुनने में आता है कि—जीव परमात्मा के प्रतिविम्व हैं। जैसे श्रीमद्भागवत के ४।२८।६३ में लिखित है—"यह पुरञ्जन उपाख्यान है। प्रस्तुत श्लोक के पहला श्लोक इस प्रकार है—

"अहं भवान् नचान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः। न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातुमनागपि॥"

मैं और तुम भिन्न नहीं हूँ, तुम ही मैं हूँ, यह जानना। विज्ञ व्यक्तिगण हम दोनों में थोड़ा भी अन्तर नहीं मानते हैं। कहना ठीक है। तब हम दोनों में स्वल्पज्ञत्व अल्पज्ञत्व, सुखी दुःखी भेद कैसे बना? सखे! विवेचना करने पर इसका पता चलेगा। देखो, जिस प्रकार एक व्यक्ति निज देह को निर्म्मल आदर्श में निर्म्मल महत् स्थिर देखता है, लोकचक्षु से वह व्यक्ति विपरीत दृष्ट होता है, उस प्रकार हम दोनों में उपाधिकृत भिन्नता है। फलतः विद्या-अविद्या कृत ही भेद होता है। तत्त्व पदार्थ का चिदंश में ऐक्य का कथन यहाँ हुआ, कथन का प्रयोजन है, जो व्यक्ति "अहं ब्रह्मास्मि" "मैं ब्रह्म हूँ" कहना पसन्द करेगा, उसके लिए कहा गया है। उक्त ज्ञानेच्छु के प्रति वैसा उपदेश हितकर होगा। किन्तु जीव वास्तव प्रतिविम्व है। इस उद्देश्य से नहीं कहा गया है। कारण अद्वयवाद गुरु के मत में उक्त प्रतिविम्व

गुरुमतेऽपि (ब्र० सू० ३।२।१९) "अम्बुवदग्रहणात्" इति न्यायविरोधाद् (ब्र०सू० ३।२।२०) "वृद्धि-ह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्" इति न्यायेन यथाकथञ्चित् प्रतिबिम्बसादृश्य-मात्राङ्गीकाराच्च। तदेतत्तस्य परमात्मांशरूपताया नित्यत्वं श्रीगीतोपनिषद्भिरपि दर्शितम् (गी० १५।७) "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति। तदेवमंशत्वं तावदाह, तत्र

सर्वसम्वादिनी

चेष्टानुगतत्वेन तद्वश्यत्वात्ताच्च; किं बहुना? श्रुति-पुराणादि-प्रसिद्धस्य परमेश्वर-स्वरूपैश्वर्य्यस्यापि मायिकमात्र-स्वीकारे तन्निन्दाजनित-दुर्वारानिर्वचनीय-महापातककोटि-प्रसङ्गाच्चेति।

अतएव शङ्कर-शारीरकेऽपि (ब्र०सू० ३।२।१९) 'अम्बुवदग्रहणान्न तथात्वम्' इत्यनेन न्यायेन प्रतिबिम्बत्वं

वास्तव नहीं है। ब्रह्मसूत्र के ३।२।१९ सूत्र "अम्बुवदग्रहणान्तु न तथा त्वम्" न्याय विरोध हेतु, तथा ३।२।२० सूत्र "वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभय सामञ्जस्यात्" इत्यादि न्याय से यथाकथञ्चित् प्रतिबिम्ब सादृश्य हेतु जीव का भेद प्रदर्शित हुआ है। अतएव परमात्मा का अंशरूपत्व प्रयुक्त जीव नित्य है।

३।२।१९ सूत्र का शाङ्करभाष्य—"न जलसूर्य्यकादितुल्यत्वमिहोपपद्यते, तद्वदग्रहात्। सूर्य्यादिभ्यो हि मूर्त्तेभ्यः पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशं मूर्त्तं जलं गृह्यते, तत्र युक्तः सूर्य्यादिप्रतिबिम्बोदयः, नत्वात्मा मूर्त्तो न चास्मात्पृथग्भूता, विप्रकृष्टदेशाश्च उपाधयः, सर्वगतत्वात् सर्वानन्यत्वाच्च। तस्मादयुक्तोऽयं दृष्टान्त इति" १९

जल सूर्य्यादि तुल्यत्व बोध यहाँ नहीं होता है। उस प्रकार हो ही नहीं सकता। मूर्त्त सूर्य्यादि से पृथक् रूपमें दूर देश में मूर्त्त जल है। वहाँ तो प्रतिबिम्ब होना युक्तियुक्त है। किन्तु आत्मा मूर्त्त नहीं है, न तो हम से पृथक् दूर देशादि उपाधि भी है। कारण, आत्मा सर्वगत, सर्वानन्य है। अतएव उक्त प्रतिबिम्ब दृष्टान्त अयुक्त है।

"वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्" ३।२।२० सूत्र का शाङ्करभाष्य—"युक्त एव त्वयं दृष्टान्तो विवक्षितांशसम्भवात्। न हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः क्वचित् किञ्चिद् विवक्षितांश मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचित् दर्शयितुं शक्यते। सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोच्छेद एव स्यात्। न चेदं स्वमनीषया जलसूर्य्यकादिदृष्टान्तप्रणयनम्। शास्त्रप्रणीतस्य त्वस्य प्रयोजनमात्रमुपन्यस्यते। किं पुनरत्र विवक्षितं सारूप्यमिति? तदुच्यते—वृद्धिह्रासभाक्त्वमिति। जलगतं हि सूर्य्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्द्धते, जलह्रासे ह्रसति जलचलने चलति, जलभेदे भिद्यते, इत्येवं जलधर्मानुयायि भवति, नतु परमार्थतः सूर्य्यस्य तथात्व-मस्ति। एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद् भजत इवोपाधिधर्मान् वृद्धि-ह्रासादीन्। एवमुभयो र्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सामञ्जस्यादविरोधः।२०।

जिसको समझाना चाहते हैं, उसके अनुरूप ही यह दृष्टान्त है। बिम्बगत वृद्धिह्रास होना मुख्यतः सम्भव नहीं हैं। जल के कम्पनादि से प्रतिबिम्ब में उस प्रकार परिलक्षित होता है, यह दृष्टान्त गौणार्थ में है। दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक में कुछ अंश विवक्षित रहता है, उसको छोड़कर कोई भी सर्वांश में दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक का उद्भावन नहीं कर सकता, सर्वांश में समता होने पर दृष्टान्त ही नहीं होगा। यह नहीं कहा जायेगा कि—अपनी बुद्धि से ही जल सूर्य्यादि दृष्टान्त उपस्थित किया गया है। शास्त्र, उपदेश देते हैं, उसे समझाने के लिए दृष्टान्त भी उपस्थित करते हैं, तब क्या यहाँ सारूप्य विवक्षित है? कहते हैं—वृद्धिह्रासभाक्त्वं। जलगत सूर्य्य प्रतिबिम्ब जल वृद्धि से बढ़ता है, घटने से घटता है। जल चलने से चलता है, जल भेद होने से भिन्न हो जाता है। जलधर्म के अनुयायि प्रतिबिम्ब होता है। वस्तुत बिम्ब रूप सूर्य्य में उक्त धर्म नहीं है। इस प्रकार परमार्थ से अविकृत एकरूप सद्ब्रह्म देहादि उपाधि को प्राप्त कर वृद्धिह्रास अवस्था में परिलक्षित होता है। इस प्रकार दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक उभय में सामञ्जस्य होने से अविरोध होता है।२०।

समष्टेः भा० ३।६।८)—

(३७) "एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः।
आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते" ॥८॥

टीका च—"अशेषसत्त्वानां प्राणिनामात्मा, व्यष्टीनां तदंशत्वात्; अंशो जीवः, अवतारोक्ति-स्तस्मिन्नारायणाविर्भावाभिप्रायेण" इत्येषा ॥ श्रीशुकः ॥

३८। अथ व्यष्टेः (भा० ११।११।४)—

(३८) "एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः" ॥४॥

इतरो मोक्षः। अत्र रश्मिपरमाणुस्थानीयो व्यष्टिः। तत्र सर्वाभिमानी कश्चित् समष्टिरिति ज्ञेयम् ॥ श्रीभगवान् ॥

सर्वसम्वादिनी

विरुध्य (ब्र०सू० ३।२।२०) "वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्" इति न्यायेन प्रतिविम्व-साहश्यमेव स्थाप्यते; तच्च प्रतिविम्वत्वनेवाभासीकरोति। अतः (ब्र०सू० २।३।५०) "आभास एव च" इत्यत्रापि तद्वदेव मन्तव्यम्। प्रतिविम्वाभासस्तु तत्तुल्यः, न तु वस्तुतः प्रतिविम्व एवेत्यर्थः।

अतएव परमात्मा के अंश रूप नित्य जीव का कथन श्रीभगवद्गीतोपनिषद् के १५।७ में "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" से हुआ है।

अतएव जीव जो जीवशक्तिविशिष्ट परमात्मा का ही उस अंशत्व को भा० ३।६।८ के द्वारा कहते हैं। "उक्त विराड् पुरुष अशेष प्राणियों के आत्मा हैं, कारण समस्त सृष्टि ही उन परमात्मा के अंश से होती हैं, उनका अंश जीव है। अतएव आद्य अवतार स्वरूप हैं। उनमें भूतसमूह प्रकाशित होते हैं।

स्वामि टीका—आप अशेष सत्त्वों के अर्थात् प्राणिसमूह के आत्मा हैं। कारण व्यष्टि प्राणि समुदाय आत्मा के अंश हैं। अंश शब्द से यहाँ जीव को जानना होगा।

इस जीव में नारायण का आविर्भाव होता है। तज्जन्य ही जीव, अवतार विशेष है।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥३७॥

समष्टि वर्णन के अनन्तर व्यष्टि जीव का वर्णन करते हैं। भा० ११।११।४ श्लोक में कथित है,—

"हे महामते! उपाधि भेद भिन्न मेरा अंशभूत एकमात्र अनादि जीव का ही अविद्याकृत बन्धन एवं विद्या के द्वारा ही मुक्ति होती है। इतर शब्द का अर्थ—मोक्ष है, यहाँ रश्मि परमाणु स्थानीय व्यष्टि है। तन्मध्य में जो सर्वाभिमानी है, उन्हें समष्टि जानना होगा।

क्रमसन्दर्भ—"एवं शरीरिणां प्रातीतिके बन्धे सति प्रत्येकमेवं व्यवस्थेत्याह,—एकस्यैवेति। ममांशस्य रश्मिपरमाणुस्थानीयस्यातएव तस्य जीवस्यैव, नतु मण्डलस्थानीयस्य ममातएव चैकस्यैव, नतु सर्वस्येत्यर्थः। इतरो मोक्षः। अत्र रश्मि परमाणुस्थानीयो व्यष्टि स्तत्र सर्वाभिमानी कश्चित् समष्टिरिति ज्ञेयम् ॥"

शरीरी का प्रातीतिक बन्ध होने से ही प्रत्येक की व्यवस्था इस प्रकार है, एक का ही, मेरा अंश का—अर्थात् रश्मि परमाणुस्थानीय का, अतएव उस जीव का, किन्तु मण्डलस्थानीय मेरा नहीं, अतएव एक का ही बन्ध होता है, सब का नहीं। इतर—"मोक्ष", यहाँ रश्मि परमाणुस्थानीय व्यष्टि है। वहाँ कोई सर्वाभिमानी समष्टि होता है। प्रवचनकर्त्ता श्रीभगवान् हैं ॥३८॥

३९ । तत्र शक्तित्वेनैवांशत्वं व्यञ्जयन्ति (भा० १०।८७।२०)—

(३९) "स्वकृतपुरेष्वमीष्ववहिरन्तरसंवरणं तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोऽंशकृतम्" इति ।

अवहिरन्तरसंवरणं वहिर्वहिरङ्गाणि कार्य्याणि, अन्तः अन्तरङ्गाणि कारणानि तैरसंवरणं कार्य्यकारणैरसंस्पृष्टम् ; अंशकृतमंशमित्यर्थः । अखिलशक्तिधृतः सर्वशक्तिधरस्येति विशेषणं जीवशक्तिविशिष्टस्यैव तव जीवोऽंशो न तु शुद्धस्येति गमयित्वा जीवस्य तच्छक्तिरूपत्वेनैवांश-त्वमित्येतद्व्यञ्जयन्ति । अथ तटस्थत्वञ्च (भा० १०।८७।३८) "स यदजया त्वजामनुशयीत" इत्यादौ व्यक्तमस्ति, उभयकोटावप्रविष्टत्वादेव ॥ श्रुतयः श्रीभगवन्तम् ॥

सर्वसम्वादिनी

तस्मात्तत्तदसद्भावाद्ब्रह्मणो भिन्नान्येव जीवचैतन्यानीत्यायातम् । अतो (ब्र०सू०१।१।१६) 'नेतरोऽनुपपत्तेः' इति, (ब्र०सू० १।१।१७) "भेदव्यपदेशाच्च" इतीमे सूत्रे कल्पनामय-भेद व्याख्यया न सङ्गच्छेते ; वास्तव-भेदे तु (तै० २।६।२) "स तपोऽतप्यत ; स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च" इत्यादेः ; (तै० २।७।१)

उसके मध्य में सर्वशक्ति समन्वित परमपुरुष का शक्तित्व प्रयुक्त जीव का अंशत्व को प्रकाशित करते हैं । भा० १०।८७।२० में वर्णित है,—

"स्वकृतपुरेष्ववहिरन्तरसंवरणं तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंशकृतम् ।
इति नृगति विविच्य कवयो निगमावपनं भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ।।"

स्वकर्मोपार्जित देह में, भोक्ता रूपमें वर्त्तमान, कार्य्यकारणरूप आवरणशून्य जीवात्मा, सर्वशक्त्याश्रय पूर्ण आप का ही अंशकृत है । इस प्रकार कविगण मानते हैं, एवं जीवतत्त्व को विशोधन करके विश्वस्त होकर मर्त्यलोक में निगमोक्त कर्म का क्षेत्र व भव निवर्त्तक भवदीय श्रीचरणयुगल की अर्चना, वन्दना प्रभृति के द्वारा सेवा करते रहते हैं ।

"अवहिरन्तरसंवरणं" शब्द का अर्थ इस प्रकार है—'वहिः' शब्द का अर्थ—वहिरङ्ग कार्य्यसमूह । 'अन्त' शब्द का अर्थ—अन्तरङ्ग कारणसमूह, उसके द्वारा असंवरण - अर्थात् कार्य्य एवं कारणसमूह के द्वारा असंस्पृष्ट । अंशकृत का अर्थ—अंश । 'अखिलशक्तिधृतः' का अर्थ अखिल शक्ति धारणकारी का यह पद विशेषण है । अर्थात् जीवशक्तिविशिष्ट जो आप हैं, एवम्भूत आप का ही अंश, जीव है । किन्तु शुद्ध मूर्त्ति जो आप हैं, आपका अंश जीव नहीं है । इस प्रकार कहकर, जीव का ईश्वरांशत्व, ईश्वर की शक्तिरूप में है । श्रुतियाँ उसको ही प्रकाश करती हैं ।

अनन्तर जीव का "तटस्थ" स्वरूप को श्रुतिगण कहती हैं । भा० १०।८७।३८ में कथित है—

"स यदजयात्वजामनुशयीतगुणांश्च जुषन् भजति सरूपतां तदनुमृत्युमपेतभगः ।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वच मात्तभगो महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ।।"

जीव, मायामुग्ध होकर अविद्या को आलिङ्गन करता है । अतः देहेन्द्रिय का भजन कर भक्तियोग का आचरण नहीं करता है, निज आनन्दादि धर्म अज्ञान के द्वारा आच्छादित करके मरणधर्मि संसार को प्राप्त कर लेता है । किन्तु आप, सर्प जिस प्रकार निज कञ्चुक का परित्याग करता है, उस प्रकार नित्य प्राप्त ऐश्वर्य्य होने से उक्त अविद्या को परित्याग करते हैं । आप माया परतन्त्र नहीं हैं । कारण—अपरिमित ऐश्वर्य्यशाली आप अणिमादि अष्ट विभूति विशिष्ट परमैश्वर्य्य में विराजित हैं । इस कथन से जीव का तटस्थ स्वरूप परिव्यक्त हुआ है । कारण जीवशक्ति, उभय कोटि में अन्तर्भुक्त नहीं है । अर्थात् अन्तरङ्गा एवं वहिरङ्गाशक्ति में विलीनता प्राप्त जीवशक्ति नहीं है, यह पृथक् शक्ति है । इसका परिचायक शब्द तटस्थ है । श्रीभगवान् को श्रुतिगण बोली थीं ।।३९।।

४० । अथ ज्ञानेच्छूं प्रति जीवेशयोरभेदमाह (भा० ४।२८।६२)—

(४०) 'अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः ।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं या तु मनागपि" ।।६२।।

स्पष्टम् ।। श्रीपरमात्मा पुरञ्जनम् ।।

४१ । तत्र पूर्व्वोक्तरीत्या प्रथमन्तावत् सर्व्वेषामेव तत्त्वानां परस्परानुप्रवेशविवक्षयैक्यं प्रतीयते, इत्येवं शक्तिमति परमात्मनि जीवाख्यशक्त्यनुप्रवेशविवक्षैव तयोरैक्यपक्षे हेतुरित्यभिप्रैति श्रीभगवान् (भा० ११।२२।७)—

(४१) "परस्परानुप्रवेशात्तत्त्वानां पुरुषर्षभ ।
पौर्व्वापर्य्यप्रसंख्यानं यथा वक्तुर्व्विवक्षितम्" ।।७।।

टीका च—"अन्योन्यस्मिन्ननुप्रवेशाद्वक्तुर्यथा विवक्षितं तथा पूर्व्वा अल्पसंख्या अपरा अधिकसंख्या तयोर्भावः पौर्व्वापर्य्यं तेन प्रसंख्यानं गणनम्" इत्येषा ।। श्रीभगवान् ।।

४२ । अथाव्यतिरेकेण चिद्रूपत्वाविशेषेणापि तयोरैक्यमुपदिशति (भा० ११।२२।११)—

सर्व्वसम्वादिनी

"रसो वै सः; रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" इत्यादेश्च विषयवाचस्य पीड़नं न स्यात् । 'तपोऽतप्यत' इति तपः 'बहु स्याम्' इत्यादि ज्ञानं प्रकाशयदित्यर्थः । (बृ० ३।७।२३) 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि-श्रुतिस्तु पूर्ववत् सम्भावितं तदूद्धर्वमन्यं द्रष्टारं निषेधति । (श्वे० ६।९) 'स कारणं करणाधिपाधिपो, न

अनन्तर स्वरूपानुसन्धानात्मक ज्ञान लाभेच्छु के प्रति जीव एवं ईश्वर के सहित अभेदोपदेश करते हैं । भा० ४।२८।६२ बन्धो ! इस प्रकार आशङ्का हो सकती है कि—"हम दोनों में यदि परमैक्य है, तब हम दोनों में विभेद क्यों ? अर्थात् एक सर्वज्ञ, सुखी, अपर अल्पज्ञ एवं दुखी है ? इस प्रकार धर्म भेद की सम्भावना कैसे हुई ? सखे ! विवेचनापूर्वक देखने से आशङ्का विदूरित हो जायेगी । जिस प्रकार पुरुष निज देह को सम्मुखस्थ दर्पण में निर्मल, महत् एवं स्थिर देखता है, एवं लोक चक्षु से उसका विपरीत दृष्ट होता है । इससे जैसे एक ही देह उपाधि भेद से भिन्न दृष्ट होता है, उस प्रकार हम दोनों की विभिन्नता है ।

यह कथन अति सुस्पष्ट है । श्रीपरमात्मा पुरञ्जन के प्रति कहे थे ।।४०।।

पूर्वोक्त रीति से "अर्थात् कार्य्यसमूह का विलयनिज निज निज कारणों में होता है", जिस प्रकार प्रथमतः परस्पर तत्त्वों की अनुप्रवेश विवक्षा से ऐक्य की प्रतीति होती है । उस प्रकार शक्तिमान् परमात्मा में जीवाख्य शक्ति का अनुप्रवेश कथनेच्छा से ही जीव एवं ईश्वर में ऐक्य घोषित हुआ है । इस अभिप्राय से श्रीभगवान् भा० ११।२२।७ में कहते हैं—

हे पुरुषश्रेष्ठ उद्धव ! तत्त्वसमूह का परस्पर अनुप्रवेश द्वारा वक्ता की विवक्षानुसार कार्य्यकारण भाव से तत्त्वसमूह की गणना होती है ।

टीका—अन्योन्य में अनुप्रविष्ट करके कहने की इच्छा जब वक्ता की होती है, तब तत्त्वसमूह पूर्व—अर्थात् अल्प संख्या में प्रकाशित होते हैं । जब अपर—अर्थात् परस्पर में अनुप्रवेश न कहकर कहने से अधिक संख्या में तत्त्वसमूह वर्णित होते हैं । इस प्रकार पूर्व एवं अपर का भाव ही पौर्वापर्य्य है । उक्त पौर्वापर्य्य के द्वारा प्रसंख्यान अर्थात् तत्त्वों की गणना हुई है । प्रवक्ता श्रीभगवान् हैं ।।४१।।

अनन्तर अव्यतिरेक के द्वारा अविशेष से भी जीवेश्वर का ऐक्य उपदेश करते हैं । भा० ११।२२।११ में

(४२) "पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि ।
तदन्यकल्पनापार्था ज्ञानञ्च प्रकृतेर्गुणः" ।।११।। इति ।

टीका च—"कथं तर्हि पञ्चविंशतिपक्षः; तत्राह—पुरुषेति। वैलक्षण्यं विसदृशत्वं नास्ति, द्वयोरपि चिद्रूपत्वात्; अतस्तयोरत्यन्तमन्यत्वकल्पनापार्था" इत्येषा। अत्र सदृशत्वा-नन्यत्वाभ्यां तयोः शक्तिशक्तिमत्त्वञ्च दर्शितम्। तेनाव्यतिरेकोऽपि। श्रीभगवान् ।।

४३। अथ भक्तीच्छुं प्रति तयोर्भेदमुपदिशति (भा० ३।९।३३)—

(४३) "यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः ।
स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन् स्वाराज्यमृच्छति" ।।३३।।

भूतादिभिर्विरहितमात्मानं जीवं स्वरूपेण तस्या जीवशक्तेराश्रयभूतेन शक्तिमता मयोपेतं युक्तम्; स्वाराज्यं साष्टर्चादिकम् ।। श्रीगर्भोदशायी ब्रह्माणम् ।।

४४। तत्र भेदे हेतुमाह (भा० ११।२२।१०)—

(४२) "अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम् ।
स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत्" ।।१०।।

टीका च—"स्वतो न सम्भवति, अन्यतस्तु सम्भवात्, स्वतः सर्वज्ञः परमेश्वरोऽन्यो

सर्वसम्वादिनी

चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' इतिवदीश्वरादन्यं प्रकृति सृष्टयर्थेक्षणकर्त्तारं वा निषेधति। तदुक्तं शङ्कर-शारीरकेऽपि। यत्त्वीक्षणश्रवणमपतेजसोस्तत् परमेश्वरावेशवशादेव द्रष्टव्यम्;—(बृ० ३।७।२३) 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इतीक्षित्रन्तर-प्रतिषेधात्, प्रकृतत्वाच्च; स्वत ईक्षितुः (छा० ६।२।३) 'तदैक्षत'

उक्त है,—जीव एवं ईश्वर, उभय ही चिद्रूप हैं। अतएव उभय में अणुमात्र में वैलक्षण्य नहीं है। उभय के मध्य में भिन्नत्व कल्पना करना सम्भव नहीं है। किन्तु त्रिगुणात्मिका प्रकृति के सत्त्वगुणात्मक ही ज्ञान है।

टीका—पञ्चविंशति तत्त्व की पूर्त्ति कैसे होगी ? कहते हैं, पुरुष एवं ईश्वर में वैलक्षण्य विसदृशता नहीं है। दोनों हि चिद्रूप है। अतः दोनों में अत्यन्त भेद मानना अनर्थक है। यहाँ सदृशत्व एवं अनन्यत्व—इन दोनों के द्वारा जीव एवं ईश्वर में शक्ति शक्तिमत्व दर्शित हुआ है। अर्थात् जीव शक्ति है, ईश्वर—शक्तिमान् हैं। इससे अव्यतिरेक भी हुआ। प्रवक्ता श्रीभगवान् हैं ।।४२।।

अनन्तर भक्तीच्छु के प्रति जीव ईश्वर में भेद का उपदेश देते हैं। भा० ३।९।३३ में कथित है—

साधक जिस समय भूत, इन्द्रिय, गुण एवं विषयसमूह से विरहित आत्मा को मेरे साथ एकीभूत देखेगा, उस समय वह साधक स्वाराज्य लाभ करेगा।

श्रीधरस्वामिपाद की टीका—भूतादिरहित आत्मा शुद्ध जीव, स्वरूप के द्वारा जीव शक्ति के आश्रयभूत शक्तिमान् मेरे साथ युक्त होने से, स्वाराज्य—सार्ष्टि प्रभृति मुक्ति प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

श्रीगर्भोदशायी ब्रह्मा को कहे थे ।।४३।।

उसके मध्य में भेद के प्रति कारण को कहते हैं—

भा० ११।२२।१० में लिखित है—"अनादि अविद्याग्रस्त पुरुष का स्वभावत आत्मज्ञान होना सम्भव नहीं है, अतः अन्य तत्त्वज्ञ पुरुष, जीव से पृथक् सर्वज्ञ ईश्वर हैं, इस प्रकार ज्ञान प्रदान करें।

भवेदिति षड़्विंशतितत्त्वपक्षाभिप्रायः" इत्येषा। ज्ञानदत्वमत्र ज्ञानाज्ज्ञातुश्च वैलक्षण्यमीश्वरस्य बोधयत्येवेति भावः। एवम् (भा० ११।२२।२८)"त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः" इत्युद्धववाक्यश्चाग्रे। अत्र यदि जीवाज्ञानकल्पितमेव तस्य परमेश्वरत्वं स्यात्तर्हि स्थाणुपुरुषवत्तस्य ज्ञानदत्वमपि न स्यादित्यतः सत्य एव जीवेश्वरभेद इत्येवं श्रीमदीश्वरेणैव स्वयं स्वस्य पारमार्थिकेश्वराभिमानित्वेनैवास्तित्वं मूढ़ान् प्रति बोधितमिति स्पष्टम्। भेदवादिनश्चात्रैव प्रकरणे (भा० ११।२२।६) "यथा विविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्तिसम्भवात्"

सर्वसम्वादिनी

इत्यत्रेति। एवं (ब्र०सू० १।२।२) "विवक्षितगुणोपपत्तेश्च" इति (ब्र०सू० १।२।३) "अनुपपत्तेस्तु न शारीरः" इत्यनयोः पारमार्थिक एव जीवादधिकः परमेश्वर विवक्षितो गुणसमुदाय उपपद्यते; जीवे तु नोपपद्यते। किञ्च, जीव एव स्वाज्ञानेन स्वात्मनि जगत् कल्पयतीति तेषां सिद्धान्तः। जगत्कल्पनान्यथानुपपत्त्या

श्रीस्वामिपाद की टीका इस प्रकार है—जीव-ईश्वर का स्वरूपज्ञान, साधक को स्वत नहीं होता है। किन्तु अपर तत्त्वज्ञ व्यक्ति के निकट से श्रवण करने से सम्भव है। अपने से अर्थात् जीव से सर्वज्ञ परमेश्वर भिन्न होते हैं। यह कथन षड़्विंशति सांख्यतत्त्व पक्ष प्रतिपादन के अभिप्राय से हुआ है। ज्ञानदत्व—ज्ञानप्रदाता, शब्द से ज्ञान से ज्ञाता ईश्वर की विलक्षणता की प्रतीति होती है। इस प्रकार भा० ११।२२।२८ में उक्त है—"तत्त्वो ज्ञानं ही जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः। त्वमेव ह्यात्ममायया गतिं वेत्थ न चापरः॥"

"तुम से ही जीवों का तत्त्वज्ञान होता है। तुम्हारी शक्ति अज्ञान से ही जीव का ज्ञान नाश होता है। तुम्ही निज शक्ति को जानते हो, अपर कोई नहीं जानता। इस उद्धव वाक्य को आगे कहेंगे। यहाँ विशेष द्रष्टव्य यह ही कि—जीव के अज्ञान के द्वारा ही कल्पित ईश्वत का परमेश्वरत्व है, वास्तविक तत्त्व कुछ नहीं है। मान्यता यदि परतत्त्व के सम्बन्ध में वैसी हो तो पुरुष के भ्रम जनित कल्पित स्थाणु पुरुष के समान जीवाज्ञान कल्पित परमेश्वर अज्ञान से मुक्त होने के लिए जीव को ज्ञान प्रदान भी नहीं कर सकते। अतएव जीव एवं ईश्वर का भेद सत्य ही है। अतएव श्रीमदीश्वर श्रीकृष्ण ने स्वयं आपनी पारमार्थिक ईश्वरत्व की घोषणा की, एवं उस पारमार्थिक ईश्वराभिमान् से ही मूढ़ जनों के प्रति आत्मास्तित्व ज्ञान का उपदेश दिया। यह विवरण अति सरल एवं सुस्पष्ट ही है।

श्रीमद्भागवत भा० ११।२२।८ में उक्त है—

"पौर्वापर्य्यमतोऽमीषां प्रसंख्यानमभीप्सताम्। यथा विविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्तिसम्भवात्॥"

जिनकी विवक्षा से जिसका मुख प्रवृत्त होता है। इस युक्ति के अनुसार यथा सम्भव हम सब उस कथन को मान लेते हैं। इस प्रकरण में भेदवादिगण—परम विवेक जनित भेद को ही मानते हैं।

स्वामिकृताटीका—"अविरोधमुपसंहरति। अतोऽमीषां तत्त्वानां पौर्वापर्य्यं तत्त्ववत् कारणकार्य्यत्वं न्यूनाधिकमभीप्सतां वादिनां मध्ये यथा विवक्षया यद्वक्तुं यस्य मुखं प्रवर्त्तते तत् सर्वं विविक्तं निश्चितं वयं गृह्णीमः उक्त न्यायेन सर्वत्र युक्तेः सम्भवात्।"

तत्त्वोपदेश के सम्बन्ध में प्रवक्ता के अनुसार विविधता एक वस्तु में होना स्वाभाविक है, किन्तु उसमें एकता ही है। नीति के द्वारा अविरोध को दर्शाकर इसका अन्तिम निर्णय देते हैं। षड़्विंशति पर्य्यन्त जितने तत्त्वों का कथन हुआ है, उसमें मूल कारण है। कारण एवं कार्य्य में अन्तर्भाव रीति से न्यूनाधिक करना है। यह कौशलमात्र है। इस प्रकार जिसको कहने के लिए जिसका मुख प्रवृत्त होता है, उसको हम जानकर ग्रहण करेंगे। इस रीति से ही सर्वत्र ऐक्य सम्भव होता है।

तत्त्वसन्दर्भकार कहते हैं—"एकस्मिन् तत्त्वे इतराणि तत्त्वानि प्रविष्टानि दृश्यन्ते। एकस्मिन् पूर्वस्मिन्

इत्यत्र परमविवेकजस्तु भेद एवेति, तथा (भा० ११।२२।४) "मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किन्नु दुर्घटम्" इत्यत्र, तथापि भगवच्छक्त्यैव तत्र तत्र नानावादावकाश इति च मन्यन्ते। ननु (भा० ११।१६।१७)—

सर्वसम्वादिनी

च सत्यसङ्कल्पत्वादयो गुणाः स्वीकृताः। ततो जीव एव ते गुणा उपपद्यन्ते, नान्यस्मिंस्तत्कल्पिते; न वा निर्गुणे ब्रह्मणीति सूत्रद्वयमिदमसङ्गतं स्यात्। (ब्र०सू० १।२।८) "सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न, वैशेष्यात्" इत्यत्रापि पूर्ववत्। किञ्च, सम्भोग-शब्दस्य सहभोग एवार्थः; सम्वादादिवन्नान्यः। ततश्च सहार्थत्वेन

अपरस्मिन् वेत्यन्वयः। यथेत्येतदधिकमादावध्याहृत्य "पूर्वस्मिन् कारणभूते" इत्यादि टीका योज्या॥"

उस प्रकार ही श्रीभगवान् में भा० ११।२२।४ के उत्तरार्द्ध में कहा है—

"युक्तञ्च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा। मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किन्नु दुर्घटम्॥"

"ब्राह्मणगण जो कुछ कहते हैं, यह अयुक्त नहीं है। कारण सर्वत्र ही समस्त तत्त्व अन्तर्भूत हैं। मेरी माया को स्वीकार कर जो भी जा कुछ कहते हैं, वे सब दुर्घट नहीं है।" इत्यादि स्थलों में भगवच्छक्ति के द्वारा ही उस उस स्थानों में नाना भेदों का अवकाश होता है। वादिगण इसको मानते हैं।

उक्त श्लोक की टीका—"विवक्षाभेदेन सर्वं युक्तमेव। मायया च किं नाम न युक्तमित्याह—युक्तमिति। यथा ब्राह्मणा भाषन्ते तत्युक्तं न च वस्तुतः। यस्मात् सन्ति सर्वत्रान्तर्भूतानि सर्वाणि तत्त्वानि। किञ्च मायामिति। असत्त्वेऽपि मायाश्रयत्वाद्घटत एवेत्यर्थः। उद्गृह्य स्वीकृत्य। नहि मरीचिजलपरिमाणादि विवादे किञ्चिदघटितमिव भवति।"

शास्त्रीय मतभेद को सुलझाने के लिए दिग्दर्शन करते हैं—विवक्षा भेद से सब ही ठीक है। माया अज्ञान से क्या नहीं कहा जा सकता है, कारण—अज्ञान अनेकविध, ज्ञान एकविध है। जिस प्रकार निज निजानुभूति द्वारा ब्राह्मणगण कहते हैं, वह ठीक है। किन्तु वस्तुतः ठीक नहीं है। कारण वस्तु एक है, सर्वत्र कारण तत्त्व में सब तत्त्व का अन्तर्भाव है, और होने पर भी मिथ्या ज्ञान के द्वारा विभेद वर्णन होता है। इसको ही मानते हैं। किन्तु यदि मरीचिका के जल परिमाण को लेकर कोई विवाद में प्रवृत्त होता है तो कुछ भी समाधान नहीं होता है।

क्रमसन्दर्भकार कहते हैं—"युक्तमेव ते भाषन्ते, यतो ब्राह्मणा वेदज्ञास्ते सर्वत्र यथावदेव भाषन्ते। ननु यदि सर्वमेव युक्तम्, तर्ह्यन्यमतानि परित्यज्य कथं स्व स्व मतं प्रवेशयेयुः? तत्राह, मायामिति, यथा मरु-मरीचिकादीनामपि तावद्देशपरिच्छिन्नत्वात् परिमाणतारतम्यमस्त्येवेति स्वीयाष्टाविंशतिपक्षस्य स्थापनीयत्वमस्त्येवेति भावः। मामात्राचिन्त्यशक्तिर्नत्वसद्व्यञ्जिकाविद्या। तामुद्गृह्य अवलम्ब्य, तत्र मदीयामिति, तेषां यत् किञ्चित्तदालम्बनात्तस्याः पूर्णया मदेकालम्बनत्वात् स्वस्वैक वेद्याया यत्किञ्चिद् युक्तिरेव सर्वप्रकाशिकेति भावः।"

ब्राह्मणगण जो कुछ कहते हैं, ठीक कहते हैं, कारण वे सब शास्त्रज्ञ हैं। यदि सब ही कथन ठीक हो तो पार्थक्य क्यों? एक मत को छोड़कर अन्य मत में प्रवेश की व्यवस्था क्यों? यह तो मेरी माया है। जिस प्रकार स्थान भेद से मरु-मरीचिका प्रभृति के परिमाण में तारतम्य होता ही है। इस प्रकार अष्टाविंशति तत्त्व का भी स्थापन अभीप्सित है। यहाँ पर माया शब्द का प्रयोग से अचिन्त्य शक्ति को जानना होगा। असत् प्रकाशिका अविद्या नहीं है, उसको अवलम्बन करके। वह मायाशक्ति भी मेरी ही है। अंश में अन्यत्र अवलम्बित रहती है, पूर्ण रूपसे मुझमें रहती है। निज निज वस्तु को प्रकाशित करने के लिए यत्किञ्चित् युक्ति, उन सब में होती है। किन्तु मेरी युक्ति ही सर्वप्रकाशिका है। भगवत् शक्ति से शक्तिमान् होकर जनगण विभिन्न वादों का प्रकाश करते हैं।

"श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानञ्चतुष्टयम्। प्रमाणेष्वनवस्थानाद्विकल्पात् स विरज्यते" ॥१७
इत्यत्र भेदमात्रं निषिध्यते, विकल्प-शब्दस्य संशयार्थत्वात्; संशयं परित्यज्य वस्तुन्येव निष्ठां करोतीत्यर्थः। अतएव (भा० ११।१९।१८)—

"कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्च्यादमङ्गलम्।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्" ॥१८॥

इत्यत्रास्योत्तरश्लोकेऽपि विरिञ्चमेवावधिं कृत्वा नश्वरत्वदृष्टिरुक्ता, न तु वैकुण्ठादिकमपीति ॥ श्रीभगवान् ॥

४५। अन्यत्रापि (१९-नुअ०) श्रीजामातृमुनिभिरुपदिष्टस्य जीवलक्षणस्यैवोपजीव्यत्वेन तं लक्षयति त्रिभिः (भा० ३।२५।१६-१८)—

(४५) "अहंममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः।
वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम् ॥१६॥
तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम्।
निरन्तरं स्वयं ज्योतिरणिमानमखण्डितम् ॥१७॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चेतसा। परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिञ्च हतौजसम्" ॥१८॥

सर्वसम्वादिनी

जीवेश्वरयोर्भेदमङ्गीकृत्यैव सूत्रितम्; न त्वैक्यम्। अतएव "वैशेष्यात्" इति प्रस्तुतयोर्जीवपरयोरेव वैशेष्यमङ्गीकृतम्, न त्वेकस्यैवात्मनोऽवस्था-भेदेन। एवं (ब्र०सू० १।२।११) "गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्" इत्यनेन (तै० २।६।२) "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इत्यत्र। अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्येत्यत्र

यद्यपि भा० ११।१९।१७ में वर्णित है—श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य, अर्थात् महाजन प्रसिद्ध कथन, एवं अनुमान, प्रमाण चार है। ये सब प्रमाणों में अनवस्था को देखकर एवं विकल्प, मिथ्या होने से सावयव पदार्थ मात्र से निरत होना उचित है।" तथापि भेदमात्र ही निषिद्ध हुआ है। विकल्प शब्द का अर्थ—संशय है। संशय को छोड़कर वस्तु में हि निष्ठा करते हैं। भा० ११।१९।१८ का कथन है—काम्यकर्म समूह परिणामी होते हैं, दृष्ट कर्मसमूह के समान ही ब्रह्मलोक पर्य्यन्त समुदय अदृष्ट कर्म का फल भी दुःखरूप नश्वर है, इस प्रकार विवेचना करें। भा० ११।१९।१८ श्लोक में ब्रह्मलोक को अवधि करके ही नश्वरत्व का कथन हुआ है। किन्तु त्रिपाद विभूति रूप वैकुण्ठादि लोक के प्रति नश्वर दृष्टि का विधान नहीं हुआ है। प्रवक्ता श्रीभगवान् हैं ॥४४॥

ऊनविंश अनुच्छेद में श्रीजामातृ मुनि ने—"आत्मा न देवो न नरो न तिर्य्यक् स्थावरो न च,
न देहो नेन्द्रियं नैव मनो प्राणो न नापि धीः।" इत्यादि के द्वारा जो जीव लक्षण का वर्णन किया है, उसका भी उपजीव्य भा० ३।२५।१६-१७-१८ श्लोकत्रय हैं। उसको दर्शाते हैं।

"काम-लोभादि मल, विषयों में मैं मेरा अभिमान उत्पन्न करता है। जब मन उक्त मल विरहित होकर शुद्ध होता है, अर्थात् दुःखी एवं सुखी न होकर केवल सर्वत्र कर्त्तव्यारूढ़ होता है। उस समय पुरुष, प्रकृत्यतीत केवल, निरन्तर—नित्य, स्व प्रकाश, दुर्ज्ञेय अणुस्वरूप-अखण्डित-छेदादि रहित आत्मा को देखता है।

स्पष्टैव योजना। तत्राहमिति पद्येन स आत्मा नित्यनिर्मल इति; आत्मानमित्यनेनैवाहमर्थ इति; अन्यथा ह्यात्मत्वप्रतीत्यभावः स्यात्। केवलमित्यनेन एकरूपस्वरूपभागिति; प्रकृतेः परमित्यनेन विकाररहित इति; भक्तियुक्तेनेत्यनेन परमात्मप्रसादाधीन-तत्प्रकाशत्वात् निरन्तरमित्यनेन नित्यत्वात् परमात्मैकशेषत्वमिति; स्वयंज्योतिरित्यनेन स्वस्मै स्वयंप्रकाश इति, "ज्ञानमात्रात्मको न च" इति च। अणिमानमित्यनेनाणुरेवेति, प्रतिक्षेत्र भिन्न इति च। अखण्डितमित्यनेनाविच्छिन्नज्ञानादिशक्तित्वात् ज्ञातृत्व-कर्त्तृत्वभोक्तृत्वनिजधर्मक इति व्यञ्जितम्॥ श्रीकपिलदेवः॥

४६। तथेदमपि प्राक्तनलक्षणाविरुद्धम् (भा० ७।७।१९-२०)—

(४६) "आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।
अविक्रियः स्वदृग्घेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः॥१९॥
एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः।
अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्॥२०॥

सर्वसम्वादिनी

परमात्मन एवोपाधि-प्रविष्टस्य सतः शरीरत्वमिति व्याख्या प्रत्याख्याता;—उभयरूपत्वेनैव प्रवेशाङ्गीकारात्। श्रुतिश्च (कठ० १।३।१)—

"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके, गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति, पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः" ॥११॥ इति;

ज्ञान—विवेक, वैराग्य—विषयों में अहं मम बुद्धि राहित्य के द्वारा प्रतिपादित भक्तियुक्त चित्त से विषयासक्तिशून्य आत्मा को अवलोकन करता है। श्लोकत्रय का अर्थ अति स्पष्ट है, अन्वय भी सरल है। श्रीजामातृ मुनि का आत्मलक्षण ही ग्रन्थ का जीवस्वरूप प्रतिपादन में प्रधान अवलम्बन है। उक्त लक्षण का भी उपजीव्य भा० ३।२५।१६-१७-१८ श्लोकत्रय हैं। अतएव श्रीजामातृमुनि प्रोक्त लक्षणों का समन्वय प्रस्तुत श्लोक में "अहमिति" पद से स आत्मा निर्म्मल का लाभ हुआ है। "आत्मानं" पद से "अहमर्थ" का लाभ हुआ है। "केवलं" पद से 'एकरूप स्वरूपभाक्' का लाभ हुआ है। अहमर्थ आत्मा न होने से आत्मत्व की प्रतीति ही नहीं होगी। "प्रकृतेः परम्" पद से "न विकारी" विकार रहितार्थ का लाभ होता है। "भक्तियुक्तेन" पद से "परमात्मप्रसादाधीन ही आत्म प्रकाश होता है", अर्थ का बोध होता है। "निरन्तर" शब्द से लक्षणस्थ "नित्य" का एवं 'परमात्मैकशेषत्व' का बोध होता है। "स्वयं ज्योतिः" शब्द से "स्वस्मै स्वयं प्रकाशः" का "ज्ञानमात्रात्मको न च" का लाभ होता है। "अणिमान" शब्द "अणु" का ही बोधक है एवं प्रति क्षेत्र भिन्न का बोधक भी वह ही है। "अखण्डितम्" इससे "अविच्छिन्न ज्ञानादि शक्ति प्रयुक्त ज्ञातृत्व, कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व प्रभृति आत्मा के निज धर्म हैं" प्रकाशित हुआ। यह कथन श्रीकपिलदेव का है॥४५॥

उस प्रकार भा० ७।७।१९-२० में वर्णित आत्मा के लक्षणात्मक श्लोकद्वय के सहित श्रीजामातृमुनि प्रोक्त प्राक्तन लक्षण का अविरोध सुस्पष्ट है,—

"आत्मा—नित्य, अव्यय, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, आश्रय, अविक्रिय, स्वदृक्, स्वयं ज्योति, हेतु, व्यापक, असङ्गी, अनावृत है। उक्त द्वादश लक्षण आत्मा के हैं। उक्त लक्षण समूह के द्वारा विद्वान् पुरुष देहादि

अव्ययोऽपक्षयशून्यः ; एकः, न तु देहेन्द्रियादिसङ्घातरूपः ; क्षेत्रज्ञो ज्ञातृत्वादिधर्मकः, इन्द्रियादीनामाश्रयः ; स्वाभाविक-ज्ञातृत्वादेव अविक्रियः ; स्वदृक् स्वस्मै स्वयंप्रकाशः ; हेतुः सर्गादिनिमित्तम् ; तदुक्तं श्रीसूतेन (भा० १२।७।१८) "हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्म-कारकः" इति । व्यापको व्याप्तिशीलः ; असङ्गी अनावृतश्च, स्वतः प्रकाशरूपत्वात् । "अहममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्" इति देहाद्यधिकरणकस्य मोहजस्यैव त्यागो न तु स्वरूपभूतस्येत्यहमर्थ इति व्यज्यते । तदेवं जीवस्तदंशत्वात् सूक्ष्मज्योतीरूप इत्येके । तथैव हि कौस्तुभांशत्वेन व्यञ्जितम् । तथा च स्कान्दप्रभासखण्डे जीवनिरूपणे—

"न तस्य वर्णो रूपं वा प्रमाणं दृश्यते क्वचित् । न शक्यः कथितुं वापि सूक्ष्मश्चानन्तविग्रहः ।।
बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । तस्मात् सूक्ष्मतरो जीवः स चानन्त्याय कल्पते ।।
आदित्यवर्णं सूक्ष्माभमब्बिन्दुमिव पुष्करे । नक्षत्रमिव पश्यन्ति योगिनो ज्ञानचक्षुषा ।।" इति ।

सर्वसम्वादिनी

(मु० ३।१।१ ; श्वे० ४।६)—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य,-नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" ।।१२।। इति च ।

में 'अहं मम'-रूप मोह जन्य असद्भाव मिथ्याबुद्धि का परित्याग करें ।

उक्त श्लोकद्वय की टीका—तदेवं देहधर्मैस्तद्वैलक्षण्येनात्मनो देहाद् भेदो दर्शितः, इदानीमात्मधर्मैरेव भेदं स्फुटयन् तदहङ्कारादिकं त्याजयति आत्मेति । आत्मा नित्यः, अविनाशी वा अरे अयमात्मेति श्रुतेः । अव्ययोऽपक्षयशून्यः । ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्निति श्रुतेः । शुद्धः निरवद्यं निरञ्जनमिति श्रुतेः । एकः—एकमेवाद्वितीयमिति श्रुतेः । आश्रयः । यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरीक्षमिति स्वदृक् । श्रुतेः । अविक्रियः । निष्कलं—निष्क्रियं शान्तमिति श्रुतेः । आत्म ज्योतिः सम्राड़िति होवाचेति श्रुतेः । हेतुः । स इमाँल्लोकान-सृजतेति श्रुतेः । व्यापकः । सत्यं ज्ञानमनन्तमिति श्रुतेः । अनावृतः । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते, इति श्रुतेः ।१९। एतैर्द्वादशभिरात्मनो लक्षणैः परैः श्रेष्ठैः विवेकसमर्थैः । देहाद्भेदं विद्वान् असद्भावं मिथ्याबुद्धि ज्यजेत् ।२०।

अव्यय शब्द का अर्थ—अपक्षयशून्य, एक—अर्थात् देहेन्द्रियादि संघात स्वरूप नहीं है । क्षेत्रज्ञ—ज्ञातृत्वादि धर्मयुक्त । आश्रय—इन्द्रिय प्रभृति का आश्रय । अविक्रिय—स्वतःसिद्ध ज्ञातृत्व प्रयुक्त ही विकारशून्य । स्वदृक् स्वयं प्रकाश, स्वयं का स्वयं ही प्रकाशक है । हेतु—सृष्टादि के प्रति निमित्त ।

भा० १२।७।१८ में श्रीसूत ने कहा है—अज्ञानवशतः भगवद्विमुख कर्मकर्त्ता जीव इस विश्व सृष्टि प्रभृति के प्रति हेतु है, उसको अनुशयी कहते हैं । व्यापक शब्द का अर्थ—व्याप्तिशील । असङ्गी एवं अनावृत रूप द्वय—स्वतः प्रकाश के कारण है । "अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्" भा० ७।७।२० श्लोक के उत्तरार्द्ध में देहादि अधिकरणक मोह जनित अहङ्कार त्याग की वार्त्ता है । किन्तु स्वरूपभूत अहङ्कार त्याग का कथन नहीं है । अतएव जीव—परमात्मा के अंश होने के कारण कतिपय व्यक्ति उसे ज्योतिरूप कहते हैं । तज्जन्य ही जीवतत्त्व को कौस्तुभ का ही प्रकाशविशेष रूपमें कहते हैं । स्कन्दपुराण के प्रभास खण्ड में जीव निरूपण प्रकरण में उक्त है—

"जीव का वर्ण, रूप एवं प्रमाण कुत्रापि दृष्ट नहीं है । जीव का स्वरूप कथन में कोई भी सक्षम नहीं है । कारण वह सूक्ष्म एवं अनन्त विग्रह है । केश के अग्रभाग को शतभाग करने के पश्चात् पुनर्वार उसे शतभाग करने पर जिस प्रकार परिमाण होता है, उस प्रकार एक भाग ही जीव का स्वरूप है । वह जीव

श्रीप्रह्लादोऽसुरबालकान् ॥

४७। तदेवमनन्ता एव जीवाख्यास्तटस्थाः शक्तयः। तत्र तासां वर्गद्वयम्। एको वर्गोऽनादित एव भगवदुन्मुखः, अन्यस्त्वनादित एव भगवत्पराङ्मुखः,—स्वभावतस्तदीय-ज्ञानभावात्तदीयज्ञानाभावाच्च। तत्र प्रथमोऽन्तरङ्गाशक्तिविलासानुगृहीतो नित्य-भगवत्परि-कररूपो गरुड़ादिकः ; यथोक्तं पाद्मोत्तरखण्डे—"त्रिपाद्विभूतेर्लोकास्तु" इत्यादौ (७७ अनु०) भगवत्सन्दर्भोदाहृते, अस्य च तटस्थत्वं जीवत्वप्रसिद्धेरीश्वरत्वकोटावप्रवेशात्। अपरस्तु तत्पराङ्मुखत्वदोषेण लब्धच्छिद्रया मायया परिभूतः संसारी ; यथोक्तं हंसगुह्यस्तवे (भा० ६।४।२५) "सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो, न वेद सर्वज्ञमनन्तमीड़े" इति ; एकादशे च (भा० ११।२।३७) "भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्" इत्यादि। यथोक्तञ्च वैष्णवे (६।७।६३)—

सर्वसम्वादिनी

ननु पैङ्गी-रहस्य-ब्राह्मणे—'एतयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति सत्त्वम् ; 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इति च, 'अनश्नन् योऽभिपश्यति ज्ञस्तावेतौ सत्त्व-क्षेत्रज्ञौ' इति, ताभ्यां शब्दाभ्यामन्तःकरण-जीवावेव व्याख्यातौ ; अतएव तत्रैव "तदेतत् सत्त्व येन स्वप्नं पश्यत्यथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा, स क्षेत्रज्ञस्तावेतौ

सूक्ष्म एवं संख्या में अनन्त है। जो आदित्य वर्ण अर्थात् तेजोमय सूक्ष्मस्वरूप है। पद्मपत्र में जलविन्दु के समान जीव का स्वरूप है, योगिगण ज्ञानचक्षु के द्वारा जीव को नक्षत्र के समान देखते हैं।

श्रीप्रह्लाद असुर बालकों को कहे थे ॥४६॥

अतएव जीव नाम्नी तटस्था शक्ति अनन्त है, अर्थात् संख्यातीत ही है। उक्त तटस्था शक्ति में वर्गद्वय विद्यमान है। एकवर्ग, अनादि काल से ही श्रीभगवदुन्मुख है। अन्यवर्ग—किन्तु अनादि काल से ही भगवत् पराङ्मुख है। अर्थात् श्रीहरि भजन विहीन है। भगवत् पराङ्मुख जीववर्ग में स्वभावतः ही भगवत् ज्ञान है, तज्जन्य उक्त तटस्था शक्ति वर्ग द्वय में अनादि काल से विभक्त है।

उभय वर्ग के मध्य में प्रथम अन्तरङ्गशक्ति विलास-भक्तिशक्ति कर्त्तृक अनुगृहीत प्रथमवर्ग के नित्य भगवत् परिकर रूप श्रीगरुड़ादि हैं।

पद्मपुराणीयोत्तर खण्ड में वर्णितहै—"त्रिपादविभूतेर्लोकास्तु" भगवत् सन्दर्भ के '७७' अनुच्छेद में उट्टङ्कित हुआ है। प्रथम वर्ग की तटस्थ सिद्धि के प्रति एक अव्यभिचारी हेतु है कि—वह तटस्था शक्ति ईश्वरत्व में प्रविष्टा नहीं होती है। अतएव सतत जीव शक्ति रूप में ही उसकी अवस्थिति होती है। यह शक्ति निरन्तर श्रीहरि सेवक होती है, कभी स्वामी नहीं होती। यह तो भगवदुन्मुख रूप प्रथम वर्गस्थ जीव की वार्त्ता। द्वितीय वर्गस्थ भगवत् पराङ्मुख जीव की वार्त्ता इस प्रकार है। द्वितीय वर्ग—अनादि काल से ही भगवत् पराङ्मुख है, उक्त दोष से लब्धछिद्र माया के द्वारा वह जीव पराभूत होकर संसारी होता है।

इस विषय का विस्तृत वर्णन भा० ६।४।२५ हंसगुह्य में है। "अहो ! देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण, पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्र, आत्मा को, अर्थात् निज स्वरूप को, अन्य इन्द्रियवर्ग को एवं तदुभय से श्रेष्ठ देवता वर्ग को नहीं जान सकते हैं। यद्यपि पुरुष, अर्थात् जीव, उक्त दोनों को एवं तीनों के मूलीभूत गुणसमूह को जानते हैं, तथापि आप उस प्रकार ज्ञाता होकर भी जिन भगवान् को नहीं जान सकते हैं, मैं उन श्रीभगवान् अनन्तदेव का स्तव करता हूँ। भा०११।२।३७ में वर्णित है—"यदि कहो कि—भगवद्भजन से क्या होगा ? अज्ञान कल्पितमय रूप संसार का एकमात्र निवर्त्तक- ज्ञान ही है, इस प्रकार कहना ठीक

"तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता। सर्वभूतेषु भूपाल तारतम्येन वर्त्तते" ॥६३॥ इति। तद्वर्गद्वयमेवोक्तं श्रीविदुरेणापि (भा० ३।७।३७)—

"तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसंक्रमः।
तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते" ॥३७॥

इत्यनेन। तत्र परमेश्वर-पराङ्मुखानां जीवानां शुद्धानामपि तच्छक्तिविशिष्टात् परमेश्वरात् सोपाधिकं जन्म भवति। तच्च जन्म निजोपाधिजन्मना निज-जन्माभिमानहेतुकाध्यात्मिकत्वा-वस्थाप्राप्तिरेव। तदेतदाहुः (भा० १०।८७।३१) –

सर्वसम्वादिनी

सत्त्व-क्षेत्रज्ञौ" इत्युक्तम्? मंदम्। तत्रापि सत्त्व-शब्देन जीव एव, क्षेत्रज्ञ शब्देन परमात्मैव चेति व्याख्या सङ्गता; स्वाद्वत्तीति चेतनत्वोक्ति पीड़ापत्तेः; कर्मफलानशनस्य क्षेत्रज्ञेष्वसम्भवात्; सत्त्वादि-शब्दाभ्यां जीवाद्योः प्रसिद्धेश्च। जीवस्य च सत्त्व-शब्दाभिधेयत्वे कारणम्; तदेतत् सत्त्वमित्यादिसत्त्वाधिष्ठानत्वात्,

नहीं है। भगवद्विमुख व्यक्ति का देहादि आवेश हेतु निज स्वरूप की अस्मृति होती है। एवं देह में ही आत्मज्ञान होता है। सुतरां द्वैताभिनिवेश निबन्धन अर्थात् देहावेश हेतु पुनः पुनः जन्म-मृत्युरूप संसारात्मक भय की प्राप्ति होती है। अतएव श्रीगुरुदेव एवं देवता में आत्मदृष्टि पूर्वक बुद्धिमान् जन एकान्त भक्तिभाव से ईश्वर का भजन करें। श्रीविष्णुपुराण ६।७।६३ में उक्त है—हे भूपाल! उक्त ईश्वरीय मायाशक्ति के द्वारा क्षेत्रज्ञ संज्ञिता तटस्था शक्ति निज स्वरूप को भूल जाती है। उक्त मायाशक्ति का प्रभाव समस्त भूतों में स्वल्प विस्तर रूपमें रहता है।

भा० ३।७।३७ में श्रीविदुर ने भी जीव को वर्गद्वय के द्वारा कहा है। श्रीविदुर ने श्रीमैत्रेय को कहा, हे मुनि! आपने जिस तत्त्व को कहा, उसका लय किस प्रकार होता है? प्रलय के समय परमेश्वर शयन करने पर अर्थात् स्वरूपानन्दास्वादन में विभोर होने पर जिस प्रकार राजा शयन करने पर अनुजीविगण चामर ग्रहणपूर्वक वीजन सेवा करते हैं, उसके समान निद्रित उन परमेश्वर के पश्चात् कौन कौन पदार्थ शयन करते हैं?

क्रमसन्दर्भः—तत्त्वानामिति। तत्र तेषु प्राकृत पर्य्यन्तेषु प्रलयेषु, अनेन पार्षदानां नित्यत्वमेवाभिप्रेतम्; तदुक्तं काशीखण्डे--"न च्यवन्ते हि यद्भक्ता महत्यां प्रलयापदि अतोऽच्युतोऽखिले लोके स एकः सर्वगोऽव्ययः।" इति। अनुशेरते – लीनास्तिष्ठन्ति।

तत्त्वों का प्रतिसंक्रम किस प्रकार होता है? प्रकृत्युद्भूत समस्त पदार्थों का निज निज कारणों में लय होने से, इस विवरण से ज्ञात होता है कि—भगवत् पार्षदगण नित्य विग्रह में सदा अवस्थित होते हैं। काशीखण्ड में लिखित है,—प्रलय रूप सुमहान् विनाश के समय भी जिनके भक्तगण विनष्ट नहीं होते हैं, अतः भगवान् को अच्युत, सर्वग, अव्यय, अद्वय नाम से सुधीगण कहते हैं। अनुशेरते शब्द का अर्थ— श्रीभगवान् में विलीन होकर रहते हैं।

स्वामि टीका—"प्रतिसंक्रमः, प्रलयः। तत्र प्रलये, इमं परमेश्वरं शयानं राजानमिव, चामरग्राहिणः के वा तमनुशेरते शयानमनुस्वपन्ति॥"

प्रतिसंक्रम शब्द का अर्थ—प्रलय, उस प्रलय के समय, राजा की भाँति इन परमेश्वर की चामर हस्त से सेवा कौन जीव करता है, और कौन सुप्त होता है?

उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि—जीव तत्त्व माया रहित विशुद्ध है, किन्तु परमेश्वर पराङ्मुखता के कारण जीवशक्तिविशिष्ट परमेश्वर से उक्त शुद्ध जीव का देहादि उपाधि रूप जन्म होता है। वह जन्म,

(४७) "न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयो-
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः" ॥३१॥

प्रकृतेस्त्रैगुण्यम्, पुरुषः शुद्धो जीवस्तयोर्द्वयोरप्यजत्वादुद्भवो न घटते, ये चासुभृत आध्यात्मिकरूपाः सोपाधयो जीवा जायन्ते, ते तत्तदुभयशक्तियुजा परमात्मनैव कारणेन जायन्ते, प्रकृतिविकारप्रलयेन सुप्तवासनत्वात् शुद्धास्ताः परमात्मनि लीना जीवाख्याः शक्तयः सृष्टिकाले विकारिणीं प्रकृतिमासज्य क्षुभितवासनाः सत्यः सोपाधिकावस्थां प्राप्नुवन्त्य एव व्युच्चरन्तीत्यर्थः। एतदभिप्रेत्यैव (भा० ३.५.२३) "भगवानेक आसेदम्" इत्यादि तृतीयस्कन्ध-

सर्वसम्वादिनी

सोऽपि सत्त्वमुच्यत इत्यर्थः। तथा पृथिव्यादि-लक्षण-शरीरान्तर्यामित्वात् परमात्मापि शारीर उच्यत इति (बृ० ३।८।१०) 'योऽयं शारीरः' इत्युक्तम् ;—परमात्मनि ह्युपद्रष्टृ शब्द-प्रसिद्धेः ;— (गी० १३।२२) 'उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः' इत्यादौ। व्याख्यान्तरे,—(ब्र०सू० १।३।७) "स्थित्यदनाभ्याञ्च"

निज उपाधि जन्म होने पर भी तादात्म्याभिमान निबन्धन निज जन्माभिमान होता है, उससे आध्यात्मिकादि अवस्थात्रय की प्राप्ति होती है। इस विषय का विस्तृत वर्णन श्रुतिगण करती हैं—

हे भगवन् ! केवल जन्मरहित प्रकृति अथवा पुरुष से जीव उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। कारण, प्रकृति जड़ है, और पुरुष अविकारी है। तब पवन के योग से जिस प्रकार जल बुद्बुद् उत्पन्न होता है, उस प्रकार प्रकृति एवं पुरुष, उभय के योग से जीव उत्पन्न होता है। कारण, जीव का जन्म वास्तव नहीं है। इसलिए जिस प्रकार निखिल कुसुमरस मधु में पर्य्यवसित होता है, और नदीसमूह जिस प्रकार समुद्र में लीन होती हैं, उस प्रकार जीवगण, अनेक प्रकार कारणोपाधि के सहित निरुपाधि आप में लीन होते हैं।

'सत्त्व, रजः, तमः' गुणत्रय की साम्यावस्था प्रकृति है, शुद्ध जीव पुरुष है। उभय ही जन्मरहित है। अतः दोनों की स्वतः उत्पत्ति नहीं हो सकती है। प्राणवन्त, आध्यात्मिकादि रूप उपाधिविशिष्ट जीवगण उत्पन्न होते हैं। वे सब प्रकृतिशक्ति एवं जीवशक्ति विशिष्ट परम कारण परमात्मा से ही होते हैं। प्रकृति के विकार समूह प्रलय के समय निज कारणों में विलीन होने से सुप्त वासनाक्रान्त जीवगण भी परमात्मा में प्रलय काल में लीन रहते हैं। सृष्टि काल में उक्त शुद्ध जीवशक्ति समूह विकारविशिष्ट प्रकृति को प्राप्त करती हैं। अनन्तर क्षुब्ध वासनाविशिष्ट होकर सोपाधिक अवस्था को प्राप्त करती हैं, अनन्तर व्युच्चरन्ति अर्थात् जन्मग्रहण कर इतस्ततः परिभ्रमण करती रहती हैं।

इस अभिप्राय से ही भा० ३।५।२३ में उक्त है—

"भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः। आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षणः॥"

जीवगणों के आत्मा स्वरूप, सब के अधिपति विभु परमात्मा, सृष्टि के पहले निखिल शक्तिसमन्वित होकर एकक रहते हैं। सृष्टि के समय अनेक बुद्धि से उपलक्षित होते हैं। सृष्टि के पूर्व काल में मायाशक्ति परमात्मा में लीन होने पर परिदृश्यमान विश्व एकमात्र भगवत्स्वरूप में लीन था। उस समय द्रष्टा एवं दृश्य कुछ भी नहीं थे।

क्रमसन्दर्भः—अथ तत् प्रार्थितलीलाकथां कथमन्नेव श्रीभगवदादिष्ट चतुःश्लोकी ज्ञानं विवृत्याह—

प्रकरणे (भा० ३।५।२६)—

> "कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः।
> पुरुषेणात्मभूतेन वीर्य्यमाधत्त वीर्य्यवान्" ॥२६॥

इत्यनेन वीर्य्य-शब्दोक्तस्य जीवस्य प्रकृतावाधानमुक्तम्। एवं श्रीगीतोपनिषत्स्वपि (१४।३)—

सर्वसम्वादिनी

इति सूत्रे च जीव-परमात्म-गत- द्वा सुपर्णा'-इत्याद्युक्त मिथस्त्यादिद्वय-विवेचनं विरुध्यते। वक्ष्यति चोत्तर-ग्रन्थे,—(ब्र०सू० २।३।४५) "प्रकाशादिवन्नैवं परः" इत्यनन्तरं (ब्र०सू० २।३।४६) "स्मरन्ति च" इत्यत्र,—'तयोरन्यः पिप्पलम्' इत्यनयैव श्रुत्या जीवस्य कर्मफल-प्रतिपादनं शङ्कर-शारीरकेऽपीति। तस्मादनेन

भगवानित्यादि भा० ३।७।१४ "अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते" इत्याद्यन्तेन ग्रन्थेन। अथ कथाक्रमानुरोधेन चतुर्णामर्था विपर्य्ययेण वक्तव्याः। तत्र भा० २।९।३२ "अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्" इत्यर्द्धस्यार्थं सृष्टिलीलोपक्रमेण दर्शयति—भगवानिति द्वाभ्याम्। इदं विश्वं पुरुषादिपार्थिवपर्य्यन्तं तदानीमेकाकिना स्थितेन भगवता सहैकीभूयासीदित्यर्थः। आत्मानां शुद्धजीवानामपि रश्मिस्थानीयानामात्मा मण्डलस्थानीयं परमस्वरूपम्। न च तस्याप्यन्यदस्ति, यत आत्मा स्वयं सिद्धस्वरूपम्। न च तस्याप्यन्यत्तदस्ति, यत आत्मा स्वयं सिद्धस्वरूप इत्यर्थः। इति तत्र स्वांशानामप्यंशित्वं दर्शितम्, ब्रह्माभिन्नत्वञ्च। कदा? आत्मेच्छा तस्य सृष्ट्यादीच्छा तस्यानुगतौ लीनतायां सत्यामित्यर्थः।

ननु वैकुण्ठादिबहुवैभवेऽपि सति कथमेक एवासीत्? तत्राह—वैकुण्ठादिनानामत्यापि स एवैक उपलक्षत इति, सेनासमेतत्त्वेऽपि राजासौ प्रयातीतिवत्। दृश्यं—विश्वं, नापश्यत्—तद्दर्शनाभावादेव तल्लीनमासीदित्यर्थः। तथात्मानं पुरुषमप्यसन्तमिव मेने—भेदेन नापश्यत्' इत्यर्थः। शक्तिर्माया, दृक् चिच्छक्तिः, स्वरूपभूतान्तरङ्गाशक्तिरित्यर्थः एकराट्—सर्वाधिकारी।

श्रीविदूर प्रार्थित लीलाकथा कथन में प्रवृत्त होकर श्रीभगवत्प्रोक्त चतुःश्लोकी पदार्थ को विस्तारपूर्वक कहते हैं। भा० ३।७।१४ पर्य्यन्त इसका प्रकरण है। भगवान् की लीलाकथा से ही अशेष क्लेश विनष्ट होते हैं।

अनन्तर कथा क्रम से चतुःश्लोकी का अर्थ—विपर्य्यय से कहना कर्त्तव्य है। जिस समय प्रलय हो चुका, तब कार्य्य-कारण कुछ भी पृथक् नहीं रहा, उस समय मैं एक था। इस अर्द्धश्लोक का वर्णन सृष्टि क्रम से करते हैं। दृश्यमान विश्व, पुरुषादि से पार्थिव पर्य्यन्त समस्त पदार्थ श्रीभगवान् में विलीन थे। उस समय श्रीभगवान् एकक थे। भगवान्, शुद्ध जीवों का भी आत्मा हैं, जिस प्रकार रश्मि समूह का परमाश्रय सूर्य्यमण्डल है, अतएव परमस्वरूप हैं। आत्मा का भी अपर कुछ नहीं हैं, आत्मा स्वयंसिद्ध स्वरूप हैं। इस प्रकार स्वांश का भी अंशी हैं। ब्रह्मा भी विलीन थे। किस समय? जिस समय सृष्टि करने की इच्छा परमाश्रय स्वरूप भगवान् में लीन होकर रही। वैकुण्ठादि अनेक वैभव श्रीभगवान् के हैं। एकक भगवान् कैसे रहते हैं? वैकुण्ठादि विविध बुद्धि से श्रीभगवान् एक ही उपलक्षित होते हैं। राजा सेना सहित होने पर भी प्रयोग होता है—राजा जा रहे हैं। उस प्रकार जानना होगा। दृश्य विश्व को नहीं देखा, कारण—उनमें लीन रहा। उस प्रकार आत्मांश पुरुष को भी नहीं देखा, पृथक् नहीं रहा। शक्ति शब्द का अर्थ—माया है। चिच्छक्ति को दृष्टि कहते हैं। यह स्वरूपभूत अन्तरङ्गा शक्ति है। एकराट् शब्द का अर्थ—सर्वाधिकारी है। इत्यादि का वर्णन भा० ३।५।२६ में है,—

चित्शक्तियुक्त परमात्मा कालशक्ति के द्वारा गुण क्षोभयुक्त माया में निजांशस्वरूप जीवशक्ति का आधान किये थे। कारण आप जीवशक्ति विशिष्ट समर्थ पुरुष हैं। इससे प्राप्त होता है कि—वीर्य्य शब्द के द्वारा वर्णित जीव का आधान प्रकृति में किए थे।

"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्" इत्यत्रोक्तम्। टीकाकारैश्च ब्रह्म-शब्देन प्रकृति-र्व्याख्याता, गर्भ-शब्देन जीव इति। पुनरेष एव तृतीये (भा० ३।२६।१९)—

सर्वसम्वादिनी

जीवेनात्मनानुप्रविश्येति 'सहार्थे एव तृतीया'। आत्म-शब्दप्रयोगश्च शारीरस्याप्यात्मत्व-प्रसिद्धेः ;—(श्वे० १।१०) 'क्षरात्मानावीशते देव एकः' इत्यादौ। अत्रापि भेदविवक्षयैवानेनेत्युक्तम् ; अथवा, अत्रात्म-शब्देनात्मांश एव वाच्यः।

क्रमसन्दर्भः,—कालवृत्त्येति। भा० ३।५।२३ "भगवानेक आसेदम्" इति पूर्वोक्तादधोक्षजो भगवान् पुरुषेण प्रकृति द्रष्टा, आत्मभूतेन स्वांशेन द्वारभूतेन कालवृत्तिर्यस्यां तया मायया निमित्तभूतया गुणमय्यां मायायामव्यक्ते वीर्यं जीवाख्यमाधत्त, छा० ६।३।२ 'हन्तेमास्तिस्रो देवताः' इत्यादि श्रुतेः। तत इति। विज्ञानात्मकोऽपि पदार्थः समभवत्। तदेव नाम्ना महत्तत्त्वमिति। तमोनुदः—प्रलयगताज्ञानध्वंसकर्त्ता।

सृष्टि का वर्णन करते हैं, भा० ३।५।२३ श्लोक में सृष्टि के पहले श्रीभगवान् का एकक अवस्थान वर्णित है। अधोक्षज भगवान् ही प्रकृति द्रष्टा हैं, आत्मस्वरूप निजांश ही सृष्टि के प्रति निमित्त है। काल रूप धारण कर प्रकृति को क्षुब्ध कर कर्मवासना विशिष्ट भगवद्बहिर्मुख जीव को उसमें भोग के लिए प्रवृत्त कर देते हैं। छान्दोग्योपनिषत् ६।३।२ में इसका वर्णन है। अनन्तर विज्ञानात्मा पुरुष होकर भी पदजन्य प्रतीति का विषय हो गए। नाम से महत्तत्त्व हैं, तमोनुदः—प्रलयगता ज्ञान का ध्वंसकर्त्ता हैं।

वीर्य शब्द से जीव को जानना होगा। प्रकृति में उस जीव का ही आधान किया गया है।

इस प्रकार श्रीगीतोपनिषद् के १४।३ में लिखित है—

"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥"

वहिरङ्गा शक्तिरूपा प्रकृति तत्त्व ही जगत् का मूल कारण है। मैं उस जगत् कारण प्रधान संज्ञक ब्रह्म में गर्भाधान करता हूँ। उससे समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है।

गी० भा०—तदेवं वक्तव्यार्थस्तुत्या तस्मिन् रुचिं श्रोतुरुत्पाद्य 'भूमिरापोः' इत्यादि द्वयार्थानुसारेण 'यावत्सञ्जायते किञ्चित्' इत्यादौ प्रकृति जीवसंयोगं परेश हेतुकमभिमतमिह स्फुटयति, ममेति। महत् सर्वस्य कारणं, ब्रह्माभिव्यक्त—सत्त्वादिगुणकं प्रधानं मम सर्वेश्वरस्याण्डकोटिस्रष्टुर्योनिर्गर्भधारणस्थानं भवति। प्रधाने ब्रह्मशब्दश्च,—"तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" इति श्रुतेः। तस्मिन्महति ब्रह्मणि योनि भूते गर्भं परमाणुचैतन्यराशिमहं दधामि—अर्पयामि। "भूमिरापः" इत्यादिना या जड़ा प्रकृतिरुक्ता, सेह महद्ब्रह्मेत्युच्यते, "इतस्त्वन्याम्" इत्यादिना या चेतना प्रकृतिरुक्त, सेह सर्वप्राणि-वीजत्वाद् गर्भशब्देनेति भोगक्षेत्रभूतया जड़या प्रकृत्या सह चेतनभोक्तृवर्गं संयोजयामीत्यर्थः। ततो महद्-धेतुकात् प्रकृतिद्वयसंयोगाद् गर्भाधानाद्वा सर्वभूतानां ब्रह्मादिस्तम्वान्तानां सम्भवो जनिर्भवति।

प्रकृति के सहित जीव का संयोग परमेश्वर की अनुकम्पा से होती है। जो समस्त ब्रह्माण्ड का सृजन करती है, वह ही ब्रह्माण्ड का उत्पत्ति स्थान है। प्रधान में ब्रह्म शब्द का प्रयोग है। "उनसे नामरूप ब्रह्म उत्पन्न होता है, यह श्रुति है। उक्त प्रकृतिरूप महद्ब्रह्म प्रथमोत्पत्ति स्थान है। उसमें मैं जीवरूप परमाणु चैतन्यराशि का समर्पण करता हूँ।

भूमि जल वायु वर्णन प्रकरण में जिस प्रकृति की वर्णना हुई है, उसको ही महद्ब्रह्म से कहते हैं। "इससे अन्य" शब्द से जिसका कथन हुआ है— वह चेतन प्रकृति है। सर्वप्राणियों के आदि कारण होने से सादृश्य दृष्टि से "गर्भ" शब्द के सूचित हुई है। अर्थात् भोगक्षेत्र जड़ा प्रकृति है। उस जड़ा प्रकृति के सहित संयोग स्थापन हेतु भोक्ता चेतन वर्ग को संयुक्त कर देता हूँ। उससे महत् हेतुक प्रकृतिद्वय संयोग से, गर्भाधान से ब्रह्मादि स्तम्ब पर्य्यन्त समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है।

"दैवात् क्षुभित-धर्म्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् ।
आधत्त वीर्य्यं सासूत महत्तत्वं हिरण्मयम्" ॥१९॥

इत्यत्र वीर्य्यं चिच्छक्तिमिति टीकायां व्याख्यातमतः शक्तित्वमप्यस्य टीकासम्मतम् । ततोऽकस्मादुद्भवमात्रांशे दृष्टान्तः— जलबुद्बुदवदिति । अतः पुनरपि प्रलयसमये त इमे सोपाधिका जीवास्त्वयि बिम्वस्थानीय-मूलचिद्रूपे रश्मिस्थानीयचिदेकलक्षणशुद्धजीवशक्तिमये ; तत एव "स्वमपीतो भवति" इत्यादिश्रुतौ स्वशब्दाभिधेये परमे परमात्मनि विविध-नामगुणैर्विविधाभिर्देवादिसंज्ञाभिर्विविधैः शुभाशुभ-गुणैश्च सह लिल्युर्लीयन्ते । पूर्ववत् प्रलयेऽपि दृष्टान्तः— 'सरित इवार्णवे' इति, 'अशेषरसा इव मधुनि' इति च । अत्र देव-मनुष्यादि-नामरूपपरित्यागेन तस्मिन् लीनेऽपि स्वरूपभेदोऽस्त्येव, तत्तदंशसद्भावादित्यभिप्रायः । अत्र श्रुतयः

सर्वसम्वादिनी

एवञ्च (ब्र०सू १।२।२०) "शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते" इत्यत्र च पूर्ववद्भेद एव । तत्र च (वृ० ३।७।२२) 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' इति काण्वाः ; (शतपथ-ब्रा० १४।६।७।३०) 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यत्र (ब्र०सू० १।२।२० शा० भा०) माध्यन्दिनाश्चान्तर्यामिणो भेदेनैनं शारीरं पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन

यहाँ पर श्रीगीता के टीकाकार श्रीधरस्वामिपाद ने भी मूलस्थ ब्रह्म शब्द से प्रकृति एवं गर्भ शब्द से जीव को कहा है ।

पुनर्वार इसका ही कथन भा० ३।२६।१९ में हुआ है । श्रीकपिलदेव ने कहा,— सम्प्रति तत्त्वसमूहों की उत्पत्ति का प्रकार एवं उसका लक्षण को कहता हूँ, सुनो । जीव के अदृष्ट रूप कर्म वासना के अनुरूप प्रकृति क्षुब्ध होने से परमेश्वर, उक्त प्रकृति रूप अभिव्यक्ति के स्थान में निज चिद्रूप वीर्य्याधान करते हैं । उससे प्रकृति से महत्तत्व का प्रकाश हुआ । उक्त महत्तत्व हिरण्मय है, अर्थात् प्रकाशबहुल है । उक्त श्लोकस्थ 'वीर्य्य' शब्द का अर्थ टीकाकार स्वामिपाद ने "वीर्य्यं चिच्छक्ति" अर्थ किया है । इससे प्रकृति एवं जीव में परमेश्वर शक्तित्व निर्विवाद सिद्ध होता है ।

क्रमसन्दर्भ—"दैवमत्र काल एव, पूर्वसंवादाज् जीवादृष्टस्यापि प्रकृतौ लीनत्वात् । वीर्य्यं जीवाख्य-चिद्रूपशक्तिम् (छा० ६।३।२) "इमास्तिस्रो देवताः" इति श्रुतेः ।"

देव शब्द का यहाँ काल अर्थ है । पूर्व संवाद से ज्ञात होता है कि—जीव की कर्म वासना भी प्रकृति में लीन रही । 'वीर्य्य' शब्द का अर्थ जीवाख्य चिद्रूपशक्ति । छान्दोग्य श्रुति में "इमास्तिस्रो देवताः" उल्लेख है ।

तज्जन्य अकस्मात् उद्भव मात्रांश को बोध कराने के लिए ही दृष्टान्त उपस्थित किया गया है,— "जलबुद्बुदवत्" अर्थात् जल में जिस प्रकार बुद्बुद उत्पन्न होता है, (बुद्बुद—पानी का बुलबुला) उसके समान होता है । अतएव पुनर्वार प्रलय के समय में उक्त सोपाधिक जीवसमूह—विम्व स्थानीय मूल चिद्रूप एवं किरण स्थानीय चिदेकलक्षण शुद्ध जीवशक्तिस्वरूप आप में विलीन होते हैं । इसलिए श्रुति में "स्वमपीतो भवति" का प्रयोग हुआ है । अर्थात् 'स्व' शब्दाभिधेय परमात्मा में विविध नाम गुण, अर्थात् विविध देवादि संज्ञा एवं विविध शुभाशुभ गुण के सहित लीन होते हैं । पूर्व के समान प्रलय में भी दृष्टान्त इस प्रकार है,—नदी समूह जिस प्रकार समुद्र में लीन होती हैं, अशेष पुष्परस जिस प्रकार मधु में लीन होते हैं, उस प्रकार सोपाधिक जीवसमूह आप में विलीन होते हैं । अर्थात् प्रलय काल में जीववर्ग, देव मनुष्यादि नाम को छोड़कर परमेश्वर में विलीन होने पर भी उन उन अंशो की विद्यमानता निबन्धन जीव

(छा० ६'३'२) "हन्तेमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति; (श्वे० ४।५)—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां, बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" ॥५॥ इति;

(मु० ३।२।८)—"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे,-स्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः, परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" ॥८॥ इति;

(छा० ६।९।१-२) "यथा सौम्येमा मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानारूपाणां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां रसं गमयन्ति। ते यथा तत्र विवेकं न लभन्ते, अमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सौम्येमाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे" इति ॥ श्रुतयः श्रीभगवन्तम् ॥

४८। तदेवं परमात्मनस्तटस्थाख्या शक्तिर्विवृता; अन्तरङ्गाख्या तु पूर्ववदेव ज्ञेया। अथ वहिरङ्गाख्या विव्रियते, (भा० ११।३।१६)—

(४८) "एषा माया भगवतः सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि" ॥१६॥

सर्वसम्वादिनी

चाधीयते" इत्यधिकम्। एवं (ब्र०सू० १।२।२२) "विशेषणभेद-व्यपदेशाभ्यां च नेतरौ" इत्यादिषु, (ब्र०सू० १।४।१७) "जगद्वाचित्वात्" इत्यादिषु, (ब्र०सू० ३।२।५) "पराभिध्यानात्तुतिरोहितम्, ततो ह्यस्य बन्ध-विपर्य्ययौ" इत्यादिषु च ज्ञेयम्।

वर्ग का स्वरूपभेद अवश्य ही रहता है। श्रुति का अभिप्राय यह ही है। छान्दोग्य श्रुति—हाय ! ये तीन देवता इस जीवात्मा के सहित अनुप्रविष्ट होकर नाम रूप को प्रकाश करते हैं। श्वेताश्वतर ४।५ में उक्त है—"एक अजा अर्थात् मायाशक्ति, निजानुरूप रक्त, शुक्ल, कृष्ण अनेक प्रजाओं की सृष्टि करती है। एक अज अर्थात् पुरुष, उक्त माया को उपभोग करके आसक्त हो जाता है। अन्य अज अर्थात् परमात्मा उक्त माया को उपभोग कर परित्याग करते हैं।"

मुण्डक ३।२।८ में लिखित है - जिस प्रकार वेगवती नदीसमूह नाम रूप को परित्याग कर समुद्र में प्रविष्ट होती हैं, उस प्रकार पण्डितगण, नाम रूप से विमुक्त होकर परात्पर दिव्यपुरुष को प्राप्त करते हैं।

छान्दोग्य ६।९।१-२ में वर्णित है- हे सौम्य ! जिस प्रकार मधुकर निकर नानारूप वृक्ष समूह से रस आहरण कर समस्त रसों में एकता विधान करते हैं, उस समय उक्त रससमूह की पृथक् अभिव्यक्ति नहीं होती हैं। अर्थात् 'मैं अमुक वृक्ष का रस हूँ' इस प्रकार—प्रकार भेद नहीं रहता है। किन्तु प्रतीत होता है कि—यह इस इस कुसुमों का रस है। उस प्रकार प्रजा समूह ब्रह्म में लीन होकर अपने को जान नहीं सकते हैं। ब्रह्म में ही एकत्व होते हैं। यथार्थ ज्ञाता महेश्वर होते हैं।

श्रीभगवान् के प्रति यह कथन श्रुतिगण का है ।।४७।।

अन्तरङ्गा, वहिरङ्गा, तटस्थाख्य शक्तित्रय के मध्य में परमात्मा की तटस्था शक्ति जीवशक्ति का विस्तृत विवरण प्रस्तुत हुआ। अन्तरङ्गा शक्ति का विवरण को भगवत् सन्दर्भ में प्रतिपादित रीति से ही जानना होगा। सम्प्रति अवसर क्रम से वहिरङ्गाख्या माया शक्ति का विश्लेषण करते हैं।

भा० ११।३।१६ में वर्णित है,—राजन् ! श्रीभगवान् की सृष्टि-स्थिति-विनाशकारिणी त्रिगुण रूपा माया

भगवतः स्वरूपभूतैश्वर्य्यादेः परमात्मन एषा तटस्थलक्षणेन पूर्वोक्ता जगत्सृष्ट्यादिकारिणी मायाख्या शक्तिः ; त्रयो वर्णा गुणा यस्याः सा ; तथा चाथर्वणिकाः पठन्ति— "सितासिता च कृष्णा च सर्वकामदुघा विभोः" इति ; उक्तञ्च (गी० ७।१४) "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" इत्यत्र गुणमयीति ॥ अन्तरीक्षो विदेहम् ॥

सर्वसम्वादिनी

(ब्र०सू० १।१।३०) "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" इत्यत्र त्वेवं व्याख्येयम् ।—'प्राणो वा ह्यहमस्मि पुरुषः' इत्यादिकं यत् स्वस्य परमेश्वरत्वमिवोपदिष्टमिन्द्रेण, तत् (छा० ६।८।७) 'तत्त्वमसि' इत्याद्यभेद-प्रतिपादक-शास्त्रदृष्ट्या सम्भवति,—चिदाकारसाम्येनैकत्वात्, क्वचिदधिष्ठानाधिष्ठात्रोरेक-शब्दप्रत्ययाभ्यां

का स्वरूप वर्णन मैंने किया, सम्प्रति अपर किस विषय को सुनना चाह हैं ?

टीका—"त्रिवर्णा त्रिगुणा, मायाश्रवणभीतं राजानं तन्निवृत्त्युपायश्रवणे स्वयं छन्दयति कि भूय इति ।"

भगवान् की अर्थात् स्वरूपभूत ऐश्वर्य्यादि समन्वित परमात्मा को यह तटस्थ लक्षण—जीवशक्ति वर्णन प्रसङ्ग में पहले जगत् सृष्ट्यादि कारिणी मायाख्या शक्ति का वर्णन किया। सत्त्व, रजः, तमः, ये तीन गुण हैं, जिसमें वह माया है। आथर्वणगण कहते हैं,—विभु-अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर की शुक्ल, रक्त, कृष्ण, त्रिवर्णा माया सर्वकामपूरणी शक्ति है। श्रीगीता के ७।१४ में वर्णित है—

"दैवी ह्येषागुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥"

यह माया मेरी शक्ति है, अतएव शक्तिहीन जीव के लिए यह दुरत्यया अर्थात् दुरतिक्रमणीया है। जो भी व्यक्ति मेरी शरण में आता है, वह मायासमुद्रोत्तीर्ण होने में सक्षम होता है। अर्थात् काम्यकर्म, स्वरूपानुसन्धानात्मक ज्ञान, एवं अन्य देवता प्रपत्ति के द्वारा माया को अतिक्रम नहीं कर सकते ।४।

गी० भा०—"ननु त्रिगुणायास्तन्मायाया नित्यत्वात्तद्धेतुकस्य मोहस्य विनिवृत्तिर्दुर्घटेति चेत् तत्राह—दैवीति। मम सर्वेश्वरस्य अवितर्क्यातिविचित्रानन्तविश्वस्रष्टुरेषा माया दैवी अलौकिक्यत्यद्भुतेत्यर्थः, तादृग् विश्वसर्गोपकरणत्वात्। श्रुतिश्चैवमाह, "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इत्याद्या। गुणमयी - सत्त्वादिगुणत्रयात्मिका, श्लेषेण, त्रिगुणिता रज्जुरिवातिदृढ़तया जीवानां बन्धहेतुः। अतो दुरत्यया—तेषां दुरतिक्रमा, रज्जु पक्षे—छेत्तुमुद्ग्रथितं च तैरशक्येत्यर्थः। यद्यप्येतादृशी, तथापि मद्-भक्त्या तद्विनिवृत्तिः स्यादित्याह,—मामिति। मां सर्वेश्वरं मायानियन्तारं स्व - प्रपन्नवात्सल्यनीरधिं कृष्णं ये तादृश सन् प्रसङ्गात् प्रपद्यते शरणं गच्छन्ति। ते एतामर्णवमिवापारां मायां गोष्पदोदकाञ्जलि-मिवाश्रमेण तरन्ति। तां तीर्त्वानन्दैकरसं प्रसादाभिमुखं स्व स्वामिनं मां प्राप्नुवन्तीति। 'मामेव' इत्येव कारो यद्यन्येषां विधिरुद्रादीनां प्रपत्त्या तस्या स्तरणं नेत्याह, श्रुतिश्चैवमाह...."त्वमेव विदित्वा" इत्याद्या, मुचुकुन्दं प्रति देवाश्च, वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः।

"एकदेवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः।" इति। घण्टाकर्णं प्रति शिवश्च, "मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः ।१४।

त्रिगुणात्मिका ईश्वरीय माया नित्या है। मायाकृत मोह की निवृत्ति भी दुर्घटा है। इस कथन के प्रति कहते हैं—माया दैवी है, मैं ईश्वर हूँ। और मेरी अतर्क्य अघटनघटन कारिणी परमाचिन्त्या शक्ति माया है। वह विश्व सृजन करती है। श्रुति भी कहती है, "प्रकृति को माया शब्द से जानना, एवं माया के ईश्वर को महेश्वर जानना।"

त्रिगुण शब्द श्लिष्ट होने से त्रिगुणित रज्जु जिस प्रकार दुर्भेद्य होती है, उस प्रकार ही माया दुर्भेद्या है। दुरतिक्रमा है। इसको पृथक् नहीं किया जा सकता है। किन्तु जो नराकृति परब्रह्म कृष्ण रूप मेरी शरण

४९-५२। तस्या मायायाश्चांशद्वयम्। तत्र गुणरूपस्य मायाख्यस्य निमित्तांश द्रव्य-रूपस्य प्रधानाख्यस्योपादानांशस्य च परस्परं भेदमाह चतुर्भिः (भा० ११।२४।१)—

(४९) "अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम्।
यद्विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद्वैकल्पिकं भ्रमम्" ॥१॥

टीका—च "अद्वितीयात् परमात्मनो मायया प्रकृतिपुरुषद्वारा सर्वं द्वैतमुदेति, पुनस्तत्रैव लीयते इत्यनुसन्दधानस्य पुरुषस्य द्वन्द्वभ्रमो निवर्त्तत इति वक्तुं सांख्यं प्रस्तौति—अथेति" इत्येषा। अत्र प्रधानपर्य्यायः प्रकृति-शब्दः। (भा० ११।२४।२)—

(५०) "आसीज्ज्ञानमथो अर्थ एकमेवाविकल्पितम्।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे" ॥२॥

टीका च—"अथो-शब्दः कार्त्स्न्ये, ज्ञानं द्रष्टृ तेन दृश्यरूपः कृत्स्नोऽप्यर्थश्च विकल्प-शून्यमेकमेव, ब्रह्मण्येव लीनमासीदित्यर्थः" इत्येषा। तृतीयस्कन्धे च (भा० ३।५।२३) "भगवानेक

सर्वसम्वादिनी

वा शरीर-शरीरिणां वा; यथैव वामदेव उवाच—(बृ० १।४।१०) 'अहं मनुरभवं सूर्य्यश्च' इत्यादि। (ब्र०सू० १।३।१९) "उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु" इति ह्यत्रापीय व्याख्या।—पूर्वं 'दहर'-वाक्ये 'दहर'-

ग्रहण करता है, वह अनायास माया से उत्तीर्ण हो जाता है। यहाँ "मामेव" एवकार का प्रयोग है, अपर किसी की प्रपत्ति से माया मुक्त होने की सम्भावना नहीं है। मुचुकुन्द के प्रति देवताओं ने कहा—मुक्ति को छोड़कर जो कुछ वर अभीप्सित हो आप ले सकते हैं। मुक्ति दाता एकमात्र अव्यय श्रीविष्णु हैं। घण्टाकर्ण के प्रति श्रीशिव ने भी कहा था। श्रीविष्णु ही मुक्ति दाता हैं।१४।

अन्तरीक्ष विदेह को कहे थे ॥४८॥

उक्त वहिरङ्गा शक्तिरूप परमात्मा की माया के दो अंश हैं। गुणरूपा माया विश्व सृष्ट्यादि कार्य्य में निमित्त है, यह प्रथमांश है। द्रव्यरूप प्रधान—माया का उपादानांश रूप द्वितीय अंश है। अंशद्वय में परस्पर जो भेद है, उसको चार श्लोकों से कहते हैं, भा० ११।२४।१ में वर्णित है—

श्रीभगवान् बोले हे उद्धव! कपिलादि पूर्वाचार्य्य कथित निश्चित सांख्य योग का वर्णन मैं करता हूँ। जिसको जानने से पुरुष सद्य भेद निमित्त भ्रम रूप सुख-दुःखादि से अपने को मुक्त कर सकता है।

यहाँ पर स्वामिकृत टीका—अद्वितीय परमात्मा की माया के द्वारा प्रकृति पुरुष रूप में समस्त द्वैत उत्पन्न होते हैं। पुनर्बार उसमें ही विलीन होते हैं। अनुसन्धानकारी पुरुष का द्वन्द्व भय मिट जाता है। इसको कहने के लिए आत्म अनात्म विचारात्मक सांख्य तत्त्व का प्रदर्शन करते हैं।

"अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम्। यद्विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद्वैकल्पिकं भ्रमम्॥"

यहाँ प्रकृति शब्द—प्रधान का पर्य्याय वाचक है ॥४९॥

भा० ११।२४।२ में वर्णित है—"आसीज्ज्ञानमथो अर्थ एकमेवाविकल्पितम्।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे॥"

पूर्व में,—प्रलय काल में दृश्य समुदाय पदार्थ विकल्प शुन्य थे। एक अद्वितीय परम ब्रह्म मात्र ही थे। पश्चात् युगारम्भ के समय लोकसमूह विवेक निपुण थे, उस समय भेदज्ञान न होने से एकमात्र ब्रह्म ही थे।

टीका—अथ शब्द का अर्थ—समग्र, ज्ञान शब्द का अर्थ—द्रष्टा, इससे समस्त दृश्यरूप कार्य्य विकल्प अर्थात् भेदशून्य एकमात्र ब्रह्म में लीन थे।

आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः" इत्यादौ यद्भगवत्त्वेन शब्द्यते, तदेवात्र ब्रह्मत्वेन शब्द्यत इति, (भा० १।२।११) "वदन्ति" इत्यादिवदुभयत्रैकमेव वस्तु प्रतिपाद्यम्। अन्ते तु (भा० ११।२४।२९) "एष सांख्यविधिः प्रोक्तः" इत्यादौ "परावरदृशा मया" इत्यनेन भगवद्रूपेणाप्यवस्थितिः स्पष्टैव। कदेत्यपेक्षायामाह—यदा आदौ कृतयुगे विवेकनिपुणा जना भवन्ति, तस्मिन्नयुगे तत्पूर्वस्मिन् प्रलयसमय इत्यर्थः। (भा० ११।२४।३)—

(५१) "तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम्।
वाङ्मनोगोचरं सत्यं द्विधा समभवद्बृहत्" ॥३॥

टीका च—"तद्बृहद्ब्रह्मवाङ्मनोगोचरं यथा भवति तथा। माया दृश्यम्, फलं तत-

सर्वसम्वादिनी

शब्देन परमेश्वर एव निर्णीतः; जीवस्तु प्रत्याख्यातः। (छा० ८।१।५) 'अपहतपाप्मत्वादि-धर्मैस्तत्रोत्तर-ग्रन्थे जीवेऽपि ते धर्माः श्रूयन्ते।' तत इदमुच्यते;—आविर्भूतस्वरूपस्तु जीवस्तत्रोच्यते;—मुक्तौ परमेश्वर-प्रसादेन तत्साधारण्यप्रायाविर्भावात्तस्य;—(मु० ३।१।३) 'परमं साम्यमुपैति' इति श्रुतेः।

भा० ३।५।२३ में वर्णित है - जीवगणके आत्मास्वरूप एवं सब के अधिपति परमात्मा हैं। जो सृष्टि काल में अनेक बुद्धि में उपलक्षित होते हैं। उनकी आत्ममाया की विलीनता उनमें होने से सृष्टि के पूर्व में यह विश्व एकमात्र भगवत्स्वरूप में लीन था, अर्थात् उस समय द्रष्टा अथवा दृश्य कुछ भी नहीं था। इत्यादि श्लोक में जो भगवत् शब्द से कथित होते हैं, वह ही ब्रह्म शब्द से कथित होते हैं। भा० १।२।११ में—"वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥" इत्यादि श्लोक में जिस प्रकार एक अद्वय ज्ञानरूप तत्त्व वस्तु भगवान् को ही दृष्टिविशेष के द्वारा ब्रह्मादि शब्दों से कहते हैं। उस रीति से ही उभय स्थल में एक ही वस्तु प्रतिपादित हुई है। भा० ११।२४।२९ के सांख्य विधि कथन के उपसंहार में भगवान् ने कहा है—

"एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः। प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया॥" इस कथन से कार्य्य द्रष्टा ने ही सांख्यविधि को कहा है। इससे भ्रम विदूरित तो होगा ही उत्तम तत्त्वज्ञान भी होगा। स्वामिपाद ने कहा भी है—"प्रत्यक्षमिव येनेदं दर्शितं तत्त्वमात्मनः।
सांख्यप्रख्यानतस्तस्मै हरये गुरवे नमः॥"

जिन्होंने आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष के समान वर्णन किया है, उन सांख्य तत्त्व वक्ता श्रीगुरुदेव हरि को प्रणाम करता हूँ। "एष सांख्यविधिप्रोक्तः" "परावरदृशा मया" शब्द से परतत्त्व की भगवद्रूप में स्थिति सुस्पष्ट हुई। परतत्त्व की उस स्थिति कब रही, कहते हैं—

"आसीज्ज्ञानमथो अर्थ एकमेवाविकल्पितम्। यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे॥"

टीका—अथ शब्दः कात्स्न्र्ये। ज्ञानं द्रष्टा, तेन दृश्यः, कृत्स्नोऽप्यर्थश्च अविकल्पितं—विकल्पशून्यम् एकमेव। ब्रह्मण्येव लीनमासीदित्यर्थः। कदा इत्यपेक्षायामाह। अयुगे—युगेभ्यः पूर्वम् प्रलय इत्यर्थः। तथा आदौ यत्कृतयुगं तस्मिंश्चान्यदापि यदा विवेकनिपुणा जना भवन्ति तदापि। तेषां भेदास्फूर्त्तः।

जिस समय प्रलय हुआ था, उस समय विकल्प भ्रम नहीं था। समस्त पदार्थ ब्रह्म में लीन होने के कारण द्रष्टा दृश्य भेद नहीं था ॥५०॥

अतएव भा० ११।२४।३ में वर्णित है—उक्त बृहत् एकमात्र परमब्रह्म, अनन्तर माया प्रकाशरूप, वाक्य मनोगोचर रूप, एवं स्वरूप भावरूप दो प्रकार से प्रकाशित हुए।

प्रकाशः, तद्रूपेण मायारूपेण विलासरूपेण च द्विधा अभूत्" इत्येषा। अत्र माया दृश्यमिति, फलं तत्प्रकाश इति छेदः। तेन ब्रह्मणा यद्दृश्यं वस्तु तन्माया, तस्य ब्रह्मणो यः प्रकाश-विशेषः, स फलमित्यर्थः। (भा० ११।२४।४)—

(५२) "तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका।
ज्ञानन्त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते" ॥४॥

टीका च—"तयोर्द्विधाभूतयोरंशयोर्मध्ये उभयात्मिका कार्य्यकारणरूपिणी" इत्येषा। एवं श्रीविष्णुपुराणे (१।२।२४) "विष्णोः स्वरूपात् परतो हि तेऽन्ये, रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र" इत्यत्र तेषामेव टीका च—"परतो निरुपाधेर्विष्णोः स्वरूपात् ते प्रागुक्ते प्रधानं पुरुषश्चेति द्वे रूपे अन्ये मायाकृते" इति॥ श्रीभगवान्॥

५३। अन्यत्र तयोरुपादाननिमित्तरूपयोरंशयोर्वृत्तिभेदेन भेदानप्याह (भा० १०।६३।२६)—

(५३) "कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावो, द्रव्यं क्षेत्रं प्राणमात्मा विकारः।
तत्सङ्घातो बीजरोहप्रवाह,-स्तन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये" ॥२६॥

टीका च—"कालः क्षोभकः, कर्म निमित्तम्, तदेव फलाभिमुखमभिव्यक्तं दैवम्, स्वभावस्तत्संस्कारः, जीवस्तद्वान्, द्रव्यं भूतसूक्ष्माणि, क्षेत्रं प्रकृतिः, प्राणः सूत्रम्, आत्मा

सर्वसम्वादिनी

ननु तथापि दहर-वाक्ये परमेश्वरो वा मुक्तजीवो वाभिधीयत इति सन्देहः। उभयाभिधेयत्वे च वाक्यभेद इत्याशङ्क्य सूत्रान्तरम्—(ब्र०सू० १।३।२०) "अन्यार्थश्च परामर्शः" इति। परमेश्वर-स्वरूप-

टीका—उक्त अद्वय ज्ञानरूप ब्रह्म, जो सर्ववृहत् हैं, वाणी एवं मन के गम्य हो गए। माया—अर्थात् दृश्य पदार्थ, फल—अर्थात् उसका प्रकाश, उक्त रूप से अर्थात् माया रूपमें (शक्तिरूप में) एवं विलास रूपमें दो हुए थे। यहाँ पर माया—दृश्य फल है। अर्थात् उसका प्रकाश है। इस प्रकार पदच्छेद है। उक्त ब्रह्म कर्त्तृक जो दृश्य वस्तु है, वह ही माया है। उन ब्रह्म का जो प्रकाश है, वह ही विशेष फल है ॥५१॥

भा० ११।२४।४ में लिखित है,—उक्त द्विधाभूत अंश के मध्य में—एक अंश अर्थ है। अन्य अंश, ज्ञानमात्र है। किन्तु कार्य्यकारणरूपिणी प्रकृति उभयात्मिका है। उक्त ज्ञानस्वरूप को पुरुष कहते हैं।

टीका—उक्त उपादान एवं निमित्त रूप द्विधाभूत अंश के मध्य में उपादान एवं निमित्तरूपा माया कार्य्यकारण रूपिणी होती है। श्रीविष्णुपुराण के १।२।२४ में उक्त है—हे विप्र! पर अर्थात् निरुपाधि विष्णु रूपसे पूर्वोक्त प्रधान एवं पुरुष रूप प्रकट हुए हैं।

इसकी स्वामिकृत टीका—पर अर्थात् निरुपाधि विष्णुस्वरूप से पूर्वोक्त प्रधान एवं पुरुष रूप होते हैं। रूप द्वय माया कृत हैं। प्रवक्ता श्रीभगवान् हैं ॥५२॥

अन्यत्र भी उक्त उपादान एवं निमित्त भेद से माया का भेदद्वय वर्णित हैं। भा० १०।६३।२६ में वर्णित है—"काल, दैव, कर्म, जीव, स्वभाव, भूत, सूक्ष्म, प्रकृति, प्राण, आत्मा, एकादशइन्द्रिय, देह एवं बीजाङ्कुर। हे विभु! उक्त समुदय ही माया शक्ति के द्वारा रचित है। किन्तु आप माया वर्जित हैं। अतएव माया निषेध के अवधिभूत जो आप हैं, आपका भजन मैं करता हूँ।"

टीका—काल शब्द का अर्थ—क्षोभक है, कर्म—निमित्त, उक्त कर्म फल प्रदानाभिमुख होकर प्रकट होने से दैव शब्द से अभिहित होता है। स्वभाव,—कर्म करने का पुनः पुनः अभ्यास जनित संस्कार।

अहङ्कारः, विकार एकादशेन्द्रियाणि महाभूतानि चेति षोड़शकः, तत्सङ्घातो देहः, तस्य च वीजरोहवत् प्रवाहः, रोहोऽङ्कुरः, देहाद्वीजरूपं कर्म; ततोऽङ्कुररूपो देहः, ततः पुनरेवमिति प्रवाहः। तत् त्वां निषेधावधिभूतं प्रपद्ये भजे इति" इत्येषा। अत्र कालदैवकर्मस्वभावा निमित्तांशाः; अन्ये उपादानांशास्तद्वान्; जीवस्तूभयात्मकस्तथोपादानवर्गे निमित्तशक्त्यंशो ऽप्यनुवर्त्तते। यथा जीवोपाधिलक्षणेऽहमाख्ये तत्त्वे तदीयाहंभावः, स ह्यविद्यापरिणाम इत्यादि; यथोक्तं तृतीयस्य षष्ठे (भा० ३।६।२५)—

"आत्मानश्चास्य निर्भिन्नमभिमानोऽविशत् पदम्।
कर्मणांशेन येनासौ कर्त्तव्यं प्रतिपद्यते" ॥२५॥ इति।

अत्र "आत्मानमहङ्कारमभिमानो रुद्रः, कर्मणाहंवृत्त्या" इति टीका च। अत्र च यन्निर्भिन्नं तदधिष्ठानं वागादीन्द्रियं तृतीयान्तमध्यात्ममिति प्रकरणनिर्णयः टीकायामेव कृतोऽस्ति। कर्मणो वीजरूपत्वं कारणतामात्रविवक्षया। तदेवमत्रापि मूलमायायाः सर्वोपादानांशमूलभूतं क्षेत्रशब्दोक्तं प्रधानमप्यंशरूपमित्यधिगतम्। जीवस्तद्वानित्यनेन शुद्धजीवस्य मायातीतत्वं बोधयति॥ ज्वरः श्रीभगवन्तम्॥

सर्वसम्वादिनी

दर्शनार्थमेव तटस्थ-लक्षणेन जीवस्वरूपं पुनः पुनः परामृश्यते। तत्र क्वचिदैक्येनाभिधानं साधर्म्यांश-ज्ञानार्थमेवेति भावः। अतएव (छा० ८।१२।३) 'स तत्र पर्य्येति जक्षत् क्रीड़न् रममाणः' इत्यपि मुक्तावस्थाया-मुक्तम्। जीव-परयोर्भेदस्तूक्त एव तत्र—(छा० ८।१२।३) "एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं

जीव—उक्त समुदाय सामग्री विशिष्ट है, द्रव्य—भूत क्षेत्रसमूह, क्षेत्र—प्रकृति, प्राण—सूत्र, आत्मा—अहङ्कार, विकार—एकादश इन्द्रिय, पञ्चमहाभूत, ये षोड़श पदार्थ, उक्त समस्त देह रूपमें परिणत होते हैं। उक्त देह का वीज रोहवत् प्रवाह है। रोह शब्द का अर्थ अङ्कुर है। देह से कर्म वीजरूप उद्भूत होता है। उससे अङ्कुर रूप देह का उद्भव होता है। अतएव पुनः पुनः इस प्रकार प्रवाह होता रहता है।

निषेध के अवधिभूत—आप हैं, आपका भजन करता हूँ। यहाँ पर काल, देव, कर्म, स्वभाव ये सब निमित्त रूप अंश हैं। अन्य समस्त उपादानस्वरूप अंश हैं। तद्विशिष्ट जीव उभय स्वरूप है। इस प्रकार उपादान समूह के निमित्त, शक्ति के अंश में अनुवर्त्तमान् होता है। जिस प्रकार अहमाख्य जीवोपाधिरूप तत्त्व में तदीय अहंभाव अनुवर्त्तित होता है, अर्थात् जीव का स्वरूपभूत अहम्भाव होता है। उक्त उपाधि स्वरूप अहम्भाव अविद्या का परिणाम है, अर्थात् अज्ञान का विकार है।

भा० ३।६।२५ में कथित है—अनन्तर विराट् पुरुष का अहङ्कार पृथक् रूपसे उत्पन्न हुआ, एवं रुद्र स्वीय अंश में अहं वृत्तिरूप कर्म के द्वारा कर्त्तव्य कर्म को प्राप्त करते हैं।

यहाँ पर टीकाकार की व्याख्या इस प्रकार है, आत्मा—अहङ्कार, अभिमान, रुद्र, कर्म, अहंवृत्ति। इस स्थल में "जो निर्भिन्न हुआ है" वह अधिष्ठान है। अर्थात् वागादि इन्द्रियसमूह तृतीयान्त पद है। अध्यात्म प्रकरण की टीका में उस प्रकार अर्थ हुआ है। कर्म की वीजरूपता कारणमात्र विवक्षा से है। उक्त कर्म ही यहाँ पर मूल माया का समुदाय उपादानांश के मूलभूत क्षेत्र शब्द के द्वारा अभिहित हुआ है। जीव, तद्विशिष्ट है। इसके द्वारा बोध होता है कि—शुद्ध जीव मायातीत है।

ज्वर, श्रीभगवान् को कहे थे ॥५३॥

५४। अथ निमित्तरूपांशस्य प्रथमे द्वे वृत्ती आह (भा० ११।११।३)—

(५४) "विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्।
मोक्ष-बन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते" ॥३॥

टीका च — "तन्येते बन्धमोक्षावाभ्यामिति तनू शक्ती मे मायया विनिर्मिते, मायावृत्तिरूपत्वात्; बन्धमोक्षकरीत्येकवचनं द्विवचनार्थे। ननु तत्कार्य्यत्वे बन्धमोक्षयोरनादित्व-नित्यत्वे न स्याताम्, तत्राह— आद्ये अनादी। ततो यावदविद्यां प्रेरयामि, तावद्बन्धः, यदा विद्यां ददामि, तदा मोक्षः स्फुरतीत्यर्थः।" इत्येषा। अत्र मायावृत्तिरूपत्वादिति वस्तुतो मायावृत्ती एव ते। विनिर्मितत्वन्त्वपरानन्तवृत्तिकया तया प्रकाशमानत्वादेवोच्यते, यतोऽनादी इत्यर्थः। तथा स्फुरतीत्यस्य मोक्ष इत्यनेनैवान्वयः। जीवस्य स्वतो मुक्तत्वमेव; बन्धस्त्वविद्यामात्रेण प्रतीतः। विद्योदये तु तत् प्रकाशतेमात्रम्। ततो नित्य एव मोक्ष इति भावः। न च वाच्यम् (भा० ११।३।१६) "एषा माया" इत्यादौ सामान्यलक्षणे मोक्षप्रदत्वं तस्या नोक्तमित्यसम्यक्त्वमिति, अन्तकारित्वेनात्यन्तिकप्रलयरूपस्य मोक्षस्याप्युपलक्षितत्वात्। अत्र विद्याख्या वृत्तिरियं स्वरूपशक्तिवृत्तिविशेष-विद्याप्रकाशे द्वारमेव, न तु स्वयमेव

सर्वसम्वादिनी

ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, स उत्तमः पुरुषः' इति।

अतएवाविर्भूत-स्वरूप इति बहुव्रीहिणा जीव एवाभिहितः। अत्र मूलपूर्वगत्याश्रयणमपि कष्टमेव। तथा मैत्रेयी-ब्राह्मणेऽपि यदिदं (बृ० २।४।५) "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति; आत्मनस्तु

अनन्तर निमित्तरूप मायांश की दो वृत्ति होती हैं। भा० ११।११।३ में उक्त है,— भगवान् कहते हैं, हे उद्धव ! विद्या एवं अविद्या उभय शक्ति ही मेरी हैं। उभय शक्ति ही शरीरियों को बन्ध-मोक्षकारिणी है, उभय ही अनादि हैं। उभय ही मेरी माया द्वारा निर्मित हैं।

श्रीधरस्वामिपाद की टीका— बन्ध-मोक्ष को जो विस्तार करती है, वह तनू शक्ति है। इस व्युत्पत्ति के द्वारा तनू शब्द से शक्ति का बोध होता है। उक्त शक्तिद्वय का निर्माण मेरी माया से हुई है। अर्थात् दोनों माया के वृत्ती हैं। बन्ध-मोक्षकरी, यह द्विवचनार्थ में एकवचन का प्रयोग हुआ है।

उक्त वृत्तिद्वय, माया के कार्य्यभूत होने से बन्ध मोक्ष का अनादित्व एवं नित्यत्व नहीं होगा? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं, आद्य— अर्थात् अनादि है। अतएव जब मैं अविद्या प्रेरण करता हूँ। तब बन्ध होता है, और जब मैं विद्या को प्रेरण करता हूँ, तब मुक्ति की स्फूर्त्ति होती है। यहाँ मायावृत्ति रूप कथन से वस्तुत ही दोनों माया की ही वृत्ति है। मेरी माया के द्वारा निर्मित हुई है। अपार एवं अनन्त वृत्ति के द्वारा प्रकाशमान प्रयुक्त कथित हुआ है। कारण उभय ही अनादि हैं। तथा स्फुरति इसके सहित मोक्ष का अन्वय, जीव का स्वतः ही युक्तियुक्त है। बन्ध की प्रतीति अविद्या मात्र से होती है, किन्तु विद्या उदित होने से उसका प्रकाश मात्र होता है। अतएव जीव का नित्य ही मोक्ष है।

भा० ११।३।१६ में वर्णित "एषा माया" श्लोक माया का सामान्य लक्षण है। किन्तु उक्त लक्षण में मुक्ति प्रदत्त माया का नहीं कहा है, अतएव मुक्तिद रूपमें माया को कहना निरर्थक है। ऐसा कहना ठीक नहीं है। अन्तकारिणी रूपमें माया का वर्णन हुआ है। "अन्त" शब्द का अर्थ —आत्यन्तिक प्रलय है। इससे मुक्ति को भी जानना होगा। मुक्ति भी आत्यन्तिक लय ही है। अतएव विद्या नामिका माया की

सेति ज्ञेयम् । अथाविद्याख्यस्य भागस्य द्वे वृत्ती—आवरणात्मिका विक्षेपात्मिका च । तत्र पूर्वा जीव एव तिष्ठन्ती तदीयं स्वाभाविकं ज्ञानमावृण्वाना, उत्तरा च तं तदन्यथाज्ञानेन सञ्जयन्ती वर्त्तत इति ॥ श्रीभगवान् ॥

५५ । अत्र निमित्तांशस्त्वेवं विवेचनीयः,—यथा निमित्तांशरूपया मायाख्ययैव प्रसिद्धा शक्तिस्त्रिधा दृश्यते, ज्ञानेच्छाक्रियारूपत्वेन । तत्र तस्याः पारमेश्वरज्ञानरूपत्वं यथा तृतीये (भा० ३।५।२५)—"सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका ।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः" ॥२५॥

इत्यस्य टीकायाम्—"सा वै द्रष्टृदृश्यानुसन्धानरूपा ; सद्दृश्यम्, असदद्दृश्यम्, आत्मा स्वरूपम्, सदसतोरात्मा यस्यास्तदुभयानुसन्धानरूपत्वात्" इति । तदिच्छारूपत्वं यथा तत्रैव (भा० ३।५।२३) "आत्मेच्छानुगतावात्मा" इत्यस्य टीकायाम्—"आत्मेच्छा माया तस्यानुगतौ लये सति" इति । तत्क्रियारूपत्वञ्चैकादशे (भा० ११।३।१६) 'एषा माया भगवतः' इत्युदाहृत-वचने एव द्रष्टव्यम् । यद्यपि परमेश्वरस्य साक्षाज्ज्ञानादिकं न माया, किन्तु स्वरूपशक्तिरेव,

सर्वसम्वादिनी

कामाय सर्वं प्रियं भवति ; आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादिना जीवस्यैव द्रष्टव्यत्वादिकं निर्दिशत्तस्यैव परमात्मत्वं दर्शयतीति प्रतीयते ? तन्न ;—यतः परमपुरुषाविर्भूतिभूतस्य प्राप्तुरात्मनः स्वरूपयाथार्थ्य-विज्ञानमपवर्ग-साधनभूत-परमपुरुषवेदनोपयोगितयाऽनूद्य पुनः (बृ० २।४।५) 'आत्मा वा' इत्यादिना परमात्मैवा-

वृत्ति—स्वरूपशक्ति विद्या प्रकाश हेतु द्वार मात्र है । किन्तु स्वयं मुक्तिप्रद नहीं है ।

अनन्तर अविद्या नामिका अविद्या की वृत्तिद्वय की वर्णना करते हैं । आवरण विक्षेपात्मिका वृत्ति जीव में ही रहकर जीव के स्वाभाविक ज्ञान को आवृत करती है । उत्तरावृत्ति—विक्षेपात्मिका है । वह वृत्ति जीव को अन्य प्रकार ज्ञान में आसक्त कर देती है । प्रवक्ता श्रीभगवान् हैं ॥५४॥

तन्मध्य में निमित्तांशरूपा माया का विवेचन करना कर्त्तव्य है । निमित्तांशरूपा माया का भी शक्तित्रय है—ज्ञान, इच्छा, क्रियारूपा । भा० ३।५।२५ में भगवज्ज्ञान रूपमें ही उक्त माया का वर्णन है । "द्रष्टारूप परमेश्वर की दृश्यानुसन्धानात्मिका वह शक्ति, कार्य्यकारणात्मिका है । हे महाभाग ! उक्त शक्ति का नाम ही माया है । श्रीभगवान् उसके द्वारा ही यह प्रत्यक्ष परिदृश्यमान विश्व का निर्म्माण किए हैं ।

इसकी टीका में उक्त है—वह माया, द्रष्टा एवं दृश्य की अनुसन्धानरूपा है । सदसदात्मिका है, अर्थात् सद्—दृश्य पदार्थ, असत्—अदृश्य, आत्मास्वरूप, सत् एवं असत् का आत्मा जिसका है । अर्थात् सत् असत् का अनुसन्धानात्मक ज्ञानरूपा है । तज्जन्य उसे सदसदात्मिका कहते हैं । वह माया—भगवान् की इच्छारूपा है । भा० ३।५।२३ में कथित है—जीवगणों के आत्मस्वरूप एवं सकल के अधिपति परमात्मा, जो सृष्टिकाल में अनेक बुद्धि से उपलक्षित होते हैं । उक्त आत्ममाया लीन होने से सृष्टि के पूर्व में यह विश्व—भगवत्स्वरूप हुआ था । अर्थात् उस समय द्रष्टा एवं दृश्य उभय पदार्थ नहीं था ।

इसकी टीका में उक्त है,—आत्मेच्छा—माया है, उसकी अनुगति से अर्थात् वह लीन होने पर । श्रीभगवान् की क्रियारूपा माया का वर्णन भा० ११।३।१६ में इस प्रकार है,—

हे राजन् ! भगवान् की सृष्टि-स्थिति-विनाशकारिणी त्रिगुणरूपा मायाशक्ति का वर्णन मैंने किया है, सम्प्रति अपर क्या सुनना अभीप्सित है ? इस विषय का कथन पूर्व में हुआ है ।

तथापि तज्ज्ञानादिकं प्राकृते कार्य्ये तु न तदर्थं प्रवर्त्तते, किन्तु भक्तार्थमेव प्रवर्त्तमानमनुषङ्गेणैव प्रवर्त्तत इत्यग्रेविवेचनीयत्वात्, तत्प्रवृत्त्याभाससम्बलितं यन्मायावृत्तिरूपं ज्ञानादिकमन्यत्तदेव तज्ज्ञानादिशब्देनोच्यते। तथाभूतं च तज्ज्ञानादिकं द्विविधम्;—स्वभावसिद्धत्वात् केवलपरमेश्वरनिष्ठं तद्दत्तत्वाज्जीवनिष्ठञ्च। तत्र प्रथमं द्रष्टृदृश्यानुसन्धानसिसृक्षाकालादिरूपम्, द्वितीयं विद्याविद्याभोगेच्छाकर्मादिरूपमिति। अथोपादानांशस्य प्रधानस्य लक्षणम्, (भा० ३।२६।१०)—

(५५) "यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत्" ॥१०॥

यत् खलु त्रिगुणं सत्त्वादिगुणत्रयसमाहारस्तदेवाव्यक्तं प्रधानं प्रकृतिञ्च प्राहुः। तत्राव्यक्तसंज्ञत्वे हेतुः—अविशेषं गुणत्रयसाम्यरूपत्वादनभिव्यक्तविशेषम्; अतएवाव्याकृतसंज्ञञ्चेति गमितम्। प्रधानसंज्ञत्वे हेतुः—विशेषवत् स्वांशकार्य्यरूपाणां महदादिविशेषाणामाश्रयरूपतया तेभ्यः श्रेष्ठम्। प्रकृतिसंज्ञत्वे हेतुः—सदसदात्मकम्, सदसत्सु कार्य्य-कारणरूपेषु महदादिषु

सर्वसम्वादिनी

मृतत्वोपायाद्द्रष्टव्यतयोपदिश्यते। (वृ० २।४।१०) "तस्य वा एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः" इत्यादिकं हि तस्यैव लिङ्गमिति।

एतदभिप्रेत्यैव श्रीशुकेन स्वयं व्याख्यातम्—(भा० १०।१४।५२) "तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा" इत्युक्त्वा,

यद्यपि परमेश्वर के साक्षात् ज्ञानादि का नाम माया नहीं है, कारण वह स्वरूपशक्ति ही है। तथापि स्वरूपशक्त्यात्मक ज्ञानादि का प्रयोग भगवान् प्राकृत कार्य्य में नहीं करते हैं। किन्तु स्वरूपशक्त्यात्मक ज्ञानादि का प्रयोग भक्तजनगण के लिए ही करते हैं। अतएव आनुषङ्गिक रूप में विश्वादि कार्य्य भी सम्पन्न होता है। अग्रिम ग्रन्थ में इसका विचार करना है। ईश्वरीय प्रवृत्त्याभास सम्बलित माया वृत्ति रूप ज्ञानादि अन्य है। उसको ही ईश्वरीय ज्ञानादि शब्द से कहते हैं।

उक्त ज्ञान दो प्रकार हैं, स्वभावसिद्ध होने के कारण—केवल परमात्मनिष्ठ एक प्रकार। द्वितीय प्रकार परमेश्वर प्रदत्त होने के कारण—जीवनिष्ठ है।

उसमें से प्रथम—द्रष्टा दृश्य का अनुसन्धानात्मक-सृजनेच्छा कालादि रूप है। द्वितीय—विद्या-अविद्या भोगेच्छा कर्मादि रूप है।

अनन्तर उपादानांशरूप प्रधान का लक्षण भा० ३।२६।१० में वर्णित है, उसको कहते हैं,—भगवान् कपिल कहे थे—मातः! जो स्वयं अविशेष है, अथच विशेष का जो प्रधान है, उसको प्रकृति शब्द से कहते हैं। यह प्रधान—सत्त्वादि गुणत्रय का समाहार स्वरूप है। वह ब्रह्म नहीं है, अव्यक्त कार्य्य है। अतएव कालादि भी नहीं है, वह नित्य है। अतएव जीव की प्रकृति भी नहीं है।

उक्त कथन का सारार्थ इस प्रकार है—जो सत्त्व रजः तमः रूप गुणत्रय का समाहार रूप है, उसको पण्डितगण अव्यक्त, प्रधान, प्रकृति शब्द से कहते हैं। अव्यक्त क्यों कहते हैं? अविशेष के कारण, गुणत्रय के साम्य प्रयुक्त अप्रकाश विशेष है। अतएव इसे ही अव्याकृत शब्द से कहते हैं। प्रधान शब्द का प्रयोग क्यों करते हैं? विशेष पदार्थ के समान, निजांश कार्य्यरूप महदादि विशेष रूप का आश्रय है, अर्थात् उक्त आश्रित समूह से श्रेष्ठ है। प्रकृति शब्द प्रयोग के प्रति कारण, सदसदात्मक है। सत्—कारण, असत्—कार्य्य, कार्य्यकारणात्मक महदादि के प्रति कारण होने के कारण जिसका स्वरूप उक्त

कारणत्वादनुगत आत्मा स्वरूपं यस्य तत्। तथा नित्यं प्रलये कारणमात्रात्मनावस्थित-सर्वांशत्वेन सृष्टिस्थित्योश्चापञ्चीकृतांशत्वेनाविकृतं स्वरूपं यस्य तादृशमिति ब्रह्मत्वं महदादि-रूपत्वञ्च व्यावृत्तम्,—ब्रह्मणो निर्गुणत्वात् महदादीनाञ्चाव्यक्तापेक्षया कार्य्यरूपत्वात्। एवञ्च श्रीविष्णुपुराणे (१।२।१९-२१)—

"अव्यक्तं कारणं यत्तत् प्रधानमृषिसत्तमैः। प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम् ॥१९॥
अक्षय्यं नान्यदाधारममेयमजरं ध्रुवम्। शब्द-स्पर्शविहीनं तद्रूपादिभिरसंहतम् ॥२०॥
त्रिगुणन्तज्जगद्योनिरनादिप्रभवाप्ययम्। तेनाग्रे सर्वमेवासीद्व्याप्यं वै प्रलयादनु" ॥२१॥ इत्यादि।

इदमेव प्रधानमनादेर्जगतः सूक्ष्मावस्थारूपमव्याकृताव्यक्ताद्यभिधं वेदान्तिभिरपि परमेश्वराधीनतया मन्यते (ब्र०सू० १।४।३) "तदधीनत्वादर्थवत्" इत्यादिन्यायेषु, निषिध्यते तु

सर्वसम्वादिनी

(भा० १०।१४।५५) "कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्" इत्यादिना ततोऽपि तस्य प्रियतमत्वमिति।

तस्मात् परमेश्वर-स्वरूपाद्भिन्नस्वरूप एवात्मा [जीवः]।

ननु भिन्नत्वे सति (ब्र०सू० २।३।७) "यावद्विकारान्तु विभागो लोकवत्" इति न्यायेन विकारत्व-प्राप्तिः

रूपमें ही अनुगत है।

वह नित्य है, अर्थात् प्रलय काल में कारणस्वरूप होकर सर्वांश के सहित अवस्थित है। सृष्टि स्थिति में जो अपञ्चीकृत रूपमें अवस्थित होने से उसका स्वरूप विस्तार नहीं होता है। उसे नित्य कहते हैं। अतएव ब्रह्म से एवं महदादि रूपसे माया का पार्थक्य हुआ। कारण—ब्रह्म निर्गुण है, और महत् प्रभृति अव्यक्त की अपेक्षा से कार्य्यरूप है। श्रीविष्णुपुराण में भी इस प्रकार प्रसङ्ग ही है। (१।२।१९-२१) महर्षिगण—इस प्रकृति को ही अव्यक्त, कारण, प्रधान कहते हैं। यह सूक्ष्म, नित्य, सदसदात्मक अर्थात् कार्य्य-कारण शक्तिसम्पन्न है।

यह प्रकृति अक्षय, अनन्याश्रय, इयत्ताशून्य, अजर, अमर, निश्चल, शब्द, स्पर्श परिशून्य एवं रूपादि रहित हैं।

यह त्रिगुणात्मक है, इससे जगत् की उत्पत्ति हुई है। यह अनादि है, अर्थात् नित्य है। प्रलय काल में समुदाय सृष्ट वस्तु इसमें विलीन होती हैं। सृष्टि के पूर्व में—अतीत प्रलय काल में समुदाय सृष्ट वस्तु प्रकृति में अर्न्तानिविष्ट रहीं।

यह प्रधान ही अनादि जगत् के सूक्ष्मावस्थान रूप है। अविकारापन्न अप्रकाशादि नामक उस प्रधान को वेदान्तज्ञगण परमेश्वर के अधीन मानते हैं। (ब्र० सू० १।४।३) "तदधीनत्वादर्थवत्" में इसका विवरण है।

गो० भा०—"परमकारणब्रह्माधीनत्वात् अर्थगत् प्रधानं स्वकार्य्योत्पादनफलवदित्यर्थः, तदीक्षणेनैव प्रधानं वर्त्तते नतु स्वतः जाड्यात्। श्रुतिश्च—श्वेताश्वतराणां "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" "अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्" "य एकोऽवर्णो बहुधाशक्तियोगात् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधातीत्याद्या। स्मृतिश्च "स एव भूयो निजवीर्य्यचोदितां स्व जीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम्। अनामरूपात्मनि रूपनामनी विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत्।" प्रधानं पुरुषं चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः। क्षोभयामास संप्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ"। "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते"। इत्याद्या। एवमभ्युपगमान्नास्माकं सांख्यमते प्रवेशः। स्वतन्त्रमेव प्रधानं कारणमिति तत्राभ्युपगमात्।

प्रधान—परमकारणस्वरूप ब्रह्म के अधीन होकर ही विश्व कार्य्य उत्पादन करने में सक्षम होता है।

सांख्यवत् स्वतन्त्रतया (ब्र०सू० १।४।१) **"आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्त-गृहीतेर्दर्शयति च" इत्यादि-न्यायेषु श्वेताश्वतरोपनिषदि प्रधान-शब्दश्च ; श्रूयते** (श्वे० ६।१६) **"प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुः" इत्यादौ ॥ श्रीकपिलदेवः ॥**

सर्वसम्वादिनी

स्यादात्मनः ? न ;—वैधर्म्यान्तरात् । तच्च वैधर्म्यं प्रमाणानपेक्ष-सिद्धत्वन् । आत्मा हि प्रमाणादिविकार-व्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव तद्व्यवहारात् सिध्यति । अतो विभागयुक्ति-लब्ध-न्यायस्य नात्रावतारः । नित्यत्व-श्रुतिश्चास्माकमत्रास्ति ; यथा वैकुण्ठादि-वस्तूनामपि सैव नित्यत्वं शास्तीति । (ब्र०सू० २।३।१७)

और वह पुरुष निज कार्य्य में प्रवृत्त होता है। किन्तु स्वतन्त्र रूपसे प्रवृत्त नहीं हो सकता है। कारण, प्रधान जड़ है। श्वेताश्वतर उपनिषत् कहती है—"प्रकृति माया है, और प्रकृति का अधिपति ईश्वर ही मायी है। मायी पुरुष, माया के द्वारा इस जगत् को सृष्टि करता है। एक—अवर्ण होकर भी विविध आकार से भासमान अपनी शक्ति के द्वारा "इसको इस प्रकार करूँगा" इस इच्छा से उससे अनेक वर्णों का सृजन करते हैं। स्मृति में भी उक्त है,—"ईश्वर श्रीहरि, सृष्टि कार्य्य में अभिलाषिणी, क्षुब्धा, महदादि कार्य्य में नियोजिता, जीव मोहनकारिणी, अपनी शक्तिस्वरूप प्रकृति को नाम रूप रहित जीव को नामरूप प्रदान करने के लिए प्रेरण कर स्वयं उसका अनुसरण करते हैं।

प्रथम—कर्म, ज्ञान, भक्ति को प्रतिपादन करने के लिए तत् प्रतिपादक वेदादि शास्त्रसमूह को प्रकट करते हैं। श्रीहरि सृष्टि काल में अपनी इच्छा के अनुसार प्रधान एवं पुरुष में अनुप्रविष्ट होकर सविकार-निर्विकार दोनों को क्षुभित करते हैं। मत् कर्त्तृक अधिष्ठिता वही प्रकृति सचराचर जगत् की सृष्टि करती है। हे कौन्तेय ! इस कारण से जगत् की बारम्बार सृष्टि होती। इस विचार से सांख्य मत में मेरा प्रवेश नहीं होता है। सांख्य मत में प्रधान स्वतन्त्र कारण है। सांख्य मत के स्वीकृत स्वतन्त्र प्रधान का निषेध भी करते हैं। वेदान्तसूत्र (१।४।१) "आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न, शरीररूपकविन्यस्त गृहीते दर्शयति च।"

गोविन्दभाष्य—एकेषां कठानामानुमानिकं स्मार्त्तं प्रधानमपि वाच्यं दृश्यते। न व्यक्तमव्यक्तमिति तदुक्तेरिति चेन्न। कुतः ? शरीरेत्यादेः। शरीरमेवात्र रथरूपकविन्यस्तमव्यक्तशब्देन गृह्यते। दर्शयति चैतत् प्राक्तनो ग्रन्थ आत्म शरीरादिनां रथादिरूपक क्लृप्तिम्। एतदुक्तं भवति पूर्वत्र। "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयान्याहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्" इत्यादिना। 'सोऽध्वनं पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदमित्यन्तेन ग्रन्थेन। श्रीविष्णुपद प्रेप्सुमुपासकं रथित्वेन तच्छरीरादिकं रथादित्वेन रूपयित्वा यस्यैते रथादयो वशे भवन्ति सोऽध्वनः पारं तत् पदमाप्नोत्युक्त्वाथ अथ रथादिरूपितानां तेषां शरीरादीनां वशीकार्य्यतायां गौण्य प्राधान्यमुच्यते। इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था इत्यादिना। तत्र यानि इन्द्रियाणि रथरूपके अश्वादिभावेन प्रकृतानि तान्येवेह वाक्येऽपि गृह्यन्ते प्रायः शब्दसौल्यात्। यत्तु शरीरमवशिष्टं तत् खलु अव्यक्तशब्देन परिशेषात् प्रकरणाच्चेति। न च स्मार्त्तरव प्रत्यभिज्ञातास्ति तन्मतविरोधात्।"

"न व्यक्तं अव्यक्तं" इस व्युत्पत्ति के अनुसार कतिपय काठकादि का आनुमानिक कपिल स्मृति शास्त्रोक्त प्रधान को जगत्कारण कहा गया है। किन्तु यह समीचीन नहीं है। कारण—अव्यक्त शब्द से रथ रूप विन्यस्त शरीर का बोध होता है। पूर्व ग्रन्थ में इसका विवरण है। आत्मा, रथिस्वरूप, शरीर रथस्वरूप, बुद्धि सारथिस्वरूप, मनः प्रग्रहस्वरूप, इन्द्रियसमूह अश्वस्वरूप, और शब्दादि विषय उसका पथस्वरूप है।" "जो व्यक्ति इन समस्त को निज वशमें रखकर श्रीविष्णुपद का अनुसन्धान करता है, वह अनायास उस पथ का अतिक्रम करता है" इत्यादि शेषग्रन्थ में श्रीविष्णुपद प्राप्तीच्छु उपासक को रथी

५६ । तदेवं सन्दर्भद्वये शक्तित्रयविवृतिः कृता । तत्र नामाभिन्नताजनितभ्रान्तिहानाय संग्रहश्लोकाः—

"माया स्यादन्तरङ्गा या वहिरङ्गा च सा स्मृता । प्रधानेऽपि क्वचिद्दृष्टा तद्वृत्तिर्मोहिनी च सा ॥
आद्ये त्रये स्यात् प्रकृतिश्चिच्छक्तिस्त्वन्तरङ्गिका । शुद्धजीवेऽपि ते दृष्टे तथेशज्ञानवीर्य्ययोः ॥
चिन्माय शक्तिवृत्त्योस्तु विद्याशक्तिरुदीर्य्यते । चिच्छक्तिवृत्तौ मायायां योगमाया समा स्मृता ॥
प्रधानाव्याकृताव्यक्तं त्रैगुण्ये प्रकृतौ परम् । न मायायां न चिच्छक्तावित्याद्यूह्यं विवेकिभिः" ॥ इति ।

अथ मायाकार्य्यं जगल्लक्ष्यते (भा० ३।२६।५१-५२)—

(५६) "ततस्तेनानुविद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डमचेतनम् ।
उत्थितं पुरुषो यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट् ॥५१॥
एतदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृद्धैर्दशोत्तरैः ।
तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनावृतैर्वहिः ।
यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः" ॥५२॥

सर्वसम्वादिनी

"नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः" इति न्यायान्तरञ्च तं न्यायमपसारयति ।

तदेवमादिश्रुति-न्यायाभ्युपगमाद्भिन्न एव जीवः । (ईश० ७) 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'

मान कर शरीरादि को रथरूप में रूपक कर परमात्मा को प्राप्त करने की प्रक्रिया को दर्शाया है। अनन्तर रूपक प्राप्त उन सब शरीरादि का "इन्द्रियसमूह से विषय सकल बलवान् है" इत्यादि वाक्य से वशीकरण करने में गौण्य प्राधान्य भाव कहा जाता है। इन्द्रियसमूह को रथादि रूपमें रूपक ही किया गया है। "प्रायः" शब्द तुल्यार्थ का बोधक है। परिशेष में प्रकरण प्राधान्य से अवशिष्ट शरीर को अव्यक्त शब्द से कहा गया है। यहाँ सांख्य तत्त्व का उल्लेख नहीं है। इस प्रकार उत्तरोत्तर परत्व स्वीकार करने में उक्त मत का विरोध उपस्थित होता है। इस न्याय से श्रीहरि ही परमात्मा हैं। श्वेताश्वतर उपनिषत् में उक्त है,—गुणनियन्ता ईश्वर प्रधान एवं जीव का पालक हैं—संसार बन्ध, स्थिति, मोक्ष का हेतु हैं। यह कथन श्रीकपिल देव का है ॥५५॥

अतएव भगवत सन्दर्भ एवं परमात्म नामक सन्दर्भद्वय में अन्तरङ्गा, वहिरङ्ग, एवं तटस्था शक्ति का वर्णन हुआ। उक्त विषय में नाम की अभिन्नता से जो भ्रान्ति होती है, तज्जनित भ्रान्ति निरास निबन्धन संग्रह श्लोकसमूह का प्रदर्शन करते हैं।

माया शब्द से अन्तरङ्गा एवं वहिरङ्गाशक्ति का बोध होता है। स्थल विशेष में प्रधान में एवं उसकी मोहिनी वृत्ति में भी माया शब्द का प्रयोग होता है। माया, वहिरङ्गा एवं प्रधानरूप आद्यत्रय में प्रकृति शब्द का प्रयोग होता है। अन्तरङ्गा शक्ति में चिच्छक्ति शब्द का प्रयोग होता है। शुद्ध जीव में तथा ईश्वर के ज्ञान वीर्य्य में चित्शक्ति शब्द का प्रयोग होता है। पण्डितगण—चित्शक्ति एवं मायाशक्ति की वृत्ति में विद्याशक्ति शब्द का प्रयोग करते हैं। चिच्छक्ति वृत्ति में माया में योगमाया शब्द का प्रयोग होता है। प्रधान अव्याकृत, अव्यक्त, त्रिगुणमयि प्रकृति में ही प्रयोग होता है। किन्तु माया तथा चिच्छक्ति प्रयोग नहीं होता है, विवेकी व्यक्तिगण इसका वर्णन करते हैं।

अनन्तर माया कार्य्य जगत् का वर्णन करते हैं। भा० ३।२६।५१-५२ में वर्णित है—उक्त श्रीभगवान् कर्त्तृक पदार्थसमूह क्षुभित होकर परस्पर मिलित हुए, तत् पश्चात् उससे एक एक अचेतन अण्ड उत्पन्न हुआ, उक्त अण्ड विशेष नाम से परिचित हुआ। उसका वहिर्देश जल प्रभृति तत्त्वों से क्रमशः दस दस

तेनेश्वरेणानुविद्धेभ्यः क्षुभितेभ्यो महदादिभ्योऽण्डमचेतनमुत्थितम्। यस्मादण्डादसौ विराट् पुरुषस्तूदतिष्ठत्, भगवतः पुरुषस्य ॥ श्रीकपिलदेवः ॥

५७। तदेवं भगतो रूपमित्युक्तेस्तस्यापि प्राग्वदप्राकृतत्वमापतति। तन्निषेधायाह (भा० २।१०।३५)—

(५७) "अमुनी भगवद्रूपे मया ते ह्यनुवर्णिते।
उभे अपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः" ॥३५॥

अमुनी अमू, उपासनार्थं भगवत्यारोपिते जगदात्मके स्थूलसूक्ष्माख्ये विराट्हिरण्यगर्भापर-पर्य्याये व्यष्टिसमष्टिशरीरे ये मया तुभ्यमनुवर्णिते ते उभे अपि विपश्चितो न गृह्णन्ति, वस्तुतया नोपासते, किन्तर्हि तदीयवहिरङ्गाधिष्ठानतयैवेत्यर्थः। तदुक्तं वैष्णवे (१।४।३९)—

"यदेतद्दृश्यते मूर्त्तमेतज्ज्ञानात्मनस्तव। भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः" ॥३९॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

इत्याद्याः श्रुतयस्तु परमात्मैक्यापेक्षा एव; यथा (महाभा० शान्तिप० ३५०।२) 'बहवः पुरुषा लोके साङ्ख्य-योगविचारणे इति परमतम्। स्वमते, पारम्परिकजीवभेदे साक्षितयोपन्यस्य पुनस्तद्विलक्षणं परमात्म-

गुणों से आवृत है। उक्त अण्ड में श्रीभगवान् के मूर्तिस्वरूप चतुर्दश भुवन विस्तृत है।

सन्दर्भ—उक्त ईश्वर कर्त्तृक अनुविद्ध अर्थात् क्षुभित महदादि तत्त्वों से अचेतन अण्ड उत्थित हुआ। एवं उससे विराट् पुरुष उत्थित हुए थे। भगवान् का रूप अर्थात् पुरुष का रूप।

क्रमसन्दर्भ—"उत्थितम्—उत्पन्नम्। विराट् पुरुषो हिरण्यगर्भात्मकः समष्टि जीव उदतिष्ठत्—सुषुप्त-मिवातिक्रम्य स चेतनो बभूव।" उत्थितम्—उत्पन्न, विराट् पुरुष हिरण्यगर्भात्मक समष्टि जीव, उदतिष्ठत्—सुषुप्त अवस्था को अतिक्रम कर सचेतन हुआ।

स्वामिटीका—"अनुविद्धेभ्यः, क्षुभितेभ्यः, यस्मादसौ—विराट् पुरुष उदतिष्ठत्। भगवतो रूपमिति पुरुषभेदाभिप्रायेण।

क्षुभित तत्त्वसमूह से ब्रह्माण्ड का सृजन हुआ। जिससे विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ। पुरुष भेद के अभिप्राय से भगवत् रूप का वर्णन हुआ। यह कथन श्रीकपिल देव का है ॥५६॥

उक्त विराट् रूप को भगवत रूप कहा गया है। इससे विराट् का भी अप्राकृतत्व होना स्वाभाविक है, अर्थात् उक्त कथन से जगत् भी अप्राकृत ही होगा। इसका निषेध करते हैं। भा० २।१०।३५ में उक्त है—भगवान् में स्थूल सूक्ष्म रूपद्वय का आरोपण होता है, उसका वर्णन मैंने किया। किन्तु उक्त रूपद्वय ही माया कल्पित है। एतज्ज्ञ्य मनीषिगण वस्तुत उसको स्वीकार नहीं करते हैं।

सन्दर्भ—स्थूल दृष्टि सम्पन्न साधक को उपासना करने का अवलम्बन प्रदान हेतु भगवान् में आरोपित जगद्रूप को स्थूल सूक्ष्म विराट् हिरण्यगर्भ अपर पर्य्याय व्यष्टि समष्टि शरीर कहा गया है, जिसका वर्णन मैंने किया। उन दोनों को ही पण्डितगण उपासनार्थ ग्रहण नहीं करते हैं। वस्तुरूप दृष्टि से उपासना नहीं करते हैं। किन्तु वहिरङ्गा माया शक्ति का अधिष्ठान रूपमें ही देखते हैं।

स्वामिटीका—"उपासनार्थं भगवत्यारोपितं रूपद्वयमपवदति अमूनी इति। न गृह्णन्ति, न वस्तुतोऽङ्गी कुर्वन्ति। यतो मायासृष्टे" ।३५।

इस विषय का प्रमाण विष्णुपुराण के १।४।३९ में इस प्रकार है—शुद्ध ज्ञानस्वरूप आप हैं, आपका जो जगद्रूप दृष्ट होता है, उसका दर्शन केवल योगिगण, अविद्या विलसित भ्रम ज्ञान से ही करते हैं।

एतन्मूर्त्तं जगद्भ्रान्तिज्ञानेनैव तव रूपं जानन्तीत्यर्थः; श्रुतिश्च (केन० १।४)—"नेदं यदिदमुपासते" इति; "यदिदं जगदुपासते प्राणिनः, नेदं ब्रह्म" इति श्रीरामानुज-भाष्यम्। अतएव न गृह्णन्तीत्यत्र हेतुर्मायासृष्टे, न तु स्वरूपशक्तिप्रादुर्भाविते। अनेन चतुर्भुजादि-लक्षणस्य साक्षाद्रूपस्य मायातीतत्वमपि व्यक्तम्। अत्रास्य जगतो मायामयस्य पुरुषरूपत्वे पुरुषगुणावताराणां विष्णवादीनां सत्त्वादिमयास्तदंशरूपाणीति ज्ञेयम्। तान्यपेक्ष्य चोक्तं मार्कण्डेये—

"विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च। कारितास्ते यतोऽतस्त्वां कः स्तोतुं शक्तिमान् भवेत्॥" इति।

सर्वसम्वादिनी

विषयं स्वमतातिशयमाह,—(महाभा० शान्तिप० ३५०।३)

"बहूनां पुरुषाणां हि यथैका योनिरुच्यते। तथा तं पुरुषं विश्वमाख्यामि गुणतोऽधिकम्" ॥१३॥

इत्युपक्रम्य, (तत्रैव ३५०।४,५)

सन्दर्भः—इस मूर्त्त जगत् को भ्रान्ति ज्ञान के द्वारा ही आपका रूप मान लेते हैं। श्रुति भी कहती है, दृश्यमान् जगत् की उपासना वस्तु दृष्टि से जो की जाती है, वह वास्तव वस्तु नहीं है। उक्त श्रुति का श्रीरामानुज भाष्य इस प्रकार है,—प्राणिगण जिस जगत् की उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है। अतएव मनीषिगण वस्तु रूपमें नहीं ग्रहण करते हैं। कारण है—ईश्वरीय मायाशक्ति के सृष्ट है। किन्तु स्वरूप शक्ति के द्वारा प्रादुर्भावित नहीं है। उक्त कथन से श्रीभगवान् के चतुर्भुजादि स्वरूप—साक्षात् स्वरूप हैं, एवं मायातीत हैं, यह सूचित हुआ। तन्मध्य में मायामय जगत् का पुरुषरूप होने से पुरुष गुणावतार श्रीविष्णु आदि का सत्त्वादिमय उनके अंश रूप ही जानना होगा। अर्थात् विप्रादि जगदंशसमूह कतिपय रजोमय, कतिपय तमोमय है। भा० २।१०।३६-४२ में उसका विशद वर्णन है,—

"स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक्। नामरूपक्रियाधत्ते सकर्मकाकर्मकः परः॥३६
प्रजापतीन् मनून् देवानृषीन् पितृगणान् पृथक्। सिद्धचारणगन्धर्वान् विद्याध्रासुर गुह्यकान्॥३७
किन्नराप्सरसो नागान् सर्पान् किम्पूरुषान् नरान्। मातृरक्षः पिशाचांश्च प्रेतभूत विनायकान्॥३८
कुष्माण्डोन्मादवेतालान् यातुधानान् गृहानपि। मृगान् स्वगान् पशून् रक्षान् गिरीन् नृप सरीसृपान्।
द्विविधाश्चतुर्विधा येऽन्ये जलस्थलनभौकसः॥३९
कुशलाकुशलामिश्राः कर्मणां गतस्तिमाः।४०
सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः सुरनृनारकाः। तत्राप्येकैकशो राजन् भिद्यन्ते गतयस्त्रिधा।
यदैकैकतरोऽन्याभ्यां स्वभाव उपहन्यते।४१
स एवेदं जगद्धाता भगवान् धर्मरूपधृक्। पुष्णाति स्थापयन् विश्वं तिर्य्यङ् नरसुरादिभिः।४२
ततः कालाग्निरुद्रात्मा यत् सृष्टमिदमात्मनः। सन्नियच्छति तत् काले धनानीकमिवानिलः॥४३
इत्थम्भावेन कथितो भगवान् भगवत्तमः। नेत्थं भावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः॥४४

टीका—कर्त्तृत्वाद्यपवादेन दशमस्य शुद्धिमाह। इत्थम्भावेन स्रष्टृत्वादिरूपेण। तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। सोऽकामयत बहुस्यां प्राजायेयेत्यादि श्रुत्या कथितः। सूरयस्तु परं केवलमेवं रूपेणैव द्रष्टुं नार्हन्ति॥ निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते इत्याद्या। (भा० २।१०।४४-४५)

उन सब की अपेक्षा से ही मार्कण्डेय पुराणमें कथित है, श्रीदुर्गा के प्रति ब्रह्मा की स्तुति इस प्रकार है—विष्णु, शिव, एवं मैं (ब्रह्मा) को आपने जब शरीर ग्रहण करवाया है, तब आपकी स्तुति करने में कौन

शरीर-शब्दस्य तत्तन्निजशरीरवाचित्वे तु तद्ग्रहणात् पूर्वं विष्ण्वादिभेदासम्भवात्तन्निर्देशानुपपत्तेः ॥ श्रीशुकः ॥

५८। पूर्वं 'मायासृष्टे' इत्युक्तम्। तत्र माया-शब्दस्य नाज्ञानार्थत्वम्। तद्वादे हि सर्वमेव जीवादिद्वैतमज्ञानेनैव स्व-स्वरूपे ब्रह्मणि कल्प्यत इति मतम्। निरहङ्कारस्य केनचिद्धर्मान्तरेणापि रहितस्य सर्वविलक्षणस्य चिन्मात्रस्य ब्रह्मणस्तु नाज्ञानाश्रयत्वम्, न चाज्ञानविषयत्वम्, न च भ्रमहेतुत्वं सम्भवतीति। परमालौकिकवस्तुत्वादचिन्त्यशक्तित्वन्तु सम्भवेत्। यत् खलु चिन्तामण्यादावपि दृश्यते, यया शक्त्या त्रिदोषघ्नौषधिवत् परस्पर-विरोधिनामपि गुणानां धारिण्या तस्य निरवयवत्वादिके सत्यपि सावयवत्वादिकमङ्गीकृतम्; तत्र शब्दश्चास्ति प्रमाणम्; "विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराणो, न चान्येषां शक्तयस्तादृशः स्युः" इत्यादिकं श्वेताश्वतरोपनिषदादौ, (भा० ३।३३।३) "आत्मेश्वरोऽतर्कचसहस्रशक्तिः" इत्यादिकं

सर्वसम्वादिनी

"ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहि-संज्ञिताः। सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित् ॥
विश्वमूर्द्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षि-नासिकः। एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथासुखम्" ॥१५॥ इति।
न च भेदे सर्वज्ञान-प्रतिज्ञा हीयते, सर्वशक्तिमयत्वाद् ब्रह्मणः। तस्मादस्ति जीवपरयोर्भेद।

सक्षम होगा?

शरीर का अर्थ यदि विष्णु शिव ब्रह्मा के व्यक्तिगत शरीर ही हो तो शरीरग्रहण के पूर्व में विष्णु आदि भेदक प्रयोग नहीं हो सकता है। वस्तु के अभाव से उक्त विष्णु आदि नामों से किसी क निर्देश करना असम्भव ही होगा। प्रवक्ता श्रीशुकदेव हैं ॥५७॥

भा० २।१०।३५ में "मायासृष्टे" शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ उक्त माया शब्द का अज्ञान अर्थ नहीं है। मायावाद में समस्त जीवादि द्वैत पदार्थ ही अज्ञान के द्वारा ही ब्रह्म स्वरूप में कल्पित है। अद्वैतवादि पण्डितों का अभिमत यह ही है।

निरहङ्कार अर्थात् किसी भी प्रकार धर्म रहित सर्व विलक्षण, ज्ञानमात्र ब्रह्म का सहसा ही अज्ञानाश्रय होना, अज्ञान का विषय होना, एवं भ्रम का हेतु होना असम्भव है। कारण ब्रह्म परम अलौकिक वस्तु होने से वह अचिन्त्य शक्तिसमन्वित अवश्य ही हैं। चिन्तामणि प्रभृति वस्तुओं में निजी शक्ति है, वह देखने में आती है। इस रीति से परम वास्तव वस्तु ब्रह्म में निजी शक्ति है। इस प्रकार हरितकी त्रिदोषघ्नी है, वह परस्पर विरुद्ध गुण धारण करती है। उस प्रकार ब्रह्म निरवयव होने पर भी परस्पर विरोधि गुण धारिणी निज स्वरूपभूत शक्ति के द्वारा ही उनमें सावयवत्वादि का अङ्गीकार हुआ है। ब्रह्म का अचिन्त्यशक्तित्व में शब्द ही प्रमाण है। "विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराणो, न चान्येषां शक्तयस्तादृशः"

जो पुराण पुरुष, वह ही विचित्र शक्तिमान् हैं, अपर की तादृश शक्ति नहीं है। श्वेताश्वतर उपनिषत् प्रभृति में उस प्रकार वर्णित है। भा० ३।३३।३ में वर्णित है—

"स एव विश्वस्य भवान् विधत्ते गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्य्यः।
सर्गाद्यनीहो वितथाभिसन्धिरात्मेश्वरोऽतर्क्य सहस्रशक्तिः ॥" भागवत प्रभृति में

अचिन्त्य शक्ति का वर्णन सुस्पष्ट रूपमें है। देवहूति बोली,—तुम, निष्क्रिय होकर भी प्रवाह रूपमें निज शक्ति को विभक्त करके तद्द्वारा विश्व के सृष्टि-स्थिति-लय का विधान करते रहते हो। तुम सत्य संकल्प एवं समूह का ईश्वर हो, जीवगणों के कर्मभोग के निमित्त उस प्रकार करते हो। हे विभो! तुम एक

श्रीभागवतादिषु ; तथा च ब्रह्मसूत्रम् (२।१।२८) "आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि" इति। तत्र

सर्वसम्वादिनी

तदेवं भेदज्ञानेनैव मुक्तिः श्रूयते (श्वे० १।१२) 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा' इति ; (श्वे० १।६) "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा, जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" इति। (मु० ३।१।२) "जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः" इत्यादिषु मुक्तावपि भेद एवोपलभ्यते ; यथा व्याख्यातं (ब्र०सू० २।१।१४)

होने से भी तुम से विचित्र भोगायतन निर्म्माण असम्भव नहीं है। कारण आत्मा ईश्वर हो, तुम्हारी अचिन्त्य अनन्त शक्ति हैं।

टीका—कथम्भूतो भवान् सर्गादिविधत्ते ? गुणप्रवाहरूपेण विभक्तं वीर्य्यं शक्तिर्येन सः शक्तिद्वारेण न साक्षादित्यर्थः। यतोऽनीहो निष्क्रियः। कथं तर्हि शक्तिद्वारेणापि सर्गादिविधानं तत्राह—अवितथाभिसन्धिः सत्यसङ्कल्पः। किमर्थं विधत्ते ? ननु आत्मनां जीवानां ईश्वरः जीवानां भोगार्थमित्यर्थः। कथं विचित्रान् भोगान् एक एव विदध्यात् तत्राह—"अतर्क्याः सहस्रपरिमिताः शक्तयो यस्य"।

आप सर्गादि की रचना किस रीति से करते हैं ? गुणप्रवाह के द्वारा शक्ति को विभक्त कर शक्ति के द्वारा ही सृष्टि कार्य्य करते हैं, साक्षात् नहीं। कारण आप स्वयं निष्क्रिय हैं। वह किस प्रकार है ? आप सत्यसङ्कल्प हैं। क्यों सृष्ट्यादि कार्य्य करते हैं ? आप ईश्वर हैं, जीवों का भोगायतन निर्माण के निमित्त करते हैं। कारण—आप की अपरिमित अनन्त निजी शक्ति हैं। ब्रह्मसूत्र २।१।२८ "आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि" में उक्त है—ईश्वर में अपरिमित विचित्र अनन्तशक्ति है।

गो० भा०—"यथा कल्पद्रुमचिन्तामण्यादेरीश्वरविभूतिभूतस्याचिन्त्यशक्तिमात्रसिद्ध हस्त्यश्वादयो विचित्राः सृष्टयो भवन्तीति शब्दात् प्रतीत्य श्रद्धीयते एवमात्मनश्च सर्वेश्वरस्य विष्णोर्देवनरतिर्यगादय स्ता स्तथाभूता भवेयुरिति तस्मादेव श्रद्धेयम्। अचिन्त्यवस्तुस्वभावस्य तदेकगम्यत्वात्, तत्र यथा कृत्स्नेन स्वरूपेण सृज्यन्ते स्वरूपांशेन वा व्यवस्थया वेति युक्ते नावकाशस्तथा प्रकृतेऽपीति। तस्मात् यथा श्रुतमेव स्वीकार्य्यं। सप्तम्यन्तनिर्देशः कार्य्याधारत्व विवक्षया। दार्ष्टान्तिके कैमुत्यद्योतनाय परश्च शब्दः। हि शब्देन पुराणादि प्रसिद्धिः सूच्यते। तस्मात् ब्रह्मकर्त्तृत्वपक्षः श्रेयान्॥"

"ईश्वर के विभूतिरूप कल्पवृक्ष चिन्तमणि से हस्ती अश्वादि विचित्र सृष्टिसमूह होती रहती हैं। शब्द प्रमाण से ही उसे मानना पड़ता है। उस प्रकार आत्मस्वरूप सर्वेश्वर विष्णु से देवतिर्य्यग् प्रभृतियों की सृष्टि होती है। इसे श्रुति के अनुसार ही मानना होगा। अचिन्त्य वस्तु का स्वभाव श्रुतिमात्रगम्य है। पूर्वोक्त स्थल पर जैसा कि कृत्स्न स्वरूप में सृष्टि, अथवा स्वरूपांश में सृष्टि होती है, इस प्रकार युक्ति का अवकाश नहीं है। उस प्रकार ब्रह्म कर्त्तृत्व पक्षमें भी जानना होगा। अतएव श्रुतिप्रतिपाद्य अर्थ को स्वीकार करना कर्त्तव्य है। 'आत्मन्' शब्द के उत्तर विभक्ति कार्य्य के आधारत्व की विवक्षा से हुई है। परवर्त्ती शब्द का विन्यास दार्ष्टान्तिक में कैमुत्य द्योतक के लिए है। 'हि' शब्द से पुराणादिकों की प्रसिद्धि सूचित होती है। अतएव ब्रह्म कर्त्तृत्व पक्ष श्रेय है।"

सन्दर्भ व्याख्या—अद्वैतवादगुरु के मत में द्वैत को स्थापन करने से ब्रह्म में अज्ञानादि की कल्पना करनी पड़ती है।

सूत्र का शाङ्करभाष्य—"अपि च नैवात्र विवदितव्यं कथमेकस्मिन् ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारासृष्टिः स्यादिति ? यत आत्मनि अपि एकस्मिन् स्वप्नदृशि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारासृष्टिः पठ्यते—"न तत्र रथा न रथ योगा, न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" (वृ० ४।३।१०) इत्यादिना। लोकेऽपि देवादिषु मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादि सृष्टयो दृश्यन्ते। तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारासृष्टिर्भविष्यतीति।

भामती—"अनेन स्फुटितो मायावादः। स्वप्नदृगात्मा हि मनसैव स्वरूपानुमर्दन रथादीन् सृजति॥"

द्वैतान्यथानुपपत्त्यापि ब्रह्मण्यज्ञानादिकं कल्पयितुं न शक्यते, असम्भवादेव । ब्रह्मण्यचिन्त्य-शक्तिसद्भावस्य युक्तिलब्धत्वात् श्रुतत्वाच्च द्वैतान्यथानुपपत्तिश्च दूरे गता । ततश्चाचिन्त्य-

सर्वसम्वादिनी

"भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत्" इत्यत्र माध्वभाष्ये—(मु० ३।२।७) "कर्माणि विज्ञानमयश्चात्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति" इति । (मु० ३।२।९) 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' इति च मुक्तजीवस्य परापत्ति-रुच्यतेऽतस्तयोरविभागः । अतः पूर्वमपि स एव, न ह्यन्यस्यान्यत्वं युज्यत इति चेत्? न ; स्याल्लोकवत् ।

इस प्रकार सन्देह नहीं हो सकता है कि—ब्रह्म स्वरूप में अविकृत रहकर हो, कैसे अनेक सृष्टि कर सकते हैं? श्रुति संवाद से ज्ञात होता है कि—स्वप्नद्रष्टा निजात्मा में अनेक प्रकार सृजन करता है, स्वयं अविकृत भी रहता है । श्वेताश्वतर श्रुति में वर्णित है,—रथ, रथयोग, पथ नहीं है, तथापि स्वप्न में उक्त समूह की सृष्टि होती हैं । लोक में भी देखने में आता है, मायावी व्यक्ति स्वयं अविकृत रहकर माया के द्वारा अनेक प्रकार हस्ती अश्व प्रभृति को सृष्टि करता है । उस प्रकार अविकृत ब्रह्म में अनेक प्रकार सृजन सम्भव है ।

भामतीकार कहते हैं,—"भाष्यकार की उक्ति से ही मायावाद परिस्फुट हुआ । अविकृत स्वप्नद्रष्टा मनसा अनेक प्रकार रथादि का सृजन करता है ।"

सन्दर्भकार के मत में ब्रह्म में अज्ञानादि कल्पना करने की शक्ति किसी की नहीं है । उस प्रकार कल्पना करना सर्वथा ही असम्भव है । ब्रह्म में जो अचिन्त्य शक्ति विद्यमान है, उसकी उपलब्धि न्याय युक्ति से होती है । अज्ञान की कल्पना करके द्वैत विश्व को सार्थक करने की प्रचेष्टा भी विदूरित हुई । अतएव अचिन्त्य शक्ति ही विश्व रूप द्वैत पदार्थोपपत्ति के प्रति कारण है । अतएव अचिन्त्य शक्ति के द्वारा निर्विकारादि स्वभाव सत् स्वरूप परमात्मा का शक्ति परिणाम होता है । जिस प्रकार चिन्तामणि अयस्कान्त प्रभृति अनेक पदार्थोत्पन्न करते हैं । चुम्बक लौह की परिचालना भी करता है । उस प्रकार अचिन्त्य शक्तिविशिष्ट परमात्मा से विश्वाकार परिणामादि होते हैं ।

ब्रह्मसूत्रकार श्रीवेदव्यास—परब्रह्म में अचिन्त्यशक्ति को मानकर '२।१।२७ श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' सूत्र रचना किए हैं । ब्रह्म कर्त्तृत्व पक्ष में लोक दृष्ट दोषसमूह की प्रसक्ति नहीं होती है । कारण- ब्रह्म का कर्त्तृत्व श्रुति प्रमाणों से सिद्ध है । सूत्रस्थ "तु" शब्द का प्रयोग, शङ्का निरसन निबन्धन है । ३१ सूत्र उपसंहार सूत्र है, उससे 'न'-कार का अनुसन्धान करना आवश्यक होगा । ब्रह्म कर्त्तृत्व पक्ष में लोकदृष्ट दोष समूह की सम्भावना नहीं है । कारण, ब्रह्म का निरूपण श्रुति से ही होता है । अलौकिक अचिन्त्य, ज्ञानात्मक होने पर भी मूर्त्तिविशिष्ट और ज्ञान सम्पन्न, एक होकर भी अनेक रूपों में विराजित होते हैं । निरंश होने पर भी अंशयुक्त है, अपरिमित होकर भी परिमित हैं, सर्व कर्त्ता होकर अभिमानशून्य हैं । श्रुतियों का संवाद उस प्रकार ही है । मुण्डक श्रुति में कथित है—ब्रह्म बृहत् और अलौकिक तथा अचिन्त्य है । यहाँ अलौकिकत्व सिद्ध है । ज्ञानात्मकत्वादि विषय में गोपालोपनिषत् कहती है,—अद्वितीय सच्चिदानन्द विग्रहस्वरूप उन श्रीगोविन्द हैं, आप वर्हापीड़ाभिराम, रमणीय, अकुण्ठ बुद्धिविशिष्ट हैं । एक होकर अनेक रूपों में विराजित हैं । माण्डुक्योपनिषत् में उक्त है—"ब्रह्म अमात्र होकर भी अनन्य मात्राविशिष्ट, द्वैत होकर भी अद्वैत तथा मङ्गलमय है । यहाँ निरंश होकर भी स्वांश—इसका प्रमाण है । कठोपनिषद् में लिखित है—"ब्रह्म एक स्थान में स्थित होकर भी, समीपस्थ होने पर भी, दूरगत, शयीत होकर भी सर्वगामि हैं ।" परिमित होकर अपरिमित होने का वर्णन श्वेताश्वतर में है—"ब्रह्म आकाश-जल, भूमी प्रभृतियों का सृष्टिकर्त्ता है, विश्वकर्त्ता, विश्वस्रष्टा विश्वहर्त्ता, आत्मयोनि, निष्कल, निष्क्रिय शान्त, निरवद्य, निरञ्जन हैं ।" यहाँ सर्वकर्त्ता होने पर भी निर्विकार है । ये सब श्रुतिसिद्ध है । केवल

शक्तिरेव द्वैतोपपत्तौ कारणं पर्य्यवसीयते। तस्मान्निर्विकारादिस्वभावेन सतोऽपि परमात्मनोऽचिन्त्यशक्त्या विश्वाकारत्वादिना परिणामादिकं भवति, चिन्तामण्ययस्कान्तादीनां सर्वार्थ-प्रसव-लोहचालनादिवत्। तदेतदङ्गीकृतं श्रीबादरायणेन (ब्र०सू० २।१।२७) "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इति। ततस्तस्य तादृशशक्तित्वात् प्राकृतवन्मायाशब्दस्येन्द्रजालविद्यावाचित्वमपि न

सर्वसम्वादिनी

यथा लोके उदकमुदकान्तरेणैकीभूतमिति व्यवह्रियमाणमपि भिन्नवस्तुत्वात्तदन्तर्भूतमेव भवति, न तु तदेव भवतीत्येवं स्यादत्रापि। तथा च श्रुतिः (कठ० २।१।१५ —

"यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम" इति ॥१६॥

युक्तिसिद्ध नहीं है। यदि कहा जाय कि श्रुति में विपरीत वर्णन भी है ? उत्तर, अचिन्त्य विषय में श्रुति ही एकमात्र प्रमाण है। लौकिक मणिमन्त्रादिकों का अचिन्त्य प्रभाव दृष्ट होता है। ब्रह्म अलौकिक हैं, उनमें उस प्रकार प्रभाव को मानने से कोई हानि नहीं है। वस्तुतः, प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द प्रमाणत्रय हैं।

प्रत्यक्ष का व्यभिचार—मायमुण्ड दर्शन से होता है, वृष्टि निर्वापित वह्नि में धूम दर्शन से अनुमान अप्रमाण होता है। किन्तु आप्तवाक्य शब्द का व्यभिचार कुत्रापि नहीं होता है। जिस प्रकार "हिमालय में हिम, रत्नाकर में रत्न है।" शब्द प्रमाण-प्रत्यक्ष तथा अनुमान का उपजीवक है। जहाँ स्वतन्त्र रूपसे प्रत्यक्ष अनुमान का प्रवेश नहीं है, वहाँ शब्द प्रमाण ही साधकतम है। जो व्यक्ति मायामुण्ड दर्शन से भ्रान्त होकर सत्यमुण्ड को भी विश्वास नहीं करता, वह भी विश्वस्त होता, आप्तवाक्य श्रवण से। कण्ठमणि विस्मृत होने पर स्मरणात्मक वाक्य से ही उसकी प्राप्ति होती है। शब्द प्रमाण, प्रत्यक्षानुमान की अपेक्षा नहीं रखता। ग्रहचेष्टा प्रभृति का ज्ञान तो शब्द प्रमाण से ही होता है। इससे शब्द प्रमाण की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। श्रुति से ही ब्रह्म का बोध होता है। श्रुति कहती है, अवेदविद् व्यक्ति वृहद्ब्रह्म को जानने में सक्षम नहीं होता। वेद स्वतःसिद्ध होने के कारण निर्दोष है।

गोविन्दभाष्य—शङ्कोच्छेदाय 'तु' शब्दः। उपसंहारसूत्रान्नेत्यनुवर्त्तते। ब्रह्मकर्त्तृत्वपक्षे लोकदृष्ट्या-दोषा न स्युः। कुतः ? श्रुते। अलौकिकमचिन्त्यं ज्ञानात्मकमपि मूर्त्तं ज्ञानवच्चैकमेव बहुधावभातं च, निरंशमपि सांशं च। मितमाप्यमितं च, सर्वकर्त्तृ निर्विकारं च ब्रह्म इति श्रवणादेवेत्यर्थः। तत्राह "वृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपमिति" मुण्डके - अलौकिकत्वादि श्रुतम्। "तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्" "बर्हा-पीड़ाभिरामाया कुण्ठमेधसे" एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति।" इति गोपालोपनिषदि ज्ञानात्मकत्वादिति। "अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः" इति माण्डुक्योपनिषदि निरंशत्वेऽपि सांशत्वम्। "आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः" इति काठके, मितत्वेऽप्यमितत्वम् च, "द्यावाभूमीजनयन् देव एकः एष विश्वकर्मा महात्मा स विश्वकृत् हृदात्मयोनिर्निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनमिति श्वेताश्वतर श्रुतौ सर्वकर्त्तृत्वेऽपि निर्विकारत्वं चेत्येतत् सर्वं श्रुत्यनुसारेणैव स्वीकार्य्यं। नतु केवलया युक्त्या प्रतिविधेय-मिति। श्रुत्यापि बाधितार्थकं कथं बोधनीयं तत्राह शब्देति। अविचिन्त्यार्थस्य शब्दैकप्रमाणत्वादित्यर्थः। तादृशे मणिमन्त्रादौ दृष्टं ह्येतत् प्रकृते कौमुत्यमापादयति। इदमत्र निष्कृष्टम्। प्रत्यक्षानुमानशब्दाः प्रमाणानि भवन्ति। प्रत्यक्षं तावत् व्यभिचारिदृष्टं मायामुण्डावलोके चैत्रस्येदं मुण्डमित्यादौ। वृष्ट्या तत्कालनिर्वापितवह्नौ चिरमधिकोदित्वरधूमे पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यनुमानं च। आप्तवाक्य लक्षणः शब्दस्तु न क्वापि व्यभिचरति हिमालये हिमं, रत्नालयेरत्नमित्यादिः। स हि तदनुग्राही तन्निरपेक्षस्तद-गम्ये साधकतमश्च। दृष्टचरमायामुण्डकस्य पुंसो भ्रान्त्या सत्येऽप्यविश्वस्ते तदेवेदमित्याकाशवाण्यादौ। "अरे शीतार्त्ताः पान्थामास्मिन् वह्निं सम्भावयतः दृष्टमस्माभिः स इदानीं वृष्ट्यैव निर्वाणः। किन्त्वमुस्मिन्

युक्तम्, किन्तु मीयते विचित्रं निर्मीयतेऽनयेति विचित्रार्थकरशक्तिवाचित्वमेव। तस्मात् परमात्मपरिणाम एव शास्त्रसिद्धान्तः। तदेतच्च भगवत्सन्दर्भे विवृतमस्ति। तत्र चापरिणत-

सर्वसम्वादिनी

स्कान्दे च—

"उदकं तूदके सिक्तं मिश्रमेव यथा भवेत्। तद्वै तदेव भवति यतो बुद्धिः प्रवर्त्तते। १७॥
एवमेव हि जीवोऽपि तादात्म्यं परमात्मना। प्राप्तोऽपि नासौ भवति स्वातन्त्र्यादि-विशेषणात्।।१८॥
ब्रह्मेशानादिभिर्देवैर्यत् प्राप्तुं नैव शक्यते। तद्यत् स्वभाव-कैवल्यं स भवान् केवलो हरे" ॥१९॥ इति

धूमोद्गारिणि गिरौ स दृश्यत" इत्यादौ च तदुभयानुग्राहिता। मणिकण्ठस्त्वमसीत्यादौ तन्निरपेक्षता, तदवगम्ये ग्रहचेष्टादौ साधकतमता चेति शब्दस्य सर्वतः श्रेष्ठ्ये स्थिते ब्रह्मबोधकस्तु श्रुति शब्द एव। "नावेदविन्मनुते तं बृहन्त" मित्यादि श्रवणात्, स्वतःसिद्धत्वेन निर्दोषत्वाच्चेति।।"

शाङ्करभाष्य। "शब्दमूलं हि ब्रह्म, नेन्द्रियादि प्रमाणकं तद् यथा शब्दमभ्युपगन्तव्यम्। शब्दश्चोभयमपि ब्रह्मणः प्रतिपादयत्यकृत्स्नप्रसक्ति निरवयवत्वं च। लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकालनिमित्तवैचित्र्यवशाच्छक्तयो विरुद्धानेककार्य्यविषया दृश्यन्ते। ता अपि तावन्नोपदेशमन्तरेण केवलेन तर्केणावगन्तुं शक्यन्ते अस्य वस्तुन एतावत्य एतत् सहाया एतद्विषया एतत् प्रयोजनाश्च शक्तय इति। किमुत अचिन्त्य स्वभावस्य ब्रह्मणो रूपं विना शब्देन न निरूप्येत। तथा चाहुः पौराणिकाः,—अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।।" इति। "तस्माच्छब्दमूल एव अतीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः।" (श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् २।१।२७)।

ब्रह्म शब्द प्रमाणगम्य हैं। इन्द्रियादि वेद्य नहीं हैं। अतएव शब्दात्मक श्रुति में ब्रह्म जिस प्रकार वर्णित है, उस प्रकार ही स्वीकार करना होगा। शब्द, ब्रह्म के उभय रूप को प्रतिपादन करता है। लौकिक मणिमन्त्रौषधि प्रभृतिओं की देश काल वैचित्र्य के कारण अनेक शक्ति देखी जाती हैं। उससे विरुद्ध अनेक कार्य्य होते रहते हैं। शास्त्रोपदेश को छोड़कर केवल तर्क से उसको जानना असम्भव ही होगा। इस वस्तु इस प्रकार है, इसके सहायक ये सब हैं। विषयसमूह ये हैं, प्रयोजन ये हैं शक्तिसमूह ये हैं। ब्रह्म तो अचिन्त्य स्वभावाक्रान्त हैं, रूप हीन हैं, शब्द प्रमाण व्यतीत उनका निरूपण कैसे होगा? अतएव पौराणिकगण कहते हैं। अचिन्त्य भाव पदार्थ को लौकिक तर्क के द्वारा जानने की चेष्टा न करें। प्रकृत्यतीत वस्तु की संज्ञा अचिन्त्य है। अतएव शब्द प्रमाणगम्य ही अतीन्द्रियार्थ का याथार्थ्यानुभव है।"

अतएव ईश्वर के विश्व कर्त्तृत्व में युक्ति विरोध नहीं है। लोक विरुद्ध वस्तु भी ईश्वर में अविरुद्ध रूपसे विद्यमान है। जो परमात्मा हैं, वह विरुद्ध होकर भी अविरुद्ध, अनुरागवान् होकर भी अनुराग विहीन, इन्द्र होकर भी अनिन्द्र, प्रवृत्त होकर भी अप्रवृत्त हैं। यह पैङ्गीश्रुति है, शब्दमूल श्रुति होने के कारण युक्तिविरोध नहीं है।

परमेश्वर में स्वाभाविक उस शक्ति है। अतएव प्राकृत के समान—'माया' शब्द के द्वारा इन्द्रजाल विद्या की कल्पना ब्रह्म में नहीं हो सकती है। किन्तु माया शब्द का इस प्रकार अर्थ समीचीन है। मान, अर्थात् विचित्र निर्माणकार्य्य जिसके द्वारा करते हैं। इस प्रकार अर्थ से विचित्रार्थ कर शक्ति का ही बोध होता है। अतएव परमात्मा का परिणाम ही जगत्, यह शास्त्र सिद्धान्त है। इस शक्ति तत्त्व का विशद् विवेचन भगवत् सन्दर्भ में हुआ है। उक्त प्रकरण में दर्शाया गया है कि—परिणामविहीन अर्थात् अविकृत परमात्मा स्वाभाविक रूप में अविकृत रहकर ही निज स्वाभाविक अचिन्त्य शक्ति के विविध रूपमें परिणत होते हैं। स्वप्रकाश वस्तु स्वीय सदृश व्यूह रूप द्रव्याख्य शक्ति से द्वारा ही परिणत होती है। किन्तु स्वरूप का परिणाम कभी नहीं होता है। उक्त श्रुतिवाक्यों से इस प्रकार ही बोध होता है। दृष्टान्त के

स्यैव सतोऽचिन्त्यया तया शक्त्या परिणाम इत्यसौ सन्मात्रतावभासमानस्वरूपव्यूहरूप-द्रव्याख्यशक्तिरूपेणैव परिणमते, न तु स्वरूपेणेति गम्यते। यथैव चिन्तामणिः। अतस्तन्मूल-त्वान्न परमात्मोपादानतासंप्रतिपत्तिभङ्गः। तदुक्तमेकादशे श्रीभगवता (भा० ११।२४।१९)—

"प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयन्त्वहम्" ॥१९॥ इति।

अतएव क्वचिदस्य ब्रह्मोपादानत्वं क्वचित् प्रधानोपादानत्वञ्च श्रूयते। तत्र सा मायाख्या परिणामशक्तिश्च द्विविधा वर्ण्यते—निमित्तांशो माया, उपादानांशः प्रधानमिति। तत्र केवला शक्तिर्निमित्तं तद्व्यूहमयी तूपादानमिति विवेकः। अतएव श्रुतावपि (तै० २।६।२)—'विज्ञानञ्चाविज्ञानं च' इति कस्यचिद्भागस्याचेतनता श्रूयते। अथ मूलप्रमाणे श्रीभागवतेऽपि

सर्वसम्वादिनी

श्रीरामानुजभाष्येऽपि (ब्र०सू० १।१।१—श्रीभाष्ये ६२तम. ६३तम अनु०) "नापि साधनानुष्ठानेन निर्मुक्ता-विद्यस्य परेण स्वरूपैक्यसम्भवः;—अविद्याश्रयत्व-योग्यस्य तदर्हत्वासम्भवात्" इति युक्तिश्च दर्शिता। "मुक्तस्य तु तद्धर्मापत्तिरिति श्रीभगवद्गीतासूक्तम् (१४।२),—

लिए चिन्तामणि को कहा जा सकता है। अतएव परमात्म तत्त्व सर्वथा सशक्तिक है, स्वीय शक्तिमूलत्व प्रयुक्त जगदुपादानत्व परमात्मा का होना प्रतीति विरुद्ध नहीं है। इस विषय को श्रीभगवान् ने भा० ११।२४।१९ में सुस्पष्ट रूपसे कहा है—"जो प्रकृति रूप उपादान कारण, आधार पुरुष रूप निमित्त कारण, एवं कालरूप अभिव्यञ्जक है, वह ही ब्रह्म है, एवं उक्त कारणत्रय—मैं ही हूँ।

स्वामिटीका—"ननु तथापि प्रकृतिपुरुषकालानामकार्य्यभूतानां भिन्नत्वात् कथमद्वितीयता ? तत्राह—प्रकृतिरिति। अस्य सतः कार्य्यस्योपादानं या प्रकृतिः प्रसिद्धा यश्च तस्या आधारोऽधिष्ठाता परः पुरुषो यश्च गुणक्षोभेणाभिव्यञ्जकः कालः। तत् त्रितयं ब्रह्मरूपोऽहमेव नतु पृथक्। प्रकृतेः शक्तित्वात्, पुरुषकालयो-रप्यवस्थारूपत्वात्।"

कार्य्यभूत प्रकृति पुरुष काल भिन्न होने से ब्रह्म में अद्वितीयता कैसे सम्भव होगी ? समाधान हेतु कहते हैं,—प्रकृति विद्यमान विश्वरूप कार्य्य का उपादान जो प्रकृति है, वह प्रसिद्ध है। उसका जो आधार अधिष्ठाता परः चेतन, पुरुष है, प्रकृति के गुण को क्षुब्ध करके ही जिसका स्वरूप अभिव्यक्त होता है, ऐसा कालतत्त्व, तत्त्वत्रय ही ब्रह्म हैं, वह ब्रह्मरूप मैं ही हूँ, मुझसे ये सब पृथक् नहीं हैं। प्रकृति—परमात्मा की शक्ति है। पुरुष एवं काल उक्त परमात्मा के अवस्था विशेष हैं। अतएव स्थल विशेष में विश्व का उपादान कारण—ब्रह्म, कहीं पर प्रधान, उपादान कारण रूपमें वर्णित होते हैं। तन्मध्य में माया नाम्नि परिणाम शक्ति भी दो प्रकार से वर्णित होती है। निमित्तांश—माया, उपादानांश प्रधान। तन्मध्य में जो केवला शक्ति है, वह निमित्त है। एवं तद्व्यूहमयी वह उपादान कारण है। यह ही इस विषय का यथार्थ ज्ञान है।

अतएव तैत्तिरीयक श्रुति २।६।२ कहती है—माया विज्ञान एवं अविज्ञान है। उक्त मायाशक्ति के अंशविशेष को अचेतन भी कहते हैं।

अनन्तर मौलिक प्रमाणस्वरूप श्रीभागवत के तृतीय स्कन्धादि में मुख्य रूप से सृष्टि प्रसङ्ग वर्णित है। वहाँ, एवं स्वरूपावबोध रूप सायुज्य मुक्ति का साधनभूत ज्ञान वैराग्य का अङ्गरूप में अर्थात् प्रत्याहार सिद्धि के उपयोगि रूपमें' पुराणान्तर के वर्णन के सहित सामञ्जस्य रक्षा कर जिसका वर्णन हुआ है,

तृतीयादौ मुख्य एव सृष्टिप्रस्तावे च ज्ञानवैराग्याङ्गत्वेन च पुराणान्तरगतिसामान्यसेवितः प्रधानपरिणाम एव स्फुटमुपलभ्यते । क्व च स्तुत्यादौ ज्ञानवैराग्याङ्गतयैव विवर्त्तोऽपि यः श्रूयते, सोऽपि जगतो नान्यथासिद्धतापरः, किन्तु परमात्मव्यूहप्रधान-परिणामेन सिद्धस्यैव तस्य समष्टि-व्यष्टिरूपस्य यथायथं शुद्धे परमात्मनि तदंशरूपात्मनि वात्मात्मीयताध्यारोपित-तापरः । तत्र परमात्मनि विराड़ुपासनावावयादिश्रवणं हेतुरात्मनि तु तत्तदावेशो हेतुरिति विवेचनीयम् । अन्यत्र सिद्धस्य वस्तुन एवान्यत्रारोपो यथा शुक्तौ रजतस्य; एतदेव मिथ्याख-पुष्पादेरारोपासम्भवात् पूर्वपूर्वविवर्त्तमात्रसिद्धानादिपरम्परात्वे दृष्टान्ताभावाच्च । किञ्च,

सर्वसम्वादिनी

"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च" इति ॥२०॥

श्रीविष्णुपुराणे च (६।७।९३)—

"तद्भावभावमापन्नस्तदासौ परमात्मना । भवत्यभेदी भेदश्च तस्याज्ञानकृतो भवेत्" इति ॥२१॥

उस प्रधान का परिणाम ही विश्व है ।

स्थल विशेष में सायुज्य मुक्ति साधक ज्ञान वैराग्य को निष्पन्न करने के लिए विवर्त्तवाद—अतत्त्वतो अन्यथा ख्याति रूप विवर्त्तवाद अर्थात् भ्रम स्वप्न मिथ्या रूप में वर्णित है । उससे भी जगत् कार्य्य के प्रति प्रधान—अन्यथासिद्ध नहीं होता है । किन्तु परमात्मा के व्यूह प्रधान परिणाम के द्वारा सिद्ध उक्त समष्टि व्यष्टि जगत् का यथायथ रूप में शुद्ध परमात्मा में अथवा परमात्मा के अंश रूप आत्मा में "मैं मेरा रूपमें" आरोप होता है । उन परमात्मा में विराट् उपासना का प्रवर्त्तन भी हुआ है । इस हेतु आत्मा में उक्त विराट् उपासना का आवेश उत्पन्न कराना ही उद्देश्य है । आविष्ट चित्त ही जन्म-मृत्यु प्रवाह से मुक्त होता है । विराट् रूप वर्णन के कारण की विवेचना इस दृष्टि से ही करें ।

जिसके माध्यम से लौकिक परीक्षकों का बोध अभीप्सित वस्तुओं में होता है, उसे दृष्टान्त कहते हैं, विवर्त्तवाद स्थापन हेतु मायावाद गुरु ने जो भी दृष्टान्त उठाया है, वह दृष्टान्त सम्पूर्ण ही असामञ्जस्य पूर्ण है ; भ्रमात्मक एवं प्रमात्मक द्विविध ज्ञान है । तद्वति तत् प्रकारकं ज्ञानं प्रमा, अतद्वति तत् प्रकारकं ज्ञानं अप्रमा, भ्रम ज्ञान में वस्तु सिद्ध है । किन्तु अन्यत्र अनुभूत रूप में है, उक्त चिर परिचित वस्तु का ही अन्यत्र आरोप ही भ्रम है । जिस प्रकार शुक्ति में रजत ज्ञान, रजत को रजत रूपमें जानना प्रमात्मक ज्ञान है । शुक्ति को रजत रूपमें जानना भ्रमात्मक है । शुक्ति में शुक्तित्व धर्म, प्रमात्मक ज्ञान का प्रतिपादक है, रजत धर्म के द्वारा शुक्ति को जानना भ्रमात्मक है । शुक्ति एवं रजत प्रसिद्ध अनुभूत स्थिर वस्तु है, कारण विशेष से एक में दूसरे का आरोप ही भ्रम है । सम्बन्धांश ही भ्रमात्मक है । जब सत्य पदार्थ का ही अन्यत्र आरोप पुरुषमति दोष से होता है, तब अत्यन्त अलीक पदार्थ का अन्यत्र आरोप नहीं होता है । जिस प्रकार आकाशकुसुम प्रभृति का आरोप अन्यत्र नहीं होता है, किन्तु आकाशकुसुम प्रयोग होता है । आकाश भी प्रसिद्ध है, कुसुम भी प्रसिद्ध है । आकाश में कुसुम का सम्बन्ध स्थापन ही भ्रम है । विवर्त्तवाद स्थल में ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है, जिससे विवर्त्तवाद का स्थापन हो । ब्रह्म विभु व्यापक अद्वय नित्य चिन्मात्र सत् वस्तु है, वह सजातीय विजातीय स्वगत भेद रहित भी है । अपर कोई पदार्थ ही जब नहीं, तब अध्यास कैसे होगा । और अध्यास किसका होगा, जब सब ब्रह्म ही है, तब सहसा अज्ञानाक्रान्त होने की विभीषिका का प्रसङ्ग कैसे होगा ? "अनादि—षड्, अस्माकमनादयः" अनादि कालीन अमौलिक स्वमति कल्पित विवर्त्त मात्र के द्वारा अर्थात् अनादिसिद्ध भ्रम परम्परा के द्वारा

पूर्वं खलु वारिदर्शनाद्वार्य्याकारा मनोवृत्तिर्जातापि तदप्रसङ्गसमये सुप्ता तिष्ठति, तत्तुल्यवस्तु-दर्शनेन तु जागर्त्ति, तद्विशेषानुसन्धानं विना तदभेदेन स्वतन्त्रतामारोपयति, तस्मान्न वारि मिथ्या, न वा तत्स्मरणमयी तदाकारा वृत्तिर्न वा तत्तुल्यं मरीचिकादि वस्तु, किन्तु तदभेदेनारोप एवायथार्थत्वान्मिथ्या। स्वप्ने च (ब्र०सू० ३।२।३) "मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येनान-भिव्यक्तस्वरूपत्वात्" इति न्यायेन जाग्रद्दृष्टवस्त्वाकारायां मनोवृत्तौ परमात्म-माया तद्वस्त्व-

सर्वसम्वादिनी

अत्र तद्भावो ब्रह्मस्वभावः, न तु ब्रह्मत्वम् ;—द्वितीय-भाव-शब्दानन्वयात्।" ततस्तस्यैव भावो'ऽपहतपाप्मा'-त्वादिरूपः स्वभावो यस्येति बहुब्रीहौ तद्भावभावं ब्रह्मस्वभावकत्वमित्यर्थः। ततस्तेन स्वभावेनैव परमात्मना सहाभेदी तुल्यो भवतीति विवक्षितम् ; यतस्तत्स्वभाव-विरोधी देव-मनुष्यत्वादि-लक्षणो भेदस्तस्याज्ञानकृत

विवर्त्त को सिद्ध करना तो विशुद्ध धींगड़ापन ही है। कारण—दृष्टान्त के बिना शाब्दिक परम्परा में किसी का भी स्थापन नहीं होता, विवर्त्तवाद स्थापन में उक्त सार्थक दृष्टान्त का एकान्त अभाव है।

शान्तचित्त से और भी विचारणीय है कि—शुक्ति में रजत ज्ञान होने के पहले उक्त ज्ञाता व्यक्ति का रजत विषयक सत्य अनुभव था, घर में तथा दूकानों में उसने रजत को रजत रूप में बहुधा उत्तम रूप से जाना है। अतएव रजत विषयक यथार्थ सुदृढ़ अनुभव उस व्यक्ति में है। किन्तु वह सुप्त है, रजत दर्शन से उक्त अनुभूति जागती है, तदितर समय में सुप्त रहती है। कारण—सादृश्य-अदृष्ट एवं चिन्तादि स्मृति बीज के उद्बोधक होते हैं। समयविशेष में चित्तानवस्थान हेतु जब कथञ्चित् सादृश्य का दर्शन होता है, उस समय निविड़ानुभूत पदार्थ का उद्बोध हो जाता है। "शुक्ति रजत" भ्रमात्मक ज्ञान स्थल में यही प्रक्रिया वास्तविकी है। शुक्ति में सूर्य्य किरणपात होने से चाकचिक्यमयी जिस अवस्था की सृष्टि हुई है, उससे चिरानुभूत रजत का झटिति स्मरण हुआ, एवं शुक्ति-रजत का पृथक् अनुसन्धान करने का अवसर ही नहीं रहा। अतएव विशेष अनुसन्धान व्यतीत ही शुक्ति में रजत का अभेद आरोप हो गया। अतएव निश्चित रूपसे जानना आवश्यक है कि—रजत एवं शुक्ति मिथ्या नहीं है, स्मरणमयी वृत्ति एवं रजताकारा वृत्ति भी मिथ्या नहीं है।

इस प्रकार मरीचिका में वारि बुद्धि स्थल में भी जानना होगा। मरीचिकादि वस्तु मिथ्या नहीं है। स्मरणमयी तदाकारा वृत्ति भी मिथ्या नहीं है। किन्तु अन्यत्र अन्य वस्तु का जो आरोप अभेदरूप से हुआ है, वह ही अयथार्थ है। अतएव तद्वति तत् प्रकारक ज्ञान ही प्रमा है, उसका अभाव होने से उक्त ज्ञान भ्रमात्मक हुआ। अतएव जल एवं मरीचिकादि वस्तु मिथ्या नहीं हैं, अभेदारोप ही मिथ्या है।

स्वाप्निक दृष्टान्त के द्वारा अध्यासवाद का स्थापन प्रयास भी ठीक नहीं है। स्वप्न का रहस्य इस प्रकार है। ब्रह्मसूत्र ३।२।१-२-३-४ में श्रीमहर्षि बादरायण ने इसकी सुविशद विवेचना की है,—प्रथमतः संशय यह है, स्वाप्निकी सृष्टि जीव कर्त्तृका है, अथवा परमात्मा के द्वारा होती है? प्रजापति के वाक्य से ज्ञात है कि जीव सत्य सङ्कल्पादि समर्थ होने से उक्त स्वाप्निक सृष्टि जीव से ही होती है—इसके उत्तर में कहते हैं—

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ।१। सन्ध्यं—स्वप्नः "सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं" इति श्रवणात्। जागरसुषुप्तिमध्य-भवत्वाच्च। तत्र या रथादि सृष्टिः सा परमात्म कृतैव। कुतः? हि यतः, "स हि कर्त्तेति" श्रुतिरेव स्वप्ने रथादिसृष्टिं तत्कृतामाह। अयम्भावः। अल्पाल्पकर्मानुसारिफलभोगाय स्वप्नद्रष्टृ पुंमात्रानुभाव्यां स्तावन्मात्रसमयान् रथादीन् परमात्मा सृजति। तस्मात् स हि कर्त्तेति सत्यसङ्कल्पस्याचिन्त्यशक्तेः, तादृश कर्त्तृत्वं सम्भवत्येवेत्यर्थः। स्वप्नान्तमित्यादि श्रुत्यन्तराच्चेति। जैवी सत्यसङ्कल्पता तु मोक्षे स्यादतो न तया स्वप्नसृष्टिः ।१।

श्रुति संवाद से ज्ञात होता है कि—स्वाप्निक सृष्टि ईश्वर करते हैं। सन्धि शब्द का अर्थ—स्वप्न। जाग्रत तथा सुषुप्ति के मध्य में स्थित स्वप्न को सन्ध्य, अर्थात् तृतीय स्थान कहा जाता है। स्वप्न अवस्था में जो रथादि की सृष्टि होती है, वह सृष्टि ईश्वर के द्वारा होती है। कारण—वेद में उक्त है, "ईश्वर ही कर्त्ता हैं" भावार्थ यह है कि—अल्प अल्प कर्मानुसारी फल भोग के लिए अति अल्पकाल स्थायी सृष्टि परमात्मा ही करते हैं। जिसको स्वप्नद्रष्टा पुरुष ही देखता है। सत्य संकल्प एवं अचिन्त्य शक्तिविशिष्ट परमात्मा के लिए इस प्रकार कर्त्तृत्व असम्भव नहीं है। "स्वप्नान्तम्" इत्यादि श्रुत्यन्तर से उस प्रकार बोध होता है। जीव को जो सत्य सकल्पता है, वह मोक्ष होने से होती है। अतएव जीव से स्वाप्निक सृष्टि होना असम्भव है।१।

द्वितीय सूत्र "निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च" यत एक कठाः परमात्मानमेव स्वाप्निकानां कामानां निर्मातारमामनन्ति। "य एषु सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण" इति। एषु जीवेषु ते च कामाः पुत्रादय एव नत्विच्छामात्रम्। "सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व" इति तेषामेव कामशब्देन प्रकृतत्वात्। "एतस्मादेव पुत्रो जायते। एतस्माद् भ्राता। एतस्मात् भार्य्या। यदेनं स्वप्ने नाभिहन्ति" इति स्मृत्यन्तराच्च।२।

कठोपनिषत् ने परमात्मा को स्वाप्निक कामों का तथा पुत्रादिकों का निर्माता कहा है। जिस समय समस्त जीव निद्रित होते हैं, उस समय परमात्मा ही जाग्रत होकर उनकी कामना के अनुसार पुत्रादि काम का निर्माण करते हैं, "समस्त की प्रार्थना करो" "शतायु पुत्र पौत्र की प्रार्थना करो" इत्यादि वेदवाक्य से काम शब्द के द्वारा ही पुत्र पौत्रादि बोधित होते हैं। "परमात्मा से ही पुत्र की उत्पत्ति होती हैं, भ्राता की एवं भार्य्या की उत्पत्ति होती है। वे सब स्वप्नमें जीव को बाँधते हैं।" इत्यादि श्रुत्यन्तर का संवाद है।२।

स्वाप्निकपदार्थ निर्म्मातुर्भगवतः कारणमाह—मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्।३।

स्वप्नसृष्टावतर्क्यामायैव करणम्। नतु पञ्चीकृतानि चतुर्मुखादयश्च। कुतः कार्त्स्न्येनेत्यादेः सर्वानुभाव्यतयानभिव्यक्तेरित्यर्थः। तस्मात् परमात्मकृता स्वप्नसृष्टिरिति सिद्धम्"।३।

सम्प्रति स्वाप्निक पदार्थों का निर्माता भगवान् का विवरण कहते हैं—परमात्मा स्वाप्निक सृष्टि करते हैं। उसमें उपकरण उनकी वहिरङ्गाशक्ति माया ही है, वह अवितर्क्या है। पञ्चीकृत भूत, अथवा चतुर्मुखादि उसका उपकरण नहीं है। क्योंकि—यह सृष्टि स्वप्नद्रष्टा पुरुष से भिन्न अन्य किसी के अनुभव योग्य नहीं है। अतः स्वप्नसृष्टि परमात्मा के द्वारा ही होती है, यह निष्पन्न हुआ।३।

अनन्तर सूत्रकार स्वाप्निक पदार्थों की सत्यता का प्रतिपादन करते हैं। "अथ सा सत्योत मिथ्येति विषये बोधोत्तरं बाधात् मिथ्येति प्राप्तौ—"सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः"।४।

स्वप्नसर्गः। कुतस्तत् सूचकत्वं? श्रुतेः। "यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेऽभिपश्यति। समृद्धि तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शनः" इति छान्दोग्यात्। "अथ स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्तीति" कौषितकी ब्राह्मणाच्च। "तद्विदः स्वप्नज्ञानज्ञाश्च यथा स्वप्ने रामरक्षामिमां हरः। तथा लिखितवान् प्रातः प्रबुद्धो बुध कौशिकः" इति स्वप्ने स्तोत्रलाभं स्मरन्ति। एवं भावि सत्यार्थसूचकत्वे क्वचिन् मन्त्रौषधादिप्राप्तिदर्शनेन सूचकसत्यत्वे च सिद्धे सत्यता प्रत्ययात् साक्षात् स्वप्नदृष्टकर्त्तृकहनन श्रवणाच्च जाग्रत्सृष्टिरिव सत्या स्वप्नसृष्टिः"।४।

सम्प्रति स्वप्न सृष्टि के सत्यत्व मिथ्यात्व का विचार करते हैं। जाग्रत अवस्था में स्वाप्निक पदार्थों विलोप होने से स्वाप्निक पदार्थ सर्वजनवेद्य मिथ्या ही है। इस पूर्वपक्ष के निश्चय पर उत्तर करते हैं,—शुभाशुभ का सूचकासूचक स्वप्न होता है। तथा श्रुति प्रमाणसिद्ध होने से स्वप्न को सत्य मानना ही ठीक है। "जब काम्यकर्म में स्त्री का दर्शन स्वप्न में होता है, तब समृद्धि होती है, यह जानना होगा, इत्यादि। छान्दोग्य के इस प्रमाण से शुभाशुभ सूचक स्वप्न सत्य है। कौषितकी ब्राह्मण में उक्त है।

भेदमारोपयतीति पूर्ववत्। तस्माद्वस्तुतस्तु न क्वचिदपि मिथ्यात्वम्। ततः शुद्ध आत्मनि परमात्मनि वा तादृश-तदारोप एव मिथ्या, न तु विश्वं मिथ्येति। ततो जगतः परमात्म-जातत्वेन साक्षात्तदात्मत्वाभावाद्बहिरङ्गशक्तिमयत्वेन च वैकुण्ठादिवत् साक्षात्तदात्मीयत्वा-भावादबुधानामेव तत्र शुद्धे तत्तद्बुद्धिः। यद्यपि शुद्धाश्रयमेव जगत्, तथापि जगता तत्संसर्गो-

सर्वसम्वादिनी

एवेति। अतएव (ब्र०सू० १।३। ६) "आविर्भूत-स्वरूपस्तु" इत्यत्रापि—(छा० ८।१२।३) "एवमेवैष सम्प्रसादो-ऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति दर्शितम्; (मु० ३।१।३) "तदा

जो व्यक्ति स्वप्न में कृष्णदन्त युक्त कृष्णवर्ण पुरुष को देखता है, स्वप्नद्रष्टा पुरुष उससे निहत होता है। स्वप्नविद्याविद् व्यक्तिगण स्वप्न को शुभाशुभ का सूचक मानते हैं। उनका कहना है, गजारोहण स्वप्न में शुभ है, गर्दभारोहण—अशुभ है। विश्वामित्र ने तो शिव के द्वारा स्वप्न प्रदत्त राम रक्षा मन्त्र को निद्राभङ्ग के बाद यथावत् लिखा था। इस प्रकार श्रुति प्रमाण भी है, स्वप्न में मन्त्र-महौषधि प्राप्ति का भी संवाद है। अतएव जाग्रत् सृष्टि के समान ही स्वाप्निक सृष्टि सत्य हैं।४।

प्रबोध के बाद विलोप होता है, इसका समाधान करते हैं। यत्तु बोधोत्तरं बाधान्मिथ्येत्युक्तं तत्राह—

"पराभिध्यानात्तु तिरोहितंततोह्यस्य बन्धविपर्य्ययौ।५।

परस्येश्वरस्याभिधानात् सङ्कल्पात्तिरोहितं स्वाप्निकं रथादि नतु शुक्तिरजतवत्तस्य बाधः। हि यतोऽस्य जीवस्य ततः परेशादेव बन्धमोक्षौ भवतः। संसारबन्धस्थितिमोक्ष हेतुरित्यादि श्रुतेः। बन्धमोक्षकर्त्तुः स्वप्न तत् परिहारकर्त्तृत्वं न चित्रमिति भावः। ततश्च तस्यापि तस्मादेवाविर्भावतिरोभावौ मन्तव्यौ। "स्वप्नादि सृष्टिकर्त्ता च तिरस्कर्त्ता स एव तु तदिच्छया यतो ह्यस्य बन्धमोक्षौ प्रतिष्ठितौ इति स्मृतेश्च" तस्मात् स्वप्नसृष्टिरैश्वरीति।५।

निद्रा से जगने के बाद स्वाप्निक वस्तु का विलोप होना देखकर स्वप्न को मिथ्या मानना ही उचित है। इस कथन के उत्तर में भगवान् सूत्रकार कहते हैं—स्वाप्निक रथादिकों का तिरोभाव परमेश्वर के सङ्कल्प से होता है। किन्तु शुक्ति में रजत की भाँति उसका बोध नहीं है। कारण—परमेश्वर ही जीव के बन्ध मोक्ष के कर्त्ता हैं। जीव के बन्धन एवं मोक्ष परमेश्वर से ही होते हैं।

श्रुति कहती है—"संसार बन्धन, स्थिति तथा मोक्ष का हेतु—परमेश्वर हैं। बन्ध मोक्षकर्त्ता परमेश्वर का स्वप्न कर्त्तृत्व एवं परिहार कर्त्तृत्व होना आश्चर्य्यजनक नहीं है। अतएव स्वप्न का आविर्भाव अथवा तिरोभाव—परमेश्वर से जानना चाहिए।" स्मृति में उक्त है,—परमेश्वर स्वप्नादि बुद्धि के कर्त्ता तथा उसका तिरोभावकर्त्ता हैं। उनकी इच्छा से ही जीव के संसार बन्धन, मोक्ष दोनों होते हैं। अतएव ईश्वर कर्त्तृक स्वप्न सृष्टि सत्य है।५।

उक्त नियमों से विदित होता है कि—जाग्रत् अवस्था में दृष्ट श्रुत वस्तु का जो आकार मन में अङ्कित रहता है, परमात्मा की माया शक्ति उक्त संस्कारानुरूप अभिन्न वस्तु का उपस्थापन स्वप्न में करती है। यह भी शुक्ति रजत के समान ही वस्तु सत्य है, अन्यत्र अन्य का आरोप ही मिथ्या है। अतएव वस्तुतः कुछ भी मिथ्या नहीं है। अतएव शुद्ध जीवात्मा में अथवा परमात्मा में विश्वसृष्टादि पदार्थों का अभेद रूप में आरोप ही मिथ्या है। किन्तु विश्व मिथ्या नहीं है। अबुध व्यक्तिगण ही मानते हैं कि—परमात्मा से जब जगत् उत्पन्न होता है, तब जगत् एवं परमात्मा अभिन्न हैं। किन्तु वस्तु स्थिति वैसी नहीं है। परमात्मा से जगत् उत्पन्न होता है। किन्तु साक्षात् परमात्मस्वरूप से उत्पन्न नहीं हुआ है। परमात्मा की अघटनघटनकारिणी वहिरङ्गा मायाशक्ति के द्वारा जगत् निर्माण होता है। यह जगत् वैकुण्ठादि मायातीत स्वरूपशक्ति विलसित लोक के समान नहीं है। अतएव साक्षात् परमात्मा से अभिन्न जगत् नहीं है। यद्यपि

ऽपि नास्ति। तदुक्तम् (गी० १३।१४) "असक्तं सर्वभृच्चैव" इति गीतासु। तथा देहगेहादावात्मात्मीयताज्ञानन्तेषामेव स्यादित्युभयत्रैवारोपः शास्त्रे श्रूयते; यथा (वि०पु० १।४।३९)— "यदेतद्दृश्यते मूर्त्तम्" इत्यादिकं विष्णुपुराणे; यथा वा (भा० १०।१४।२७)—

सर्वसम्वादिनी

विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादि च श्रुत्यन्तरम्। पुनश्च श्रीविष्णुपुराणे (६।७।३०)

"आत्मभावं नयत्येनं तद्ब्रह्मध्यायिनं मुने। विकार्य्यमात्मनः शक्त्या लोहमाकर्षको यथा" ॥२२॥

इत्यत्र भेद एवाभिप्रेतः; यत आत्मभावमात्मन्यस्तित्व संयोगं नयति, ब्रह्मध्यायिनं प्रतीति-शक्त्येति चाभि-

स्वरूपशक्ति समन्वित परमात्मा में ही आश्रित यह जगत् है, वहिरङ्गाशक्ति—परमात्माश्रिता ही है। परमात्मा सर्वथा स्वरूपशक्ति में महीयान् रहते हैं। तथापि जगत् के साथ परमात्मा का अभिन्न संसर्ग नहीं है। उस विषय का कथन श्रीपद्मनाभ ने गीता के १३।१४ में किया है—

"सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।"१४

उक्त बृहत्तत्त्व समस्त इन्द्रियों का प्रकाशक, स्वयं सर्वेन्द्रिय विवर्जित, अनासक्त, श्रीविष्णु रूप में सर्वभृत् एवं निर्गुण, अर्थात् स्वयं प्राकृत गुणरहित, अथच त्रिगुणातीत "भग" शब्द वाच्य षड़् गुण का आस्वादक हैं।१४।

गी० भा०—किञ्च सर्वेति, सर्वैरिन्द्रियैर्गुणैश्च तद्वृत्तिभिराभासते दीप्यते' इति तथा, सर्वैरिन्द्रियैर्जीवेन्द्रिवत् स्वरूपभिन्नैर्विवर्ज्जितं संत्यक्तं प्राकृतैः करणैः शून्यः स्वरूपानुबन्धिभिस्तैर्विशिष्टो हरिरिति स्वीकार्य्यम्। "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" "यदात्मको भगवान् स्तदात्मिका व्यक्तिः, किमात्मको भगवान् ज्ञानात्मक ऐश्वर्य्यात्मकः शक्त्यात्मकश्चेति बुद्धिमनोऽङ्गप्रत्यङ्गवत्तां भगवतो लक्षयामहे—"बुद्धिमान् मनोवान् अङ्गप्रत्यङ्गवान्" इति श्रुतेः, "सर्वभृत् सर्वतत्त्वधारकमप्यसक्तं सङ्कल्पेनैव तद्धारणात्तत्स्पर्शरहितं निर्गुणं—साक्षीचेताः केवलो निर्गुणश्च" इति श्रुतेर्मायागुणास्पृष्टमेव सद्गुणभोक्तृनियम्यतया "गुणानुभवि विकारजननीमज्ञाम्" इत्यारभ्य एकस्तु पिवते देवः स्वच्छन्दोऽत्रवशानुगाम्। ध्यानक्रियाभ्यां भगवान् भुङ्क्तेऽसौ प्रसभं विभुः" इति श्रवणात्।१४।

पूर्व श्लोक में निखिलशक्तिसमन्वित भगवत्तत्त्व का वर्णन के अनन्तर भगवान् की सक्रियता का वर्णन करते हैं—भगवान् स्वरूपभूत निखिलेन्द्रिय युक्त हैं, किन्तु जीववत् स्वरूपभिन्नेन्द्रिय नहीं हैं। स्वरूपानुबन्धिकरण युक्त हैं, किन्तु प्राकृत करण शून्य हैं। श्रुति कहती है, प्राकृत हस्त पद विहीन होकर भी वेगशाली एवं ग्रहणपरायण हैं, प्राकृत चक्षु कर्ण विहीन होकर भी दर्शन श्रवण करते हैं। भगवान् की मूर्त्ति स्वरूपभूत ही हैं। भगवान् ऐश्वर्य्यात्मक ज्ञानात्मक शक्त्यात्मक हैं, बुद्धिमान् अङ्गवान् प्रत्यङ्गवान् हैं। सर्वभृत्—सर्वतत्त्व धारक होकर भी असक्त हैं, अर्थात् स्वसङ्कल्प से ही समस्त कार्य्य करते हैं, कार्य का स्पर्श भगवान् के साथ नहीं है। निर्गुण—साक्षी हैं, प्रेरणकर्त्ता हैं, अपेक्षा हीन हैं, प्राकृतगुणरहित हैं। यह श्रुति उक्त शब्दों से भगवान् को प्राकृतगुणास्पृष्टत्व कहती है। सद्गुण भोक्ता का नियन्ता हैं, गुणानुभवि विकार जननी प्रकृति है। इस प्रकार कहकर कहते हैं,—स्वराट् देव एकक समस्त शक्ति का नियमन करते हैं। ध्यान एवं क्रिया के द्वारा विभु भगवान् सहसा समस्त वस्तुओं का उपभोग करते हैं।१४।

अज्ञ व्यक्तिओं का देह गेह प्रभृति में आत्मा आत्मीयता ज्ञान होता है। शास्त्र में "देह गेहादि में जो आत्मात्मीयतारोप है", इसका ही वर्णन है। विष्णुपुराण के १।४।३९ में वर्णित है—"आप शुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं, किन्तु जगद्रूप में जो आप दृष्ट होते हैं, इसका दर्शन, अयोगि व्यक्तिगण, अविद्या प्रभाव से भ्रान्ति दृष्टि से करते हैं।

"त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च ।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताज्ञता" ॥२७॥ इति ।

त्वामात्मानं सर्वेषां मूलरूपं परमितरं तद्विपरीतं मत्वा तथा परमितरं जीवमेव च मूलरूपात्मानं परं मत्वा सांख्यविद इव तस्य तथा मन्यमानस्य पुनः स जीवात्मा बहिर्मृग्यो भवति । तस्य तेनैव हेतुना लब्धच्छिद्रया मायया देहात्मबुद्धिः कार्य्यत इत्यर्थः । अहो अज्ञ-

सर्वसम्वादिनी

धीयते । इत्थमेवाकर्ष-दृष्टान्तो घटते, न त्वैक्येन । तदेवं भेदवाक्येषु सत्सु स-युक्तिवाक्याविरुद्धेषु भेदवादेषु ब्रह्मवादः (मु० ३।२।९) 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' इत्यत्रापि ब्रह्म-तादात्म्यमेव बोधयति,—स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेरितिवत् । तत्रापि हि जीवानामाकाशत्वादि-प्राप्ति-शब्दा अनुपपत्तेराकाशादि-धर्म तदत्यन्ताश्लेषयोरा-

श्रीमद्भागवत के १०।१४।२७ में उक्त है—प्रभो ! आप आत्मस्वरूप हो, किन्तु अज्ञ व्यक्तिगण, आत्मा में देहाध्यास करके, एवं देह में आत्माध्यास करके बाहर आत्मान्वेषण करते हैं। गृह में स्थित वस्तु का अन्वेषण बन में करना क्या उचित है ? जो भी हो, अज्ञ व्यक्तियों की यह अज्ञता अतिशय अद्भुत है ।

क्रमसन्दर्भः—"ये तु सकलात्मनामप्यात्मानं त्वामन्यथा विचक्षते ते तु अतिमूर्खा एवेत्याह,—त्वामिति, आत्मानं सर्वेषां मूलस्वरूपं त्वां परमात्मानं मत्वा यः कश्चिदन्यो भवेदिति कल्पयित्वा वहिस्त्वत् पादाब्ज सवनादस्मादन्यत्रात्मा मृग्यो भवति, मृग्यत इत्यर्थः, इयमहो ! अज्ञजनताया अज्ञतेति । यद्वा, त्वां केवलं जीवस्य शुद्धस्वरूपमेवमत्वा, तत उत्कर्षावाप्तौ परमात्मानमन्तर्य्यामिमात्रञ्च त्वां मत्वा, तथा तथा वा यदि मन्यते, तदापीत्यर्थः । अज्ञजनताया अज्ञतैव परिशिष्यते— गी० १०।४२) "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति भगवद्वाक्यात् । यतश्चात्मा मुख्यवृत्त्या तच्छब्दवाच्यो वहिर्मृग्य एवेत्यञ्जलिना श्रीचरणौ दर्शयति ; यद्येवम्, तर्ह्यहमपि स्वसदन एव स्थित्वा मनस्येव समाधास्यम् । न पुनरत्र वृन्दावने समायास्यम् ; नहि गृहे नष्टं वने मृग्यति इति भावः ; सन्धिश्छन्दोऽनुरोधेन । ज्ञम्मन्य—जनताया अज्ञतेति वा । यद्वा, सर्वं परित्यज्य सम्प्रति श्रीकृष्णैकमुख्यान् स्तौति ; प्रथमं 'परं' तावत् केवलमद्वैतोपासनया त्वामात्मानं जीवस्वरूपानातिरिक्तमनुभूय ततः 'परमात्मानमेव' चानुभूय पुनरधुनात्मा सर्वेषां मूलस्वरूपं वहिश्चक्षुरादि-गोचरं मृग्यः सम्पाद्यते, तस्मादहो ! विज्ञ जनतायाः श्रीरुद्रादि-रूपाया विज्ञतेति । अज्ञ जनाज्ञता' इति क्वचित् पाठः ॥"

आप सकलात्माओं का आत्मा हैं, किन्तु आपको जो लोक उस प्रकार नहीं मानते हैं, वे लोक अति मूर्खा ही हैं। आत्मासमूहों के मूल स्वरूप आप हैं, ऐसा जानकर भी और कोई परमात्मा हैं, इस बुद्धि से आपके चरणारविन्दों के समीप से अन्यत्र अन्वेषण करते रहते हैं,—यह ही अज्ञ जनता की अज्ञता है ।

अथवा आपको केवल शुद्ध जीवस्वरूप ही मानकर उससे उत्कृष्ट स्वरूप अन्तर्य्यामिमात्र मानकर भी अपर स्वरूप का अन्वेषण करते हैं, तो वह ही अज्ञ जनता की एकमात्र अज्ञता है। गीता में आपने कहा ही है—"हमने एकांश से समस्त जगत् को धारण किया है"। आत्मा शब्द की मुख्या वृत्ति से श्रीभगवान् का ही बोध होता है। तथापि यदि बाहर ढूंड़ने का प्रयत्न कोई करता है, तब तो मैं भी 'ब्रह्मा' अपने घर में रहकर ही मन ही मन भगवद्दर्शन कर सब समाधान, सन्तोष कर लेता, तो वृन्दाबन में नहीं आता। "घर में विनष्ट वस्तु का अन्वेषण कोई बन में नहीं करता है'। यहाँ "अहोऽज्ञ" सन्धि-छन्दो रक्षा के लिए हुई है। 'विज्ञाभिमानी जनता की अज्ञता' इस प्रकार अर्थ भी होगा। अथवा सब को छोड़कर सम्प्रति श्रीकृष्णपरायण की स्तुति करते हैं। प्रथम—"परं" केवल अद्वैत उपासना के द्वारा आपको जीवस्वरूप मानकर अनन्तर परमात्मा का अनुभव करके पुनर्बार सम्प्रति आत्मा—सब के मूल स्वरूप नेत्रगोचर होने

जनताया अज्ञता क्रमाज्ज्ञानभ्रंश इत्यर्थः। तदुक्तं हंसगुह्यस्तवे (भा० ६।४।२५)—

"देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा, नात्मानमन्यश्च विदुः परं यत्।
सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो, न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे॥"२५॥ इति;

तथा च श्रीभगवदुद्धवसंवादे (भा० ११।२२।३४)—

"आत्मा परिज्ञानमयो विवादो, ह्यस्तीति नास्तीति भिदात्मनिष्ठः।
व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां, मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात्॥"३४॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

पत्तिमेव बोधयन्ति। (ब्र०सू० १।३।२) "मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्" इत्यपि मुक्तानामेव सतामुपसृप्यं ब्रह्म यदि स्यात्तदैवाक्लेशेन सङ्गच्छते (ब्र सू० १।३।२—माध्वभाष्ये-धृतं) 'मुक्तानां परमा गतिः' इत्यादि [श्रुति]-वाक्यञ्च तथैव। अतएव तैत्तिरीयोपनिषदि च भेदे एव मुक्तावाम्नायते (तै० २।७।१) 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं

पर अन्वेषण को सार्थक करते हैं—अहो! विज्ञ जनता श्रीरुद्रादि स्वरूप की विज्ञता श्लाघनीय है।

सन्दर्भ व्याख्या—"आप सब के मूलस्वरूप आत्मा हैं, किन्तु आपको उससे विपरीत मानकर, तथा आपसे भिन्न जो जीवस्वरूप है, उसको ही मूल परमात्मा मानकर सांख्यशास्त्रवेत्ता के समान वे लोक पुनर्बार उस जीवात्मा को बाहर शरीर में ही अनुसन्धान करते रहते हैं। इस हेतु से ही माया अवसरप्राप्त कर देह में ही आत्मबुद्धि कराती है। कैसा आश्चर्य्य है! अज्ञ जनों की अज्ञता कैसी है? क्रमशः उन सब का ज्ञान नाश होता रहता है।"

इस विषय का वर्णन (भा० ६।४।२५) हंसगुह्यस्तव में है—अहो! देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण, पञ्चभूत पञ्चतन्मात्र, आत्मा को अर्थात् स्वरूप को, अन्य इन्द्रियवर्ग को, एवं एतदुभय से श्रेष्ठ देवतावर्ग को नहीं जानते हैं। यद्यपि पुरुष, अर्थात् जीव, उक्त तीन, एवं तीनों के मूलभूत गुणसमूह को जानते हैं। तथा च आप उस प्रकार का ज्ञाता होकर भी सर्वज्ञ भगवान् को जानने में सक्षम नहीं हैं। मैं उन श्रीभगवान् श्रीअनन्त देव का स्तव करता हूँ।

स्वामिटीका—"ननु गुणो जड़त्वान्न जानाति, जीवस्तु चेतनः किमिति न जानाति, तत्राह देह इति। देहः, असवः प्राणा अक्षाणि इन्द्रियाणि, मनवोऽन्तःकरणानि भूतानि च मात्राश्च तन्मात्राणि, आत्मानं स्वस्वरूपं दृश्यम्, अन्यमिन्द्रियवर्गं तयोः परञ्च देवतावर्गं न विदुः पुमान् जीवस्तु सर्वम् एतत् त्रयं वेद गुणांश्च तन्मूलभूतान् वेद, तज्ज्ञोऽपि सन् यत् सर्वज्ञं न वेद तमनन्तमीड़े स्तौमि।"

तथा (भा० ११।२२।३४) में उद्धव के प्रति श्रीभगवद्वाक्य इस प्रकार है—"आत्मा ज्ञानमय है, किन्तु आत्मा के विषय में अस्ति-नास्ति जो विवाद है, वह केवल भेदज्ञान मात्र है, वस्तुत नहीं है। उक्त विवाद व्यर्थ होने पर भी, स्वरूपभूत मैं हूँ, मुझ से वहिर्मुख जनगण उससे किसी प्रकार निवृत्त नहीं हो सकते हैं।

स्वामिटीका—"न कुतो निवर्त्तते—आत्माज्ञानविलसितत्वात् 'भज्' ज्ञानेनेत्याशयेनाह—आत्मापरिज्ञानमय इति। ननु कथं मोहमयत्वं विकल्पस्य वा कञ्चित् सत्यताङ्गीकारात्, तत्राह—विवाद इति। भिदार्थ निष्ठा विवादोऽपि आत्मा ज्ञानमय इत्यन्वयः। यद्वा विवादः सर्वोऽपि भिदार्थनिष्ठ एव नतु वस्तुमात्रनिष्ठः। अतः परस्परं युक्तिभिरेव भेदस्य निराकृतत्वात् मोहमयत्वं सिद्धमिति। ननु यद्यहङ्कारो विकल्पश्चनास्ति अलं तर्हि निवृत्तप्रयासेन तत्राह व्यर्थोऽपि अर्थरहितोऽपि स्वरूपभूतात् मत्तो वहिर्मुखानां नैषोपरमेत् प्रत्युत तत् कृतैः कर्मभिरुच्चनीचदेहेषु ते संसरन्तीति।"

विवाद निवृत्त क्यों नहीं होता है? आत्मा ज्ञान विलसित होने से ही वैसा होता है। भज् धातु ज्ञानार्थ में है, कहते हैं—"आत्मा परिज्ञानमय" मोहमयत्व होना सम्भव ही कैसे होगा? विकल्प एवं

किञ्च, विवर्त्तस्य ज्ञानादिप्रकरणपठितत्वेन गौणत्वात्, परिणामस्य तु स्वप्रकरणपठितत्वेन मुख्यत्वात्, ज्ञानाद्युभयप्रकरणपठितत्वेन सन्दंश-न्यायसिद्धप्राबल्याच्च परिणाम एव श्रीभागवत-तात्पर्य्यमिति गम्यते। तच्च भगवदचिन्त्यैश्वर्य्यज्ञानार्थं मिथ्यात्वाभिधानन्तु नश्वरत्वाभिधानवत् विश्वस्य परमात्मवहिर्मुखत्वापादाकत्वाद्धेयताज्ञानमात्रार्थम्, न तु वस्त्वेव तन्न भवतीति

सर्व्वसम्वादिनी

लब्ध्वानन्दी भवति' इति।

तस्मात् सर्वथा भेद एव जीव-परयोः; तथा च श्रुतिः (श्वे० ४।९) 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः' इति; (श्वे० १।९) 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' इति; (श्वे० ६।१३) 'नित्यो नित्यानां

अहङ्कार को कतिपय व्यक्ति सत्य मानते हैं? कहते हैं—विवाद। भेदबुद्धि से ही विवाद होता है। भिदार्थनिष्ठा विवाद भी आत्मा परिज्ञानमय है। अथवा समस्त विवाद ही भेदार्थनिष्ठ हैं, किन्तु वस्तुमात्र निष्ठ नहीं हैं। अतः परस्पर युक्ति के द्वारा भेदापसारण प्रयास से ही मोह होता है।

यदि अहङ्कार एवं विकल्प नहीं हैं, तब उसकी निवृत्ति निबन्धन प्रयास करना भी व्यर्थ है? कहते हैं, आत्मा परिज्ञानमय विवाद है। मोहमय होना कैसे सम्भव है, विकल्प एवं अहङ्कार को कुछ व्यक्ति सत्य मानते हैं? कहते हैं—विवाद भेदबुद्धि से ही होता है। तथापि आत्म विषय में विवाद है। अथवा सब विवाद ही भेदबुद्धि से ही होता है। किन्तु वस्तुमात्र निष्ठ नहीं है। अतएव विवदमान जनगण निज निज युक्ति के द्वारा परस्पर की भेदबुद्धि का अपसारण करते हैं, और मुग्ध हो जाते हैं। यदि अहङ्कार एवं विकल्प है हि नहीं तब उसकी निवृत्ति हेतु प्रयास करना व्यर्थ है? कहते हैं—व्यर्थ होने पर भी, अर्थरहित होने पर भी स्वरूपभूत मुझ भगवान् से वहिर्मुख जनगण उससे निवृत्त नहीं हो सकते हैं। किन्तु वे लोक अहङ्कार एवं विकल्प निवृत्ति के लिए जो कुछ कर्म करते रहते हैं, उक्त कर्म समूह के द्वारा ही उक्त भगवत् वहिर्मुख जनगण मायाकृत उच्च-नीच देहसमूह में परिभ्रमण करते रहते हैं।

विवर्त्तवाद अर्थात् भ्रममय वाद—मायावाद का कथन—सायुज्य मुक्ति अभिलाषी व्यक्तियों के लिए ही किया गया है। उस प्रकरण में ही उक्त कथन की उपयोगिता है। निज स्वरूप को ही ब्रह्म रूप में जानने से सायुज्य मुक्ति होती है, यह एक पद्धति है, इसको रुक्ष ज्ञान कहते हैं। इसको निष्पन्न करने के लिए समस्त वस्तु को मिथ्या मानना ही साधन है। यह मिथ्या निजात्मा में अध्यस्त है, उसका अपसारण करने से ही ब्रह्म ब्रह्म ही रह जाता है। यह तो एकदेशी साधनमात्र है, इसकी वास्तविकता कुछ भी नहीं है।

अतएव स्वरूपावबोध रूप ज्ञान प्रकरण में अध्यास वाद का पाठ होने से वह अध्यास वाद गौण है। शक्तिपरिणामवाद का कथन शक्तिमदद्वय तत्त्व श्रीभगवत् प्रकरण में होने के कारण यह वाद मुख्य है। कारण सशक्तिक अद्वय ज्ञानतत्त्वरूप भगवत् प्रकरण परतत्त्व का निज प्रकरण है। अध्यासवाद का पाठ केवल रुक्ष ज्ञान प्रकरण में है, और शक्तिपरिणाम वाद का पाठ ज्ञान एवं सशक्तिक अद्वय ज्ञानतत्त्व रूप उभय प्रकरण में होने से 'संदंश' 'संड़ासी' न्याय सिद्ध प्राबल्य के कारण जगत् ईश्वरशक्ति माया का ही परिणाम है, श्रीमद्भागवत पाठ से यह ही तात्पर्य्य बोध होता है।

उक्त जगत् को भी श्रीभगवान् के अचिन्त्य ऐश्वर्य्य ज्ञान को बोध कराने के लिए नश्वरत्व कथन के समान ही मिथ्या शब्द से कहा गया है।

विश्व को प्राप्त कर ही जीव भगवत् विमुख होता है। तज्जन्य जगत् के प्रति हेय ज्ञानोत्पन्न कराने के निमित्त नश्वर मिथ्यादि शब्दसे जगत् को कहते हैं। किन्तु वस्तुत वैसा नहीं है। जगत् वास्तविक वस्तु है।

जीवेशस्वरूपैक्यज्ञानमात्रार्थम्, (ब्र०सू० २।२।२९) **"वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" इति न्यायेन । तथा च नारदीये—**

"जगद्विलापयामासुरित्युच्येताथ तत्स्मृतेः । न च तत्स्मृतिमात्रेण लयो भवति निश्चितम् ॥" इति ।

तत्र मुख्य एव सृष्टिप्रस्तावे प्रधानपरिणाममाह (भा० ३।५।२६-२७)—

(५८) "कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः ।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्य्यमाधत्त वीर्य्यवान् ॥२६॥

सर्वसम्वादिनी

चेतनश्चेतनाना-,मेको बहूनां यो विदधाति कामान्' इति ; (मु० ३।१।१) 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति ; (श्वे० ४।५) 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' इत्याद्याः । गीतोपनिषच्च—(७।४,५) 'अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' ; 'अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूताम् इति ; (१४।३) 'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' इति ; (१८।६१) ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन

जीव एवं ईश्वर के स्वरूपैक्यबोध के लिए जिस प्रकार असत्य कहा गया है, वैसा नहीं है । ब्रह्मसूत्र २।२।२९ "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" इस न्याय से उसका प्रतिपादन हुआ है ।

दृष्टान्त वैधर्म्य के कारण जगत् स्वप्नतुल्य नहीं है । अतएव वाह्यार्थ के बिना वासना हेतुक ज्ञानवैचित्र्य के द्वारा जिस प्रकार स्वाप्निक व्यवहार निष्पन्न होता है । उस प्रकार जाग्रदवस्था में भी व्यवहार निष्पन्न होने में बाधक क्या है ? इस प्रकार कथन का निराकरण करते हैं—"वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" सूत्र से—

गो० भा०—'च' शब्दोऽवधारणे । स्वप्ने मनोरथे च यथा घटाद्यर्थाकारकज्ञानमात्रसिद्धो व्यवहारस्तथा जागरेऽपि भवेदित्येतन्न सम्भवति । कुतः ? वैधर्म्यात् । स्वप्न जागरप्राप्तयोर्वस्तुनोरसाधर्म्यादेव । स्वप्ने खलु अनुभूतं स्मर्य्यते, जागरे तु प्रत्यक्षेणानुभूयते । स्वप्नोपलब्धं क्षणद्वयमात्रेण अन्यदन्यद्भवति बाधितं च बोधे । जागरोपलब्धं तु वर्षशतानन्तरमपि तद्धर्मकमबाधितं चेति । किञ्च स्वप्नेऽनुभूतं स्मर्य्यत इति प्रत्युक्तिमात्रं बोध्यम् । स्वमतं तु स्वप्नमात्रानुभाव्यं तावन्मात्रसमयं वस्तु स्वप्ने परेशः सृजतीति "सान्ध्ये सृष्टिराह हि" इत्यादिना वक्ष्यते ।२९।

'च' शब्द का अर्थ अवधारण है । स्वाप्निक वस्तु का जिस स्वप्न-मनोरथ से आकार प्राप्त ज्ञान से व्यवहार होता है, उस प्रकार जगत् नहीं है, अर्थात् जाग्रत अवस्था में भी उसी प्रकार बौद्धिक व्यवहार हो, ऐसा कहना अनर्थक है । कारण स्वप्नगत धर्म, जाग्रत् धर्म से सम्पूर्ण भिन्न है । स्वाप्निक वस्तु एवं जाग्रत् वस्तु का पारस्परिक साधर्म्य ही नहीं है । स्वप्न में पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण होता है । जाग्रत् अवस्था में प्रत्यक्ष वस्तु का अनुभव हुआ करता है । स्वप्न दृष्ट वस्तु क्षणिक है । स्वप्न विदूरित होने से वस्तु अपसारित होती है । जाग्रत् दृष्ट वस्तु सर्वदा के लिए रहती है । द्रष्टव्य यह है कि—स्वप्न में पूर्वानुभूत वस्तु का ही स्मरण होता है—यह कथन प्रत्युक्तिप्राय है । वह मत सूत्रकार का नहीं है, सूत्रकार के मत में "सन्ध्ये सृष्टिराह हि" सिद्धान्त है । अर्थात् स्वप्न में जो भी पदार्थ उपस्थित होते हैं, वे सब परमेश्वर के द्वारा सृष्ट होते हैं । अतः विश्व को असत् कथन का अभिप्राय है, "मुक्तिकामिओं का जगत् के प्रति वैराग्योत्पन्न कराना है ।" नारदीय पुराण में उक्त है—"ईश्वर स्मरण के द्वारा महात्मागण जगदावेश को विनष्ट करते हैं । किन्तु जगत् स्मरण से जगत् विनष्ट नहीं होता है ।"

अतएव भा० ३।५।२६-२७ में वर्णित जो मुख्य सृष्टि प्रस्ताव है, उसमें जगत् को प्रधान परिणाम ही कहा गया है ।

"चिच्छक्ति से युक्त वीर्य्यवान् परमात्मा निज कालशक्ति से गुण क्षुब्ध प्रकृति में निजांशस्वरूप जीवशक्ति

ततोऽभवन् महत्तत्त्वमव्यक्तात् कालचोदितात् ।
विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः ॥"२७॥ इत्यादि ।

(भा० ३।५।२३) 'भगवानेक आसेदम्' इति प्राक्तनानन्तरग्रन्थादधोक्षजो भगवान् पुरुषेण प्रकृति-

सर्वसम्वादिनी

तिष्ठति' इति च । (ब्र०सू० १।२।१२) "विशेषणाच्च" इत्यत्र माध्वभाष्ये श्रुति स्मृती ; यथा—(पैङ्गी श्रुतिः) 'सत्य आत्मा सत्यो जीवः सत्यं भिदा सत्यं भिदा सत्यं भिदा मैवारुण्यो मैवारुण्यः' ; (भाल्लवेय-श्रुतिः) 'आत्मा हि परमस्वतन्त्रोऽधिकगुणो जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रोऽवरः' इति ; (ब्र०सू० १।२।१२—माध्वभाष्ये धृतं स्मृतिवचनम्)

का आधान किए थे । अनन्तर काल प्रेरित अव्यक्त अर्थात् वहिरङ्गा मायाशक्ति से महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ, उसमें तमोनाशक विज्ञानात्मा परमेश्वर बीज से जिस प्रकार अङ्कुर एवं वृक्षोत्पन्न होता है, उस प्रकार स्व-देहस्थ विश्व को प्रकट किए थे ।"

क्रमसन्दर्भ । सृष्टिमाह—कालवृत्तेति (भा० ३।५।२३) "भगवानेक आसेदम्" इति पूर्वोक्तादधोक्षजो भगवान् पुरुषेण प्रकृतिद्रष्ट्रा । आत्मभूतेन—स्वांशेन द्वारभूतेन, कालोवृत्तिर्यस्यां, तया मायया, निमित्त-भूतया गुणमय्यां मायायामव्यक्ते वीर्य्यं—जीवाख्यमाधत्त (छा० ६।३।२) "हन्तेमास्तिस्रो देवताः" इति श्रुतेः ॥ तत इति ।

विज्ञानात्मकोऽपि पदार्थः समभवत् ; तदेव नाम्ना महत्तत्त्वमिति । तमोनुदः—प्रलयगताज्ञानध्वंस-कर्त्ता ।२६-२७।

सृष्टि का वर्णन करते हैं—काल वृत्ति के द्वारा प्रकृति को क्षुब्ध कर सृष्टि करते हैं । भा० ३।५।२३ में उक्त है—"सृष्टि के पहले भगवान् एकक थे । समस्त विश्व उनमें विलीन थे ।" इस कथन से प्राप्त होता है कि—अधोक्षज भगवान् प्रकृति द्रष्टा पुरुष के द्वारा सृजन कार्य्य करते हैं । निजांशरूप काल ही जिनका करण है, उससे मायाशक्ति जो सृष्टि कार्य्य में निमित्त है । उस अव्यक्त रूपमें जीवाख्य शक्ति का आधान किए थे । छान्दोग्य श्रुति में इसका वर्णन है । विज्ञात्मा पुरुष भी पदार्थ बन गये । उसको नाम से महत्तत्त्व कहते हैं । तमोनुद शब्द का अर्थ—प्रलय कालीन अज्ञान विनाशकर्त्ता ।

(भा० ३।५।२३) "भगवानेक आसेदम्" अत्र स्वामिटीका—"तत्र सृष्टिलीलां वर्णयितुं ततः पूर्वावस्था-माह । इदं विश्वं, अग्रे—सृष्टेः पूर्वं परमात्मा भगवान् एक एव स आसीत् । आत्मानां जीवानां आत्मा स्वरूपम् । विभुः—स्वामी च, नान्यद्—द्रष्टृदृश्यात्मकं किञ्चिदासीत् । कारणात्मना सत्त्वेऽपि पृथक् प्रतीत्यभावादित्याह अनानामत्युपलक्षणः । नाना-द्रष्टृदृश्यादिमतिभिर्नोपलक्ष्यते । इति तथा ।

यद्वा अकारप्रश्लेषं विनैवायमर्थः । यः सृष्टौ नानामतिभिरुपलक्ष्यते स तथा एक एवासीदिति । कुतः—आत्मेच्छा, या माया तस्या अनुगतौ लये सति । यद्वा आत्मन एकाकित्वेनावस्थानेच्छायामनुवृत्तायामित्यर्थः ।"

सृष्टि लीला वर्णन हेतु पूर्वावस्था का वर्णन करते हैं । विश्व सृष्टि के प्राक् काल में परमात्मा भगवान् एकक ही थे । आप आत्मस्वरूप जीवों के आत्मास्वरूप हैं । विभु—स्वामी हैं । अपर—द्रष्टा एवं दृश्यात्मक कुछ भी नहीं थे । कारण स्वरूप में अवस्थित होने पर भी पृथक् रूप में प्रतीत नहीं होते थे । 'अ नानामति उपलक्षण' शब्द से उनको कहते हैं । नाना—द्रष्टा-दृश्यरूप जो विभिन्न विभिन्न बुद्धि हैं, उससे ज्ञात नहीं होते थे । यद्वा, अ-कार प्रश्लेष के बिना ही इस प्रकार अर्थ होता है, जो सृष्टिकाल में अनेक प्रकार से उपलब्ध होते हैं, वह सृष्टि के प्राक्काल में एकक ही थे । क्यों ? आत्मेच्छा रूपा जो मायाशक्ति है, वह शक्ति प्रलय काल में भगवान् लीन होकर रहने से ही आप एकक अवस्थान करने लगे थे । अथवा जब आपकी इच्छा हुई कि—मैं एकाकी रहना पसन्द करता हूँ । उस समय समस्त शक्ति आपमें विलीन होने से आप एकक अवस्थित हुए । इस प्राक्तन श्लोक के पश्चात् वर्णित है—अधोक्षज

द्रष्ट्रात्मभूतेन स्वांशेन द्वारभूतेन कालो वृत्तिर्यस्यास्तया मायया निमित्तभूतया गुणमय्यां मायायामव्यक्ते वीर्य्यं जीवाख्यमाधत्त; 'हन्तेमास्तिस्रो देवताः' इत्यादि श्रुतेः। विज्ञानात्मैव महत्तत्त्वम्; तमोनुदः प्रलयगताज्ञानध्वंसकर्त्ता ॥ श्रीमैत्रेयः ॥

५९। ज्ञानाद्यङ्गत्वेऽप्याह (भा० ११।९।१६-२१)—

(५९) "एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया।
संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः ॥१६॥
एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः।
कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु।
सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः ॥१७॥
परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः।
केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः ॥१८॥
केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम्।
संक्षोभयन् सृजत्यादौ तया सूत्रमरिन्दम ॥१९॥
तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं सृजन्तीं विश्वतोमुखम्।
यस्मिन् प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान् ॥२०॥

सर्वसम्वादिनी

"यथेश्वरस्य जीवस्य भेदो सत्यो विनिश्चयात्। एवमेव हि मे वाचं सत्यां कर्तुमिहार्हसि॥"२३॥ इति च। तदेवमभेद-वाक्यं द्वयोश्चिद्रूपत्वादिनैवैकाकारत्वं बोधयत्युपासनाविशेषार्थम्; न तु वस्त्वैक्यम्।

तदित्थमभेद निर्द्देशेऽपि हेतुं वदन् प्रकरणमारभते।—'तदेवं शक्तित्वे सिद्धे शक्ति-शक्तिमतोः' इति

भगवान् प्रकृति ईक्षणकर्त्ता पुरुष के द्वारा, आत्मभूत स्वीय अंश के द्वारा, काल जिनकी शक्ति है, इस प्रकार निमित्तभूत माया के द्वारा, अव्यक्तरूप गुणमयी माया में जीवशक्ति का आधान किए थे। "ये तीन देवता" इत्यादि श्रुति प्रमाण से विदित होता है कि—विज्ञानात्मा ही महत्तत्त्व है। तमोनुद शब्द का अर्थ है—प्रलयगत अज्ञान ध्वंसकर्त्ता। श्रीमैत्रेय का कथन है ॥५८॥

ज्ञानादि का अङ्ग रूपमें (भा० ११।९।१६-२१) में प्रधान का वर्णन है। एक श्रीनारायण देव, ईश्वर, स्वीय माया के द्वारा सृष्ट इस जगत् को कल्पान्त में कालशक्ति के द्वारा संहार करके आत्माधार एवं अखिल आश्रयरूप में एक अद्वितीय होते हैं।१६। प्रधान पुरुषेश्वर—आत्मानुभव रूप कालशक्ति के द्वारा सत्त्वादि गुणसमूह की समता निर्म्माण करते हैं।१७। अनन्तर पर-ब्रह्मादि, अवर - मुक्त जीवसमूह उन सब के परम रूपमें अवस्थित होते हैं, अर्थात् कैवल्य मुक्ति नाम से अभिहित होते हैं। कारण, आप निर्विषय, स्वप्रकाश, आनन्द सन्दोह, एवं निरुपाधिक होते हैं।१८।

हे अरिन्दम! केवल आत्मानुभव रूप काल के द्वारा त्रिगुणात्मिका स्वीया माया को क्षोभित करके उक्त माया के द्वारा क्रियाशक्ति प्रधान महत्तत्त्व की सृष्टि करते हैं।१९। अहङ्कार के द्वारा सृजनकारिणी अतएव विश्वतोमुखी त्रिगुणात्मिका उक्त माया को सूत्रात्मा कहते हैं। जिसमें यह विश्व ग्रथित है, एवं जिसके द्वारा जीव संसार गति को प्राप्त करता है।२०।

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः ।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः ॥"२१॥

कालः कला यस्यास्तया स्वाधीनया मायया ; श्रुतिश्च (मु० १।१।७)—

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति ।
तथा सतः पुरुषात् केशलोमानि, तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम् ॥"७॥ इति ॥

श्रीदत्तात्रेयो यदुम् ॥

६० । तदेवं सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुरूपशुद्धजीवाव्यक्तशक्तेः परमात्मनः स्थूलचेतनाचेतन-वस्तु-रूपाण्याध्यात्मिक-जीवादि-पृथिव्यन्तानि जायन्त इत्युक्तम् । ततः केवलस्य परमात्मनो निमित्तत्वं शक्तिविशिष्टस्योपादानत्वमित्युभयरूपतामेव मन्यन्ते ; (ब्र०सू० १।४।२३) "प्रकृतिश्च

सर्वसम्वादिनी

सप्तत्रिंशद्वाक्याभासादिनान्ये आहुः,—यथा यमुना-निर्झरमुद्दिश्य 'त्वं कृष्णपत्नचसि—तत्पत्नी सैषा', सूर्य्य-मण्डलमुद्दिश्य च 'संज्ञा-पतिरसि—तत्पतिरयम्' इत्यधिष्ठात्रधिष्ठेययोरभिन्नाभिमानिनोर्लोक-वेदेष्वेक-शब्द-

जिस प्रकार ऊर्णनाभि निज हृदय से ऊर्णा को विस्तृत करके उसमें क्रीड़ा करतः पुनर्बार उसको ग्रास करता है । उस प्रकार महेश्वर इस जगत् के सृष्टि-स्थिति-लय कार्य्य करते हैं ।२१।

स्वामिकृत टीका—कारकसामग्रीनिरपेक्षां केवलादीश्वराद् विश्वसृष्टिसंहारावूर्णनाभि दृष्टान्तेन मया सम्भाविताविति वक्तुं प्रथमं संहारप्रकारमाह—एक इति सार्द्धत्रयेण । एकः,-कारकनिरपेक्षः । पूर्वसृष्ट-मिदं जगत् कालकलया कालशक्त्या संहृत्य ।१६। एक एवाद्वितीयः, सजातीयविजातीयभेदशून्योऽभूत् । कारणभूतासु सत्तादिसु शक्तिष्वपि साम्यं नीतासु सतीषु । गुणसाम्यं प्रधानं तदुपाधिः पुरुषश्च तयो-रीश्वरः ।१७। परावराणां—परे ब्रह्मादयः, अवरेऽन्ये च मुक्ता जीवा स्तेषां परमः । कुतः ? कैवल्यसंज्ञितो मोक्षशब्दाभिधेयः । तत्र हेतुः केवलेति । केवलो निर्विषयः अनुभवः स्वप्रकाशः, आनन्दानां सन्दोहः समूहः । परमानन्द इत्यर्थः । कुतः । निरुपाधिकः ।१८। अतः केवलादेव सृष्टिं दर्शयति । केवलेनात्मानुभवेन कालेन । सूत्रं, क्रियाशक्तिप्रधानं महत्तत्त्वं सृजति । जीव संसारहेतुभूते सूत्रे सृष्टेऽपि त्वं माभैरिति सम्बोधयति । अरिन्दम ! अरीन् रागादीन् दमयितुं समर्थः ।१९। सूत्रस्यैव व्यक्तिशब्देनोच्यमानस्य तामिति स्त्रीलिङ्गेन परामर्शः । त्रिगुणव्यक्तिं गुणत्रयकार्य्यम् । अतएव विश्वतोमुखम्, नानाविधं त्रिगुणात्मकं विश्वं अहङ्कारद्वारेण सृजन्तीम् । त्रिगुणकार्य्यस्य सूत्रसंज्ञायां कारणमाह—यस्मिन्निति । कारणभूते समष्टिरूपे यस्मिन्निदं विश्वं प्रोतं प्रथितम् । "वायुर्वै गौतमसूत्रं वायुना वै गौतमसूत्रेणायञ्च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानीति श्रुतेः । येन बात्मना प्राणरूपेण जीवः संसरति ।२०। तदेवं शिक्षितमर्थमुक्त्वा दृष्टान्तमाह—यथेति । हृदयादुद्गताम् । वक्त्रतो वक्त्रेण सन्तत्य प्रसार्य्य । विहृत्य—क्रीड़ित्वा ।२१।"

काल जिनकी कला है, उन स्वाधीन माया के द्वारा ईश्वर समस्त उपसंहार करते हैं । मुण्डक श्रुति (१।१।७) कहती है—यद्रूप ऊर्णनाभि सृजन एवं ग्रहण करता है, जिस प्रकार पृथिवी में औषधियों का आविर्भाव होता है, जिस प्रकार विद्यमान पुरुष से केश लोमसमूह उद्भूत होते रहते हैं । उस प्रकार अक्षर अर्थात् ईश्वर से विश्व उत्पन्न हुआ है । श्रीदत्तात्रेय श्रीयदु को कहे थे ॥५९॥

अतएव सूक्ष्म चिदचिद्वस्तु रूप जीव जिसकी अव्यक्त शक्ति है, उक्त परमात्मा से स्थूल चेतन अचेतन वस्तुरूप आध्यात्मिक जीवादि से लेकर पृथिवी पर्य्यन्त समस्त वस्तु उत्पन्न हुए हैं । तज्जन्य केवल परमात्मा उक्त समस्त कार्य्य के प्रति निमित्त कारण हैं, और शक्तिविशिष्ट रूप में उपादान कारण हैं । अतएव

प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुरोधात्" इत्यादौ। तदेवं तस्य सदा शुद्धत्वमेव। तत्र शक्तेः शक्तिमद-

सर्वसम्वादिनी

प्रत्ययनाभ्यां प्रयोगसहस्राणि दृश्यन्ते, तदधिष्ठातारमुद्दे ष्टुम्; तथा (छा० ६।८।७) 'तत्त्वमसि' इत्याद्यपि पृथिवी-जीव-प्रभृतीनां तदधिष्ठानतया प्रसिद्धिस्तु बृहती—(बृ० ३।७।३) 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् (शतपथ ब्रा० १४।६।७।३०) 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादिषु। ततोऽपि न वस्त्वैक्यमिति स्थितम्।

परमात्मा को निमित्त एवं उपादान कारण रूप में पण्डितगण मानते हैं। ब्रह्मसूत्र १।४।२३ "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुरोधात्" में इसका प्रतिपादन है।

गोविन्दभाष्य—एवं निरीश्वरं प्रधानवादं निरस्य सेश्वरं तमिदानीं निरस्यन् विश्वकारणतावादिवाक्यानि परस्मिन् ब्रह्मणि प्रवर्त्तयति "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय"। 'स ऐक्षत लोकान्नुसृजा" इत्यादीनि वचांसि श्रूयन्ते। किमेषु निमित्तमेव ब्रह्म मन्तव्यं किम्वा निमित्तोपादानरूपं तदिति वीक्षायां पूर्वपक्षो दर्श्यते। तथाहि यद्यप्युनिषदस्तस्माद्वा एतस्मादित्यादिभिर्वाक्यैर्जगत्कारणतया परं ब्रह्माहु स्तथापि तासु निमित्तमात्रता तस्य मन्तव्या। तदैक्षत स ऐक्षत इत्यादिषु वीक्षणपूर्वकसृष्टिवर्णनात् तत्पूर्वक स्रष्टारः खलु कुलालादयो घटादि निमित्तान्येव दृश्यन्ते जगदुत्पादे तु प्रकृतिरेव स्यात्। उपादानोपादेययोस्तयोः साधर्म्यदर्शनात्। न च निमित्तमेवोपादानमिति शक्यं वक्तुम्। लोके जड़स्य मृदादेर्घटाद्युपानत्वं चेतनस्य तु कुलालादेर्घटादिनिमित्तत्वमिति तयोर्भेदनियमात्। तथानेकप्रकारकसिद्धं च कार्य्यं वीक्ष्यते। तदेवं लोकसिद्धं भावमुपेक्ष्य यस्यैकस्यैव तदुभयत्वं वक्तु न ताः क्षमन्ते। अतो निर्विकारेण ब्रह्मण अधिष्ठिता विकारिणी प्रकृतिरेव विकृतस्य विश्वस्य जगत उपादानं ब्रह्म तु निमित्तमेव केवलम्। न चैतत् यौक्तिकम्। "विकार जननीमज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवान्। ध्यायतेऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेरिता पुनः। सूच्यते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठिता जगत्। गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी। सितासिता च रक्ता च सर्वकामदुधा विभोः। पिवन्तेनामविषमामविज्ञाताः कुमारकाः॥ एकस्तु पिवते देवः स्वच्छन्दोऽत्र वशानुगाम्। ध्यान क्रियाभ्यां भगवान् भुङ्क्तेऽसौ प्रसभं विभुः। सर्वसाधारणीं दोग्ध्रीं पीयमानां तु यज्वभिः। चतुर्विंशति संख्याकमव्यक्तं व्यक्तमुच्यते"। इति चुलिकोपनिषदि श्रवणात्। स्मृतिश्चैवमाह। "यथा सन्निधि-मात्रेण गन्धः क्षोभाय जायते। मनसो नोपकर्त्तृत्वात् तथासौ परमेश्वरः। सन्निधानाद् यथाकाशकालाद्याः कारणं तरोः। तथैवापरिणामेन विश्वस्य भगवान् हरिः। निमित्तमात्रमेवासौ सृष्टानां स्वर्गकर्मणि। प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः।" इत्याद्याः॥ एवं सिद्धौ क्वचिद् ब्रह्मोपादानता भासि वचांसि कथञ्चिदन्यथैव नेयानीत्येवं प्राप्ते—

"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्" ब्रह्मैव जगतः प्रकृतिरुपादानं कुतः, प्रतिज्ञेत्यादेः। श्रौतयोः प्रतिज्ञादृष्टान्तयोरानुगुण्यादित्यर्थः। "श्वेतकेतो यन्नु सौम्येदं महामना अनुचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेश-मप्राक्षीर्येनाश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमित्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानविषया प्रतिज्ञा श्रूयते छान्दोग्ये। सा किलादेशस्य उपादानत्वे सति सम्भवेत् कार्य्यस्य तदव्यतिरेकात्। निमित्तात् तस्याव्यतिरेकस्तु न कुलाल घटयो व्यतिरेकात्। दृष्टान्तेऽपि "यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्" इत्यादे-रुपादानविज्ञानात् कार्य्यविज्ञानविषयस्तत्रैव श्रुतः। स च निमित्तमात्राभ्युपगमे न सम्भवेत्। न हि कुलाले विज्ञाते घटो विज्ञायते। तदनुपरोधात् विश्वस्योपादानं च शब्दान्निमित्तं च ब्रह्मैवेति।२३।"

निरीश्वर प्रधानवाद का निरसन करके सेश्वर प्रधानवाद का निरसन करते हैं। समस्त कारणवाद का समन्वय ब्रह्म में ही है। श्रुति—"आत्मा से आकाश उत्पन्न है।" "जिससे समस्त भूतों की उत्पत्ति हुई हैं।" "सृष्टि के प्रथम, सत् ब्रह्म ही था" एवं अद्वितीय हैं। "एक होकर बहु भवन की इच्छा हुई।"

व्यतिरेकादनन्यत्वमुक्तम् । तथा सत्कार्य्यवादाङ्गीकारे स्वान्तःस्थितस्वधर्मविशेषाभिव्यक्ति-लब्धविकाशेन कारणस्यैवांशेन कार्य्यत्वमित्येवम् (छा० ६।१।४) "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादि-श्रुतिसिद्धं कार्यस्य कारणादनन्यत्वम्, कारणस्य तु कार्य्या-दन्यत्वमित्यायाति । तदेवं जगत्कारणशक्तिविशिष्टात् परमात्मनोऽनन्यदेवेदं जगतस्त्वसावन्य

सर्वसम्वादिनी

श्रीरामानुजीयास्त्वेवमाचक्षते (ब्र० सू० १।१।१—श्रीभाष्ये ११तम अनु०)—"तत्त्वमस्यादिवाक्येषु सामानाधिकरण्यं न निर्विशेषवस्त्वैक्यपरम्,—तत् त्वं पदयोः सविशेष-ब्रह्माभिधायित्वात् । सामानाधि-करण्यस्य प्रकारद्वयपरित्यागे प्रवृत्तिनिमित्तभेदासम्भवेन सामानाधिकरण्यमेव त्यक्तं स्यात् ; द्वयोः पदयो-

"प्रकृति के प्रति उन्होंने निरीक्षण किया" । इन सब वाक्यों से ब्रह्म निमित्त कारण हैं, अथवा विश्व के प्रति निमित्तोपादान कारण है ? विचार में प्रवृत्त होने से—निमित्तकारणता का सुस्पष्ट प्रमाण मिलता है, "इनसे समस्त उत्पन्न हुए हैं ।" कारण घट के प्रति कुलाल को निमित्त कारण ही माना जाता है, जगदुपादान प्रकृति है । उपादान उपादेय में साधर्म्य विद्यमान है । निमित्त ही उपादान है, ऐसा कहना सम्भव नहीं है । जड़ घट का उपादान जिस प्रकार जड़ मृत्तिका है, उस प्रकार कुलाल नहीं हो सकता है । कुलाल चेतन है । अतएव निर्विकार ब्रह्माधिष्ठिता प्रकृति जगत् कर्त्री है । "विकार जननी" रूप में प्रमाण है । अतएव सन्निधानमात्र से प्रकृति समस्त सृजन करती है, परमेश्वर निमित्तमात्र है । इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—

"ब्रह्म ही जगत् की प्रकृति हैं, अर्थात् उपादान कारण हैं । कारण श्रुतिस्थ प्रतिज्ञा, दृष्टान्त के अनुरोध से अर्थात् आनुगुण्य हेतु वैसा स्वीकार्य्य है । छान्दोग्य में उक्त है, हे सौम्य श्वेतकेतो ! तुमने साङ्ग वेदाध्ययन किया है, महामना हो, तुमसे पूछता हूँ, तुम क्या उस उपदेश को जानते हो, जिनको जानने से कुछ भी अवशेष नहीं रहता है । इत्यादि वाक्य में एक विज्ञान होने से समस्त विज्ञान की प्रतिज्ञा हो रही है । उपदेश्य वस्तु यदि उपादान हो तब उक्त प्रतिज्ञा सार्थक होगी । उपादान से कार्य्य का भेद नहीं रहता है । सुतरां कारण ज्ञान होने से ही कार्य्य का परिज्ञान होता है । कुलालादि निमित्त से घट पृथक् है । कारण ज्ञान से कार्य्य ज्ञान नहीं होता है ।

दृष्टान्त में कहा गया है—"जिस प्रकार एक मृत्पिण्ड को जानने से समस्त मृण्मय पदार्थों का विज्ञान होता है ।" इत्यादि श्रुति से उपादान विज्ञान ही कार्य्यविज्ञान के लिए उपयोगि है, प्राप्त होता है । ब्रह्म को निमित्तमात्र कहने से दृष्टान्त की सङ्गति नहीं होगी । कारण कुलाल ज्ञान से घट का ज्ञान कभी नहीं होता है । अतएव प्रतिज्ञा एवं दृष्टान्त की सारस्य रक्षा हेतु ब्रह्म को ही जगत् के निमित्तोपादान कारण मानना कर्त्तव्य होगा ।

तज्जन्य परमात्मा सर्वदा ही निज अन्तरङ्ग शक्ति में अवस्थित हैं । अर्थात् माया सम्पर्क विहीन है एवं शुद्ध हैं । इसमें शक्ति एवं शक्तिमान् में अन्यथा कथन हुआ है । शक्ति भी द्रव्य पदार्थ है, शक्तिमान् भी द्रव्य पदार्थ है, एक ही शक्तिमत् पदार्थ कार्य्योन्मुखिता के कारण शक्ति नाम से अभिहित होता है । सत्-कार्य्यवाद को स्वीकार करने पर भी उक्त सिद्धान्त पर्य्यवसित होता है, कार्य्योत्पत्ति के पहले कार्य्य कारण में अवस्थित रहता है । पश्चात् उसकी अभिव्यक्ति कार्य्य रूप में होती है, यह ही सत्कार्य्यवाद का सिद्धान्त है । इसमें भी स्वकारण में स्थित निजान्तरङ्ग धर्मविशिष्ट के द्वारा अभिव्यक्त से प्राप्त जो विकाश विशेष है, उसको ही कार्य्य कहते हैं । उससे कारण का ही अंश विशेष कार्य्य होता है । कारण छान्दोग्य श्रुति उसको ही कहती है । कारण विकार—कार्य्य जात वस्तुसमूह नामतः ही पृथक् है । किन्तु कारण स्वरूप मृत्तिका ही है । इस श्रुतिसिद्ध संवाद से बोध होता है कि—कार्य्यसमूह कारण से भिन्न नहीं होते हैं,

एवेत्याह (भा० १।५।२०)—

(६०) "इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो, यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः।
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि वै, प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम्॥"२०॥

इदं विश्वं भगवानिव भगवतोऽनन्यदित्यर्थः। तस्मादितरस्तटस्थशक्त्याख्यो जीवश्च स इवेति पूर्ववत्; अतएव (छा० ६।८।७) "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इति; (छा० ३।१४।१) "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति श्रुती। यतो भगवतः; भवतो भवन्तं प्रति प्रादेशमात्रं किञ्चिन्मात्रं दर्शितमित्यर्थः॥ श्रीनारदः श्रीवेदव्यासम्॥

सर्वसम्वादिनी

र्लक्षणा च। 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यत्रापि न लक्षणा,—भूत वर्त्तमान-कालसम्बन्धतयैक्य-प्रतीत्यविरोधात्। देश-भेद-विरोधश्च कालभेदेन परिहृतः; (छा० ६।२।३) 'तदैक्षत बहु स्याम्' इत्युपक्रमविरोधश्च। एक-विज्ञानेन सर्व-विज्ञान-प्रतिज्ञानञ्च न घटते। ज्ञानस्वरूपस्य निरस्त-निखिलदोषस्य सर्वज्ञस्य समस्त-कल्याण-

किन्तु कारण—कार्य्य से भिन्न है। अतएव जगत् कारण शक्तिविशिष्ट परमात्मा से जगत् भिन्न नहीं है, किन्तु जगत् से परमात्मा भिन्न हैं। इस विषय का प्राञ्जल वर्णन भा० १।४।२० में है—

"यह विश्व भगवान् से अभिन्न है, भगवान् किन्तु विश्व से भिन्न हैं। किन्तु विश्व उनसे पृथक् नहीं है। कारण—भगवान् से ही विश्व के उत्पत्ति, स्थिति, लय, कार्य्य होते हैं। वेदव्यास! आप सब जानते हैं, तथापि दिग्दर्शन निमित्त मैंने कुछ कहा है।

सन्दर्भ व्याख्या। यह विश्व भगवान् के सदृश है। अर्थात् भगवान् से पृथक् नहीं है। अतएव इतर तटस्था शक्तिस्वरूप जीव भी भगवत् सदृश है, अर्थात् भगवान् से पृथक् नहीं है। छान्दोग्य में वर्णित है—"समस्त जगत् ऐतदात्म्य अर्थात् ईश्वर से भिन्न नहीं है। छान्दोग्य (३।१४।१) समस्त जगत् ब्रह्म ही है। जिनसे—भगवान् से आपके प्रति प्रादेशमात्र किञ्चिन्मात्र मैंने कहा है।"

क्रमसन्दर्भः—"ननु (छा० ३।१४।१) "सर्वं खल्विदं ब्रह्म इति श्रूयते; ब्रह्म च भगवदेकरूपमेव, ततः कथं भगवत एव तादृशत्वम्? तत्राह, इदं हीति, हि यस्मादिदं भगवानिव, नतु भगवानेव स्यात्; यतोऽसौ विश्वस्मादितरो लक्षणः। कथं विश्वं भगवानिव, कथं वा भगवान् विश्वस्मादितरस्तत्राह, यत इति। विश्वस्य तत् कार्य्यरूपत्वात् केनचिदंशेनैव तद्रूपत्वं निरूप्यते। भगवतस्तत्कारणत्वात् परत्वम्। (श्वेता० ६।८) 'न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति श्रुत्यन्तात्। तत्र सर्वज्ञस्यापि भवतः सम्प्रत्यपरितोष एवायं प्रमाणमित्याह, तथापीति। तदेवमपि श्रीपरमात्मसन्दर्भे यदन्यथा व्याख्यातं, तत्तु नातिहृद्यमिति मन्तव्यम्।"

छान्दोग्य श्रुति में उक्त है—"परिदृश्यमान् विश्व ब्रह्म ही है। ब्रह्म एवं भगवान् एकरूप ही हैं। अतएव भगवान् कैसे विश्वरूप होते हैं? उत्तर में कहते हैं—यह ही विश्व। जिससे यह विश्व भगवान् ही नहीं है। कारण—भगवान् विश्व से भिन्न धर्मावलम्बी हैं, भिन्नस्वरूप हैं। विश्व भगवत् सदृश कैसे होगा? कैसे भगवान् विश्व से पृथक् स्वरूप का होगा? उत्तर, यतः—भगवान् का कार्य्य विश्व है। भगवान् कारण हैं, अतएव भिन्न हैं। किसी अंश में ही विश्व को भगवद्रूप कहते हैं। विश्व का कारण स्वरूप होने से ही विश्व से भगवान् पृथक् हैं। श्वेताश्वतर में उक्त है—"भगवान् के समान एवं अधिक कोई नहीं है।" आप सर्वज्ञ होते हुए भी सम्प्रति आप में जो असन्तोष है, उसका कारण ही है। आपने उन तत्त्व की उपलब्धि यथार्थ रूप से नहीं की। मैंने यत् किञ्चित् आपके निकट वर्णन किया। अतएव परमात्मसन्दर्भ में अन्यथा व्याख्या हुई है, वह अति हृद्य नहीं है।

स्वामिटीका—"तदेवं भगवल्लीलां प्राधान्येनानुवर्णय इत्युक्तं तत्र को भगवान् का च तस्य लीला

६१। स्पष्टमेवाह (भा०२।७।५०)—

(६१) "सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावनः।
समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत् ॥"५०॥

सोऽयं समासेनैव संक्षेपेणाभिहितः। कथं तटस्थलक्षणेनैवेत्याह—सत् कार्य्यं स्थूलमशुद्ध-

सर्वसम्वादिनी

गुणातनकस्याज्ञान तत्कार्य्यानित्तापुरुषार्थाश्रयत्वञ्च न सम्भवति। बाधार्थत्वे च सामानाधिकरण्यस्य तत्-त्वं-पदयोरधिष्ठानलक्षणा निवृत्तिलक्षणा चेति लक्षणादयस्त एव दोषाः।

इयांस्तु विशेषः।—नेदं रजतमितिवदप्रतिपन्नस्यैव बाधस्यागत्या परिकल्पनम्, तत्पदेनाधिष्ठानातिरेकि-

इत्यपेक्षायामाह—इदं विश्वं भगवानेव, स तु अस्मादितरः। ईश्वरात् प्रपञ्चो न पृथक्, ईश्वरस्तु प्रपञ्चात् पृथगित्यर्थः। तत्र हेतुः—यतो भगवतो हेतो जगतेः स्थित्यादयो भवन्ति। अनेनैव लीलापि दर्शिता। यद्वा इदं विश्वं भगवान् इतर इव यः स जीवोऽपि भगवान्। चेतनाचेतनप्रपञ्चस्तद्व्यतिरेकेण नास्ति स एवैकस्तत्त्वमित्यर्थः। हि शब्देन "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"त्यादि श्रुतिप्रमाणं सूचितम्। तद्धि स्वयमेव भवान् वेद। प्रादेशमात्रमेकदेशमात्रं—आचार्य्यवान् पुरुषोवेद इत्यादि श्रुत्यर्थ सम्पादनाय प्रदर्शितम्।"

भगवान् की लीला वर्णन के लिए उपदिष्ट होकर लीला क्या है? जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं—यह विश्व भगवान् ही हैं। भगवान् किन्तु विश्व से पृथक् हैं। कारण—कार्य्य से पृथक् होता ही है। कारण—जगत् की स्थिति प्रभृति ईश्वर से होते हैं। इससे लीला का कथन हुआ है। यह विश्व भगवान् है। उनसे भिन्न जो जीव है, वह भी भगवान् हैं। चेतनाचेतन प्रपञ्च भगवान् को छोड़कर कुछ भी नहीं हैं। भगवान् ही एक तत्त्व हैं। हि शब्द के द्वारा—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" श्रुति को कहा गया है। आप तत्त्व को स्वयं जानते हैं। तथापि एकदेश का वर्णन मैंने किया है। आचार्य्यवान् व्यक्ति ही परतत्त्व को जान सकता है। उक्त श्रुत्यर्थ को प्रकाशित करने के लिए ही मैंने कहा है।

श्रीनारद श्रीवेदव्यास को कहे थे ॥६०॥

सुस्पष्ट रूप से कहते हैं—"ब्रह्मा बोले हे तात! विश्व प्रकाश भगवान् का स्वरूप को मैंने कहा। हे पुत्र! भगवान् हरि व्यतीत कार्य्य अथवा कारण कुछ भी नहीं है। किन्तु आप कारण कार्य्य होने पर भी आप कार्य्यकारणातीत हैं।

स्वामिटीका—"अध्यायत्रयस्यार्थमुपसंहृत्य कथयति। सोऽयं समासेन संक्षेपेणाभिहितः। तमेवाह, सदसत् कार्य्यं कारणञ्च, हरेरन्यन्न भवति। ननु हरेस्तदव्यतिरेकेण तत्गतविकारप्रसङ्गः स्यात्? न अन्यस्मात्। कारणभूतो हरिः कार्य्याद्व्यतिरिक्त इत्यर्थः।"

अध्यायत्रय का उपसंहार कर कहते हैं,—संक्षेप से मैंने कहा। कार्य्य एवं कारण श्रीहरि व्यतीत अपर कुछ नहीं है। हरि में विकारित्व प्रसक्ति होगी? नहीं, हरि कार्य्य से पृथक् हैं, कारण हैं।

क्रमसन्दर्भः—"सोऽयमिति। सोऽयं समासेन संक्षेपेण अभिहितः। कथम्? तटस्थलक्षणेनैवेत्याह—सत्कार्य्यं स्थूलमशुद्धजीवजगदाख्यं चेतनाचेतनं वस्तु, असत् कारणं सूक्ष्मं शुद्धजीव—प्रधानाख्यं चिदचिद्वस्तु च यत्, तत् सर्वं हरेरन्यत् न भवति, सूक्ष्मस्य तच्छक्तिरूपत्वात्, स्थूलस्य तत् कार्य्यरूपत्वादिति भावः। जगतस्तदनन्यत्वेऽपि शुद्धस्य तस्य तद्दोष साङ्कर्य्यं नास्तीत्याह, अन्यस्मादिति।"

संक्षेप से मैंने कहा। किस प्रकार? तटस्थ लक्षण के द्वारा ही कहा। सत्कार्य्यस्थूलं—अशुद्ध जीव प्रधान नामक चिदचिद् वस्तु हैं। वे सब ही श्रीहरि ही हैं। सूक्ष्म—श्रीहरि की शक्ति है, स्थूल—उसका कार्य्यरूप है। जगत् से श्रीहरि अभिन्न होने पर भी श्रीहरि शुद्ध होने से अर्थात् कारणरूप होने से उनमें साङ्कर्य्य दोष नहीं है।

जीवजगदाख्यं चेतनाचेतनं वस्तु, असत्—कारणं सूक्ष्मं शुद्धजीवप्रधानाख्यं चिदचिद्वस्तु च यत् तत् सर्वं हरेरन्यन्न भवति, सूक्ष्मस्य तच्छक्तिरूपत्वात्, स्थूलस्य तत्कार्य्यरूपत्वादिति भावः। इदमेव श्रीहंसदेवेनोक्तम् (भा० ११।१३।२४) 'अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा' इति। जगतस्तदनन्यत्वेऽपि शुद्धस्य तस्य तद्दोषसाङ्कर्य्यं नास्तीत्याह— अन्यस्मादिति ।। श्रीब्रह्मा श्रीनारदम् ।।

६२। तत्रानन्यत्वे युक्तिं विवृणोति पञ्चभिः (भा० (७।१५।५७—

(६२) "आदावन्ते जनानां सद्बहिरन्तः परावरम्।
ज्ञानं ज्ञेयं वचो वाच्यं तमो ज्योतिश्च यत् स्वयम् ।।"५७।।

सर्वसम्वादिनी

धर्मानुपस्थापनेन बाधानुपपत्तिश्च। अधिष्ठानं तु प्राक्तिरोहित-स्वरूपं तत्-पदेनोपस्थाप्यत इति चेत्? न; प्रागधिष्ठानाप्रकाशे तदाश्रयभ्रम-बाधयोरसम्भवात्। भ्रमाश्रयमधिष्ठानमतिरोहितमिति चेत्? तदेवाधिष्ठान-स्वरूपं भ्रम-विरोधीति तत्प्रकाशे सुतरां न तदाश्रयभ्रम-बाधौ। अतोऽधिष्ठानातिरेकि-पारमार्थिक-धर्म-

सन्दर्भ व्याख्या—उक्त परमेश्वर का वर्णन संक्षेप से ही किया। कैसे तटस्थलक्षण के द्वारा प्रतिपन्न किया गया। सत्,-कार्य्य, स्थूल जगदाख्य अशुद्ध जीव चेतनाचेतन वस्तु। असत्—कारण, सूक्ष्म, प्रधानाख्य, शुद्ध जीव, चित् अचित् जो भी वस्तु हैं, समस्त वस्तु, ईश्वर से पृथक् भिन्न नहीं हैं। कारण सूक्ष्म, ईश्वर की शक्ति है, स्थूल, ईश्वर के कार्य्य रूप है। भा० ११।१३।२४ में श्रीहंसदेव ने इसको ही कहा है—"मनस वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः। अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ।।"२४

टीका—तत्र पञ्चात्मकत्वं प्रत्यक्षादि सिद्धमेवेति परमकारणाभेदेनोपपादयति मनसेति। मन आदिभिर्यद् गृह्यते तत्तदहमेवेत्यर्थः। अञ्जसा—तत्त्वविचारेण। एतेनैव सर्वात्मकोऽहमित्यञ्जसाप्युत्तरमुक्तं भवति।२४।

मुझ को छोड़कर अपर कुछ भी वस्तु नहीं है। मन, वाणी, दृष्टि एवं अन्य इन्द्रियों से जो कुछ भी देख रहे हो वे सब मैं ही हूँ। तत्त्व विचार के द्वारा सर्वात्मक रूप से मुझको ही जानना।

जगत् शक्तिरूप में ईश्वर से अभिन्न होने पर भी निज अन्तरङ्गाशक्ति से महीयान् ईश्वर जगत् के अशेष दोष से लिप्त नहीं होते हैं। उसको कहते हैं—(भा० २।७।५०)

"सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावनः। समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत् ।।" अर्थात् ईश्वर,—जगत् से भिन्न पदार्थ हैं, कारणरूप हैं।

क्रमसन्दर्भः—सोऽयमिति—सोऽयं समासेन संक्षेपेणाभिहितः। कथम्? तटस्थलक्षणेनैवेत्याह,—सत् कार्य्यं स्थूलं अशुद्धजीवजगदाख्यं चेतनाचेतनं वस्तु, असत् कारणं सूक्ष्मं शुद्धजीव-प्रधानाख्यं चिदचिद् वस्तु च यत्। तत् सर्वं हरेरन्यन्न भवति, सूक्ष्मस्य तच्छक्तिरूपत्वात्, स्थूलस्य तत् कार्य्यरूपत्वादिति भावः। जगतस्तदनन्यत्वेऽपि शुद्धस्य तस्य तद्दोषसाङ्कर्य्यं नास्तीत्याह - अन्यस्मादिति।

श्रीब्रह्मा श्रीनारद को कहे थे ।।६१।।

जगत् ईश्वर से भिन्न नहीं है, इसका विवरण भा० १।१५।५७-५८-५९-६० के द्वारा कहते हैं—देहादि के आदि में कारणत्व रूप में, अन्त में, अवधित्व रूप में जो वस्तु वर्त्तमान है, उसमें भोग्य एवं भोक्ता, उच्च एवं नीच, अप्रकाश एवं प्रकाश स्वरूप है, वह ज्ञानी जीव ही है। अर्थात् जीव व्यतीत अपर कोई वस्तु नहीं है, किससे वह मुग्ध होगा?

जनानां देहादीनामादौ कारणत्वेनान्ते चावधित्वेन यत् परमात्मलक्षणं चैतन्यं सर्वकारणं वस्तु सद्वर्त्तमानम्, तदेव स्वयं वहिर्भोग्यमन्तर्भोक्तृ परमवरञ्चोच्चनीचं तमोऽप्रकाशः, ज्योतिः प्रकाशश्च स्फुरति, नान्यत् । अन्यस्य तद्विना स्वतः स्फुरणानिरूप्यत्वादिति भावः ॥

६३ । ननु कथं तर्हि तस्मादत्यन्तपृथगिवार्थजातं प्रतीयते ? तत्राह (भा० ७।१५।५८)—

(६३) "आबाधितोऽपि ह्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः ।
दुर्घटत्वादैन्द्रियकं तद्वदर्थविकल्पितम् ॥"५८॥

आबाधितस्तर्कविरोधेन सर्वतो बाधितः स्वातन्त्र्यसत्तायाः सकाशान्निरस्तोऽपि यथा आभासः सूर्य्यादिप्रतिरश्मिर्बालादिभिः पृथक् प्रकाशमानतादर्शनाद्वस्तुतया स्वतन्त्रपदार्थतया स्मृतः कल्पितः, तद्वदैन्द्रियकं सर्वं मूढ़ैः स्वतन्त्रार्थत्वेन विविधं कल्पितम्, तत्तु न तत्त्वदृष्ट्या, स्वातन्त्र्यनिरूपणस्य दुर्घटत्वादित्यर्थः ॥

६४ । तदेवाह द्वाभ्याम् (भा० ७।१५।५९)—

(६४) "क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया न कतमापि हि ।
तत्सङ्घातो विकारोऽपि न पृथङ् नान्वितो मृषा ॥"५९॥

सर्वसम्वादिनी

तत्तिरोधानानभ्युपगमे भ्रान्ति-बाधौ दुरुपपादौ । अधिष्ठाने हि पुरुषमात्राकारे प्रतीयमाने तदतिरेकिणि पारमार्थिके राजत्वे तिरोहिते सत्येव बाधत्व-भ्रमः । राजत्वोपदेशेन च तन्निवृत्तिर्भवति, नाधिष्ठानमात्रोपदेशेन ;—तस्य प्रकाशमानत्वेनानुपदेश्यत्वात्, भ्रमानुपमर्द्दित्वाच्च ।" तस्मान्नाभेदवादः सङ्गच्छते ।

सन्दर्भ व्याख्या—जनों के देहादि का प्रथम कारण रूप में अवशेष में अवधि रूपमें जो परमात्मस्वरूप सर्वकारण वस्तु हैं, सत् अर्थात् वर्त्तमान हैं। आप स्वयं बाहर में भोग्य हैं, एवं अन्तर में भोक्ता हैं। पर-अवर, उच्च-नीच, तम—अर्थात् अप्रकाश, ज्योति—अर्थात् प्रकाश रूप में जो वस्तु स्फूर्त्ति प्राप्त हैं, वे सब उक्त परमात्म लक्षण वस्तु से पृथक् नहीं है। कारण—परमात्मा व्यतीत किसी भी वस्तु स्वतः स्फूर्त्ति प्राप्त नहीं होती हैं।

तब कैसे परमात्मा से अत्यन्त पृथक् रूप में समस्त पदार्थों की प्रतीति होती है ? कहते हैं—(भा० ७।१५।५८) हे राजन् ! प्रतिविम्वसमूह युक्तिविरुद्ध हेतु सर्वतोभावेन बाधित होने से भी 'वस्तु' शब्द से कथित होते हैं। तद्रूप इन्द्रियसमूहात्म देह, अर्थ रूप में कल्पित होता है। सत्य है, किन्तु दुर्घटशक्ति प्रयुक्त ही है, वस्तुतः नहीं।

सन्दर्भ व्याख्या—आबाधित तर्क विरोध के द्वारा सर्वतोभावेन बाधित है। अथात् स्वतन्त्र सत्ता से निरस्त होकर भी आभास अर्थात् सूर्य्यादि के प्रतिविम्व को बालकगण पृथक् प्रकाशमान देखकर पृथक् वस्तु मानते हैं, उस प्रकार इन्द्रिय समूहात्मक देह समूह स्वतन्त्र रूप से मूढ़ जन के द्वारा अनेक प्रकार से कल्पित हुए हैं। किन्तु तत्त्व दृष्टि से वे सब स्वतन्त्र नहीं हैं। कारण स्वतन्त्र निरूपण करना दुर्घट है।

श्लोक द्वय के द्वारा उक्त विषय को कहते हैं—(भा० ७।१५।५९) पृथिवी प्रभृति पञ्चभूतों की छाया, ऐक्यबुद्धयालम्बनरूपा, देहादि संघातारम्भ परिणामों के मध्य में नहीं है। जिस प्रकार वृक्षसमूह का संघात बन है, तद्रूप पञ्चभूतों का संघात रूप देह नहीं है। कारण—एकदेश का आकर्षण से समूह का आकर्षण होता है। एक वृक्ष का आकर्षण से बन का आकर्षण नहीं होता है। इस प्रकार विकार—

क्षित्यादीनां पञ्चभूतानां छायैक्यबुद्ध्यालम्बनरूपं देहादिसंघातारम्भपरिणामानां मध्ये कतमाप्यन्यतमापि न भवति ; न तावत्तेषां सङ्घातो वृक्षाणामिव बनम्, एकदेशाकर्षणे सर्वाकर्षणानुपपत्तेः ; न ह्येकस्मिन् वृक्ष आकृष्टे सर्वं बनमाकृष्यते ; न च विकार आरब्धोऽवयवी ; अपि-शब्दात् परिणामोऽपि न । कुतः ? स किमवयवेभ्यः पृथगारभ्यते परिणमते च तदन्वितो वा । न तावदत्यन्तं पृथक्, तथा अप्रतीतेः ; न चान्वितः ; स किं प्रत्यवयवं सर्वोऽप्यन्वेति, अंशेन वा ? आद्येऽङ्गुलिमात्रेऽपि देहबुद्धिः स्यात्, द्वितीये तस्याप्यंशाङ्गीकारे सत्यनवस्थापातः स्यात् ; अतो देहादेः स्वातन्त्र्येणावस्थितिर्मृषैवेति ॥

६५ । एवं देहादेः स्वातन्त्र्येणानिरूप्यत्वमुक्त्वा तद्धेतूनां क्षित्यादीनामपि तथैवानिरूप्यत्वमाह (भा० ७।१५।६०)—

(६५) "धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना ।
न स्युर्ह्यसत्यवयविन्यसन्नवयवोऽन्ततः ॥"६०॥

धारयन्तीति धातवो महाभूतानि, तन्मात्रैः सूक्ष्मैरवयवैर्विना न स्युः, अवयवित्वात् ;

सर्वसम्वादिनी

(ब्र० सू० १।१।१—श्रीभाष्ये ११२तम, ११३तम अनु०) "[औपचारिक-] भेदाभेदवादे तु—ब्रह्मण्येवोपाधि-संसर्गात्तत्प्रयुक्ता जीवगतदोषा ब्रह्मण्येव प्रादुःस्युरिति निरस्त-निखिलदोष-कल्याण-गुणात्मक-ब्रह्मात्मभावोपदेशा हि विरोधादेव परित्यक्ताः स्युः ।

अर्थात् आरब्ध अवयवी अथवा परिणाम भी नहीं है । कारण—वह अवयव से पृथक् नहीं है, एवं किसी के सहित अन्वित नहीं रहता है । सुतरां मिथ्या ही है ।

सन्दर्भ व्याख्या—पृथिवी प्रभृति पञ्चभूतों की छाया, ऐक्यबुद्धि के द्वारा अबलम्बन रूप देहादि, का सङ्घात, आरम्भ एवं परिणाम, एक भी वस्तु नहीं है । जिस प्रकार वृक्ष समूह का सङ्घात बन है, उस प्रकार पञ्चभूतों का सङ्घात देह नहीं है । कारण एकदेश का आकर्षण से सब का आकर्षण नहीं होता है । देह का एकदेश आकर्षण करने से सब का आकर्षण होता है । बनस्थ एक वृक्ष का आकर्षण करने से बन का आकर्षण नहीं होता है । इस प्रकार विकार आरब्ध अवयव, अपि शब्दाधीन परिणाम भी कैसे होगा ? वह विकार परिणाम, क्या अवयव रूप पृथिव्यादि से पृथक् आरब्ध होता है, परिणाम होता है । अथवा उससे अन्वित होता है । अत्यन्त पृथक् नहीं है । कारण – उस प्रकार बोध नहीं होता है । वह विकार-परिणाम अन्वित नहीं है । वह क्या प्रत्येक अवयव युक्त होता है, अथवा, अंश के द्वारा होता है । प्रथमतः—अङ्गुलि मात्र दर्शन से ही देह बुद्धि होती है । द्वितीयतः—उसे देहांश मान लेने पर अनवस्था होगी । अतएव देहादि का अवस्थान स्वतन्त्र रूपसे—मिथ्या ही है ।

इस प्रकार देहादि का स्वतन्त्र रूप से अनिरूपण को कहकर देहादि का कारण रूप पृथिव्यादि का भी अनिरूप्यत्व को कहते हैं । (भा० ७।१५।६०) जिस प्रकार देहादि मिथ्या है, उस प्रकार उसके हेतुस्वरूप पृथिव्यादि भी मिथ्या है । कारण, महाभूत समूह अवयवी हैं, सुतरां सूक्ष्म अवयव व्यतीत वे सब नहीं हो सकते हैं । परन्तु अवयवी उक्त प्रकार से असत् अर्थात् मिथ्या होने पर भी अवयव भी असत् होगा ।

सन्दर्भ व्याख्या – धारण करते हैं, अतएव धातु कहा जाता है । धातु शब्द से क्षित्यादि पञ्चभूतों का ग्रहण होता है । तन्मात्र—सूक्ष अवयव के बिना वे सब भी नहीं रह सकते हैं । कारण अवयवी है ।

तेषामपि तर्ह्यवयव एव स्वतन्त्र इति चेत्तत्राह—उक्तप्रकारेणावयविनि निरूपयितुमसति अवयवोऽप्यन्ततो निरूपयितुमसन्नेव स्यात्। अवयविप्रतीत्यन्यथानुपपत्तिं विना परमाणु-लक्षणावयवसद्भावे प्रमाणाभावादित्यर्थः; तदुक्तं पञ्चमे (भा० ५।१२।९) "एवं निरुक्तं क्षिति-शब्दवृत्तम्" इत्यादि। तस्मादैक्यबुद्ध्यालम्बनरूपं यत् प्रतीयते, तत् सर्वत्र परमात्मलक्षणं सर्वकारणं वस्त्वेवेति साधूक्तम्—"आदावन्ते जनानां सद्" इत्यादिना। एवमेव तृतीये-

सर्वसम्वादिनी

"स्वाभाविक-भेदाभेद-वादेऽपि"- ब्रह्मणः स्वत एव जीवभावाभ्युपगमाद्गुणवद्दोषाश्च स्वाभाविका भवेयुरिति निर्दोष-ब्रह्म-तादात्म्योपदेशो विरुद्ध एव।

"केवल-भेदवादिनां"—चात्यन्तभिन्नयोः केनापि प्रकारेणैक्यासम्भवादेव ब्रह्मात्मभावोपदेशा न सम्भवन्तीति

अवयव समुदाय को लेकर ही अवयवी बनता है। अवयवसमूह स्वतन्त्र होने से अवयवी का निरूपण करना असम्भव होगा। एवं वह असत्य ही होगा। अवयवि वस्तु निरूपण न होने से अवयव का निरूपण नहीं होगा। अवयवी मिथ्या होने से सुतरां अवयव निरूपण भी मिथ्या होगी। अवयव ज्ञान की अन्य प्रकार से उपपत्ति न होने से परमाणुस्वरूप अवयव ही सत्य होगा। कारण अन्य प्रमाण का अभाव विद्यमान है। सारार्थ यह है कि—जहाँ पर मिथ्या परमाणु ही अवयव है, वहाँ समस्त जगत् असत्य होगा—उसमें असम्भव क्या है?

स्वामिटीका—एवं देहादेर्मिथ्यात्वमुक्त्वा तद्धेतूनां क्षित्यादीनां अपि मिथ्यात्वमाह धातव इति। धावन्तीति धातवः, महाभूतानि तन्मात्रैः सूक्ष्मैरवयवैर्विना न स्युः, अवयवित्वात्। तेषामपि तर्ह्यवयः सत्य इति चेत् तत्राह। उक्त प्रकारेण अवयविनि असति अवयवोऽप्यन्ततोऽसन्नेव स्यात्। अवयविप्रतीत्य-न्यथानुपपत्तिं विना तत् सद् भावे प्रमाणाभावादित्यर्थः। तदुक्तं पञ्चमस्कन्धे—(५।१२।९) "एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्तमित्यादि।" एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्तमसन्निधानात् परमाणवो ये।
अविद्यया मनसा कल्पितास्ते येषां समूहेन कृतो विशेषः॥

टीका—"तर्हि क्षितेः सत्यता स्यात्? तत्राह। एवं क्षितिशब्दस्यापि वृत्तं वर्त्तनम् अर्थं विनैव निरुक्तम्। यद्वा क्षितिशब्दस्य वृत्तं यस्मिन् तदपि मिथ्यात्वेन निरुक्तमित्यर्थः। कुतः? असत्सु सूक्ष्मेषु परमाणुषु स्वकारणभूतेषु निधानात् लयात्, अतः परमाणुव्यतिरेकेण क्षितिर्नास्तीत्यर्थः। परमाणव स्तर्हि सत्याः स्युः? तत्राह। ते मनसा कार्य्यान्यथा अनुपपत्त्या वादिभिः कल्पिताः। कल्पना बीजमाह। येषां समूहेन विशेषः कृतः। येषां समूहः, पृथ्वीबुद्ध्यालम्बनमित्यर्थः। अवयविनो निरस्तत्वात् समूहग्रहणम्। तथापि सत्याः स्युः? न, अविद्यया प्रपञ्चस्य भगवन्मायाविलसितत्वात्—अज्ञानेन कल्पिताः॥"

इस प्रकार जिसमें पृथिवी शब्द का व्यवहार है, उसे भी मिथ्या जानना। कारण, वह भी निज कारणभूत परमाणु में लीन होता है। 'परमाणुसमूह ही नित्य है', ऐसा न मानना। मनोद्वारा कार्य्य की अनुपपत्ति हेतु परमाणु समूह की कल्पनावादिगण के द्वारा होती है। उसके समूह से पृथिवी प्रभृति पदार्थ का बोध होता है। उससे विशेष पदार्थ की सृष्टि होती है। किन्तु यह प्रपञ्च भगवत् मायाशक्ति विलसित है। किन्तु जो भी हो, किसी प्रकार से उक्त पदार्थसमूह असत्य नहीं है।

अतएव ऐक्य बुद्धि के द्वारा अबलम्बन रूप देहादि का ज्ञान होता है, वे सब ही परमात्म स्वरूप सर्व कारण वस्तु ही हैं। अतएव भा० ७।१५।५७ का—आदावन्ते जनानां सद्बहिरन्तःपरावरम्।
ज्ञानं ज्ञेयं वचो वाच्यं तमो ज्योतिश्च यत् स्वयम्॥"
कथन सर्वोत्तम है।

टीका—तत्र हेतुमाह - आदाविति। जनानां देहादीनां, आदौ कारणत्वेन, अन्ते -चावधित्वेन, यत्

ऽप्युक्तम् (भा० ३।६।१-३)—

"इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः।
प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः ॥१॥
कालसंज्ञां ततो देवीं विभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः।
त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत् ॥२॥
सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम्।
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म्म प्रबोधयन् ॥३॥" इति।

अतएव (सुबाल० ७।१) **"यस्य पृथिवी शरीरम्" इत्यादिश्रुतौ सर्वस्य परमात्मशरीरत्वेन प्रसिद्धिः, परमात्मनस्तु शरीरित्वेन। तदेवमवयवरूपेण प्रधानपरिणामः सर्वत्रावयवी तु परमात्मवस्त्वेवेति सिद्धम्। ततोऽप्यमिथ्यात्वमेव जगत उपपद्येत ॥**

सर्वसम्वादिनी

सर्ववेदान्त-परित्यागः स्यात्।

"निखिलोपनिषत् प्रसिद्धं कृत्स्नस्य ब्रह्म-शरीर-भावमातिष्ठमानैः कृत्स्नस्य ब्रह्मात्म-भावोपदेशाः सर्वे सम्यगुपपादिता भवन्ति। जाति-गुणयोरिव द्रव्याणामपि शरीर-भावेन विशेषणत्वेन 'गौरश्वो मनुष्यो देवो जातः पुरुषः कर्मभिः' इति सामानाधिकरण्यं लोक-वेदयोर्मुख्यमेव दृष्टचरम्। जातिगुणयोरपि द्रव्य-प्रकार-

सत् तथा वहिर्भोग्यम्। अन्तर्भोक्तृ परममवरञ्च, उच्चनीचम्। तमोऽप्रकाशः ज्योतिः प्रकाशः, तत्तु सर्वं अयं ज्ञानी स्वयमेव। नत्वस्माद्व्यतिरिक्तं वस्तु किञ्चिदस्ति येन मुह्येदित्यर्थः।

इस प्रकार कथन ही भा० ३।६।१-३ में हुआ है। मैत्रेय बोले—ईश्वर के शक्तिस्वरूप महत्तत्त्व समूह परस्पर अमिलित होकर अवस्थित होने से वे सब विश्व रचना करने में सक्षम नहीं होते हैं। भगवान् उन सबों से यह वृत्तान्त अवगत हुए थे।१।

उस समय काल के द्वारा जिसका उद्बोध होता है, उस प्रकार शक्ति को अवलम्बन पूर्वक अर्थात् संहनन कारिणी प्रकृति के सहित अन्तर्यामित्व रूप में प्रयोविंशति में अर्थात् महत्तत्त्व, अहङ्कार तत्त्व, तथा शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, स्वरूप पञ्च तन्मात्र एवं पञ्च महाभूत, एकादशेन्द्रिय में प्रविष्ट हुए।२।

क्रियाशक्ति के द्वारा उक्त समूह तत्त्व में प्रवेश के अनन्तर उसकी क्रिया अथवा जीव का अदृष्ट, जो विलीन प्रलय काल में था, उसे प्रकाश कर, उक्त भिन्न भिन्न तत्त्वसमूह को संयुक्त किये थे।३।

टीका—स्वशक्तीनां, असमेत्य-अमिलित्वा सतीनां स्थितानाम्। प्रसुप्तं—लोकतन्त्रं विश्वरचना यासाम्। यद्वा प्रसुप्त जीवोपकरणानां गतिं—स्थितिं दृष्ट्वा अविशदित्युत्तरेणान्वयः।१। कालेन संज्ञा उद्बोधो यस्याः कलयति—क्षोभयति स्वकार्य्याणीति वा कालसंज्ञा—प्रकृतिः। तां शक्तिम्। प्रकृत्या सह प्रवेशात्। त्रयोविंशतितत्त्वानामित्युक्तम्। अन्तर्य्यामितया प्राविशत्।२। चेष्टारूपेण—क्रियाशक्त्या। कर्म तेषां क्रियां, जीवानामदृष्टं वा।३।

अतएव सुबालोपनिषद् (७।१) में वर्णित है—पृथिवी जिनका शरीर है, इत्यादि श्रुति प्रमाण से प्राप्त होता है कि—समस्त जगत् परमात्मा का शरीर है। किन्तु परमात्मा की प्रसिद्धि शरीरी रूप में ही है। अतएव अवयव रूप में प्रधान का ही परिणाम है, अवयवी किन्तु परमात्मा वस्तु ही है। यह सिद्धान्त सर्वत्र प्रसिद्ध है, एवं स्वीकृत है। उक्त हेतु ही जगत् का अमिथ्यात्व उपपन्न होता है ॥६५॥

६६। ननु यदि परमात्मवस्त्वेव सर्वत्रावयवी देहः स्यात्ततश्च तत्रैव ब्राह्मणत्वादिसंज्ञा-प्राप्तेर्गुणदोषहेतु-विधिनिषेधावपि स्याताम्, तौ च न सम्भवतः, तस्मादन्य एवावयवी युज्यते, इत्याशङ्क्याह (भा० ७।१५।६१)—

(६६) "स्यात् सादृश्यभ्रमस्तावद्विकल्पे सति वस्तुनः ।
जाग्रत्स्वापौ यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता ॥"६१॥

वस्तुनः परमात्मनो विकल्पे संशये सतीति तस्य तादृशत्वेन निर्णयो यावन्न स्यादित्यर्थ, तावदेव तस्मात् सर्वैक्यबुद्धिनिदानात् पृथग्देहैक्यबुद्धिः सादृश्यभ्रमः स्यात्, पूर्वापरावयवानु-सन्धाने सति परम्परमासज्यैकत्र स्थितत्वेनावयवत्वसाधारण्येन चैक्यसादृश्यात् प्रत्यवयव-मेकतया प्रतीतेः, सोऽयं देह इति भ्रम एव भवतीत्यर्थः, प्रतिवृक्षं तदिदं बनमितिवत्; यथोक्तं स्वयंभगवता (भा० ११।२२।४५)—

सर्वसम्वादिनी

त्वमेव 'षण्डो गौः, शुक्लः पटः' इति सामानाधिकरण्य-निबन्धनम् । मनुष्यत्वादि विशिष्ट-पिण्डानामप्यात्मनः प्रकारतयैव पदार्थत्वात् 'मनुष्यः पुरुषः षण्डो योषिदात्मा जातः' इति सामानाधिकरण्यं सर्वत्रानुगतमिति प्रकारत्वमेव सामानाधिकरण्य-निबन्धनम्; न परस्पर-व्यावृत्ता जात्यादयः । स्वनिष्ठानामेव हि द्रव्याणां

यदि परमात्म वस्तु ही सर्वज्ञ अवयवी देह है, तब उक्त देह में ब्राह्मणत्वादि संज्ञाप्राप्ति से गुण दोष हेतु विधि-निषेध भी है, इस प्रकार विधि-निषेध की सम्भावना नहीं है । तज्जन्य ईश्वर से भिन्न अवयवी मानना समीचीन है । इस प्रकार आशङ्का कर कहते हैं—(भा० ७।१५।६१) अवयवी की असत्ता को मान लेने से आगमापायि बाल्यादि अवस्था में "यह वह देवदत्त है" इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी ? उत्तर । अविद्या का विकल्प होने से पूर्व पूर्व आरोप के सादृश्य हेतु "यह वह है" इस प्रकार भ्रम हो सकता है । किन्तु जब तक अविद्या की निवृत्ति नहीं होती है, तब तक उक्त भ्रम रह ही जाता है । हे राजन् ! यदि सब कुछ ही मिथ्या है । तब विधि-निषेध की स्थिति कैसे हो सकती है । तब शास्त्र की विधि-निषेधता कैसे रहेगी ? ऐसी आशङ्का नहीं हो सकती है । स्वप्न के मध्य में कभी कभी जिस प्रकार जाग्रत् एवं निद्रा की व्यवस्था होती है, उसके समान ही शास्त्र की विधि-निषेधता की व्यवस्था हो सकती है ।

वस्तु अर्थात् परमात्म चैतन्य की विविध कल्पना होने से अर्थात् संशय होने पर वैसा होता है । जब तक उन परमात्मा का निर्णय अवयवत्व रूप में नहीं होता है, तब तक ही एक ज्ञानस्वरूप उक्त परमेश्वर से पृथक् उक्त ऐक्य बुद्धि, सादृश्य भ्रम से होती है । पूर्वापर अवयव का अनुसन्धान होने से परस्पर मिलित होकर एकत्र अवस्थित होने से अवयव साधारण के द्वारा ऐक्य सादृश्य प्रयुक्त प्रति अवयव में एक ज्ञान हेतु "वह यह देह है" इस प्रकार भ्रम होता है । जिस प्रकार प्रति वृक्ष को देखकर ही "वह यह बन है" ऐसा ज्ञान होता है, उस प्रकार ।

टीका—नन्ववयविनोऽभावे, आगमापायिषु बाल्यादिषु "सोऽयं देवदत्तः" इति प्रत्यभिज्ञानं न स्यात् । तदुक्तं भट्टैः—आविर्भावतिरोभावधर्मकेष्वनपायि यत् तद्धर्मीति तत्राह स्यादिति । वस्तुनः परमात्मनो विकल्पे भेदे असति । यद्वा वस्तुनोऽविद्यया विकल्पे सति पूर्वपूर्वारोपसादृश्यात् स एवेति भ्रमः स्यात् । स च तावदेव यावत् अविद्या निवृत्तिः । ननु सर्वमिथ्यात्वे शास्त्रस्य विधिनिषेधादि कथं ? तत्राह—स्वप्नमध्ये जाग्रत्स्वापव्यवस्था यथेति ।६१।

"सोऽयं दीपोऽर्च्चिषां यद्वत् स्रोतसां तदिदं जलम् ।
सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा धीर्गीर्मृषायुषाम् ।।"४५।। इति ।

ततश्च तत्रैव ब्राह्मणत्वाद्यभिमाने सति स्वप्नविषयकौ जाग्रत्स्वप्नाविव तद्विषयकौ विधि-निषेधौ स्यातामित्याह—जाग्रदिति । तथा तेन प्रकारेण विधेर्विधिता निषेधस्य निषेधतेत्यर्थः ।
एवम् (भा० ११।२८।१)—

"परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् ।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च ।।"१।।

इत्यादिरेकादशाष्टाविंशतितमाध्यायेऽपि ज्ञेयः । तत्र च (भा० ११।२८।४) "किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्" इत्यादिकं 'स्यात् सादृश्यभ्रमस्तावत्' इत्याद्यनुसारेणैव व्याख्येयम् ।

सर्वसम्वादिनी

कदाचित् क्वचिद्द्रव्य-विशेषणत्वे मत्वर्थीय-प्रत्ययो दृष्टः—'दण्डी कुण्डली' इति ; न पृथक्प्रतिपत्ति-स्थित्य-नर्हाणां द्रव्याणाम् ; तेषां विशेषणत्वं सामानाधिकरण्यावसेयमेव ।

ननु नियमेन गोत्वादिवदात्माश्रयतथैवात्मना सह मनुष्यादि-शरीरं दृश्यत इत्यतो मनुष्य आत्मेति

भा० ११।२२।४५में भगवान् ने भी कहा है- जिस प्रकार तेज के विषय में "वह यह दीप है" स्रोत में—"वह यह जल है" इस प्रकार ज्ञान होता है। उस प्रकार जीवित अविवेकी मनुष्य का 'वह यह है' इस प्रकार मिथ्या ज्ञान होता है।

तज्जन्य ही उस देह में ब्राह्मणत्वादि अभिमान होने से स्वप्न विषयक जाग्रत् स्वप्न के समान देहाभिमान विषयक विधिनिषेध भी होते हैं।

टीका—"कथं तर्हि प्रत्यभिज्ञा, तद्वदेव सादृश्यावलम्बिनीत्याह—सोऽयमिति । सादृश्यात् अर्च्चिषामेव यथा सोऽयं दीप इति प्रत्यभिज्ञा यथा च स्रोतसां प्रवाहजलानामेव तदिदं जलमिति । तथा सोऽयं पुमानिति धीर्गीश्च मृषा नृणां बहूनां शरीरिणां मृषा व्यर्थमायुर्येषामविवेकीनां तेषां भवति ।४५।"

इस प्रकार भा० ११।२८।१ में उक्त है—अपर व्यक्तियों के शान्त घोरादि स्वभाव की अथवा सदसत् कर्म की प्रशंसा, निन्दा न करें, कारण—विश्व को प्रकृति पुरुष के ऐक्य रूप से देखना ही साधुओं का कर्त्तव्य है। उस प्रकार भा० ११।२८।४ में उक्त है—

"किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्य वस्तुनः कियत् । वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ।

टीका—द्वैतासत्यतया स्तुतिनिन्दयोर्निर्विषयत्वं प्रपञ्चयति, किं भद्रमिति सार्द्धैः षड्‌भिः । अवस्तुनो द्वैतस्य मध्ये किं भद्रं किम्वा अभद्रं कियद्वा अभद्रमित्यर्थः । अवस्तुत्वमेवाह वाचेति । वाह्येन्द्रियोपलक्षणम् । वाचा उदितमुक्तं चक्षुरादिभिश्च यद् दृश्यं तदनृतमिति ।४।

द्वैत वस्तुओं के मध्य में कौन वस्तु सत् कौन वस्तु असत् उसका निर्णय नहीं होता है। केवल वाक्य के द्वारा कथित मनके द्वारा ध्यात अनृत वस्तु का अवस्तुत्व निरूपण ही होता है।

भा० ७।१५।६१ में वर्णित—"स्यात् सादृश्यभ्रमस्तावत् विकल्पे सति वस्तुनः ।
जाग्रत्स्वापौ यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता ।।"

टीका—ननु अवयविनोऽभावे आगमापायिषु बाल्यादिषु "सोऽयं देवदत्तः" इति प्रत्यभिज्ञानं न स्यात् । तदुक्तं भट्टैः—आविर्भावतिरोभावधर्मकेष्वनपायि यत् तद्धर्मीति तत्राह स्यादिति । वस्तुनः परमात्मनो विकल्पं भेदेऽसति । यद्वा वस्तुनोऽविद्यया विकल्पे सति पूर्वपूर्वारोपसादृश्यात् स एवेति भ्रमः स्यात् ।

अवस्तु यद्द्वैतं तस्येत्यर्थः। तस्मात् स्वातन्त्र्येण निरूपणाशक्त्या परमात्मनोऽनन्यदेव सर्वमिति प्रकरणार्थः ॥ श्रीनारदः श्रीयुधिष्ठिरम् ॥

६७। अत आह (भा० ७।६।४८)—

(६७) "त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः
प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च।
सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्
नान्यत्त्वदस्त्यपि मनोवचसो निरुक्तम् ॥" ४८॥

हृदयमन्तरिन्द्रियम्, मनो बुद्ध्यहङ्कारचित्तात्मकम्, चित् शुद्धो जीवः, अनुग्रहः स्व-सम्मुखीकरणशक्ति, किं बहुना, सगुणो मायिकः, विगुणश्चामायिकः सर्वार्थस्त्वमेवेति ॥ श्रीप्रह्लादः श्रीनृसिंहम् ॥

६८। अथ तस्य मायाशक्तिकार्य्य-माया-जीवेभ्योऽन्यत्वञ्च स्पष्टयति (भा०३।२८।४०-४१)—

(६८) "यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात्।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात् ॥४०॥

सर्वसम्वादिनी

सामानाधिकरण्यं लाक्षणिकमेव ? न ;—मनुष्यादि-शरीराणामप्यात्मैकाश्रयत्वम्, तदेकप्रयोजनत्वम्, तत्-प्रकारत्वञ्च जात्यादि-तुल्यम्। तत्रात्मैकाश्रयत्वमात्मवियोगे शरीर-विनाशादवगम्यते; आत्मैकप्रयोजनत्वञ्च, तत्कर्मफलभोगार्थतयैव सद्भावात्; तत्प्रकारत्वमपि,—'देवो मनुष्यः' इत्यात्म-विशेषणतयैव प्रतीतेः।

स च तावदेव यावदविद्यानिवृत्तिः। ननु सर्वमिथ्यात्वे शास्त्रस्य विधिनिषेधता कथं भवेत्। तत्राह, स्वप्नमध्ये जाग्रत्स्वाप्नव्यवस्था यथेति ।६१।

"स्यात् सादृश्यभ्रमस्तवत्" इत्यादि श्लोक में वर्णित विषय के अनुसार ही "किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैत-स्यावस्तुनः कियत्" इसकी व्याख्या होनी चाहिये। ईश्वर से जो भिन्न है, वह ही अवस्तु है। तज्जन्य स्वतन्त्र रूप निरूपण की असामर्थ्य वशतः परमात्मा से यह जगत् भिन्न नहीं है। यह ही इस प्रकरण का अर्थ है। श्रीनारद श्रीयुधिष्ठिर को कहे थे ।।६६।।

अतएव कहते हैं—भा० ७।६।४८ में, वायु, अग्नि, पृथिवी, आकाश, जल, पञ्च तन्मात्र, प्राण, इन्द्रिय मन, चित्त एवं अहङ्कार ये सब ही आप हैं। मन एवं वाक्य के द्वारा प्रकाशित कोई भी वस्तु आपसे भिन्न नहीं है।

टीका—'तदेवाह—त्वं वायुरिति' हृदयं मनः, चित्—चित्तम्, अनुग्रहोऽहङ्कारः, देवतावर्गो वा, सगुणः स्थूलः, विगुणः सूक्ष्मः। मनश्च वचश्च मनोवचः, तेन निरुक्तं प्रकाशितं किमपि त्वत्तोऽन्यन्नास्ति ।४८।

सन्दर्भ व्याख्या—श्लोकस्थ हृदय शब्द का अर्थ—अन्तरिन्द्रिय अर्थात् मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त। चित् शब्द का अर्थ—शुद्ध जीव, यह अर्थ प्रकरणप्राप्त है। अनुग्रह शब्द से निज सम्मुखीकरण शक्ति—पराविद्या भक्ति। अधिक क्या कहना है, सगुण—मायिक, विगुण—अमायिक, सब वस्तु, आप ही हैं।

श्रीप्रह्लाद श्रीनृसिंह को कहे थे ।।६७।।

अनन्तर परमात्मा—परमात्मा की शक्ति माया द्वारा निष्पन्न कार्य्य, माया एवं जीव से पृथक् हैं। उसका स्पष्टीकरण करते हैं,—(भा० ३।२८।०४-४१) उक्त विषय में दृष्टान्त इस प्रकार है,—

जिस प्रकार ज्वलन्त काष्ठ एवं अग्नि से उत्पन्न धूम को अत्यन्त अविवेकी जन यद्यपि अग्निस्वरूप ही

भूतेन्द्रियान्तःकरणात् प्रधानाज्जीवसंज्ञितात् ।

आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः ॥"४१॥

अयमर्थः— स्वसम्भवात् स्वोपादानकारणादुल्मुकात् काष्ठमुष्ट्युपाधिकादग्नेर्हेतोर्यो विस्फुलिङ्गो यश्च धूमस्तस्मात्तस्माद् यथा तत्तदुपादानमग्निः पृथग् यथा च तस्मादप्युल्मुकात्तदुपादानमसावग्निः पृथक् । कीदृशादपि ? तत्त्रयादप्यात्मत्वेनाभिमतात्, तापकतया धूमेऽप्यग्न्यंशसद्भावेनाग्निस्वरूपतया प्रतीतादपि, तथा विस्फुलिङ्गस्थानीयाज्जीवसंज्ञिताज्जीवादुल्मुकस्थानीयात् प्रधानात् । प्रधानोपाधिक-भगवत्तेजसो धूमस्थानीयाद्भूतादेः सर्वोपादानरूपो भगवान् पृथक्, य एवात्मा स्वांशेन तत्तदन्तर्यामितया परमात्मा, क्वचिदधिकारिणि निर्विशेषचिन्मात्रतया स्फुरन् ब्रह्मसंज्ञितश्च, यत एव द्रष्टा, तेषामादिमध्यान्तावस्थासाक्षीति यथोल्मुकादिदानीं ज्वलतः काष्ठात् स्वसम्भवादग्नेः सम्भूतादात्मत्वेनाग्नेः स्वरूपत्वेनाभिमतादप्यत्यन्ताविवेकिनो हि धूमेऽप्यग्न्यभिमानोऽस्तीति धूमादित्यप्युक्तम् । उल्मुकात्

सर्वसम्वादिनी

एतदेव हि गवादि-शब्दानां व्यक्तिपर्य्यन्तत्वे हेतुः । एतत्स्वभावविरहादेव दण्ड-कुण्डलादीनां विशेषणत्वे 'दण्डी कुण्डली' इति मत्वर्थीय-प्रत्ययः ।" इति ।

न च शरीरं चाक्षुषमित्यात्मप्रकारकत्वं जातिव्यक्त्यादिवत्तस्य न सम्भवतीति वाच्यम् ;— तदेकाश्रयत्वादि-

मानते हैं । तथापि दाहक—प्रकाशक अग्नि जिस प्रकार उक्त धूम एवं ज्वलन्त काष्ठ से पृथक् है, उस प्रकार ही समस्त वस्तुओं से परमात्मा को जानना होगा । भूत, इन्द्रिय, अन्तःकरण एवं जिसका नाम जीव है, एवं प्रधान प्रभृति से द्रष्टा आत्मा पृथक् है ।

जीव संज्ञित आत्मा से ब्रह्म संज्ञित आत्मा पृथक् है । इस प्रकार प्रधान की अपेक्षा से उसका प्रवर्त्तक भगवान् पृथक् हैं ।

सन्दर्भ व्याख्या— इसका अर्थ इस प्रकार है । स्वसम्भवात्—अर्थात् स्वीय उपादान कारण से, उल्मुक —अर्थात् काष्ठमुष्टि उपाधिक अग्नि हेतु जो विस्फुलिङ्ग (अग्निकण) एवं जो धूम उससे उससे जिस प्रकार उसके उसके उपादान से अग्नि पृथक् है । जिस प्रकार उल्मुक से उसका उपादान अग्नि पृथक् है । काष्ठ धूम ये तीन के उपादान होकर भी अग्नि पृथक् है । किस स्वरूप से ? काष्ठ, धूम, स्फुलिङ्ग जो कि आत्मत्व रूप में अभिमत हैं, उससे ।

तापकता रूप में धूम में भी अग्न्यंश का सद्भाव है, अतः धूम की प्रतीति अग्नि रूप से होती है । ऐसा होने पर भी, अग्नि पृथक् है । विस्फुलिङ्ग स्थानीय जीव संज्ञित जीव से, एवं उल्मुक स्थानीय प्रधान से भी परमात्मा पृथक् हैं । प्रधानोपाधिक भगवत्तेज से धूम स्थानीय भूतादि से सब के उपादानस्वरूप श्रीभगवान् पृथक् हैं । जो भगवान् स्वीय अंश के द्वारा आत्मा होते हैं, एवं समस्त के अन्तर्य्यामी रूप में परमात्मा होते हैं । कहीं पर अधिकारी विशेष में निर्विशेष चिन्मात्र (ज्ञानमात्र) द्वारा स्फुर्त्ति प्राप्त होकर ब्रह्म संज्ञा से अभिहित होते हैं । कारण—श्रीभगवान् उक्त समस्त के द्रष्टा हैं, उन सब की आदि, मध्य, अन्त अवस्था का साक्षी हैं ।

जिस प्रकार इदानीं प्रज्वलित काष्ठ से उल्मुख से उसका जनक अग्नि सुनिष्पन्न होने पर भी अत्यन्त अविवेकी जन धूम में भी अग्नि शब्द का प्रयोग करते हैं,— तज्जन्य "धूमाद्" शब्द का प्रयोग हुआ है ।

पूर्वसिद्धादपि तद्दाहकः प्रकाशकश्चाग्निः पृथगेव, तथा भूतेन्द्रियान्तःकरणादिभ्यः परमात्मत्वेन भगवत्त्वेन ब्रह्मसंज्ञितत्वेन च शब्दितो द्रष्टा तदशेषज्ञः पृथगेव, तेषां वहिरङ्ग-तटस्थशक्तिमयत्वादित्यर्थः ॥ श्रीकपिलदेवः ॥

६९। तत्र येषां मनः परमात्मनि नास्ति, ते परमात्मात्मके जगत्यसदंशमेव गृह्णन्ति, ये तु परमात्मविदस्ते सदंशमेव गृह्णन्तीत्याहुः (भा० १०।८७।२६)—

(६९) "सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयात्मविदः।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥"२६॥

त्वय्यसदवर्त्तमानं यन्मनस्तत् खलु त्रिवृत् त्रिगुणकार्य्ये जगति वर्त्तमानं सत्त्वयि सदिव वर्त्तमानमिव विभाति, दर्वीसूपरस-न्यायेन स्वावगाढ़े जगति सतोऽपि परमात्मनो ग्रहणाभावात्, न तु वर्त्तमानमेव विभातीत्यर्थः। अतएवासदंशस्य त्रिगुणमायामयत्वं मनोमयत्वञ्चोक्तम् (भा० ११।७।७)—

सर्वसम्वादिनी

भावादेव। यथा चक्षुषा पृथिव्यादेः स्वाभाविकमपि गन्धादिकं सामर्थ्याभावादेव न गृह्यते, तथात्मापि। नैतावता शरीरस्य तत्प्रकारत्व-स्वभाव विरहः।

उल्मुकात्—पूर्वसिद्ध होने पर भी उसका दाहक एवं प्रकाशक अग्नि उससे पृथक् ही है। उस प्रकार भूतेन्द्रियान्तःकरणादि से परमात्म-भगवत्-ब्रह्म शब्द से अभिहित वस्तु सब के द्रष्टा हैं। समस्त वस्तुओं के ज्ञाता हैं, अतः सब से भगवान् पृथक् ही हैं। कारण—उक्त समस्त पदार्थ भगवान् की वहिरङ्ग एवं तटस्थ शक्ति जात हैं। प्रवक्ता श्रीकपिलदेव हैं ॥६८॥

जिन लोकों का विश्वास परमात्मा में नहीं है, वे लोक परमात्मस्वरूप जगत् का असदंश का ही ग्रहण करते हैं। किन्तु परमात्मविद् जनगण जगत् में सदंश का ही ग्रहण करते हैं। इसका विवरण भा० १०।८७।२६ के द्वारा कहते हैं। "मनुष्य देह से लेकर त्रिगुणात्मक समुदय जगत् मनोमात्र विलसित रूप में अनित्य होकर भी आपके अधिष्ठान मात्र से नित्यरूप में प्रकाशमान है। आत्मतत्त्वविद् जनगण, भोक्तृ भोग्यरूप अशेष जगत् को आत्मा से अभिन्न रूप में सत् मानते हैं। जिस प्रकार सुवर्णार्थी व्यक्ति, सुवर्ण विकृत कुण्डलादि होने पर भी तादात्म्य प्रयुक्त उसे असुवर्ण मानकर परित्याग नहीं करते हैं। अतएव इस स्वकृत विश्व में अन्तर्यामी रूप में आप ही अनुप्रविष्ट हैं।

सन्दर्भ व्याख्या—आप में असत् अवर्त्तमान जो मन है, वह निश्चित त्रिवृत् अर्थात् त्रिगुण कार्य्य जगत् में वर्त्तमान होकर भी आप में सत् के समान प्रकाशित होता है। दर्वी अर्थात् 'हाता' जिस प्रकार सूप रसास्वादन को नहीं जानती है, उसके समान स्वीय आस्वादित जगत् में सर्वत्र विद्यमान होने पर भी परमात्मा का ग्रहण नहीं होता है, अर्थात् वर्त्तमान होकर भी प्रकाशित नहीं होते हैं। अतएव असदंश का त्रिगुण मायामयत्व, एवं मनोमयत्व उक्त हुआ।

श्रीवृहत्क्रमसन्दर्भ—न केवलं त्वमेव निर्गुणः, अपितु तव धामपार्षदादयश्च निर्गुणाः। यतः, स्वयमेवोक्तम् (भा० ११।२५।२६) "निर्गुणं मदपाश्रयम्" इत्यादि। अतस्तदेव सत्यमिति, तत्प्रकारमाहुः सदिव मन इत्यादि।

इदं विश्वं मनः, मनः कल्पितत्त्वात्। अतः, आमनुजात् आपुरुषात्, पुरुषमर्य्यादीकृत्य, आङ् मर्य्यादाभिविध्योः, पुरुषं त्यक्त्वा सर्वमिदं त्रिवृत्—त्रिगुणात्मकम्। अतोऽसदपि सदिव भाति। सदेव भाति, इव एवार्थः। कथं भाति', इत्याहुः। त्वयि, त्वद्विषयकं यदि भवतीत्यर्थः। त्वत् सम्बन्धेन असदपि विश्वं सदिव भाति, किं पुनः सत्। नित्यभूतं यत् तव लोकादि तस्य नित्यत्वे कारणमाहुः। अशेषम्—न विद्यते शेषो यस्य। ननु क एवं मम लोकादेः सत्यतां वदन्तीत्याहुः। कया युक्त्या वदन्ति? इत्याहुः। आत्मतया त्वत् स्वरूपतया, त्वल्लोकादिकं त्वत् स्वरूपमेव,—(भा० ११।२०।३७) "क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद् ब्रह्म परमं विदुः।" इति तवैवोक्तेः। अत उक्तम्। (भा० २।२।१७) "न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः" इत्यादि। आत्मतत्त्वेति यदुक्तं, तद्दृष्टान्तेन स्पष्टयन्ति, नहीत्यादि। कनकविकृति—कुण्डलादि कनकार्थिनो न त्यजन्ति। कुतः? इत्याहुः—तदात्मतया, तदपि कुण्डलादि कनकमेवाकारमात्रेणैव विकृतत्वम्, नतु वस्तुत्वेऽपि विकृतिः। एतेन त्वं कृष्णरूपेण नित्याविकृत एव, घनानन्दत्वात्। तव लोकाश्च घनाघनानन्दत्वेन न विकृतम्, अपि तु पार्षदादि तरु-गुल्म-खग-मृगाद्याकारेणैव। अतस्त्वत् सम्बन्धादसदपि सदिव भासते। यत्तु नित्यसत्, तत् सदेवेति तात्पर्य्यार्थः।२६।

केवल आप प्राकृत गुणातीत हैं, यह ही नहीं, किन्तु आपके धाम, पार्षद प्रभृति भी प्राकृत गुणातीत हैं। कारण आपने भा० ११।२५।२९ में स्वयं ही कहा, मेरे आश्रित समस्त वस्तु ही प्राकृत गुणातीत हैं। अतः वह ही सत्य है—इस प्रकार को कहते हैं, सदिव मन इत्यादि वाक्यों से। यह विश्व मनः है, मन से कल्पित है, अतएव आमनुजात्—पुरुष को सीमा करके, आङ् के मर्य्यादा अभिविधि अर्थ होते हैं। अर्थात् पुरुष को छोड़कर समस्त त्रिगुणात्मक वस्तु हैं। अतएव असत् भी सत् के समान प्रतिभात होता है। सदेव भाति—यहाँ एवार्थ में इव का प्रयोग हुआ है। कैसे होता है, कहते हैं—आप का सम्बन्ध यदि होता है तो। आपके सम्बन्ध से असत् विश्व सत् रूप में प्रतिभात होता है, और जो स्वाभाविक सत् वह जो आपके सम्बन्ध से सत् होगा, यह कहना क्या है? आपके धाम प्रभृति नित्य हैं। उसके नित्यत्व में कारण यह है—अशेषम्, जिसका शेष नहीं है। कौन इस प्रकार कहता है? आत्मविद् व्यक्तिगण कहते हैं। किस युक्ति से कहते हैं? आत्मतया, आत्मस्वरूप-चेतन एवं परम प्रेमास्पद रूप में ही अवस्थित होने से, आपके लोक समूह आपके स्वरूप के समान ही सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। भा० ११।२०।३७ में वर्णित है—मेरा धाम—ब्रह्म है, जिसको प्राप्त कर लोक क्षेम अमृत निर्भय को प्राप्त करते हैं। आपने ही कहा है। अतएव भा० २।२।१७ में उक्त है, जहाँ पर सबके प्रभु काल का प्रभाव नहीं है, आत्मस्वरूप कहा गया है। उसको दृष्टान्त के द्वारा सुस्पष्ट कर रहे हैं। त्याग नहीं करते हैं, क्यों—उस स्वरूप होने से, कनक एवं कनक से निर्मित वस्तुसमूह समान ही उपादेय होते है, उस प्रकार ही जानना होगा। कनकार्थी कनक से निर्मित कुण्डलादि को अकनक बुद्धि से परित्याग नहीं करते, किन्तु परमोपादेय बुद्धि से ग्रहण ही करते हैं। कुण्डलादि आकार मात्र से विकृति हैं, किन्तु वस्तु विचार से विकृत नहीं है। इससे निर्णीत होता है कि आप कृष्ण रूप में नित्य अविकृत हैं, एवं घनानन्द ही हैं। आपके लोक समूह घनाघनानन्दस्वरूप होने से विकृत नहीं हैं। अपितु पार्षदादि तरु, गुल्म, खग, मृगाद्याकार के द्वारा ही प्रकाशित हैं। अतएव आप सम्बन्ध से असत् भी सत् के समान प्रतिभात होता है। जो नित्य सत् है, वह तो सत् ही है, यह तात्पर्य्य है।२६।

श्रीधरस्वामिकृत टीका—"ननु यद्यसन्नोत्पद्यते यदि च त्रिगुणमयः पुरुषो न भवति तर्हीदं प्रपञ्चजातं पुरुषश्च पृथङ् नास्तीत्युक्तं स्यात्, कथं तर्हि तयोः सत्त्वेन प्रतीतिरत आह। सदिव मन इति। मनः—मनोमात्रविलसितमिदं त्रिवृत्-त्रिगुणात्मकं प्रपञ्चजातं असदेव सदिति विभाति कथमिति चेत्तत्राह—त्वयीति। त्वय्यधिष्ठाने। अधिष्ठानसत्तया सद्वत् प्रतीयते" इत्यर्थः। न केवलमिदं कारास्पदं किन्तु आमनुजात्। मनुजः पुरुषः—अभिविधावाकारः। पुरुषमभिव्याप्येत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—असतोऽधि-मनोऽसृजत। मनः प्रजापतिमसृजत। प्रजापतिः प्रजा असृजत। तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं यदिदं

"यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणञ्च विद्धि मायामनोमयम् ।।"७।। इति ।

ये त्वात्मविदस्त्वद्वेत्तारस्ते आमनुजात् सोपाधिक-जीवस्वरूपमभिव्याप्य इदमशेषं जगदेव आत्मतया त्वद्रूपतया सदभिमृशन्ति, तेषां सदंश एव दृष्टिर्नान्यत्रेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः—'न हि विकृतिम्' इति । तेषां कनकमात्रं मृगयमाणानां कनकवणिजां हि कनकविकारे सुन्दर-कुरूपा-

सर्वसम्वादिनी

(ब्र०सू० १।१।१—श्रीभाष्ये ११४तम अनु) "ननु च शाब्देऽपि व्यवहारे शरीरशब्देन शरीर-मात्रं गृह्यत इति नात्मपर्य्यन्तता शरीर-शब्दस्य ? मैवम् ; आत्मप्रकारभूतस्यैव शरीरस्य पदार्थ-विवेक-प्रदर्शनाय निरूपणान्निष्कर्षकशब्दोऽयम् ; यथा—'गोत्वं शुक्लत्वमाकृतिर्गुणः' इत्यादि-शब्दाः । अतो गवादि-शब्दवद् व-

किञ्चेति । ननु आत्मविदामपि विश्वं सदेव स्फुरति, अतः कथमसत् स्यात्, अत आह—सदभिमृशन्तीति । आत्मावदस्तु अशेषमिदं भोक्तृभोग्यात्मकं विश्वं आत्मतयैव सदभिमृशन्ति, सदिति जानन्ति । आत्मकार्य्यत्वान्न पृथगित्यर्थः । तथाहि,—यदुपादनकं यत् कार्य्यं भवति तत् तेनैव रूपेण प्रतीयते । उपादीयते चेति । लोकाचारेण दर्शयति न हि विकृतिमिति । कनकस्य विकृतिं कुण्डलादिकं कनकार्थिनो न त्यजन्ति । अत्र हेतुः—तदात्मतया कनकरूपेणेत्यर्थः । अतः स्वकृतमिदं विश्वमनुप्रविष्टश्च पुरुषरूप-मात्मतयैव अवसितं निश्चितम् ।

"यत् सत्त्वतः सदाभाति जगदेतदसत् स्वतः । सदाभासमसत्यस्मिन् भगवन्तं भजाम तम् ।।"२६

यदि असत् की उत्पत्ति नहीं होती है, और पुरुष त्रिगुणमय नहीं हैं, तब प्रपञ्च एवं पुरुष पृथक् नहीं है, ऐसा कथन होगा । तब कैसे दोनों की सत् रूप में प्रतीति होती है । कहते हैं—सदेव मन इति ।—मनो मात्र विलसित त्रिगुणात्मक प्रपञ्च असत् होकर सत् के समान प्रतीत होता है, कैसे ? आपके आश्रित होने से । अधिष्ठान सत्ता से सत् रूप में प्रतीत होता है । केवल विश्व की स्थिति ही वैसा है, यह नहीं । किन्तु मनुष्य पुरुष से लेकर सब ही उस प्रकार प्रतीत होते हैं । पुरुष की पृथक् प्रतीति भी मनोमात्र विलसित है । श्रुति भी कहती है—मनः, सब को सृजन किया है । मन, प्रजापति को सृजन किया है, प्रजापति ने प्रजा सृजन किया है, सब कुछ मन में प्रतिष्ठित है ।

आत्मवित् व्यक्तिगण विश्व को सत् रूप में अनुभव करते हैं । आत्म कार्य्य होने से । जो जिस उपादान का होता है, उसे उस शब्द से कहते हैं । लोकाचार से समझाते हैं, कनक से निर्मित कुण्डल प्रभृति को लोक आदर के साथ सुवर्ण मानकर ग्रहण करते हैं । स्वयं भगवान् निजेच्छाकृत विश्व को प्रकट कर उसमें अनुप्रविष्ट होकर विलसित होते हैं । अतः उसे आत्म रूप से ही लोक जानते हैं ।२६।

भा० ११।७।७ में उक्त है—मन, वाक्य, चक्षु एवं श्रवणादि द्वारा जो कुछ जागतिक पदार्थ गृहीत होते हैं, वे सब ही मनोमय एवं माया रूप होने से नश्वर हैं ।

टीका—ननु गुणदोषाभ्यां विषमे लोके कुतः समदृष्टिः स्यादित्यत आह—यदिदमिति । मन आदिभि-र्गृह्यमाणं मनोमयत्वात् मायेति विद्धि । तदपि न स्थिरं किन्तु नश्वरञ्च विद्धि ।७।

गुण दोष दुष्ट लोक में समदृष्टि स्थापन करना सम्भव कैसे होगा ? उत्तर,—मन आदि के द्वारा गृहीत पदार्थसमूह मनोमय है । ईश्वरीय शक्ति के द्वारा निर्मित है । वह स्थिर नहीं है, किन्तु नश्वर है ।७।

किन्तु जो आत्मतत्त्ववित् हैं, अर्थात् भगवत्तत्त्व को जानते हैं, वे सब जन, मनुष्य से लेकर अर्थात् सोपाधिक जीवस्वरूप से आरम्भ कर समस्त जगत् को आत्मरूप में अर्थात् आपके स्वरूप में दिखते हैं, अर्थात् "सत्" रूप में जानते हैं । कारण उन सब आत्मतत्त्वविद् की दृष्टि सदंश में ही निबद्ध है । अन्यत्र असदंश में निबद्ध नहीं है । उसमें दृष्टान्त,—"न हि विकृतिं" जिस प्रकार सुवर्ण अन्वेषणकारि का सुवर्ण

कारतायां दृष्टिर्नास्ति, शुद्धकनकमात्रग्राहित्वात्, तथात्मविदामपीति भावः। दार्ष्टान्तिकेऽपि तदात्मत्वे हेतुत्रयमाहुः—इदं जगत् स्वेन सच्छक्तिविशिष्टेन सता उपादानरूपेण त्वया कृतं पश्चात् सिद्धेऽपि कार्य्ये कारणांशाव्यभिचारितयान्तर्यामितया च स्वेन त्वया प्रविष्टं पुनः प्रलयेऽप्यात्मतया सच्छक्तिविशिष्ट-सद्रूपतयैवावसितं चेति। एवं दृष्टान्तेऽपि विवेचनीयम्। तदेतत् सर्वमभिप्रेत्यैवोक्तं वैष्णवे (वि०पु० १।४।४०-४१)—

"ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः। अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसंप्लवे ॥४०॥
ये तु ज्ञानविदः शुद्धचेतसस्तेऽखिलं जगत्। ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं परमेश्वर ॥"४१॥ इति।
श्रीश्रुतयः ॥

७०। तदेवं परिणामादिकं साधितम्, विवर्त्तश्च परिहृतः। ततो विवर्त्तवादिनामिव रज्जुसर्पवन्न मिथ्यात्वम् किन्तु घटवन्नश्वरत्वमेव तस्य। ततो मिथ्यात्वाभावेऽपि त्रिकाला-व्यभिचाराभावाज्जगतो न सत्त्वम्, विवर्त्तपरिणामासिद्धत्वेन तद्दोषद्वयाभाववत्येव हि वस्तुनि सत्त्वं विधीयते, यथा परमात्मनि तच्छक्तौ वा; (छा० ६।२।१) "सदेव सौम्येदमग्र

सर्वसम्वादिनी

मनुष्यादि-शब्दा आत्म-पर्य्यन्ताः। एवं देव-मनुष्यादिपिण्ड-विशिष्टानां जीवानां परमात्म-शरीरतया तत्-प्रकारत्वाज्जीवात्मवाचिनः शब्दाः परमात्मपर्य्यन्ताः।"

चिदचिद्वस्तु-शरीरत्वं च ब्रह्मणो (बृ० ३।७।३-४) 'यस्य पृथिवी शरीरं यस्यात्मा शरीरम्' इत्यादिषु

मात्र में ही दृष्टि निबद्ध है, किन्तु सुवर्ण के विकार गत सुन्दर असुन्दर में नहीं। कारण—वे सब शुद्ध कनकार्थी हैं। इस प्रकार आत्मविदों के आचरण को जानना होगा।

दार्ष्टान्तिक में अर्थात् ईश्वरस्वरूप जगत् में ईश्वरात्मकता को प्रतिपादन करने के हेतुत्रय को कहते हैं। इस जगत् को निज शक्तिविशिष्ट उपादान के द्वारा आपने निर्माण किया है। पश्चात् कार्य्यरूप में प्रसिद्ध जगत् में कारणांश की अव्यभिचारिता है। अतः सृजन के पश्चात् उसमें अन्तर्य्यामी आपका प्रवेश हुआ। पुनर्बार प्रलयकाल में भी आत्मरूप में सच्छक्तिविशिष्ट सद्रूप में अवस्थान आप स्वयं के द्वारा ही करते हैं। इसका तात्पर्य्य यह है कि—आप निज शक्ति के द्वारा विश्व का निर्माण करते हैं, अन्तर्य्यामिरूप में प्रविष्ट होकर सञ्चालन पालन करते हैं। प्रलय काल में समस्त तत्त्वों को अपने में विलीन करते हैं। इस प्रकार रीति से दृष्टान्त को जानना होगा।

उक्त समस्त विषयों को लक्ष्य कर विष्णुपुराण में लिखित है। (१।४।४० ४१) समस्त चराचर ज्ञान स्वरूप हैं, अज्ञ व्यक्तिगण—मोहमय संसार पतित एवं भ्रान्त होकर इसे प्राकृतवत् दर्शन करते हैं। हे परमेश्वर! जो जन वेद-वेदान्त में कृतविद्य एवं ज्ञानी होकर विशुद्धचेता हुए हैं, वे सब इस जगत् को ब्रह्ममय एवं ज्ञानमय मानते हैं। यह उक्ति श्रीश्रुतिवृन्द की है ॥६९॥

उक्त प्रकार में शक्ति परिणामवाद का स्थापन, एवं विवर्त्तवाद का परिहार हुआ। अतएव यह विश्व विवर्त्तवादियों के सिद्धान्तानुसार रज्जु-सर्प की भाँति मिथ्या नहीं है। किन्तु घट की भाँति यह जगत् नश्वर है। सुतरां मिथ्या न होने पर भी कालत्रय में विद्यमानता के अभाव हेतु जगत् का सत्त्व नहीं है। विवर्त्त परिणाम असिद्ध होने से उक्त दोषद्वय रहित वस्तु में सत्त्व का विधान होता ही है। जिस प्रकार परमात्मा एवं उनकी शक्ति में सत्यत्व का स्थापन होता है। छान्दोग्योपनिषत् में वर्णित है—"हे सौम्य!

आसीत्" इत्यादौ इदं-शब्दोक्तं जगत्, सूक्ष्मावस्थालक्षणतच्छक्तिब्रह्मणोर्मिथस्तादात्म्यापन्नयोः सच्छब्दवाचनात्। अतः सत्कार्य्यवादश्च कार्य्य-सूक्ष्मावस्थामवलम्ब्यैव प्रवर्त्तते। तदेवं स्थितेऽपि पुनराशङ्क्यते—ननु सदुपादानं जगत् कथं तद्वदनश्वरतामपि भजन्न खलु सत् स्यात्, यदि च नश्वरं स्यात्, तर्हि कथं वा शुक्तिरजतवदव्यभिचारित्वेन केवलविवर्त्तान्तःपाति न स्यात्? तदेतत्प्रश्नमुट्टङ्क्य परिहरन्ति, (भा० १०।८७।३६)—

(७०) "सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक्।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान्॥"३६॥

इदं विश्वं धर्मि, सदिति साध्यो धर्मः सत उत्पन्नत्वात्, यद् यत उत्पन्नं तत् खलु तदात्मकमेव दृष्टम्, यथा कनकादुत्पन्नं कुण्डलादिकं तदात्मकम्, तद्वत्। अत्रोत्थितमेव, न तु शुक्तौ रजतमिव तत्रारोपितमिति सिद्धान्तिनः स्वमतमनूदितम्, नैवेत्याहुः—ननु तर्कहतमिति, अपादाननिर्द्देशेन भेदप्रतीतेर्विरुद्धहेतुत्वात्। ननु नाभेदं साधयामः, किन्तु तत उत्पन्नत्वेन

सर्वसम्वादिनी

श्रुतिशतेषु प्रसिद्धम्। सत्यपि तच्छरीरत्वे विद्या-शक्तिमयत्वात् परमात्मनस्तद्धर्म-स्पृष्टत्वं तु न स्यात्। तदेवं (छा० ६।८।७) 'तत्त्वमसि' इत्यत्र (ब्र०सू० १।१।१—श्रीभाष्ये १११तम अनु०) "जीवशरीरक-जगत्कारण-ब्रह्मपरत्वे मुख्यवृत्तं पदद्वयम्। प्रकारद्वयविशिष्टैकवस्तु-प्रतिपादनेन सामानाधिकरण्यं च सिद्धम्।" तत्तद्-

सृष्टि के प्राक् काल में यह जगत् सद्रूप में वर्त्तमान था।" इत्यादि श्रुति प्रमाण से प्राप्त इदं शब्दोक्त जगत्, सूक्ष्मावस्थापन्न परमात्म शक्ति एवं ब्रह्म परस्पर तादात्म्यापन्न होकर स्थित होने से उसे सत् शब्द से कहते हैं। शक्ति शक्तिमान् में अभेद प्रत्यय होता है। अतएव सत्कार्य्यवाद का प्रवर्त्तन सूक्ष्म कार्य्यावस्था को अवलम्बन कर ही हुआ है।

इस प्रकार निर्णय होने पर भी पुनर्बार आशङ्का करते हैं—सत् परमात्मा जिसका उपादान कारण है, वह जगत् उपादान कारण के समान सत् क्यों नहीं होगा? यदि नश्वर होता है, तब क्यों, शुक्ति-रजत के समान व्यभिचार के द्वारा विवर्त्तवादान्तःपाती नहीं होगा? इस प्रश्न को उठाकर परिहार करते हैं। भा० १०।८७।३६ में उक्त है—

"सत् से उत्पन्न होने से जगत् को सत् मानना ठीक नहीं है। कारण युक्तिविरुद्ध है। अर्थात् उपादान निर्देश हेतु कार्य्यकारण में भेद प्रतीति सुस्पष्ट है। विवर्त्त उपादान का मिथ्यात्व सुप्रसिद्ध ही है। अतएव तत्तुल्य सत्यमिथ्या युक्तियुक्त नहीं है। अतएव आपके वाक्यरूप वेद, गौणवृत्ति के द्वारा काम्यकर्म फलासक्त व्यक्तिगण को अन्धपरम्परा क्रम से व्यवहारार्थ मिथ्या जगत् में सत्य बुद्धि से भ्रमण कराते रहते हैं।

सन्दर्भ व्याख्या—यह विश्व धर्मी, सत्—साध्य धर्म, कारण—सत् से उत्पन्न हुआ है। जो जिससे उत्पन्न होता है, निश्चय ही वह तद्रूप ही होता है। जिस प्रकार सुवर्ण से उत्पन्न कुण्डलादि सुवर्णस्वरूप है, उसके समान। यहाँ पर शब्द प्रयोग है, 'उत्थित' किन्तु शुक्ति में रजत के समान आरोपित नहीं है। सिद्धान्तकारी के मत का अनुवाद हुआ है, उस प्रकार सम्भव नहीं है। व्याप्ति विरुद्ध नहीं है, इस प्रकार कथन भी असङ्गत है। अपादान निर्देश के द्वारा ही भेद प्रतीति होती है, अतः हेतु विरुद्ध है। यदि कहो

कुण्डलादिवद्भेदमनूद्य प्रतिषेधामः। तत्राभेद एव स्यादित्याशङ्क्यानैकान्तिकत्वेन हेतुं दूषयन्ति—'व्यभिचरति क्व च' इति; क्व च कुत्रापि कारणधर्मानुगतिर्व्यभिचरति, कार्य्यं कारणधर्मस्य सर्वांशेनैवानुगतं भवतीति नियमो न विद्यत इत्यर्थः। दहनाद्युद्भवे प्रभादौ दाहकत्वादिधर्मादर्शनादिति भावः। (वि० पु० १।२२।५३ ५४)—

सर्वसम्वादिनी

विशेषण-विशिष्टतयैव सामानाधिकरण्यञ्च (ज्योतिष्टोम-यज्ञ-मन्त्रवर्णे) 'अरुणयैकहायन्या पिङ्गाक्ष्या गवा सोमं क्रीणाति' इत्यादावङ्गीकृतम्। लोके च 'नीलमुत्पलमानय' इत्यादौ दृश्यते। तदेवञ्च (ब्र०सू० १।१।१—श्रीभाष्ये १११तम अनु०) "निरस्तनिखिलदोषस्य समस्त-कल्याण-गुणात्मकस्य ब्रह्मणो जीवान्तर्यामित्वम-

कि—अभेद साधन नहीं करता हूँ, किन्तु उससे उत्पन्न होने के कारण कुण्डलादिवत् भेद का अनुवाद करके भेद का प्रतिषेध करते हैं। भेद का प्रतिषेध करने से अभेद ही पर्य्यवसित होता है। इस प्रकार आशङ्का करके अनैकान्तिक हेतु के द्वारा हेतु दोष का प्रदर्शन करते हैं। "व्यभिचरति क्व च" क्व च—अर्थात् कारण धर्म का कार्य्य में अनुसृत होना सर्वत्र अनिवार्य्य नहीं है, कहीं पर कारण धर्म कार्य्य में अनुसृत नहीं भी होता है। कार्य्य, कारण धर्म का सर्वांश में अनुगत होकर ही प्रकाशित होता है, ऐसा नियम नहीं है। दहनादि से उद्भूत प्रभा प्रभृति में दाहकत्व धर्म नहीं है। भावार्थ यह ही है।

स्वामिटीका—ननु आम्नायस्य क्रियार्थत्वानर्थक्यमतदर्थानाम्। तद् भूतानां क्रियार्थेन समन्वय इति तत्र तत्र जैमिनिना वेदस्य क्रियापरत्वाभिधानादुपनिषदामपि तदेव युक्तम्। यथोक्तं तन्त्रवार्त्तिककृता एतेन क्रत्वर्थप्रतिपादनेनोपनिषदां नैराकाङ्क्ष्यं व्याख्यातमिति। न, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, अचक्षुरश्रोत्रमित्येवं तद्विपरीतात्मप्रतिपादनात्। नह्यद्वितीयपरमानन्दरूपस्य कर्माङ्गत्वं युज्यते। अननुमतञ्चैतत् वार्त्तिककृतः कथम्? सर्वत्रैव हि विज्ञानसंस्कारत्वेन गम्यते। पराङ्गञ्चात्मविज्ञाना-दन्यत्रेत्यवधार्य्यतामिति तेनैवोक्तत्वात्। एतदर्थमेव मननाय मुनयः पर्य्यटन्तीत्युक्तम्। तत्र तावद् द्वैतस्य सत्यत्वे भवेदप्येवं तदेव तु न सम्भवतीति प्रश्नोत्तराभ्यां मननेन तत्त्वावधारणप्रकारमाह सत इदमुत्थितं सदिति चेदिति। इदं विश्वं धर्म्मि, सदिति साध्यो धर्मः सत उत्पन्नत्वात्—हेतुः। यत् यतः उत्पन्नं तत् तदात्मकमेव दृष्टम्। यथा कनकादुत्पन्नं कुण्डलादि तदात्मकं तद्वदिति। तत्र यदि सदभेदः साध्यते तदा तदा अपादानत्व निर्देशेनैव भेद प्रतीतेर्विरुद्धो हेतुरित्याह—ननु तर्कहतमिति।

ननु नाभेदं साधयामः। किन्तु तदुत्पन्नत्वेन कुण्डलादिवद् भेदं प्रतिषेधयामः। अत्राभेद एव स्यादित्याशङ्क्य अनैकान्तिकत्वेन दूषयति। व्यभिचरति क्वचेति। पितृपुत्रादिषु मुद्गरघटप्रध्वंसादिषु च तथा दर्शनादिति भावः।

ननु तदुत्पन्नत्वं नाम, तदुपादानकत्वं नतु तन्निमित्तकत्वं अतो नानैकान्तिकत्वमित्याशङ्क्य दूषयति क्व च मृषेति। गुणोपादानस्यापि फणिनो न गुणत्वं किन्तु मिथ्यात्वम्। अन्यथा कुण्डलादिवत् अबाध-प्रसङ्गात्। अतः पुनरप्यनैकान्तिकत्वमेवेति भावः।

ननु न तत्र केवलं गुणमात्रं फणिन उपादानं किन्तु अविद्यायुक्तम्। तथाभूतस्यावस्तुत्वाद् युक्तं फणिनो मिथ्यात्वमित्याशङ्क्य तत्तुल्यमपीति दूषयदि न तथोभययुगिति।

अयमर्थः,—अत्रापि अविद्यायुक्तस्यैव सत उपादानत्वम्। एवं भूतस्य च न वस्तु सत्त्वम्। अतः सदुपादानत्वमसिद्धमिति न वस्तु सत्त्वं प्रपञ्चस्येति—ननु माभूदनेन हेतुना प्रपञ्चस्य सत्त्वं हेत्वन्तरेण साधयामः। तथाहि—सदिदम् अर्थक्रियाकारित्वात्। न यदेवं न तदेवं यथा शुक्तिरजतमिति। तत्राह व्यवहृतये। विकल्प इषित इति। व्यवहाराय अर्थक्रियार्थं विकल्पो भ्रम इषित इष्ट एव। कूटकार्षा-पणादिनापि क्वचिद्व्यवहार दर्शनात्। नन्वेकत्रस्ततोऽन्यत्रारोपो भ्रमः प्रसिद्धः। अत्यन्तासत्त्वे कथं

"द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्त्तञ्चामूर्त्तमेव च। क्षराक्षरस्वरूपे ते सर्वभूतेष्ववस्थिते ।।५३।।

सर्वसम्वादिनी

य्यैश्वर्य्यपरं प्रतिपादितं भवति; उपक्रमानुकूलता च; एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपत्तिश्च;—सूक्ष्मचिद-चिद्वस्तु-शरीरस्यैव ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद्वस्तु-शरीरत्वेन कार्य्यत्वात् ।।"

कार्य्य-कारणयोरनन्यत्वात् स्थूलचिदप्यत्राध्यात्मिकादस्थो जीवः। तथा (श्वे० ६।७) 'तमीश्वराणां

प्रपञ्चो भ्रमः स्यात् सत्त्वे वा नाद्वैतसिद्धिः। उक्तञ्च भट्टैः। अध्यास्यते खपुष्पत्वमसत् कथमवस्तुनि। प्रज्ञात गुणसत्ताकमध्यारोप्येत वा नवेति। नेत्याह। अन्धपरम्परयेति। अन्धपरम्परया यो विकल्प इत्यन्वयः। अयं भावः—संस्कारजन्यो भ्रमः, सिद्धये पूर्वप्रतीतिमात्रमपेक्षते न वस्तुसत्त्वम्। प्रतीतौ सत्यां वस्तु सत्ताभावेन भ्रमव्यतिरेकादर्शनात्। ततोऽनादित्वात् पूर्वपूर्वभ्रमदृष्टस्य उत्तरोत्तर आरोपो भविष्यति, अन्धपरम्परान्यायेन व्यवहारः स्येत्स्यतीत्यप्रयोजको हेतुरिति।

नन्वक्षय्यं ह वै चातुर्म्मास्य याजिनः सुकृतं भवति। अपाम सोमममृता अभूमेत्यादिभिः कर्मफलस्य नित्यत्वप्रतिपादनात् असत्त्वं न घटते, न हि नित्यवस्तु असत् भवति। तस्माद् वेद प्रतिपादित्वादद्वैतं सदेवेत्याशङ्क्याह—भ्रमयतीति। हे भगवन्! ते तव भारती वेदलक्षणा उरुवृत्तिभिर्बह्वीभिर्गौणलक्षणादि वृत्तिभिरुक्थ जड़ान् कर्मश्रद्धाभाराक्रान्तमन्दमतीन् भ्रमयति—मोहयति।

अयं भावः, नहि वेदः कर्मफलस्य नित्यत्वमभिप्रैति। किन्तु लक्षणया प्राशस्त्यमात्रम्। विध्येक वाक्यत्वात्। अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात्। तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत इति। न्यायोपबृंहित श्रुत्यन्तर विरोधाच्च। अतः कर्मजड़ानामिदं भ्रममात्रमिति। एतेनैव तस्माद्वा एतस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इत्यादीनामप्यन्यपरत्वं दर्शितं भवति।

जैमिनि, वेद को क्रियापर मानते हैं, इससे उपनिषत् भी क्रियापर होना सङ्गत है। तन्त्रवार्त्तिककार ने कहा भी है—वेद को क्रियापर कहने से उपनिषद् का निराकाङ्क्षत्व कथित हुआ है। नहीं। क्रिया विरहित वाक्य का भी प्रामाण्य है। जैसे "एकामेवाद्वितीयं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, अचक्षुरश्रोत्रं" शब्द से आत्म प्रतिपादन होता ही है। अद्वितीय परमानन्द वस्तु को काम्यकर्म का अङ्ग मानना भी ठीक नहीं है। वार्त्तिककार ने इसको स्वीकार नहीं किया है। कैसे—सर्वत्र ही विज्ञान का अनुभव संस्कार से होता है। आत्मविज्ञान को छोड़कर अपर पदार्थ को कर्माङ्ग मानना उचित है। उस वस्तु के लिए ही मुनिगण पर्य्यटन करते हैं। ऐसा तभी हो सकता है—यदि द्वैत सत्य हो। किन्तु द्वैत तो सत्य नहीं है। इस प्रकार वितर्क के बाद तत्त्वावधारण हेतु प्रकार को दिखाते हैं—"सत् से उत्पन्न होने से ही सत् होता है" इस प्रकार नियम अव्यभिचारी नहीं है। यह 'विश्व' धर्म्मि है, सत् साध्य है। हेतु है,—सत् से उत्पन्न होता है, वह उस प्रकार ही होता है। सुवर्ण से जो उत्पन्न होता है, वह सुवर्ण ही होता है। अपादान प्रयोग से ही भेद निर्देश होता है? उत्तर में कहते हैं—अभेद साधन नहीं करता हूँ। किन्तु उससे उत्पन्न होने के कारण कुण्डलादि के समान भेद का निषेध करता हूँ। इससे तात्पर्य्यतः—अभेद साधन ही होता है। इसका निराकरण करते हैं, पिता पुत्र में अभेद नहीं, मुद्गर प्रहार से घट ध्वंस से भिन्न वस्तु उत्पन्न होती है। उत्पन्न अंश में उपादान कारण कहने से दोष नहीं होगा, निमित्तकारण से दोष होता है। समाधान करते हैं—गुणोपादान फणि का गुणत्व नहीं है। किन्तु मिथ्या है, अन्यथा कुण्डलादि के समान अबाध प्रसङ्ग होगा। फणि में अविद्यायुक्त निवेश करने पर दोष नहीं होगा। भिन्न हेतु से विश्व का सत्यत्व प्रतिपादन करते हैं—विश्व सत्य है। कारण अर्थ क्रियाकारिता है। अर्थ क्रियाकारिता अन्ध परम्परा से भी होती है। अतएव एतेनैव तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत इत्यादीनामप्यन्यपरत्वं दर्शितं भवति।

विष्णुपुराण १।२२।५३-५४ में वर्णित है—"मूर्त्त अमूर्त्त भेद से ब्रह्म के दो भेद हैं। एक साकार, द्वितीय

अक्षरं तत् परं ब्रह्म क्षरं सर्वमिदं जगत् ॥"५४॥

इत्याद्यनन्तरम् (वि०पु० १।२२।५५)—

"एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा। परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत् ॥"५५॥

इत्येतदेवं व्याख्यातं श्रीस्वामिभिरेव श्रीविष्णुपुराणे (१।२२।५४) "नन्वक्षरस्य परब्रह्मणस्तद्-विलक्षणं क्षररूपं कथं स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तेनोपपादयति—एकदेशेति। प्रादेशिकस्याप्यग्ने-र्दीपादेर्दाहकस्यापि तद्विलक्षणा ज्योत्स्ना प्रभा यथा तत्प्रकाशविस्तारस्तथा ब्रह्मणः शक्ति-कृतविस्तार इदमखिलं जगत्" इति।

प्रकृतमनुसरामः। ननु तर्हि व्यभिचारित्वे शुक्ति-रजतवदेवास्तु, तत्राहुः—'क्व च मृषा' इति, क्व च शुक्त्यादावेव प्रातीतिकमात्रसत्ताकं रजतादिकं मृषा। अन्यत्र यत्र उभयं प्रतीतिमर्थक्रियाकारित्वञ्च युनक्ति भजते, तत्र न तथा मृषेति। ननु कूटताम्रिकादिष्वर्थक्रिया-कारितापि दृश्यते, इत्याशङ्क्याहुः—'व्यवहृतये' इति। क्रयविक्रयादिलक्षणव्यवहारायैव विकल्पो भ्रम इष्टः, न तु तत्तत्प्रसिद्धसम्यगर्थक्रियाकारितायै। तद्दानादौ यथावत् पुण्य-फलादिकं न भवतीति। तथा शुण्ठीतया प्रख्यापितं विषग्रन्थ्यादिकं क्रीत्वा शुण्ठीज्ञानेन भक्षितमपि नारोग्यजनकम्, प्रत्युत मारकमेवेति। तस्मात्तत्तत्प्रसिद्धसम्यगर्थक्रियाकारितयैव जगतः सत्यत्वमङ्गीक्रियते। एकाङ्गेन सा कूटसर्पादौ भयादिरूपा त्वस्त्येवेति, न तु तद्धेतुः।

सर्वसम्वादिनी

परमं महेश्वरम्'; (श्वे० ६।८) 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'; (छा० ८।१।५) 'अपहतपाप्मा सत्यकामः' इत्याद्यविरोधश्च।

(छा० ६।८।७) 'तत्त्वमसि' इत्यत्रोद्देश्योपादेय-विभागः कथमिति चेत्? नात्र किञ्चिदुद्दिश्य किमपि

निराकार है। उक्त रूपद्वय क्षर एवं अक्षरस्वरूप समस्त भूतों में अवस्थित हैं। उसके मध्य में जो अक्षर हैं—वह ही परमब्रह्म हैं, और क्षर—समस्त जगत् है। इस प्रकार कथन के अनन्तर कहते हैं—

विष्णुपुराण के १।२२।५५ में—एकदेशस्थित अग्नि की प्रभा जिस प्रकार सर्वत्र विस्तारिणी है। तद्रूप परब्रह्म की शक्ति सर्वत्र व्याप्त है। श्रीविष्णुपुराणस्थ १।२२।५४ की स्वामिकृत व्याख्या इस प्रकार है—अक्षर परब्रह्म से क्षररूप विलक्षण वस्तु उत्पन्न कैसे होती है? इस प्रकार आशङ्का करके दृष्टान्त के द्वारा प्रतिपादन करते हैं—एकदेशेति, प्रादेशिक अर्थात् एकदेशस्थित अग्नि, दीपादि की विलक्षणा ज्योत्स्ना—उसका प्रकाश का विस्तारक है। उस प्रकार ब्रह्म का शक्तिकृत विस्तार अखिल जगत् है।

अनन्तर प्रकरण प्राप्त विचार्य्य विषय का वर्णन करते हैं—कार्य्य कारण में व्यतिक्रम होने पर शुक्ति रजत के समान ही इस विश्व की प्रतीति हो? उत्तर में कहते हैं—"क्व च मृषेति।" शुक्ति रजतादि में रजतादि की सत्ता प्रातीतिक मात्र है। अर्थात् बोध ही होता है, उससे रजतादि का व्यवहार नहीं होता है। जहाँ अर्थक्रियाकारित्व एवं बोध समान रूप से है, वहाँ मिथ्या नहीं है। लौह ताम्र मुद्रिका सत् नहीं है। उससे भी क्रय-विक्रय व्यवहार निष्पन्न होता है? कहते हैं—क्रय-विक्रयादि व्यवहार में विकल्प भ्रम होना इष्ट है, किन्तु प्रसिद्ध अर्थक्रियाकारिता के लिए नहीं होता है। कूट ताम्रादि मुद्रा दान से पुण्यादि फल नहीं होते हैं। उस प्रकार शुण्ठी नामक प्रसिद्ध विषग्रन्थी का सेवन से आरोग्यलाभ नहीं होता है, किन्तु वह मारक सिद्ध होता है। अतएव प्रसिद्ध सम्यक् कार्य्य क्रियाकारिता द्वारा जगत् का सत्यत्व स्वीकृत हुआ है। एकांश के द्वारा लौहादि निर्मित सर्पादि से भीति का सञ्चार होता है। यह

किञ्च, अन्धपरम्परयेति—स च क्रयविक्रयादिलक्षणव्यवहारोऽपि, न तु यथार्थतान्त्रिकस्येव तद्व्यवहारकुशलेष्वपि, किन्त्वन्धपरम्परयैव। अतस्तत्र तदीयकुशलेष्वसिद्धत्वेन व्यवहारस्याभासमात्रत्वात्तस्मादन्यथा नानुमेयम्। धूमाभासे हि वह्निव्यभिचारस्यौचित्यमेवेति भावः। तदेवमर्थक्रियाकारित्वेनास्त्येवेतरस्य भ्रमवस्तुवैलक्षण्यात् सत्यत्वमिति विवर्त्तवादिनि निरस्ते पुनरनश्वरवादी प्रत्युत्तिष्ठते। ननु (ऋक्० ८।४८।३) "अपाम सोममृता अभूम, अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" इति श्रुत्यैव कर्मफलस्य नित्यत्वप्रतिपादनान्नश्वरत्वं न घटत इत्याशङ्क्याहुः—'भ्रमयति' इति। हे भगवन्! ते तव भारती उरुवृत्तिभिर्बह्वीभिर्गौणलक्षणादिभिर्वृत्तिभिः, उक्थजड़ान्, उक्थानि यज्ञे शस्यन्ते, तत्र जड़ाः कर्मश्रद्धाभाराक्रान्तमन्दमतय इत्यर्थः, तान् भ्रमयति। अयं भावः—न हि वेदः कर्मफलं नित्यमभिप्रैति,

सर्वसम्वादिनी

विधीयते,—(छा० ६।८।७) 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यनेनैव प्राप्तत्वात्। (पू०मी०सू० ६ष्ठ अ० २य-पे० ४र्थाधि० १८श-सू०) 'अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत्' 'इदं सर्वम्' इति सर्वं जीवजगन्निर्दिश्य 'ऐतदात्म्यम् इति, तस्यैष आत्मेति तत्र प्रतिपादितम्। तत्र हेतुरुक्तः—(छा० ६।८।४) 'सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वा प्रजाः सदायतनाः सत्-

अर्थक्रियाकारिता भयादि का सामयिक रूप से निर्वाहिका है। किन्तु वह सत्य व्यवहार का हेतु नहीं है। और भी रही अन्ध परम्परा की बात, एक अन्ध अपर अन्ध को एक मुद्रा देकर कहा, यह सत्य मुद्रा है, किन्तु वह सत्य नहीं है। अन्ध परम्परा से क्रय-विक्रय व्यवहार निष्पन्न होता गया, किन्तु इसका भी प्रवर्त्तक प्रथम चक्षुष्मान् पुरुष है। जब तक चक्षुष्मान् कभी उस मुद्रा की परीक्षा नहीं करते हैं, तब तक क्रय विक्रय लक्षण व्यवहार चलता रहता, किन्तु अज्ञ जन के मध्य में व्यवहार निष्पन्न होता है। यथार्थ मुद्रा परीक्षक तान्त्रिक के समान नहीं होता है। उसमें निर्भय अन्तःकरण नहीं होता है। इस प्रकार यथार्थ व्यवहारवित् परीक्षक के विषय में भी है। जब वे लोक जान जायेंगे यह सत्य मुद्रा नहीं है, तब उक्त मुद्रा से व्यवहार नहीं करेंगे। किन्तु इसका प्रचलन अन्धगण ही करने से किसी चक्षुष्मान् व्यक्ति के कथन के विश्वास पर ही अन्ध परम्परा चलती है। इस परम्परा का निरास चक्षुष्मान् व्यक्ति के द्वारा होता है। जब वह कह देता है, यह सत्य नहीं है। अतएव व्यवहार निपुण में उस प्रकार व्यवहार नहीं होता, भ्रम क्रम से जो व्यवहार निष्पन्न होता है, वह सामयिक है, एवं व्यवहाराभास है। यथार्थ व्यवहार नहीं है। अतएव अन्य प्रकार अनुमान करना उचित नहीं है। धूम के आभास से अग्नि अनुमान में व्यभिचार होता है। कार्य्य-कारण भाव बनता नहीं, वह यथार्थ ही है। कारण सत्य लक्षणाक्रान्त धूम से ही वह्नि का अनुमान सिद्ध होता है। अतएव अर्थक्रियाकारित्व हेतु भ्रम वस्तु से विलक्षणता सत्य वस्तु में है ही। सुतरां उक्त नियम से जगत् की सत्यता स्थापित होती है। इससे विवर्त्तवादी निरस्त होने पर भी जगत् को मीमांसकगण अनश्वर मानते हैं। वे पूर्वोक्त सिद्धान्त का विरोध करते हैं। उनका कहना है,—ऋक् ८।४८।३ में वर्णित है—"अमृत पान कर अमर बनेंगे, चातुर्मास्य यजन कर्त्ता का अक्षय पुण्य होता है।" इस श्रुति वाक्य के द्वारा कर्मफल की नित्यता प्रतिपादित होती है। अतएव जगत् का नश्वरत्व होना सम्भव नहीं है। इस आशङ्का को उठा कर समाधान करते हैं,—'भ्रमयति'। हे भगवन्! आपकी वाणी भारती, उरु वृत्ति के द्वारा अर्थात् अनेक प्रकार गौण लक्षणावृत्ति के द्वारा 'उक्थजड़ान्' यज्ञ कर्म में जिन सब की प्रशस्त बुद्धि है, वे सब जड़ होते हैं। अर्थात् काम्यकर्म में अतिशय श्रद्धालु होने से श्रद्धाभाराक्रान्त मन्द मति के होते हैं। उन सब को भ्रमण कराती रहती हैं। इस कथन का अभिप्राय इस प्रकार है—

किन्तु लक्षणया प्राशस्त्यमात्रम्, अन्येषां वाक्यानां विध्येकवाक्यत्वेन विधावेव तात्पर्य्यात्, अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गः; (छा० ८।१।६) "तद्यथा इह कर्मजितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते" इति न्यायोपबृंहितश्रुत्यन्तरविरोधश्च ; अतः कर्मजड़ानामिदं भ्रममात्रम्, जगत्तु सत्यमपि परिणामधर्मत्वेन नश्वरमेवेति। तदुक्तं भट्टेनैव—"अथवेतिहास-पुराणप्रामाण्यात् सृष्टिप्रलयावपीष्येते" इति। अथवा नाभेदं साधयाम इत्यादिकमाशङ्क्य प्रसिद्धस्य सत्तात्रयस्य मिथो वैलक्षण्यादभेदं परिहरन्ति,—क्व च घटादौ अर्थक्रियाकारिण्यपि व्यभिचरति सत्तेति शेषः, वस्त्वन्तरस्यार्थक्रियाकारितायामसामर्थ्यात् देशान्तरे स्वयमविद्य-मानत्वात् कालान्तरे तिरोभावित्वाच्च। क्व च शुक्तिरजतादौ तत्रापि तदानीमपि मृषा, अर्थक्रियाकारित्वाभावात्। या तूभययुक् उभयत्र घटादिसत्तायां शुक्तिरजतादिसत्तायाञ्च युग् योगो यस्याः, सा सा लब्धपदा भवतीत्यर्थः। सा परमकारणसत्ता न तथा किन्तु सर्वत्रापि सर्वदापि तत्तदुपाध्यनुरूपसर्वार्थक्रियाद्यधिष्ठानरूपेत्यर्थः। तस्मादर्थक्रियाकारित्वेन

सर्वसम्वादिनी

प्रतिष्ठाः' इति ; (छा० ३। ४।१) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तः' इतिवत्। तथा श्रुत्यन्तराणि च ब्रह्मणस्तद्व्यतिरिक्तस्य चिदचिद्वस्तुनश्च शरीरात्मभावमेव तादात्म्यं वदन्ति,—(तै०आ० ३।११) 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' ; (बृ० ३।७।४) 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादिकं (शतपथ-ब्रा० १४।६।७।३०)

वेद कर्मफल का नित्यत्व प्रतिपादन नहीं करते हैं। किन्तु लक्षणा द्वारा गौण वृत्ति से प्राशस्त्य मात्र को कहते हैं। विधि भिन्न वेद के अपर वाक्यों का उद्देश्य है। विधि वाक्य को पुष्ट करना, अर्थात् विधि वाक्य को सफल करने के लिए विध्युक्त अर्थ को ही पुष्ट करना है। तात्पर्य्य विधिवाक्य में है, निज निज वाक्य में नहीं है। अन्यथा विधिवाक्य के साथ विरोध उपस्थित होगा, अर्थात् पृथक् पृथक् वाक्य हो जायेगा। छान्दोग्य में वर्णित है,– इस जगत् में जिस प्रकार अधिकारप्राप्त पद विनष्ट होता है, उस प्रकार पुण्यार्ज्जित परलोक का भी क्षय होता है। इस प्रकार नियम पुष्ट श्रुत्यन्तर से विरोध भी उपस्थित होता है। अतएव कर्मजड़मति व्यक्तिगण के सम्बन्ध में उक्त प्रकार अर्थ भ्रमोत्पादक ही है। किन्तु जगत् वास्तविक सत्य होते हुए भी परिणाम धर्माक्रान्त होने से नश्वर ही है। श्रीकुमारिल भट्ट ने भी कहा है, अथवा इतिहास पुराणों का प्रामाण्य निबन्धन जगत् के सृष्टि प्रलय कार्य्य भी स्वीकृत है।

अथवा वादियों ने कहा था, हम अभेद साधन कारण के सह्रित नहीं करते हैं, किन्तु भिन्नता का ही निषेध करते हैं। उक्त पूर्वपक्ष को उठाकर समाधान करते हैं। प्रसिद्ध व्यवहारिक, प्रातीतिक, पारमार्थिक रूप जो सत्तात्रय है, उसमें पारस्परिक विलक्षणता सुस्पष्ट है। अतएव अभेद हो ही नहीं सकता। अर्थात् स्थल विशेष में अर्थक्रियाकारिता होने पर भी उस घट सत्ता का अभाव अन्यत्र विद्यमान है, इससे व्यभिचार सुस्पष्ट है। अपर वस्तु की अर्थक्रियाकारिता में शक्ति नहीं है। देशान्तर में स्वयं अविद्यमान भी रहते हैं, एवं कालान्तर में भी तिरोभूत हो जाते हैं। अतएव ईश्वर भिन्न अन्य पदार्थों की सत्ता चिरकाल स्थायी नहीं है। शुक्ति रजतादि में तो उस समय ही मिथ्या होती है, कारण उक्त रजतादि से व्यवहार निष्पन्न नहीं होता है। जो सत्ता उभय मिश्रित है, अर्थात् घटादि सत्ता में शुक्तिरजतादि में जिसका योग है, एक सत्य है, अपर मिथ्या है। वह वह उस उस सत्ता को प्राप्त करता है। किन्तु परम कारण सत्ता उस प्रकार नहीं है, किन्तु सर्वत्र सर्वदा ही उन उन उपाधि के अनुरूप सर्वार्थ क्रियादि

सत्यमपि परिणतत्वेन घटवन्नश्वरमेव जगत्, न प्रतीतिमात्रसत्ताकम्, न चानश्वरसत्ताकमिति परस्परवैलक्षण्यदर्शनात् कथमेकमन्यद्भवितुमर्हतीति भावः। कूटताम्रिकत्वमाशङ्क्याहुः—'व्यवहृतये' इति। विकल्पयते अन्यत्रारोप्यत इति विकल्पः स्वतःसिद्धस्ताम्रिकादिरर्थः, स एव व्यवहृतये इषितः। अयमर्थः—अत्र कूटताम्रिकेण यं व्यवहारं मन्यसे, सोऽपि न तेन सिध्यति, किन्तर्हि सत्यताम्रिकेणैव, अर्थान्तरं व्यवहर्त्तुर्हृदि तस्यैव प्रत्यक्षत्वात्, कूटताम्रिक-मन्त्रोपलक्षणमेव, क्वचित्तं विनापि तव गृहे ताम्रिको दत्त इति पश्चाद्दातव्य इति वा छल-प्रयोगे स्मार्य्यमाणेनापि तेन तथा व्यवहारसिद्धेः। तस्माद्व्यवहाररूपाप्यर्थक्रियाकारिता तस्यैव भवतीति स सत्य एव, अन्यथा सत्यस्य ताम्रिकस्याभावे शतमप्यन्धानां न पश्यतीति न्यायेन कूटताम्रिकपरम्परयापि व्यवहारोऽपि न सिध्येदित्याहुः—अन्धपरम्परयेति। अन्ध-परम्परादोषात् स एव व्यवहृतय इषित इत्यन्वयः। यथान्धपरम्परया व्यवहारो न सिध्येत्, तथा कूटताम्रिकपरम्परयापीत्यर्थः। इत्थमेव विज्ञानवादोऽपि निराकृतः, शङ्करशारीरकेऽपि, अनादित्वेऽप्यन्धपरम्परान्यायेनाप्रतिष्ठैवानवस्थाव्यवहारविलोपिनी स्यान्नाभिप्रायसिद्धि-

सर्वसम्वादिनी

'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादिकश्चारभ्य (सुबाल० ७) 'यस्य मृत्युः शरीरम्; यं मृत्युर्न वेद; एष सर्वभूतान्त-रात्मापहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः' इति; (तै० २।६।२) 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्; तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्' इत्यादीनि।

अधिष्ठान रूपा है। अतएव अर्थक्रियाकारि रूप में जगत् सत्य होने पर भी परिणाम हेतु घट के समान नश्वर ही जगत् है। जगत् की जो सत्ता है, वह ज्ञानमात्र भी नहीं है, एवं अनश्वर सत्ता भी नहीं है। कारण परस्पर में वैलक्षण्य दृष्ट होने से कैसे एक वस्तु मन्य हो सकती है? कूटताम्रिकता की आशङ्का करके कहते हैं, "व्यवहृतये" इसका अभिप्राय इस प्रकार है,—असत् मुद्रा के द्वारा जो क्रयविक्रय व्यवहार निष्पन्न होता है, वह व्यवहार असत् मुद्रा का निज महत्व से नहीं किन्तु वह असत् होकर आत्मगोपन करके सत् रूप से व्यवहार निर्वाह करती है, जब तक उसका पहचान नहीं होता है। अतएव व्यवहार तो सत्य ताम्रिक के नाम से ही होता है, असत् को असत् कहकर नहीं, किन्तु असत् को सत् कहकर ही होता है। अन्य अर्थ व्यवहारकारि के हृदय सत्य ताम्रिक का ही संस्कार है, वह उसे सत्य जानकर ही व्यवहार करता है, एवं सत्य ताम्रिक रूप से देखता है। यहाँ तो कूटताम्रिक उपलक्षण है, किन्तु छल पूर्वक यदि कोई कहता है कि—मैंने तुम्हारे घर में ताम्रमुद्रा दे आया हूँ। अर्थात् "इसके बाद मैं दे जाउँगा" इस प्रकार छल प्रयोग से भी व्यवहार चलता है। सुतरां जिसके द्वारा निःसन्दिग्ध रूप से व्यवहार निष्पन्न होता है, वह ही सत्य है। अन्यथा सत्य ताम्रिक के अभाव से शत अन्ध भी एकत्र होकर दर्शन कार्य्य सम्पन्न नहीं कर सकते। इस रीति से कूट ताम्र के द्वारा कोई भी परम्परा नहीं चलती है। इसको कहते हैं—अन्धपरम्परेति। अन्धपरम्परा दोष से वह कूट ताम्रमुद्रा व्यवहार में आई है। जिस प्रकार अन्ध परम्परा के द्वारा व्यवहार सिद्ध नहीं होता है। उस प्रकार कूटताम्रिक की परम्परा भी नहीं चलती है। इसके द्वारा विज्ञानवाद का निराकरण भी हुआ। शङ्कर शारीरक में भी कथित है—जगत् को अनादि मानने के लिए अन्धपरम्परा नियम को ही स्वीकार करना पड़ता है। उसके बिना अनादित्व का स्थापन नहीं होगा, किन्तु इससे विचार धारा की कभी भी विश्रान्ति नहीं होगी, इससे

रित्युक्त्वा एतदुक्तं भवति,—यथेदं सुवर्णं केन क्रीतमिति प्रश्ने कश्चिदाह—अनेनान्धेनेति, अनेन कथं परिचितमिति पुनराह—तेनान्धेन परिचायितम्, तेन च कथमित्याह—केनाप्यपरेणान्धेनेत्यन्धपरम्परयापि न सिध्येद्व्यवहारः, किन्तु तत्रान्धपरम्परायां यद्येकोऽपि चक्षुष्मान् सर्वादिप्रवर्त्तको भवति, तदैव सिध्यति, यथा च तत्र सर्वेष्वपि चक्षुष्मत एव व्यवहारसाधकत्वम्, तथा कस्मिंश्चित्ताम्रिके प्रथमं सत्ये सत्येव व्यवहारः सिध्यति, तत्र च सत्यस्यैव व्यवहारसाधकत्वम्, तदनुसन्धानेनैव तत्र प्रवृत्तेश्चक्षुष्मत इव प्रवर्त्तकत्वात्ततश्च कश्चन ताम्रिकः सत्य इति स्थिते, यत्र तद्व्यवहारकुशलैः परीक्षया सत्यतावगम्यते, स एव कूटताम्रिकेऽप्यारोप्यमाणः सत्यो भवेत्। तदेवमर्थक्रियाकारित्वेन तस्य सत्यत्वे तदुपलक्षितं विश्वमेव भ्रमवस्तुविलक्षणं सत्यमिति सिद्धम्। परमात्मन एवावयवित्वव्यवहारसाधकत्वेन साधितत्वाद्युक्तमेव तत्। तथा च ब्रह्मादिभिरस्तुतम् (भा० १०।२।२६) "सत्यस्य योनिम्" इत;

सर्वसम्वादिनी

अतएव (ब्र०सू० ४।१।३) "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" इति सूत्रकारः। 'आत्मेत्येव तु गृह्णीयात्' इति च वाक्यकारः। अत्रापि (छा० ६।३।२) 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति

अप्रतिष्ठा दोष ही होता है, इस अनवस्था दोष से व्यवहार लोप होगा। अनादित्व साधन करने का अभिप्राय की सिद्धि भी नहीं होगी। इस प्रकार कहकर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—जिस प्रकार किस ने यह सुवर्ण खरीदा? प्रश्न के उत्तर में किसी ने कहा, इस अन्ध ने। पुनः पूछा,—इस अन्ध ने कैसे पहचाना, यह सुवर्ण है, या नहीं है? उत्तर मिला, अमुक अन्ध ने पहचान कर दिया है। वह तो अन्ध है, परीक्षा तो चक्षुष्मान् कर सकता है, कैसे उस अन्ध ने पहचाना? उत्तर मिला—किसी एक अन्ध ने कहा था यह ठीक है, इस रीति को अन्धपरम्परा कहते हैं। इससे व्यवहार निष्पन्न नहीं होता है। किन्तु उस अन्ध परम्परा का प्रवर्त्तक रूप में सर्वादि प्रवर्त्तक को चक्षुष्मान् होना परम आवश्यक होगा। तब उक्त अन्ध परम्परा चल सकती है। यह सत्य है कि—समस्त व्यवहारों में चक्षुष्मान् जन ही व्यवहारका साधक होते हैं। जब तक ताम्रमुद्रा का उत्तमत्व निर्णय किसी अभिज्ञ चक्षुष्मान् व्यक्ति के द्वारा नहीं होता है, यह सत्यमुद्रा है,तब तक उस प्राथमिक असत्यमुद्रा से सत्य व्यवहार निष्पन्न होता है। वहाँ जो व्यवहार उस मुद्रा से होता, उसके प्रति कारण ही है, उस मुद्रा को सुपरीक्षित सत्यता। प्राथमिक असत्य से कोई व्यवहार निष्पन्न नहीं होता है। जैसे सत्यानुसन्धान से ही प्रवृत्त होते हैं चक्षुष्मान् जनगण, उस प्रकार सत्यता से निर्दिष्ट ताम्रमुद्रा व्यवहारोपयोगी होती है। उसमें भी व्यवहार कुशल व्यक्तिगण परीक्षा के द्वारा उसकी सत्यता का निरूपण करते हैं। असत् मुद्रा का प्रवर्त्तन के प्रति कारण ही यह है कि उक्त परीक्षित सत्यमुद्रा का आरोप ज्ञानतः असत् मुद्रा में कुशल व्यक्ति के द्वारा होता है, इससे असत् मुद्रा का प्रचलन होता है। कुछ ही समय के लिए यह सत्यवत् प्रतिभात होता है। जब तक परीक्षक के नेत्र गोचर उक्त मुद्रा नहीं होती है।

सुतरां उक्त प्रकार जागतिक अर्थक्रियाकारित्व में सुविज्ञ असमोर्द्ध ईश्वर तत्त्व कारण है। ईश्वर तत्त्व स्वतःसिद्ध सत्य है उनके द्वारा प्रतिपादित जगत् भ्रमात्मक नहीं है, किन्तु उक्त भ्रमात्मक वस्तु से विलक्षण सत्य वस्तु है। अतः विश्व सत्य ही है। परमात्मा ही नित्य शक्तिमत् पदार्थ हैं। वह निखिल चैतन्यों का अवयवी हैं। उससे ही वस्तु का कार्य्य ही जगत् है, शक्ति का आत्मस्वरूप कार्य्य होने से जगत् की नित्यता साधित हुई है। यह ही युक्ति सङ्गत है। भा० १०।२।२६ में ब्रह्मादि की स्तुति से उसका सुस्पष्ट

(तै० २।६) "तत् सत्यमित्याचक्षते" इति श्रुतिश्च। शिष्टमन्यत् समानम्। एवं जगतः सत्यत्वमङ्गीकृतम्, तच्च नश्वरमिति। तत्र नश्वरत्वं नात्यन्तिकम्, किन्त्वव्यक्ततया स्थितेरदृश्यतामात्रमेव, सत्कार्य्यतासंप्रतिपत्तेः, (वृ० ३।८।३) "यद्भूतं भवच्च भविष्यच्च" इत्यादि श्रुतेः॥

७१। अतएव शुक्तित्वे रजतत्वमिव तस्याव्यक्तरूपत्वे जगत्त्वमसन्न भवति, पटवच्चेति

सर्वसम्वादिनी

ब्रह्मात्मक जीवानुप्रवेशेनैव सर्वेषां वस्तुत्वं शब्दवाच्यत्वञ्च प्रतिपादितम्। (तै० २।६।२) 'तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्' इत्यनेनैकार्थ्याज्जीवस्यापि ब्रह्मात्मकत्वं ब्रह्मानुप्रवेशादेवेत्यवगम्यते। तस्माद्ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य तच्छरीरत्वेनैव वस्तुत्वात्तस्य प्रतिपादकः शब्दस्तत्पर्य्यन्तमेव स्वार्थमभिदधाति। अतः सर्वशब्दानां लोक-व्युत्पत्त्यवगत-तत्पदार्थविशिष्ट-ब्रह्माभिधायित्वं सिद्धमिति (छा० ६।८।७) 'ऐतदात्मचमिदं

प्रकाश भी हुआ है। "सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितञ्च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥"

टीका—प्रतिश्रुतं सत्यं कृतमिति हृष्टाः सन्तः सत्यत्वेनैव प्रथमं स्तुवन्ति, सत्यव्रतमिति। सत्यं व्रतं, सङ्कल्पो यस्य तम्। सत्यं-परं श्रेष्ठं प्राप्तिसाधनं यस्मिंस्तम्। त्रिसत्यं—त्रिष्वपि कालेषु सृष्टेः पूर्वं प्रलयानन्तरञ्च स्थिति समये च सत्यमव्यभिचारेण वर्त्तमानम्। तदेवाहुः, सत्यस्य योनिमिति। सच्छब्देन पृथिव्यप्तेजांसि तच्छब्देन वाय्याकाशौ। एवं सच्च तच्च सत्यं भूतपञ्चकम्। तत् सत्यमित्याचक्षते, इति श्रुतेः। तस्य योनिं कारणम्—अनेन पूर्वं वर्त्तमानतोक्ता। तथा सत्ये तथा तस्मिन्नेव निहितमन्तर्य्यामितया स्थितम् अनेन स्थितिसमयेऽपि सत्यत्वमुक्तम्। तथा सत्यस्य सत्यं तस्यैव सत्यस्य सत्यं पारमार्थिकं तन्नाशेऽप्यवशिष्यमाण रूपम्, अनेन प्रलयेऽप्यवधित्वेन सत्यत्वं दर्शितम्। एवं त्रिसत्यमुपपादितम्। तथा ऋतसत्यनेत्रम्-ऋतं सुनृता वाणी, सत्यं समदर्शनम्। तथा भगवता व्याख्यास्यमानत्वात् सत्यं च समदर्शनम् ऋतञ्च सुनृता वाणी कविभिः परिकीर्त्त्यतेति। तयोर्नेत्रं नयसाधनं नेतारं प्रवर्त्तकमिति यावत्। एवं प्रकारेण सत्यात्मकं त्वां भगवन् वयं शरणं प्रपन्नाः प्राप्ता इति।२६।

प्रतिश्रुति को सत्य करने से आनन्दित देवतागण प्रथम 'सत्य' शब्द से ही स्तव का आरम्भ करते हैं—जिनका सङ्कल्प सत्य है, सत्य ही जिनकी प्राप्ति का एकमात्र साधन है। जो कालत्रय में सत्य हैं। सृष्टि के पूर्व, स्थिति समय में, प्रलय के अनन्तर भी सत्य, अव्यभिचार से स्थित हैं, उसे कहते हैं,—सत्यस्य योनिं—सत् शब्द से पृथिवी जल तेजः, तत् शब्द से वायु एवं आकाश—ये भूत पञ्चक सत्य हैं। श्रुति कहती है, उसे सत् कहते हैं। तस्य योनिं—अर्थात् कारण हैं। अतएव सृष्टि के पूर्व विद्यमान् हैं। तथा सत्य में अन्तर्यामि रूप में समस्त भूतों में रहते हैं, इससे स्थिति समय में भी आप सत्य हैं। आप तो सत्य का भी सत्य हैं, अर्थात् प्रलय होने के पश्चात् आप ही सत्य रूप में रहते हैं। इस प्रकार से त्रिसत्यत्व प्रतिपादित हुआ। तथा ऋत सत्य नेत्र, सुनृता वाणी को ऋत कहते हैं। समदर्शन को सत्य कहते हैं। भगवान् ने स्वयं ही कहा है,—सत्य—समदर्शन है, ऋत—सुनृता वाणी है, उन दोनों का नेता प्रवर्त्तक हैं। इस प्रकार सर्व प्रकार से सत्यात्मक आपकी हम सब शरण ले रहे हैं।२६।

तैत्तिरियक श्रुति भी कहती है—'उनको सत्य कहते हैं।' अवशिष्ट पदों का अर्थ पूर्व के समान ही है। इन प्रमाणों से जगत् की सत्यता स्वीकृत हुई है, किन्तु वह जगत् नश्वर है। वह नश्वर आत्यन्तिक नहीं है, किन्तु अप्रकाश रूप में अवस्थित होने के कारण अदृश्यता रूप है। कारण सत् से ही कार्य्य की प्रवृत्ति होती है। बृहदारण्यक श्रुति कहती है—"वर्त्तमान भूत एवं भविष्यत् समस्त वस्तु ही ईश्वर हैं" ।।७०।।

अतएव शुक्तित्व में रजतत्व के समान ईश्वर शक्ति विलसित हेतु जगत् असत् नहीं है। वेदान्त सूत्र

न्यायेन जगदेव हि सूक्ष्मतापन्नमव्यक्तमिति दृश्यत्वेन भ्रान्तिरजतकक्षमपि जगत्तद्विलक्षण-सत्ताकं तथात्मवदपरिणतत्वाभावेन नैकावस्थसत्ताकमित्येवमर्थसिद्धये तदनन्तरमेवाहुः (भा० १०।८७।३७)—

(७१) "न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-
दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-
र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः॥"३७॥

यद् यदि इदं विश्वमग्रे सृष्टेः पूर्वं नास नासीत्तदा न भविष्यन्नाभविष्यदेव, अड़ागमाभाव आर्षः, आकाशकुसुममिवेति भावः। श्रुतयश्चासीदेवेति वदन्ति (छा० ६।२।१) "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्," (वृ० १।४।१) "आत्मा वा इदमग्र आसीत्" इत्याद्याः। तदेवं सूक्ष्मतया

सर्वसम्वादिनी

सर्वम्' इति प्रतिज्ञातार्थस्य 'तत्त्वमसि' इति सामानाधिकरण्येनाविशेष उपसंहारः। मध्यमपुरुषस्तु युष्मच्छब्द योगेन स्यादेवेति।

अथ सप्तपञ्चाशत्तमवाकच-व्याख्यान्ते ५८तम अनु०) "पूर्वं 'मायासृष्टे' इत्युक्तम्" इत्यत्र सृष्टिप्रकरणे

२।१।१९ "पटवच्च" रीति से वस्त्र में सूत्र के समान वह विश्व में ओतप्रोत होकर रहता है। अर्थात् जगत् सूक्ष्मता को प्राप्त कर अप्रकाश रहता है। दृश्य द्वारा भ्रान्ति रजत तुल्य होकर भी उससे जगत् की भिन्न सत्ता है। आत्मा के समान अविकारी न होने से जगत् की अवस्था एकरूप नहीं है, इस प्रकार अर्थ सिद्धि के निमित्त ही जगत् को सत्य कहते हैं। उसके बाद भी कहते हैं—

"पटवच्च" भाष्य—पटो यथा सूत्रात्मना पूर्वं सन्नेव प्राप्तव्यतिषङ्गविशेषेभ्यः सूत्रेभ्योऽभिव्यज्यते तथा सूक्ष्मशक्तिमद् ब्रह्मात्मना पूर्वं सन्नेव प्रपञ्चः सिसृक्षोस्तस्मादिति। वट बीजादि दृष्टान्त संग्रह के लिए च शब्द का प्रयोग हुआ है।

पट जिस प्रकार उत्पत्ति के पूर्व में सूत्र रूपमें अवस्थित होता है। अनन्तर ओतप्रोत रूप से सज्जित सूत्र से उसकी अभिव्यक्ति होती है। प्रपञ्च भी तद्रूप सूक्ष्म शक्तिविशिष्ट ब्रह्मस्वरूप में ही अवस्थान करता है, एवं ब्रह्म सिसृक्षु होने से उनसे अभिव्यक्त जगत् होता है। वट बीजादि दृष्टान्त को संग्रह करने के लिए च शब्द का प्रयोग हुआ है। भा० १०।८७।३७ में उसका सुस्पष्ट विवरण हैं।

सृष्टि के पहले जगत् अदृश्य था, एवं विनाश के पश्चात् भी कुछ नहीं रहता है। अतएव केवल मध्यवर्त्ती समय में सत्य एक रसस्वरूप आप में यह मिथ्या जगत् कियत्काल भासमान होता है। सुतरां मृत् सुवर्णादि जनित घट कुण्डलादि के सहित इसकी उपमा दी जा सकती है। अतएव जो लोक इस मिथ्या अभिलाष को सत्य मानते हैं, वे सब अति अज्ञ हैं।

यदि यह विश्व सृष्टि पूर्व में नहीं थी। पश्चात् भी नहीं रहेगी। यहाँ 'अट्' का आगम नहीं हुआ है, आर्ष प्रयोग है। आकाशकुसुम जिस प्रकार तीन कालों में असत् है, तद्रूप जानना होगा।

श्रुतिगण कहती हैं, "यह जगत् पूर्व में था। हे सौम्य! यह जगत् सृष्टि के पहले सद्रूप में वर्त्तमान था। इसके पहले आत्मा ही था, इत्यादि श्रुति प्रमाण है। अतएव सूक्ष्म रूप में आपके सहित तादात्म्यापन्न होकर जगत् था अर्थात् कारणावस्था को प्राप्त कर जगत् अवस्थित रहा। अनन्तर कार्य्यावस्था को प्राप्त किया है, यह ही जगत् का विस्तार रूप है। अतएव निधन—नाशमात्र हेतु शुक्ति में रजत की भाँति

त्वत्तादात्म्येन स्थितं कारणावस्थमिदं जगत् विस्तृततया कार्य्यावस्थं भवति, अतो प्रणिधना-नाशमात्राद्धेतोः शुक्तौ रजतमिव त्वयि तदिदमन्तरा सृष्टिमध्य एव, न त्वग्रे चान्ते च विभातीत्यनुमितं तन्मृषेति प्रमाणसिद्धं न भवतीत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—'एकरसे' इति, अनुभवान्तराविषयानन्दस्वाद इति, यस्मिन्ननुभूते सति विषयान्तरस्फूर्त्तिर्न सम्भवति, तस्मिं स्त्वयि शुक्त्यादिनिकृष्टवस्तुनीव विषयारोपः कथं स्यादित्यर्थः; (भा० १०।८७।३५) "दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे, न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान्' इत्यस्माकमेवोक्तेः। अतोऽचिन्त्यशक्त्या स्वरूपादच्युतस्यैव तव परिणाम-स्वीकारेण द्रविणजातीनां द्रव्यमात्राणां मृल्लोहादीनां विकल्पा भेदा घटकुण्डलादयस्तेषां पन्थानो मार्गाः प्रकारास्तैरेवास्माभिरुप-मीयते, न तु कुत्रापि भ्रमरजतादिभिः। यस्मादेवं तस्माद्वितथा मनोविलासा यत्र तादृशमेव ऋतं तद्रूपं ब्रह्मैवेदं जगदित्यबुधा एवावयन्ति मन्यन्ते, तस्य तदधिष्ठानत्वासम्भवादिति भावः। ऋत-शब्द-प्रयोगस्तत्र मिथ्यासम्बन्धराहित्यव्यञ्जनार्थमेव कृत इति ज्ञेयम्। अत्र सत्कार्य्यवादिनामयमभिप्रायः—मृत्पिण्डादिकारकैर्यो घट उत्पद्यते, स सन्नसन् वा। आद्ये

सर्वसम्वादिनी

एवं विवेचनीयम्।—तत्र विवर्तवादिनो वदन्ति;—स्थूल-सूक्ष्माख्यमिदं जगदविद्या-कल्पितमेव; यतोऽनादि-सिद्धेनाविद्यादि-पर्य्यायेणाज्ञानेन जीवस्य विषयीभूतं ब्रह्म जगद्रूपेण विवर्त्तते। शुक्तिरिव रजतरूपेण विवर्त्त-श्चाविकृतस्यैव सतोऽविद्यया रूपान्तरापत्तिः। अविद्या-पर्य्यायमज्ञानञ्च मिथ्या-ज्ञानमिति।

आप में सृष्टि के मध्य में प्रकाशित होता है। सृष्टि के पूर्व में एवं पश्चात् प्रकाशित नहीं होता है।" इस प्रकार जो अनुमान है, वह भी मिथ्या है, अर्थात् प्रमाणसिद्ध नहीं है। उस विषय में हेतु कहते हैं—'एक रसे' इति। अनुभव के पश्चात् विषयान्तर का स्वाद नहीं होता है, अर्थात् जिसका अनुभव होने पर विषयान्तर की स्फूर्त्ति नहीं रहती है, इस प्रकार आप हैं। आप में शुक्तिचादि निकृष्ट वस्तु में जिस प्रकार रजत आरोप होता है, उस प्रकार विषयारोप कैसे सम्भव है? भा० १०।८७।३५ में कहा गया है—

"भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदा त उत भवत् पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रि जलाः।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान्॥"

नित्य सुखस्वरूप आप में जो लोक एकबार मात्र मनोनिवेश किया है, उसका मन कभी भी कुत्सित सुख में प्रवृत्त नहीं होता है। तब ऋषिगण की बात ही क्या है। अतएव स्वीय अचिन्त्य शक्ति के द्वारा स्वरूप से परिणाम प्राप्त न होकर ही आप शक्तिरूप परिणाम को स्वीकार करते हैं, उससे द्रविण जाति—अर्थात् द्रव्य मात्र का जो भेद है। मृत्तिका लौह, उसके विकल्प घट कुण्डलादि का प्रकाश होता है। उक्त पदार्थसमूह का निर्माण जिस पद्धति से होता है, उस रीति से ही आपकी कार्य्यावली को हम सब समझते हैं। किन्तु कहीं पर शुक्ति रजतादि रीति से नहीं। अर्थात् आप की कार्य्यावली की उपमा कहीं भी शुक्तिरजतादि रीति के साथ नहीं होती है। वास्तविकी स्थिति जब वैसी है, तब मिथ्या मनोविलास रूप जिस आधार में है, उस सत्य ब्रह्म ही जगत् है। इस प्रकार कथन, मनन, अज्ञ व्यक्तिगण ही करते हैं। कारण निर्गुण अद्वय ब्रह्म शुक्तिरजतादि की भाँति मनोविलास का अधिष्ठान हो ही नहीं सकते हैं। श्लोक में 'ऋत' शब्द का प्रयोग हुआ है, उसका हेतु है, ब्रह्म में मिथ्या सम्बन्ध का सर्वथा अभाव प्रदर्शन करना ही है।

इस प्रकरण में सत्कार्य्यवादिओं का अभिप्राय इस प्रकार है—मृत्पिण्डादि कारक के द्वारा जो घट

पिष्टपेषणम्; द्वितीये क्रियाया कारकैश्च तत्सम्बन्धस्य खपुष्पधारणवदसम्भवात्तेन च तेषामन्यथात्वात् कथं तत्सिद्धिरिति दिक्। तस्मान्न प्रकटमेव सन्न चात्यन्तमसत्, किन्त्वव्यक्ततया मृत्पिण्डे एव स्थितोऽसौ यथा कारक-तन्निष्पन्नक्रियायोगेन व्यज्यते, तथा परमकारणे त्वयि स्थितं विश्वं त्वत्स्वाभाविकशक्ति-तन्निष्पन्नक्रियायोगेनेति। अत्र स्ववेदान्तित्वप्रख्यापकानामप्यन्यथामननं वेदान्तविरुद्धमेव। मन एव भूतकार्य्यमिति हि तत्र प्रसिद्धं युक्तिविरुद्धश्च, मनोऽहङ्कारादीनां मनःकल्पितत्वासम्भवात्। तथा हि सति वेदविरुद्धोऽनीश्वरवादश्च प्रसज्येत। स च निन्दितः पाद्मे—

"श्रुतयः स्मृतयश्चैव युक्तयश्चेश्वरं परम्। वदन्ति तद्विरुद्धं यो वदेत्तस्मान्न चाधमः॥" इति।
(गी० १६।८)—"असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥"८॥

सर्वसम्वादिनी

अत्रान्ये मन्यन्ते।—न तावद्रूपान्तरापत्तिः, स्वतस्तदभावात्; किन्तु तदेवेदमिति स्मरणमेव। तदुक्तम्, (ब्र० सू० १।१।१—शा०भा०) "कोऽयमध्यासो नाम? उच्यते,—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः" इति। ततः स्मर्य्यमाणस्य दृश्यमानाभिन्नत्वेन जगतो ब्रह्मोपादानत्वं तदनन्यत्वं वा घटमानं स्यात्। किमन्यद्वा?

उत्पन्न होता है। वह घट सत्य है, अथवा मिथ्या? सत्य कहने से पिष्टपेषण ही होता है। असत् कहने पर क्रिया कारक के सहित उसका सम्बन्ध न होने से खपुष्प धारण के समान असद्भाव प्रयुक्त क्रिया कारक सम्बन्ध न होने से कैसे असत् कार्य्योत्पत्ति होगी? अतएव घटादि कार्य्य प्रकट होकर सत् नहीं है, अत्यन्त असत् भी नहीं है। किन्तु अव्यक्त रूप में 'अप्रकाशित रूप में' घटादि कार्य्य मृत्पिण्ड में ही स्थित है। पश्चात् कारक तन्निष्पन्नोपयोगी क्रियादि के द्वारा उसका प्रकाश करता है। ठीक उस प्रकार परम कारण आप हैं, आप में विश्व स्थित है, आपकी स्वाभाविकी शक्ति से उसके निष्पन्नोपयोगी जब क्रिया होती है, तब विश्व प्रकाशित होता है। इस आध्यात्मिक विचार में जो लोक अपने को वैदान्तिक मानते हैं। अथच ब्रह्म वास्तव वस्तु हैं, उनका अंश जीव है। उनकी शक्ति माया है, उनका कार्य्य जगत् है, इस वास्तविक तथ्य को अस्वीकार कर शुक्ति रजतवत् मनोविलसित स्वप्नवत्—रूप में इस विश्व का मनन करते हैं। वे सब ही वेदान्त विरुद्ध कार्य्य ही करते हैं। वेदान्त में मनः को भूत का कार्य्य स्वरूप कहा गया है, यह चिर प्रसिद्ध है। यह अत्यन्त युक्तिविरुद्ध ही है। कारण मनः एवं अहङ्कारादि मनः कल्पित नहीं होते हैं। इस प्रकार वेदान्त की व्याख्या भित्तिहीन होने से वह तो वेदविरुद्ध होता ही है। विशेषतः अनीश्वर वाद की प्रसक्ति होगी। अनीश्वर वाद की निन्दा पद्मपुराण में हुई है।

श्रुति, स्मृति, युक्तिसमूह केवल ईश्वर का ही कीर्त्तन करते हैं। जो व्यक्ति श्रुति प्रभृति का विरुद्ध कहता है, उस कारण से ही वह नराधम होता है।

श्रीभगवद्गीता के १६।८ में उक्त है—असुर स्वभावाक्रान्त व्यक्तिगण जगत् को असत्य, आश्रय हीन एवं अनीश्वर कहते हैं। उन सब का सिद्धान्त यह है—कार्य्य कारण का परस्पर सम्बन्ध, विश्व सृष्टि का कारण नहीं है, अर्थात् कारणशून्य कार्य्योत्पत्ति होने पर ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। यदि कोई ईश्वर को मानता है तो वह ईश्वर कामपरायण है, एवं काम वश्यता से ही जगत् सृजन किये हैं। अतएव ईश्वर उपासना के योग्य नहीं है।

श्लोक व्याख्या—तेषां सिद्धान्तान् दर्शयति, तत्रैक जीव वादिनामाह—असत्यमिति। इदं जगत् असत्यं,—शुक्तिरजतादिवद् भ्रान्तिविजृम्भितम्; अप्रतिष्टं खपुष्पवन्निराश्रयम्; नास्त्येवेश्वरो जन्मादिहेतुर्यस्य तत्। सोऽपि तद्वद् भ्रान्तिरचित एव, पारमार्थिके तस्मिन् स्थिते तन्निर्मितजगत्तद्वद् दृष्टनष्टप्रायं

इति श्रीगीतोपनिषदादि-दृष्टैच्यवानीश्वरवादिन एवं व्याचक्षते। असत्यं मिथ्याभूतं सत्या-सत्याभ्यामनिर्वचनीयत्वेनाप्रतिष्ठं निर्द्देशशून्यं स्थाणौ पुरुषत्ववत् ब्रह्मणीश्वरत्वस्याज्ञानमात्र-कल्पितत्वादीश्वराभिमानी तत्र कश्चिन्नास्तीत्यनीश्वरमेव जगत् अपरस्परसम्भूतमनाद्यज्ञान-

सर्वसम्वादिनी

ब्रह्मण्यज्ञानं न सम्भवतीति पूर्वमेवोक्तम्। तथा च सति ततः पृथगद्वैतं केन कल्पचेत ? यदि च जीवत्वादि-कल्पना निमित्तमज्ञानं ब्रह्माश्रयं स्यात्तदा देवदत्तवदज्ञान-तत्कार्य-दुःखादिभिर्ब्रह्मैव पीड्येतैवेति नापहत-पाप्मत्वं तस्य स्यात्

न स्यात्, तस्मादसत्यं जगत् त एव मन्यन्ते। एकैव निर्विशेषा सर्वप्रमाणा वेद्या चिद्भ्रमादेको जीवस्ततो-ऽन्य जड़जीवेश्वरात्मकं तदज्ञानात् प्रतिभासते, आस्वरूपसाक्षात्कारादविसम्वादि स्वाप्निकमिव हस्त्यश्व-रथादिकमाजागरात्, सति च स्वरूपसाक्षात्कारे तदज्ञानकल्पितं तज्जीवत्वेन सह निवर्त्तेत स्वाप्निकरथाश्वादीव सुषुप्ताविति। अथ स्वभाववादिनां बौद्धानामाह—अपरस्परसम्भूतमिति स्त्रीपुरुषसम्भोगजन्यं जगन्न भवति। घटोत्पादने कुलालस्येव बालोत्पादने पित्रादेर्ज्ञानाभावात् सत्यप्यसकृत् सम्भोगे सन्तानानुत्पत्तेश्च स्वेदजादीनामकस्मादुत्पत्तेश्च; तस्मात् स्वभावादेवेदं भवतीति। अथ लोकायतिकानामाह—कामहेतुक-मिति। किमन्यद्वाच्यम् ? स्त्रीपुरुषयोः काम एव प्रवाहात्मना हेतुरस्येति स्वार्थे ठञ्; अथवा जैनानामाह,—कामः, स्वेच्छयैव हेतुरस्येति। युक्तिबलेन यो यत् कल्पयितुं शक्नुयात्, स तदेव तस्य हेतुं वदतीत्यर्थः ।८।

आसुरिक प्रवृत्ति सम्पन्न जनों के सिद्धान्तसमूह को कहते हैं,—यह जगत् असत्य है, अप्रतिष्ठ, अनीश्वर स्त्री-पुरुष मिथुन से उत्पन्न, काम हेतु भिन्न अपर कोई हेतु जगत् उत्पत्ति के लिए नहीं है।

असत् यह जगत् शुक्तिरजतवत् भ्रान्तिविजृम्भित है। अप्रतिष्ठ—आकाशकुसुम के समान अनाश्रित है। जगज्जन्मादि के प्रति ईश्वर नामक कोई कारण नहीं है। ईश्वर भी शुक्तिरजतवत् भ्रान्ति विजृम्भित हैं। पारमार्थिक सत्य ईश्वर विद्यमान होने पर ईश्वर निर्मित जगत् दृष्ट नष्ट प्राय नहीं होता। तज्जन्य वे सब जगत् को असत्य ही मानते हैं। एक ही निर्विशेष एवं निखिल प्रमाणों का अगोचर चिद्भ्रम से एक जीव होता है। उसके अज्ञान के द्वारा जड़, जीव, ईश्वर प्रतिभासित होते हैं। स्वरूप साक्षात्कार जब तक नहीं होता है, तब तक स्वप्न में जिस प्रकार हस्ती, अश्व, रथादि विषयों का दर्शन होता है। उस प्रकार ही विश्व प्रतिभात होता है। स्वरूप साक्षात्कार होने से अज्ञान कल्पित जीव के साथ समस्त जगद् भ्रम निर्वात्तित होता है, जिस प्रकार सुषुप्ति में स्वाप्निक पदार्थों का विलय होता है। स्वभाववादी बौद्ध का मत को कहते हैं—स्त्री-पुरुष सम्भोग जन्य जगदुत्पन्न नहीं होता है। घटोत्पादन में कुलाल का जिस प्रकार ज्ञान है, उस प्रकार पुत्रोत्पादन में स्त्री पुरुष का ज्ञान नहीं है। पुत्रोत्पादन हेतु पुनः पुनः सम्भोग से भी पुत्रोत्पन्न नहीं होता है। स्वेदज प्राणियों का उद्भव स्वतः ही होता है। अतएव जगदुत्पत्ति के प्रति स्वभाव ही कारण है।

लोकायतिक का कहना है—स्त्री पुरुष संसर्ग से ही कामोत्पन्न होता है। वह काम ही प्रवाहरूप में जगत् सृष्टि के प्रति कारण है, अपर कोई भी कारण नहीं है। जैन मत में काम रूप स्वेच्छा ही जगत् के प्रति कारण है। युक्ति के बल पर जो जिस प्रकार कल्पना कर सकता है, वह ही उसके प्रति हेतु होता है।

सन्दर्भ व्याख्या—श्रीगीतोपनिषद् के उक्त श्लोक के अनुसार ही अनीश्वरवादियों के सिद्धान्तों का सञ्चयन करते हैं—असत्य है, जगत् मिथ्याभूत है, कारण सत्य असत्य के द्वारा निर्णीत नहीं होता है। अतएव अप्रतिष्ठ है, निर्देशशून्य जिसका लक्ष्य कुछ भी कहा नहीं जाता है। स्थाणु में पुरुषत्व आरोप के समान ब्रह्म में ईश्वरत्व ज्ञान अज्ञान कल्पित मात्र ही है। उस जगत् में ईश्वराभिमानी कोई भी नहीं है। तज्जन्य यह जगत् ईश्वर शून्य है। अतएव जगत् को अनीश्वर ही कहते हैं। अपरस्परसम्भूत—अनादि

परम्परासम्भूतम्, अपरस्पराः क्रियासातत्ये, अतः कामहैतुकं मनःसङ्कल्पमात्रजातं स्वप्नवदित्यर्थः। अत्र (गी० १६।७) "प्रवृत्तिश्च" इत्यादिना तेषां संस्कारदोष उक्तः (गी० १६।९) "एतां दृष्टिम्" इत्यादिना तु गतिश्च निन्दिष्यत इति ज्ञेयम्। एभिरेव ब्रह्मण ऐश्वर्य्योपाधिर्मायापि जीवाज्ञानकल्पिता, तयैव जगत्सृष्टिरिति मतम्। यदुक्तं तदीयभाष्ये (ब्र०सू० २।१।१४) "तदनन्यत्वम्" इत्यादिसूत्रे—"सर्वज्ञेश्वरस्यात्मभूते इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वातत्त्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञेश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति श्रुतिस्मृत्योरभि-

सर्वसम्वादिनी

किञ्चाज्ञानं नामान्यथा-ज्ञानम्; तच्च सविशेषादेव ज्ञानान्तरादनन्तरं स्वयमपि सविशेषं जायते,—शुक्लत्वादि-विशेषे हि बुद्धावध्यारूढ़े रजतभानात्। सविशेषञ्च ज्ञानं न कदापि शुद्धं ब्रह्म विषयीकरोतीति संप्रतिपन्नम्। तर्हि कथमज्ञानेन तद्विवर्त्तताम्? सर्पगन्ध इव केतकीगन्ध इत्यादावपि केनचिदौग्रच-

अज्ञान परम्परासम्भूत जगत् है। "अपरस्पर" क्रिया सातत्य अर्थ में प्रयुक्त है, अर्थात् निरन्तर क्रिया। अतएव जगत् काम हेतु—अर्थात् स्वप्न के समान मनः संकल्पजात स्वप्न के समान जगत् है। गीता शास्त्र १६।७ में उक्त है—"प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुर सुराः। न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥"

व्याख्या—आसुरं स्वर्गमाह, प्रवृत्तिञ्चेति—द्वादशभिः। आसुरा जनाः, धर्मे प्रवृत्तिं अधर्मान्निवृत्तिञ्च न जानन्ति, चकाराभ्यां तयोः प्रतिपादके विधिनिषेधवाक्ये च न जानन्ति। वेदेष्वास्थाभावादित्युक्तम्। तेषु शौचं बाह्याभ्यन्तरं तत्प्रवृत्ति-तन्निवृत्त्युपयोगि न विद्यते। नापि आचारो मन्वादिभिरुक्तः। न च सत्यं प्राणिहितानुबन्धि यथा दृष्टार्थविषयवाक्यमिति गृध्रगोमायुवत्तेषामुपदेशादि।७।

असुर स्वभावसम्पन्न व्यक्तिगण प्रवृत्ति निवृत्तिरूप धर्मभेद को नहीं जानते हैं, शौच आचार सत्य का समादर भी उन सब के निकट नहीं है। इसके द्वारा उन सबों का संस्कार दोष का वर्णन हुआ है। गीता १६।९ में उक्त है— "एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥"

इस प्रकार सिद्धान्त को अवलम्बन कर आत्मतत्त्व हीन अल्पबुद्धि, उग्रकर्मा, असुर स्वभावविशिष्ट व्यक्तिगण जगत् क्षय कार्य्य में प्रतिपत्ति प्राप्त करते हैं। हिंसापैशून्य पारुष्यादि कर्मनिष्ठ होकर शत्रुताचरण कारी होते हैं, एवं पारमार्थिकता से अपने को एवं जगत् को रिक्त करते हैं। इसके द्वारा उन सब की गति की निन्दा की गई है। इसका अनुसन्धान विशेष रूप से करना आवश्यक है। इन लोकों ने ही ब्रह्म को ईश्वर बनाते हैं, ब्रह्म में ऐश्वर्य्योपाधि का जो आरोप होता है, उसे माया अज्ञान कहते हैं। वह भी जीव के अज्ञान के द्वारा ही कल्पित है। उससे ही जगत् की सृष्टि होती, उन सब का यह मत ही है। अद्वैततत्त्ववादगुरु आचार्य्य शङ्कर ने वेदान्तसूत्र २।१।१४ "तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" की व्याख्या में इस प्रकार कहा है।

"अविद्यात्मकनामरूपबीजव्याकरणापेक्षत्वात् सर्वज्ञस्य। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशसम्भूतः" (तै० २।१) इत्यादि वाक्येभ्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तेरीश्वरात् जगज्जनिस्थितिप्रलया नाचेतनात् प्रधानादन्यस्माद्वेत्येषोऽर्थः प्रतिज्ञातः—जन्माद्यस्य यतः। (१।१।१) इति। सा प्रतिज्ञा तदवस्थैव, न विरुद्धोऽर्थः पुनरिहोच्यते। कथं नोच्यते—अत्यन्तमात्मन एकत्वमद्वितीयत्वं च ब्रुवता? शृणु यथा नोच्यते—"सर्वज्ञस्येश्वरस्य आत्मभूत इव अविद्या कल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते—सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते। ताभ्यामन्यः सर्वज्ञ-ईश्वरः "आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म (छा० ८।१४।१) इति श्रुतेः। नामरूपे

लभ्येते" इति । किन्त्वत्र (भा० ११।११।३) "विद्याविद्ये मम तनू" इत्यादि-श्रीभगवद्वाक्येन तु विरुद्धमिति । अतो मायावादतया चायं वादः ख्यायते । तदेवञ्च पाद्मोत्तरखण्डे देवीं प्रति पाषण्डशास्त्रं गणयता श्रीमहादेवेनोक्तम् (६३।६६, ६९)—

"मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते । मयैव कथितं देवि ! कलौ ब्राह्मणरूपिणा ॥६६॥
वेदान्ते तु महाशास्त्रे मायावादमवैदिकम् । मयैव वक्ष्यते देवि ! जगतां नाशकारणात् ॥"६९॥ इति ।

तच्चासुराणां मोहनार्थं भगवत एवाज्ञयेति-तत्रैवोक्तमस्ति । तथा च पाद्म एवान्यत्र शैवे च—

"द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु । स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च जनान् मद्विमुखान् कुरु ॥"

इति श्रीभगवद्वाक्यमिति दिक् अतएवोक्तं श्रीनृसिंहपुराणे यमवाक्ये—

सर्वसम्वादिनी

शैत्यादि-वैशिष्ट्येनैव साम्यं मन्तव्यम् । किञ्च, तदन्यथा-ज्ञानमन्यस्य सद्भावेऽसद्भावे वा ? सद्भावे, स्वतः-सिद्धमेव द्वैतम् ; किं कल्पनान्तरेण ? असद्भावे, दध्नि खपुष्प-भ्रमापत्तिः स्यात् ।

अथाज्ञानं जगच्च परम्परयानादिसिद्धम् तेन पूर्व-पूर्व-जगदुत्तरोत्तराज्ञानस्य कारणं भविष्यति । संस्कार-

व्याकरवाणि, (छा० ६।३।२) "सर्वाणि रूपाणि विचित्यो धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते" (तै० आ० ६।१२।७) "एकं बीजं बहुधा यः करोति" (श्वे० ६।१२) इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यश्च । एवमविद्याकृतनाम-रूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति व्योमेव घटकरकाद्युपाध्यनुरोधि । तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्ष-मेवेश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वञ्च, न परमार्थतः ॥"

जीवशक्ति एवं प्रकृतिशक्ति विशिष्ट जगत् के उपादानस्वरूप ब्रह्म से उपादेय जगत् भिन्न नहीं है । अद्वैतवादगुरु का कथन है—अविद्यात्मक नामरूप बीज का विस्तार करने का कारण ही ईश्वर सर्वज्ञ हैं । आत्मा से आकाश उत्पन्न होता है । इत्यादि वाक्यों से प्रतीत होता है कि—नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्तस्वरूप निखिलशक्तिपरिपूरित ईश्वर से ही जगत् के सृष्टि-स्थिति-लय कार्य्य होते हैं । अचेतन प्रधान से नहीं । वेदान्तसूत्र १।१।२ में 'जन्माद्यस्य यतः' उक्त सिद्धान्त उक्त है । वह प्रतिज्ञा सत्य ही है, विरुद्ध नहीं है । किन्तु अद्वय एकत्व व्याघात क्यों नहीं होगा ? समाधान करते हैं ।

सर्वज्ञ ईश्वर से आत्मस्वरूप के समान अविद्या कल्पित नामरूप का विस्तार होता है । वह मायाशक्ति भिन्न भिन्न रूप से अनिर्वचनीय है, वह संसारप्रपञ्च का बीजस्वरूप है, वह ही सर्वज्ञ ईश्वर की मायाशक्ति है । इसका वर्णन श्रुति में है । उक्त नामरूप से भिन्न सर्वज्ञ ईश्वर हैं । आकाश हि नामरूप का निर्वाहक है । नामरूप का विस्तार करूँगा । समस्त रूपों को विचार कर धीर व्यक्ति नाम ग्रहण कर कृतकृत्य होते हैं । एक बीज को अनेक प्रकार करते हैं । इस प्रकार अविद्याकृत नामरूपोपाधि अनुरोधी ईश्वर हैं ।

किन्तु इस प्रकरण में श्रीभगवान् का (भा० ११।११।३) कथन है कि—'विद्या एवं अविद्या मेरी तनू है ।' उक्त श्रीभगवद्वाक्य के सहित अद्वैततत्त्ववादगुरु का कथन विरुद्ध होता है । अतएव इस वाद का प्रसिद्ध नाम ही मायावाद है । पद्मपुराणीय श्रीमहादेव श्रीपार्वती के प्रसङ्ग में लिखित है, श्रीमहादेव ने कहा—हे देवि ! मायावाद—असत् शास्त्र है, यह प्रच्छन्न बौद्धवाद है, कलि में ब्राह्मण वेश में मैंने ही उक्त मायावाद का प्रचार किया था । महाशास्त्र वेदान्त में अवैदिक मायावाद का वर्णन मैंने ही किया है, कारण जगत् का विनाश उस मायावाद से ही होगा । भगवान् की आज्ञा से ही मैंने असुर मोहनार्थ मायावाद का प्रचार किया है । पद्मपुराण एवं शिवपुराण में कथित है—

द्वापर के बाद कलि में अंश के द्वारा मनुष्यादि में उत्पन्न होकर निज कल्पित शास्त्र के द्वारा मानव समूह को भगवद् विमुख करो । यह ही भगवद्वाक्य है ।

"विषधर-कणभक्ष-शङ्करोक्ती,-र्दशबल-पञ्चशिखाक्षपादवादान् ।
महदपि सुविचार्य्यं लोकतन्त्रं, भगवदुपास्तिमृते न सिद्धिरस्ति ।।" इति ।

सर्वेऽत्र वादग्रन्था एव निर्द्दिष्टाः, न तु मन्त्रग्रन्था इति नामाक्षरमेव साक्षान्निर्द्दिष्टमिति च नान्यथा मननीयम् । (ब्र०सू० १।१।१२) "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इत्यादिषु वेदान्तसूत्रकार-

सर्वसम्वादिनी

जन्यो भ्रमः पूर्वप्रतीतिमात्रमपेक्षते,—प्रतीतौ सत्यां भ्रम-व्यतिरेकादर्शनात्तदसत् ;—अज्ञानेन जगत्, जगता-ज्ञानमिति परस्पराश्रयादिप्रसङ्गान्मैवम् ; अनादित्वादुच्यते दोष इति चेत् ? न ; वक्ष्यमाणान्धपरम्परा-दोषा । यथा चाद्वैतशारीरक-कृतैव केवलाधिष्ठात्रीश्वर-मतं दूषयतोक्तम् ;—(ब्र० सू० २।२।३७—शा० भा०)

अतएव श्रीनृसिंह पुराण के यम वाक्य में उक्त है—विषधर (पतञ्जल) कणभक्ष (कणाद भाष्य) शङ्करोक्ति (मायावाद) दशबल (बुद्ध) पञ्चशिख (सांख्य) अक्षपाद (गौतम) के श्रेष्ठ ग्रन्थ एवं लोकतन्त्र को सम्यग् रूप से विचार करने पर भी श्रीभगवदुपासना व्यतीत अभीप्सित वस्तु का लाभ नहीं होता है ।

यहाँ पर समस्त वाद ग्रन्थों का नामोल्लेख हुआ है । अर्थात् "अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्याय विस्तरः । धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ।।" इस प्रमाण से विद्या चतुर्दश प्रकार है, उस विषयों के प्रख्याताओं के निज निज मत प्रतिपादक ग्रन्थों को वादग्रन्थ कहते हैं । कथा अर्थात् प्रवचन शैली तीन प्रकार होती हैं,—वाद, जल्प, वितण्डा, तत्रोभयसाधनवती विजिगीषु कथा को "जल्प" कहते हैं । यत्रोभाभ्यां प्रमाणेन तर्केण स्वपक्षः स्थाप्यते छलजातिनिग्रहस्थानैः परपक्षो दूष्यते, स्वपक्षस्थापना परपक्ष दूषणावसाना कथा "वितण्डा" एते प्रवदतोर्विजिगीष्वोः शक्तिमात्रपरीक्षके निष्फले । तत्त्वबुभुत्सु कथा "वादः" स च तत्त्वनिर्णयफलकत्वेनोत्कृष्टत्वात् । किन्तु मन्त्र ग्रन्थ का नामत उल्लेख यमराज ने नहीं किया है । अतएव तत्तत् प्रवचन कर्त्ता के नामोल्लेख पूर्वक ही तत्तत् विचारपूर्ण ग्रन्थों को सूचित किया है । इसमें शास्त्रमात्र को वहिष्कार किया है । "वादप्रवदतामहं" गीतोपनिषद् १०।३२ में कहा गया है । मैं तत्त्व प्रकारक वाद कथा हूँ । "तत्त्वं तु बादरायणात्" तत्त्वं ब्रह्मणि याथार्थ्ये । ब्रह्म एवं यथार्थ वस्तु को 'तत्त्व' कहते हैं । यथार्थ सार सिद्धान्त, परतत्त्व निर्णय—श्रीबादरायण के ग्रन्थों से ही होता है, अपर के द्वारा कथित ग्रन्थ से नहीं । अतएव उक्त लेखों का अन्य प्रकार अर्थ करना समीचीन नहीं होगा । अन्यथा (ब्र० सू० १।१।१२) "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इत्यादि तत्त्व प्रतिपादक वेदान्तसूत्रकार के मत में भी दोष उपस्थित होगा । किन्तु वैसा नहीं होता है । पुनः पुनः कथन को अभ्यास कहते हैं । समस्त श्रुतियों में ब्रह्म बोधक रूप से आनन्दमय शब्द का उल्लेख होने से उक्त शब्द से ब्रह्म का ही बोध होता है ।

गोविन्द भाष्य । परं ब्रह्मैव सः । कुतः—अभ्यासात् । प्रतिष्ठान्तेनानन्दमयं निरूप्य, "असन्नेव सम्भवति असत् ब्रह्मेति वेद चेद् अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति" तत्रैव ब्रह्मशब्दस्याभ्य-स्तत्वात् । अविशेषः पुनः पुनः श्रुतिरभ्यासः । नचाभ्यासः पुच्छ ब्रह्मणीति वाच्यम् । "अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्त" इत्यादीनां पुच्छान्तपठितानां चतुर्णां श्लोकानामन्नमयादिपुच्छपुरुषचतुष्टय परत्वेनास्यापि श्लोकस्य तथाभूतस्याप्यानन्दमयस्योत्तरोत्तरोदयभेदेन तत्तन्नामभेदात् तदयोगात् । विशेषतस्तु तृतीये वक्ष्यते, प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तैरित्यादिना । यत्त्वाहुरन्नमयाद्यसुखप्रवाहनिपाताज्ज्ञानन्दमयस्य मुख्यत्वमिति । नैव दोषः । तस्य सर्वान्तरत्वात् । अज्ञानां ज्ञप्ति सौलभ्याय तथोपदेशप्रवृत्तेः । परमोपकर्त्ता हि वेदः, परमेवात्मानं विजिज्ञापयिषुररुन्धतीदर्शनन्यायेनापरोपदेशेऽपि प्रवर्त्तते । नन्वेतावता परत्र तस्य तात्पर्य्यं न वा परस्यामुख्यत्वमिति । किञ्चोतरत्र ब्रह्मजिज्ञासुं प्रति तत्पिता वरुणो विश्वोत्पत्त्यादिहेतुभूतं वस्तु ब्रह्मेत्युपदिश्य पुनः स बुद्ध्यर्थमन्नप्राणमनोविज्ञानानि क्रमेण ब्रह्मेत्युक्त्वान्ते त्वानन्दमयं ब्रह्मेत्युपदर्श्यो-

मतं तत्र दूष्यत इति। अतो यत् क्वचित्तत्तत्प्रशंसा वा स्यात्तदपि नितान्त-नास्तिकवादं निर्जित्यांशेनाप्यास्तिकवादः स्थापित इत्यपेक्षया ज्ञेयम्। तस्मात् स्वतन्त्र ईश्वर एव सर्वस्रष्टा,

सर्वसम्वादिनी

"वर्त्तमानकार्यवदतीतेष्वपि कार्येष्वितरेतराश्रयदोषाविशेषात् 'अन्धपरम्परा' न्यायापत्तेः" इति। ननु वा क्वचित्तथा दृश्यते,—स्वतःसिद्धस्यैव रजतस्यान्यत्र भानप्रसिद्धेः? तथा चान्यथानुमीयते, विमता जगत्-परम्परा न भ्रमसिद्धा,—अनादित एव पूर्व-पूर्वभ्रमावभासिततन्मात्रारोपेणैव तथाङ्गीकर्त्तुं शक्यते? न;—

परराम। मदुक्तेयं विद्या भगवन्निष्ठेत्यभिदधौ अथोपसंहारेऽपि। स य एवंविदस्माल्लोकात् प्रेत्य एतमन्नमयमात्मानं उपसंक्रम्येत्याद्युक्त्वा "एतमानन्दमयमात्मानं उपसंक्रम्य इमान् लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसञ्चरन्नेतत् सामगायन्नास्ते" इत्युक्तमतः परं ब्रह्मैवानन्दमयः। पुरुषावधोऽन्नमयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृत'मिति स्मृतेश्च। शरीरत्वं तु तस्मिन्नापे न विरुद्धम्। यस्य पृथिवी शरीरमित्यादि श्रुतौ तस्यापि तदुक्तेः। अतः शारीरिकमिदं शास्त्रम्। यत्त्वानन्द इत्यत्र ब्रह्मपुच्छमित्यादि विकारे मयट् स्मृतेर्जीवाशङ्का कस्यचित् स्यादत स्तां निराकर्त्तुमाह–"विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्य्यात्"(१३) "तस्मात् प्रकृत्यर्थं प्रभूतत्त्वमेवात्र प्राचुर्य्यम्। प्रचुरप्रकाशो रविरिति स्वरूपे च युज्यते प्रचुरशब्दः। तस्मादानन्दमयो न जीवः, ब्रह्मैव"।

आनन्दमय शब्द वाच्य परम ब्रह्म ही है, कैसे? अभ्यास से। शुद्ध जीव ही अन्नमयादि कोषों के आश्रयभूत हैं। इस प्रकार उपदेश के द्वारा उन सब के अन्तर्वर्त्ती आनन्दमय पुरुष का निर्देश करते हैं। और कहते हैं, "जो आनन्दमय ब्रह्म का अस्तित्व का अनुभव करता है, उसका ही अस्तित्व सिद्ध होता है। यहाँ ब्रह्म ही आनन्दमय पुरुष शब्द से पुनः पुनः उक्त होते हैं। अतः आनन्दमय पद वाच्य ब्रह्म ही हैं। पुच्छ ब्रह्म में अभ्यास शब्द का प्रयोग होता है, ऐसा कहना समीचीन नहीं है। कारण अवधि रूप से एवं जीव से पृथक् रूप से उक्त होने से ही आनन्दमय शब्द लभ्य ब्रह्म ही हैं, जीव नहीं। परमहितैषी वेदशास्त्र अरुन्धती दर्शन न्याय से—प्रथम स्थूल को दर्शन कराकर पश्चात् सूक्ष्म का दर्शन कराते हैं। प्रथम स्थूल अन्नमय पुरुष का उपदेश के अनन्तर प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय अनन्तर सर्वान्तिर्वर्त्ती आनन्दमय ब्रह्म का उपदेश करते हैं। वरुण एवं भृगु के संवाद में भी सुस्पष्ट हुआ है। उपसंहार में आनन्द पुरुष के ज्ञाता को प्रशंसित किया गया है। परमात्मा का शरीर है। इसमें कोई विरोध नहीं है। "जिनका पृथिवी शरीर" इत्यादि कहा गया है। इस लिए वेदान्त को शारीरिक शास्त्र कहते हैं। मायावादिगण ही केवल आनन्दमय स्थल में ब्रह्मपुच्छ कहते हैं, वह कथन असङ्गत है। कारण पक्ष साध्य में समान विभक्ति होती है। यहाँ उसका निर्वाह नहीं होता है। अतः शब्द स्वारस्य भङ्ग होता है। तथा बादरायण, वरुण प्रभृति गुरुगण के मतों का अनादर भी होता है। विकार अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है? इस प्रकार शङ्का का अपनोदन हेतु कहते हैं, प्राचुर्य्य अर्थ में ही यहाँ मयट् प्रत्यय हुआ है। दो स्वर के उत्तर विकारार्थ में मयट् होता है। आनन्दमय बहु स्वर होने से प्राचुर्य्यार्थ में ही मयट् हुआ है, विकारार्थ में मयट् होने की यहाँ सम्भावना नहीं है।

अतएव स्वतन्त्र ईश्वर ही जगदादि का सृष्टिकर्त्ता हैं। जीव सृष्टिकर्त्ता नहीं है, कारण जीव अपने को नहीं जानता है। वस्तुतः जीव ईश्वर की शक्ति है। "कण्टकशाखावरणवत्" प्रभृति प्रशंसात्मक वाक्यों के द्वारा उक्त दर्शनों की प्रशंसा की गई है। उसका तात्पर्य्य है, नितान्त नास्तिक वाद—अर्थात् वेदादि शास्त्र एवं तत्प्रतिपाद्य ईश्वर वाद का अस्वीकार करना ही नास्तिक वाद है। पूर्वोक्त दर्शनसमूह उक्त नास्तिकवाद का निरसन करके ईश्वर कर्त्तृत्ववाद का स्थापन करते हैं। इस गुण को देखकर ही उन सब शास्त्रों की प्रशंसा की जाती है। तत्त्वज्ञान श्रीबादरायण प्रणीत शास्त्रों से ही होता है। उसमें ही स्वतन्त्र

न तु जीवः, स्वाज्ञानेन स्वशक्त्यैवेत्यायातम् । तदुक्तं श्रीवादरायणेनापि बहुत्र (ब्र०सू० २।४।२०) 'संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्' इत्यादिषु । अतः 'तन्मनोऽसृजत मनः प्रजापतिम्'

सर्वसम्वादिनी

प्रसिद्ध-भ्रमसिद्ध-शुक्तिरजत-वैलक्षण्यात् । यन्नैवं तन्नैवम् ; यथा—रज्जु-सर्पादयः । ततो विपक्षानुमिता-बुपाधिरेव पर्यवसितः ।

किञ्च, जगदिदं कुत्रापि स्वतःसिद्धस्यैव जगदन्तरस्यारोपेण ब्रह्मणि स्फुरितम्, भ्रमजन्यत्वात् । यदेवम्,

ईश्वर सर्व स्रष्टा हैं। किन्तु मायावादियों के कथानुसार जीव निजाज्ञान के द्वारा ईश्वरादि विश्व का निर्माण करता है, यह सिद्धान्त अलीक है। जीव स्वयं ही अज्ञानग्रस्त है।

श्रीबादरायण ने अनेक स्थलों में कहा है, विशेषतः ब्रह्मसूत्र २।४।२० में उक्त है—त्रिगुण कार्य्य जगत् कर्त्ता के उपदेश से ही संज्ञा 'नाम' मूर्त्ति; क्लृप्ति—अर्थात् रूप प्रकाशित हुए हैं।

गोविन्द भाष्य। तु शब्दादाक्षेपो व्यावृत्तः। संज्ञामूर्त्तीनामरूपे तयोः क्लृप्ति र्व्याक्रिया त्रिवृत् कुर्वतः परमेश्वरस्यैव कर्म नतु जीवस्य। कुतः ? उपदेशात्। तस्यैव तत्क्लृप्तिनिगदात्। त्रिवृत्कारणनामरूप-व्याकरणयोरेककर्त्तृत्वेनोक्तेरित्यर्थः। त्रिवृत्करणं चोक्तम्। त्रीण्येकैकं द्विधा कुर्य्यात् त्र्यर्द्धानि विभजेद् द्विधा। तत्तन्मुख्यार्द्धमुत्सृज्य योजयेच्च त्रिरूपता। पञ्चीकरणस्योपलक्षणमेतत्। न च त्रिवृत्कृतिश्चतु-र्मुखस्य शक्या वक्तुम्। त्रिवृत्कृततेजोऽवन्ननिर्मिताण्डमध्यजातत्वात्तस्य। तथा च स्मृतिः, "तस्मिन्नण्डे-ऽभवद् ब्रह्मा सर्वलोक पितामह" इत्याद्या। तस्मात् सेयमित्यत्र नामरूपव्याकृति त्रिवृत्कृत्योरेककर्त्तृकत्वं विवक्षितं नतु पौर्वापर्य्यं अर्थक्रमेण पाठक्रमस्य बाधात्। पूर्वा त्रिवृत्कृतिरुत्तरा तु नामरूपव्याकृतिरिति न चात्रिवृत्कृतैस्तेजोऽवन्नै रण्डोत्पत्तिः। अत्रिवृतां तेषां तत्रासामर्थ्यात्। तथाहि स्मृतिः। "यदैते-ऽसङ्गताभावा भूतेन्द्रियमनोगुणाः। तदायतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तम। तदा संहत्यचान्योन्यं भगवच्छक्ति चोदिताः सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यद" इत्याद्या। इह पञ्चीकरणमुक्तम्। तच्चेत्थं बोध्यम्। विभज्य द्विधा पञ्चभूतानि देवस्तदधानि पञ्चाब्धि भागानि कृत्वा तदन्येषु मुख्येषु भागेषु तत्तन्नियुञ्जन् स पञ्चकृतिं पश्यति स्म। अन्नमशिता त्रिधा विधीयते।" इत्यादौ तु पृथिव्यादेरेकैकस्य त्रेधा परिणामो वर्ण्यते न तु त्रिवृत्कृतिः। न चानेन जीवेनेति जीवस्य नामरूपनिर्मातृत्वं बोधयेदिति वाच्यम्। आत्मना जीवेनेति सामानाधिकरण्येन जीवशक्तिमतस्तद्व्यापिनो ब्रह्मण एव तत्त्वाभिधानात्। एतेन विरिञ्चो वा इत्यादिकं व्याख्यातम्। एवञ्च प्रविश्योत्तमपुरुषयोरकष्टता मुख्यार्थता च स्यात्। तथा च प्रवेशव्याकरणयोरेक कर्त्तृकता च। तस्मादीश कर्त्तृकैव तद्व्याकृतिः। "सर्वाणि रूपाणि विचित्यधीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते" इति तैत्तिरीयकाच्च ॥

त्रिवृत् कर्त्ता परमेश्वर को ही संज्ञा मूर्त्तिकर्त्तृत्व शब्द से कहा गया है। इससे जीव विषयक पूर्वपक्ष निरस्त हुआ। तु शब्द से आक्षेप का निरास होता है। नाम एवं रूप का सृजन परमेश्वर ही करते हैं, जीव नहीं।। कर्त्ता रूप में परमेश्वर का ही उल्लेख है। त्रिवृत्करण एवं नामरूप का व्याकरण—एक कर्त्तृक करके कहा गया है। त्रिवृत् करण की प्रक्रिया इस प्रकार है—तीन वस्तु को प्रथम समान भाग से विभक्त करने के पश्चात् अपर अर्द्ध भाग को द्विधा विभक्त कर अपने अंश को छोड़कर मिश्रित करने से त्रिवृत् करण होता है। इस रीति से ही पञ्चीकरण को भी जानना होगा। उक्त त्रिवृत् करण कार्य्य चतुर्मुख ब्रह्मा का नहीं है। कारण स्वयं त्रिवृत्करण के द्वारा निर्म्मित अण्ड में उत्पन्न होते हैं। इसमें स्मृति प्रमाण भी है। "सर्वलोक पितामह अण्ड से उत्पन्न हुए।" अतएव नामरूप व्याकरण त्रिवृत्करण एक व्यक्ति का ही है। "सेयम्" वाक्य में इसका स्पष्ट उल्लेख है। भुक्त द्रव्य तीन रूप में परिणत होता है। इससे त्रिवृत् करण की अभिव्यक्ति होती है।

इत्यादौ मनःशब्देन समष्टिमनोऽधिष्ठाता श्रीमाननिरुद्ध एव। (छा० ६।२।३) 'बहु स्यां प्रजायेय' तत्सङ्कल्प एव वा वाच्यः ; स च सत्यस्वाभाविकाचिन्त्यशक्तिः परमेश्वरस्तुच्छमायिकमपि न कुर्य्यात्, चिन्तामणीनामधिपतिः स्वयं चिन्तामणिरेव वा कूटकनकादिवत्। तथा च माध्वभाष्यप्रमाणिता श्रुतिः—"अथैनमाहुः सत्यकर्मेति सत्यं ह्येवेदं विश्वमसृजत" इति। एवञ्च (भा० १०।२।२६)—

"सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं, सत्यस्य योनिं निहितञ्च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं, सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥"२६॥

इत्यत्र सत्यसङ्कल्पत्वं सत्यपरायणत्वं सृष्ट्यादिलीलात्रयेषु सत्यत्वम्, सत्यस्य विश्वस्य कारणत्वम्, सत्य एव विश्वेऽस्मिन्नन्तर्यामितया स्थितत्वम्, सत्यस्य तस्य सत्यताहेतुत्वम्, सत्यवचनस्याव्यभिचारिदृष्टेश्च प्रवर्त्तकत्वम्, सत्यरूपत्वमित्येतेषामर्थानामाकूतं परिपाटी च

सर्वसम्वादिनी

तदेवं यथा शुक्तौ रजतमिति 'भवतु, तुष्यतु दुर्जनः' न्यायेन तथाङ्गीकारेऽपि जगदन्तरे सत्यत्वेन साधिते तत्संप्रतिपत्ति-भङ्गादिदमेव सत्यत्वेन साधितं भवति।

किञ्च, स्वप्नानुभववद्रजतानुभवस्याप्युत्तर-कालेऽप्यनुवर्त्तमानत्वेनाव्यभिचारित्वादद्वैतप्रतिपत्तिस्तु

तैत्तिरीयक उपनिषद् में उक्त है,—सर्वज्ञ परमेश्वर श्रीहरि देव मनुष्यादि शरीर का निर्माण तथा उनके नाम की सृष्टि करके निज विभिन्नांशरूप इन सब जीवों के द्वारा वाक्य का प्रकाशपूर्वक अवस्थान करते हैं। अतएव "उस मन को सृजन किया, मनः प्रजापति को सृजन किया" इत्यादि प्रमाण से मनः शब्द के द्वारा समष्टि मन के अधिष्ठाता श्रीमान् अनिरुद्ध का ही बोध होता है। बहु होने की इच्छा ; अनेक बनूँगा। यह कथन उनका ही संकल्प का प्रकाशक है। उक्त स्वाभाविक सत्य अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न परमेश्वर तुच्छ मायिक वस्तु का सृजन नहीं करते हैं जिस प्रकार चिन्तामणि का अधिपति अथवा स्वयं चिन्तामणि कृत्रिम सुवर्णादि का निर्माण नहीं करता है। श्रीमध्वभाष्य प्रमाणिता श्रुति भी इस प्रकार है—अनन्तर उक्त परमेश्वर को सत्यकर्मा कहते हैं। अतएव आपने निश्चय ही सत्यस्वरूप विश्व का सृजन किया है। इस प्रकार विवरण ही भा० १०।२।२६ देवगण की स्तुति से प्रकाशित हुआ है।

प्रतिश्रुति रक्षा से सन्तुष्ट होकर देवगण कहे थे—भगवन्! आप सत्यव्रत हैं, अर्थात् आपका सङ्कल्प सत्य है। सत्य ही आपकी प्राप्ति का साधन है, अर्थात् सत्याचरण के द्वारा आप उपलब्ध होते हैं। कालत्रय में अर्थात् सृष्टि के पूर्व, प्रलय के पश्चात् एवं स्थिति समय में सत्यस्वरूप आप हैं, अर्थात् सर्वदा वर्त्तमान हैं। कारण आप सत्य के अर्थात् पृथिवी, जल, तथा वायु, आकाशरूप पञ्चभूतों का उत्पत्तिस्थल हैं। सुतरां आप सृष्टि के पूर्व में विद्यमान थे। सम्प्रति सत्य में उक्त आकाशादि पञ्चभूतों में अन्तर्य्यामी रूप में विद्यमान हैं। इससे सृष्टि समय में भी आपका सत्यत्व परिदृष्ट होता है। आप उक्त पृथिव्यादि सत्य पदार्थों का पञ्चभूतों का सत्यस्वरूप हैं। कारण उक्त पदार्थसमूह विनष्ट होने पर आप कारण रूपमें अवशिष्ट रहते हैं। अतएव प्रलय समय में भी अवधिरूप में आप ही सत्य हैं। आप सत्य का प्रवर्त्तक हैं, अर्थात् सुनृता वाणी एवं समदर्शन का प्रवर्त्तक आप ही हैं। अतएव सब प्रकार से ही आप सत्यात्मक हैं। हम सब आपके शरणापन्न हैं।

यहाँ पर—सत्य सङ्कल्पत्व सत्य परायणत्व, सृष्ट्यादि लीलात्रय में सत्य हैं। सत्य विश्व का आप कारण हैं। सत्य विश्व में ही आप अन्तर्य्यामी रूप में स्थित हैं, उन सब सत्य पदार्थों का आप एकमात्र

संगच्छते। अन्यथा 'सत्यस्य योनिम्' इत्यादौ त्रये तत्रापि निहितञ्च सत्य इत्यत्राकस्मादर्द्ध-जरतीय-न्यायेन कष्टकल्पनामयार्थान्तरे तु भगवता स्वप्रतिश्रुतं सत्यकृतं यत् तत्तद्युक्तमेवेत्यतो ब्रह्मादिभिस्तस्य तथा स्तवे स्वारस्यभङ्गः स्यात्, प्रक्रमभङ्गश्च। तस्मात् सत्यमेव विश्वमिति स्थितम् ॥ श्रुतयः श्रीभगवन्तम् ॥

सर्वसम्वादिनी

कदाचिदपि न स्यादेव। पीत-शङ्खादौ तु काच-कामलादि-दोषा न भ्रमकल्पिता इति तेषामपि सम्मतम्।

तदेवं जाग्रत्सृष्टिर्यथेश्वर-कृतत्वेन न जीवाज्ञानमात्र-कल्पिता, तद्वत् स्वप्नसृष्टिरपि भवेदितीश्वरवादि-नामनुमानम्;—(ब्र०सू० ३।२।१,२) "सन्ध्ये सृष्टिराह हि", "निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च" इति न्यायाभ्यां

कारण हैं। आप सत्य वचनों का अव्यभिचारी प्रवर्त्तक हैं। सत्य रूप आपकी शरण ग्रहण हम सब करते हैं। उक्त समस्त पदार्थों का आकार एवं परिपाटी का विवरण भी उक्त स्तुति से परिस्फुट हुआ है। समस्त पदार्थ की सत्यता निःसन्दिग्ध रूप से प्रतिपादित हुई। अन्यथा "सत्यस्य योनिम्" सत्य का प्रभवस्थल, निहितञ्च सत्ये—सत्य में निहित। "सत्यस्य सत्यम्" सत्य का भी सत्य—तीन विशेषणों से सत्यता सुपरिष्कृत हुई है। किन्तु उक्त सुस्पष्ट विशेषणत्रय की व्याख्या अन्य प्रकार करने से विशेषतः "निहितञ्च सत्ये" इसका अर्थ अन्य प्रकार करने से अकस्मात् अर्द्ध जरतीय न्याय को अवलम्बन करना पड़ेगा। एक शरीर को द्विधा विभक्त कर अंशविशेष को युवा वृद्ध रूपसे कहने पर अर्द्ध जरतीय नियम होता है। इससे कार्य्य साधन नहीं होता है। केवल कष्ट कल्पना ही होती है। उस प्रकार स्व-प्रकाश स्वमहिमान्वित निखिल शक्ति परिपूरित श्रीभगवतत्त्व में व्यवहारिक पारमार्थिकरूप अर्द्ध जरतीय कल्पना करके उक्त पद्य की व्याख्या करने पर दोष ही होगा। अतएव भगवान् ने जो प्रतिज्ञा की उसका पालन उन्होंने किया है, यह सब ठीक है। इस प्रकार ही यदि स्तवार्थ होता, तब ब्रह्मादि देवगणों के स्तवों का स्वारस्य भङ्ग ही होगा। विशेषतः आरम्भ से जिस प्रकार शब्द प्रयोग के द्वारा स्तव करते रहते हैं, उसका क्रमभङ्ग भी होगा। अतएव उक्त विचारों का निर्णय यह हुआ कि—सत्य ही विश्व है, मिथ्या नहीं है।

"सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं" श्लोक की स्वामिकृत टीका—

"प्रतिश्रुतं सत्यं कृतमिति हृष्टाः सन्तः सत्यत्वेनैव प्रथमं स्तुवन्ति, सत्यव्रतमिति। सत्यं व्रतं, सङ्कल्पो यस्य तम्। सत्यं-परं श्रेष्ठं प्राप्तिसाधनं यस्मिंस्तम्। त्रिसत्यं—त्रिष्वपि कालेषु सृष्टेः पूर्वं प्रलयानन्तरञ्च स्थिति समये च सत्यमव्यभिचारेण वर्त्तमानम्। तदेवाहुः, सत्यस्य योनिमिति। सच्छब्देन पृथिव्यप्तेजांसि तच्छब्देन वाय्वाकाशौ। एवं सच्च तच्च सत्यं भूतपञ्चकम्। तत् सत्यमित्याचक्षते, इति श्रुतेः। तस्य योनिं कारणम्—अनेन पूर्वं वर्त्तमानतोक्ता। तथा सत्ये तथा तस्मिन्नेव निहित-मन्तर्य्यामितया स्थितम् अनेन स्थितिसमयेऽपि सत्यत्वमुक्तम्। तथा सत्यस्य सत्यं तस्यैव सत्यस्य सत्यं पारमार्थिकं तन्नाशेऽप्यवशिष्यमाण रूपम्, अनेन प्रलयेऽप्यवधित्वेन सत्यत्वं दर्शितम्। एवं त्रिसत्य-मुपपादितम्। तथा ऋतसत्यनेत्रम्—ऋतं सुनृता वाणी, सत्यं समदर्शनम्। तथा भगवता व्याख्यास्यमानत्वात् सत्यं च समदर्शनम् ऋतञ्च सुनृता वाणी कविभिः परिकीर्त्यतेति। तयोर्नेत्रं नयसाधनं नेतारं प्रवर्त्तकमिति यावत्। एवं सर्वप्रकारेण सत्यात्मकं त्वां भगवन् वयं शरणं प्रपन्नाः प्रामा इति।२६।"

श्रीवृहत् क्रमसन्दर्भः। अथ देवकीहृदयस्थं श्रीकृष्णं ब्रह्मादयः स्तुवन्त ऊचुः। सत्यव्रतमित्यादि। सत्यव्रतं—सत्यसङ्कल्पं, अङ्गीकृतप्रतिपालनात्। सत्यं ब्रह्म, तस्मादपि परमुत्कृष्टं परमानन्दप्रदं सविशेषम्। तस्य निर्विशेषस्य वैभवत्वात्। उक्तञ्च (भा० ४।९।१०) "सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि" इति। त्रिसत्यं त्रिषु कालेषु सत्यम्, त्रीणि श्रीविग्रहलीलास्वधिष्ण्यानि सत्यानि यस्येति वा। अतः सत्यस्य वैकुण्ठादेर्योनि-मुत्पत्तिस्थानम्। निहितञ्च सत्ये सत्यस्यास्य वैकुण्ठादेः, सत्ये सति सत्यत्वे सति नितरां हितम्।

७२। तदेवम् (भा० १०।८७।३७) "न यदिदमग्र आस" इत्यनेन प्राकृतलयोऽपि सत्कार्य्य-वादेऽनुगमितः। आत्यन्तिके तु मोक्षलक्षणलये न पृथिव्यादीनां नाशः। जीवकृतेन तथा

सर्वसम्वादिनी

जागरवत् पारमेश्वर-सृष्टित्वात्; तत्र देश-काल-निमित्तादीनां क्वचिदसम्भवेऽपि (ब्र०सू० ३।२।३) "माया-मात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" इति न्यायेन दुर्घटघटनाकर-माया-नाम-परमात्मशक्ति-विलासत्वात्; (ब्र०सू० ३।२।४) "सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः" इति न्यायेन भावि-सत्यार्थ-

सत्य शब्दो धर्मवचनोऽप्यस्ति (भा० १।१६।२७) "सत्यं शौचम्" इत्याद्युक्तेः। सन् वैष्णवः, तस्मिन् सति अमृतान्मोक्षादपि सत्यं दुर्ल्लभं यत् प्रेम, तस्य नेत्रं नेतारं प्रापकम्। सत्यात्मकं सत्यस्त्रिकालसिद्ध आत्मा विग्रहो यस्य त्वां श्रीकृष्णं शरणं प्रपन्नाः स्मः॥

अनन्तर श्रीदेवकी हृदयस्थ श्रीकृष्ण का स्तव करते हुए देवगण कहते हैं। सत्यव्रतमित्यादि। सत्यव्रतं—सत्य सङ्कल्प अङ्गीकार कर आपने पालन भी किया। सत्य—ब्रह्म, उनसे भी परमुत्कृष्ट परमानन्दप्रद सविशेष—स्वरूप रूप नाम गुण लीला परिकरादि युक्त। ब्रह्म निर्विशेष होने के कारण कृष्ण का वैभव रूप हैं। ४।९।१० में उक्त है, जो आनन्द आपके भक्त के समीप से आपकी कथा श्रवण से होता है, उस प्रकार आनन्द आपका वैभवरूप ब्रह्म में नहीं है। भूतभविष्यत् वर्त्तमानात्मक कालत्रय में सत्य हैं। श्रीविग्रह लीला धामादि सत्य हैं। अतः सत्यस्वरूप वैकुण्ठादि का उत्पत्ति स्थान आप हैं। निहितञ्च सत्ये—वैकुण्ठ प्रभृति सत्य होने के कारण, उन सब सत्य पदार्थों का पालक आप ही हैं। सत्य शब्द धर्म का भी बोधक है,—भा० १।१६।२७ में सत्य शौच रूप में उक्त है। सन् वैष्णवः, अमृत से भी सत्य दुर्लभ जो प्रेम है, उसका नेत्र प्रापक हैं। सत्यात्मक सत्य त्रिकालसिद्ध आत्मा विग्रह जिनका है, उन श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण हम सब करते हैं। श्रुतिगण श्रीभगवान् को बोली थीं ॥७१॥

अतएव भा० १०।८७।३७ श्लोक के विवरण के द्वारा प्राकृत लय को सत्कार्य्यवाद में अन्तर्भुक्त किया गया है। "न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै, वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्य बुधाः॥"

अन्वयः—यत्—यस्मात्, इदं—विश्वं, अग्रे—सृष्टेः पूर्वं, न आस—नासीत्, निधनात्—प्रलयात्, अनु—अनन्तरं, न भविष्यत्—न भविष्यति, अतः—अस्मात् कारणात्, अन्तरा—मध्ये, एकरसे—केवले, त्वयि, मृषा—मिथ्या रूपं, एवं विभाति, मितं—निश्चितं, अतः—यतः एवं अस्मात् हेतोः, द्रविणजाति-विकल्पपथैः—द्रविणजातीनां द्रव्यमात्राणां मृल्लोह कार्ष्णायसरूपाणां विकल्पाः भेदाः घटादयः। तेषां पन्थानः मार्गाः प्रकाराः इत्यर्थः, तैः, उपमीयते—सदृशतया निरूपयते, इति—एवं ये—वितथमनोविलासं वितथं—मिथ्याभूतं मनोविलासं, ऋतं—सत्यं, अवयन्ति—जानन्ति, ते—अबुधाः अज्ञाः॥

यह विश्व सृष्टि के पहले दृश्य नहीं था, प्रलय के पश्चात् भी दृष्ट नहीं होता है। मध्यवर्त्ती समय में एकरस आप में यह प्रतिभात होता है। अतएव मृत्तिका लौह के भेद घटादि के सहित विश्व की उपमा देते हैं। किन्तु जो लोक विश्व को मिथ्याभूत मनोविलास मात्र मानते हैं, वे लोक अज्ञ होते हैं।

स्वामिटीका—तदेवं प्रपञ्चस्य सत्त्वे साधकं नास्तीत्युक्तम्। इदानीमसत्त्वे सृष्टिप्रलयश्रुतयः, यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते इत्याद्यास्तन्मूलश्चानुमानं प्रमाणमित्याह—न यदिदमिति। यत्—यस्मादिदं विश्वं अग्रे सृष्टेः पूर्वं न आस नासीत्। "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्। आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादि श्रुतेः। न च निधनात् प्रलयादनु अनन्तरं भविष्यत् भविष्यति। नासदासीन्नो सदासीत् तदानी-मित्यादि श्रुतेः। अतः करणादन्तरा मध्येऽप्येकरसे केवले त्वयि मृषा मिथ्यारूपमेव विभातीति मितं निश्चितम्। यत एव तु, अतः श्रुत्या द्रविणजातिविकल्पपथैर्द्रविणजातीनां द्रव्यमात्राणां मृल्लोह कार्ष्णायस

रूपाणां विकल्पा भेदा घटकुण्डलादयस्तेषां पन्थानो मार्गाः प्रकारास्तैरुपमीयते सदृशतया निरूप्यते। यथा तत्र कार्य्याकारणां नामधेयमात्रता कारणं मृदाद्येव तु सत्यं तथाप्याकाशादीनां नाममात्रता ब्रह्मैव तु सत्यमिति निरूप्यत इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः, यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं भवति। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। यथा एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्। यथा एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसमित्यादि तस्मादस्य सत्त्वे प्रमाणाभावादसत्त्वे प्रमाणस्य विद्यमानत्वात् वितथं मनोविलासम् ऋतं सत्यमिति ये अवयन्ति जानन्ति ते अबुधाः अज्ञा इत्यर्थः। अत्रैवं प्रयोगः। विवादाध्यासितं न सत्। आद्यन्तयोरविद्यमानत्वात् विकारित्वात् दृश्यत्वाच्च, शुक्तिरजतादिवत् इत्यन्वये दृष्टान्तः। आत्मवच्चेति व्यतिरेके दृष्टान्तः।

मुकुटकुण्डलकङ्कणकिङ्किणी परिणतं कनकं परमार्थतः।
महदहङ्कृति ख प्रमुखं तथा नरहरे र्न परं परमार्थतः ।३७।

बृहत् क्रमसन्दर्भः। न केवलं त्वत्परिजना एव त्वदभिन्नाः, अपितु तव वृन्दावनादिधाम कदम्बमपि तथैवाहुः—न यदिदमित्यादि इदं तव वृन्दाबन-मथुरा-द्वारकादिस्थलं यत् तन्न मृषा, प्रपञ्चवन्न नश्वरम्। अग्र आस अग्रे सृष्टेः प्रागप्यासीत् न भविष्यत् नष्टं भूत्वा पुनर्भविष्यतीति न; अतः कारणात् निधनात् महाप्रलयादनु पश्चादासेत्यर्थः। सृष्टिप्रलययोर्मध्येऽपि मितं स्थितम्। कुतः? इत्याहुः—एकरसे एकावस्थे त्वयि विभाति चेद् यथा त्वमेवैकरस स्तथा तव धामापि (भा० २।९।३२) "अहमेवासमेवाग्रे" इत्यादिना यथा त्वं त्रैकालिके सिद्धस्तथा तदपि तत्रैवोक्तम्। एतच्च एतद्वैकुण्ठाख्यं मद्धामप्यहम्, अतोऽस्यापि त्रैकालिकी सिद्धिरिति। एतदेवाभिन्नत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्ति— अत उपमीयते' इत्यादि। द्रविण-जातीनां द्रव्यप्रकाराणां मृत्कनकादीनां ये विकल्पा भेदा घटकुण्डलादय आकारा ते वस्तुतस्तु मृत्कनकाद्येव। तेन त्वया सह तव लोकस्याकारमात्रेणैव भेदः, न वस्तुतः, इति। एवं प्रकारेण ऋतं सव वृन्दाबनादिकं लोकमबुधाः कुतर्कपरा वितथमनोऽभिलाषं वितथो यो मनोऽभिलाषस्तदनित्यो यः प्रपञ्चस्तमिवावयन्ति। बुधास्तु कैवल्यमिव मूर्त्तिमदित्याद्येव जानन्तीति भावः॥

न केवल तुम्हारे परिजनवर्ग ही तुम से अभिन्न हैं, अपितु तुम्हारे वृन्दाबनादि धाम कदम्ब भी उस प्रकार तुम से भिन्न नहीं हैं। इस विवरण को श्रुतिगण कहती हैं।

न यदिदमित्यादि, इदं—तुम्हारे वृन्दाबन, मथुरा, द्वारकादि स्थान मिथ्या नहीं हैं। प्रपञ्च के समान नश्वर नहीं है। सृष्टि के पहले था, नष्ट नहीं होता, नष्ट होकर पुनर्बार होता ऐसा नहीं। तज्जन्य महाप्रलय के बाद भी रहता है। सृष्टि प्रलय के मध्य में भी रहता है। कैसे? कहती हैं—एकरसे एकावस्था में तुम सदा रहते हो, उस प्रकार तुम्हारे धामादि भी एक प्रकार रहते हैं। चतुश्लोकी में कहा है, सृष्टि के पूर्व में मैं ही था। जिस प्रकार तुम त्रिकाल में एकरूप हो उस प्रकार तुम्हारे सम्पर्कित वस्तु भी है। वैकुण्ठाख्य धाम भी मैं ही हूँ। अतः इस की भी त्रिकाल सिद्धता है। अभिन्न रूप से दृष्टान्त को कहते हैं,—अत उपमीयते' द्रव्य के प्रकारसमूह—मृत्तिका कनक प्रभृति के विकल्पसमूह घट कुण्डलादि के आकार समूह—वस्तुतस्तु मृत्तिका कनक ही है। उसके साथ तुम्हारा आकार से ही भेद है, वस्तुत भेद नहीं है। इस प्रकार सत्य वृन्दाबनादि स्थान को गोलोक अनित्य मनोविलास रूप से जानते हैं, वे अबुध होते हैं। बुधगण किन्तु कैवल्य के समान मूर्त्तिमत् ही जानते हैं। आत्यन्तिक प्रलय में मोक्षलक्षण लय में भी पृथिवी प्रभृति तत्त्वों का आत्यन्तिक विनाश नहीं होता है। सायुज्य मुक्ति के लिए जीवों को जो साधन दिया गया है, वह है चिन्तनात्मक, भावनात्मक, उसमें "ब्रह्म ही सत्य है, जगत् इन्द्रजालवत् मिथ्या, जीव ब्रह्म ही है।" इस प्रकार ही भावना की जाती है। उससे जड़ीय आवेश नष्ट होता है, एवं केवल निज स्वरूप की ही स्फूर्त्ति होती है, यह तो भावना है। यह भी मिथ्या है। कारण गुरु मिथ्या, शास्त्र मिथ्या शास्त्र जन्य ज्ञान भी मिथ्या है, तब मिथ्या शास्त्रोपदेश से सत्य ब्रह्म भवन होना असम्भव है, हास्यास्पद

भावनामात्रेण स्वाभाविक-परमात्मशक्तिमयानां तेषां नाशायुक्तेः। लब्धमोक्षेषु श्रीपरीक्षिदादिषु तद्देहस्थानामपि पृथिव्याद्यंशानां स्थितेः श्रवणात्तथा हिरण्यगर्भांशानां बुद्धयादीनामपि भविष्यति। अतस्तेष्वध्यासपरित्याग एवात्यन्तिकलय इत्युच्यते। अतएव (भा० १२।५।५)—

"घटे भिन्ने घटाकाश आकाशः स्याद् यथा पुरा।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः ॥"५॥

सर्वसम्वादिनी

सूचकत्वे क्वचिदोषधि-मन्त्रादि प्राप्ति-दर्शनेन सूचकसत्यत्वे च सिद्धे सत्यता-प्रत्ययनात्; 'पुरुषं कृष्णदन्तं पश्यति, स चैनं हन्ति' इति साक्षात् स्वप्नद्रष्टृ-कर्त्तृकहननश्रवणाच्च। (ब्र०सू० ३।२।५) "पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्, ततो ह्यस्य बन्ध-विपर्य्ययौ" इति न्यायेन तत्र जीवस्यासामर्थ्यादत एव कर्त्तृक-श्रुतेर्भाक्तत्वात्

भी है। जीव कृत वास्तव पदार्थ का उस प्रकार चिन्तन से वास्तव पदार्थ का विनाश नहीं होता है। जब लौकिक स्थिति वैसी है, विचित्र शक्तिसम्पन्न स्वाभाविक शक्तिमय परमात्मा की निजी शक्ति से जो सब पृथिवी प्रभृति पदार्थ वास्तविक रूप में स्थित हैं। जीव की केवल भावना से उक्त समस्त पदार्थ विनष्ट हो जाना युक्तियुक्त नहीं है। श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध में श्रीपरीक्षित् का मोक्ष वर्णन है। अन्यत्र भी अपर व्यक्तियों का मोक्ष वर्णन श्रीमद्भागवत में हुआ है। उक्त मोक्ष वर्णन प्रसङ्ग में उन उन मोक्षलब्ध व्यक्तियों के देहस्थित पृथिव्यादि के अंशों की स्थिति सुस्पष्ट है। उस प्रकार ही हिरण्यगर्भ के अंश रूप बुद्धि प्रभृति की स्थिति होती है। अतएव पृथिवी प्रभृति पदार्थों में जीव का जो अध्यास है, उक्त भावना से उस अध्यास का परित्याग भी आत्यन्तिक लय है, किन्तु वास्तविक परमात्म शक्ति से निर्मित पदार्थों का विनाश ही नहीं होता है। उस अध्यास त्याग का ही तात्पर्य्य भा० १२।।५।५ में वर्णित है—

"घटे भिन्ने घटाकाश आकाशः स्याद् यथा पुरा। एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः ॥"

जिस प्रकार घट भग्न होने से घटाकाश पूर्व की भाँति महाकाश में लीन होता है, उस प्रकार देह की मृत्यु होने से जीव परब्रह्म से सम्पन्न होता है।

क्रमसन्दर्भः—साधारणानामपि तदावेशो भ्रम एवेत्याह—स्वप्न इति पञ्चभिः। देह इति देहद्वय इत्यर्थः। ब्रह्म भगवत्त्वं सम्पद्यते—यथायथं प्राप्नोति। अत्रोपाधेः संयोग एव परित्यज्यते, न तु तस्य मिथ्यात्वं प्रतिपाद्यते। मायादीनां स्रष्टृत्वं यत्किञ्चित्तद्धेतुत्वात्। दीपस्य ज्योतिषो दीपत्वं स्नेहाद्यधिष्ठातृत्वेन विकारित्वमित्यर्थः। ततः तस्मात् स्वयं ज्यतिरादिरूपत्वादन्तोपमः परमात्मसदृशः (मु० ३।१।१, श्वे० ४।६) "द्वा सुपर्णासयुजा सखाया" इति श्रुतौ, (भा० ११।११।६) "सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ" इत्येकादशे च।

साधारण मनुष्यों के शरीरादि में आत्मत्वेन आवेश भ्रम ही है। उसको पाँच श्लोकों से कहते हैं। देह में—इस सूक्ष्म स्थूलरूप देहद्वय को जानना होगा। ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती है, न-तो कोई ब्रह्म ही होता है। अतः ब्रह्मसम्पन्न का अर्थ है—यथायोग्य भगवत्व को प्राप्त करना है। उपाधि त्याग से—उपाधि के सहित संयोग सम्बन्ध का ही त्याग है। उसका मिथ्यात्व प्रतिपादन नहीं करते हैं। माया प्रभृति को स्रष्टा कहा जाता है, किन्तु स्रष्टृत्व कुछ ही अंश में है। कारण शक्तिमत्तत्त्व परमात्मा ही स्रष्टा हैं। दीप का प्रकाशकत्व है, वह स्नेहाधिष्ठान होने के कारण है। वह विकारी है। अतएव स्वयं ज्योतिरादि रूप होने के कारण अनन्तोपम परमात्म सदृश है। श्रुति में आत्म-परमात्म को एकत्र स्थित सखा कहा गया है। भा० एकादश स्कन्ध में भी उस प्रकार ही वर्णन है।

स्वामिटीका—यस्माद् देहोपाधिकोऽयमात्मनो जन्मादिसंसारभ्रमः, तस्मादुपाधिनिवृत्तौ मुच्यत इति

इत्यत्र ; तथा (भा० १२।५।११-१२)—

"एवं समीक्ष्य चात्मानमात्मन्याधाय निष्कले ॥११॥
दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः ।
न द्रक्ष्यसि शरीरञ्च विश्वञ्च पृथगात्मनः ॥"१२॥

इत्यत्राप्युपाधेः संयोग एव परित्यज्यते, न तु तस्य मिथ्यात्वं प्रतिपाद्यते । तथाहि बुद्धीन्द्रिये-त्यादिप्रकरणम् । तत्र तदाश्रयत्व-तत्प्रकाश्यत्व-तदव्यतिरिक्तत्वेभ्यो हेतुभ्यो बुद्धीन्द्रियादीनां परमात्मस्वभावशक्तिमयत्वमाह (भा० १२।४।२३)—

(७२) "बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम् ।
दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥"२३॥

सर्वसम्वादिनी

स्वप्नसृष्टिरपि जागरवत् पारमेश्वरी सत्या चेति च तेषां श्रौत-मतम् ।

(ब्र०सू० ३।२।३—श्रीभाष्ये) श्रीरामानुजचरणाश्चैवमाहुः ।—स्वप्ने च प्राणिनां पुण्यपापानुगुणं भगवतैव तत्तत्पुरुषमात्रानुभाव्या तत्तत्कालावसानास्तथाभूताश्चार्थाः सृज्यन्ते । तथा च स्वप्नविषया श्रुतिः (बृ० ४।३।

सदृष्टान्तमाह—घट इति । यथा पूर्वं घटोपाधेः पूर्वमिव पुनर्घटे भिन्ने तदन्तर्वर्त्याकाशे आकाश एव स्यात्, एवं देहे मृते तत्त्वज्ञानेन लीने सति ॥

कारण उपाधि का ही जन्म होता है, यह संसार भ्रम है । उपाधि निवृत्त होने से ही जीव मुक्त होता है । दृष्टान्त के द्वारा उसका बोध कराते हैं । भा० १२।५।११-१२ में कथित है—"मैं ही ब्रह्म हूँ । इस प्रकार अभेद चिन्ता के द्वारा निरवयव परमात्मा के सहित जीवात्मा का संयोग स्थापन करो । उससे दंशनकारी लिलिहान विषानलयुक्त तक्षक का एवं शरीरादि विश्व का बोध आत्मा से पृथक् रूप में नहीं होगा ।

क्रमसन्दर्भः— कुतोऽहमीश्वरः ? तदेकपाल्यत्वाभिमानेन तच्छक्त्यैव स्वशक्त्यभिमानेन वा तदभेदा-भिमानादित्याह,—अहं ब्रह्मेति युग्मकेन । निष्कले मायातीते ; आत्मनि, ब्रह्मण्याधाय निवेद्य ॥ आत्मनः पृथक् यच्छरीरं विश्वञ्च, तत्तन्न द्रक्ष्यस्येवेति, किमुत तदपकारेण स्वापकारं मन्यस इति ॥

कैसे मैं सक्षम हूँ ? ईश्वर पालक हैं, सब जगत् पाल्य हैं । उनकी शक्ति से ही सब शक्तिमान् होते हैं । उससे उनके साथ अभेद अभिमान होता है, भेद विदूरित होता है । श्लोक युगल के द्वारा कहते हैं । मायातीत निष्कल ब्रह्म में, ब्रह्म में आत्म समर्पण करके । आत्मा से पृथक् शरीर एवं विश्व है, उसका बोध नहीं होगा । उसके द्वारा अपकार से अपना अपकार हुआ है, ऐसा बोध भी नहीं होगा ।

उक्त वर्णन के द्वारा उपाधि का संयोग परित्याग सुव्यक्त हुआ है । किन्तु जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादन नहीं हुआ है । इस विषय का दृष्टान्त बुद्धीन्द्रियेत्यादि प्रकरण है । उसमें परमात्माश्रित, ईश्वर प्रकाश्य, ईश्वर व्यतिरिक्त कारणसमूह से बुद्धि इन्द्रिय प्रभृति का परमात्मस्वभाव शक्तिमयत्व का वर्णन—भा० १२।४।२३ श्लोक में कहते हैं ।

जिस समय वस्तु ग्राहक बुद्धि एवं करण इन्द्रिय, एवं ग्राह्य विषय का पृथक् व्यवहार नहीं रहता है । केवल तदाश्रय ज्ञानमात्र ही प्रकाशित होता है, तब उसे आत्यन्तिक लय अर्थात् मुक्ति कहते हैं ।

क्रमसन्दर्भः—तत्र तदाश्रयत्व— तत् प्रकाश्यत्व तदव्यतिरिक्तत्वेभ्यो हेतुभ्यो बुद्धीन्द्रियादीनां परमात्म-स्वभावशक्तिमयत्वमाह,—बुद्धीति । अन्तःकरण,-वहिःकरणविषय-रूपेण परमात्मलक्षणं ज्ञानमेव भाति,

अन्तकरण-वहिःकरण-विषयरूपेण परमात्मलक्षणं ज्ञानमेव भाति, तस्मादनन्यदेव बुद्धचादिवस्त्वित्यर्थः; यतस्तदाश्रयं तेषामाश्रयरूपं तज्ज्ञानम्। क्लीवत्वमार्षम्। तथापि राजभृत्ययोरिवात्यन्त एव भेदः स्यात्; तत्र हेत्वन्तरेऽप्याह—दृश्यत्वं तत्प्रकाश्यत्वम्, अव्यतिरेकस्तद्वयतिरेकेऽव्यतिरेकस्ताभ्याम्। तस्मात् (वि०पु० १।२२।५५) "एकदेशस्थितस्याग्नेज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा" इत्यादिवद्बुद्धचादीनां तत्स्वाभाविक-शक्तिमयत्वमेव सेत्स्यतीति भावः। यत् खल्वाद्यन्तवद्वणिग्वीथ्यादौ सिद्धं शुक्त्यादौ कदाचिदेवारोपितं रजतं तत्

सर्वसम्वादिनी

१०)—"न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" इत्यारभ्य 'स हि कर्त्ता' इत्यन्ता। यद्यपि सकलेतर-पुरुषानुभाव्यतया तदानीं न भवन्ति, तथापि तत्तत्पुरुषमात्रानुभाव्यतया तथा-विधानर्थान् ईश्वरः सृजति। 'स हि कर्त्ता'—तस्य सत्यसङ्कल्पस्याश्चर्यशक्तेस्तादृशं कर्त्तृत्वं सम्भवतीत्यर्थः;

तस्मादनन्यदेव बुद्धचादिवस्तु इत्यर्थः। यतस्तदाश्रयम् तेषामाश्रयस्वरूपं तज्ज्ञानम्; क्लीवत्वमार्षम्। तथापि राजभृत्ययोरिवात्यन्त एव भेदः स्यात्। तत्र हेत्वन्तरेऽप्याह दृश्यत्वं, तत् प्रकाश्यत्वं अव्यतिरेकस्तद् व्यतिरेकस्ताभ्याम्। तस्मात् विष्णुपुराणे १।२२।५५ "एकदेशस्थितस्याग्नेज्योत्स्नाविस्तारिणी यथा" इत्यादिवद् बुद्धचादीनां तत् स्वाभाविकशक्तिमयत्वमेव स्येत्स्यतीति भावः। यत् खल्वाद्यन्तवणिग् वीथ्यादौ सिद्धं शुक्त्यादौ कदाचिदेवारोपितं रजतम्। तत् पुनरवस्तु, तदाश्रयकत्व—तद्व्यतिरेकाभावाच्छुक्त्यादि वस्तु न भवति, शुक्त्यादिभ्योऽन्यन्न भवतीत्यर्थः। ततश्चैक विज्ञानेन सर्वविज्ञान-प्रतिज्ञाविरुध्येतेति भावः। एवमसत्कार्य्यवादान्तरेऽपि ज्ञेयम्॥

ईश्वराश्रयत्व, ईश्वर प्रकाश्यत्व ईश्वर सम्बन्ध व्यतीत सम्बन्धाभावरूप हेतु के द्वारा बुद्धि इन्द्रिय प्रभृतियों का परमात्म स्वभावशक्तिमयत्व स्थापित होता है। कहते हैं—अन्तःकरण, वहिःकरण विषय रूप से परमात्म लक्षण ज्ञान ही बुद्धचादि पदार्थ हैं। परमात्माश्रित होकर ही ये सब रहते हैं। तथापि राजभृत्य के समान परस्पर अत्यन्त भेद ही होगा। भिन्न हेतु के द्वारा कहते हैं—दृश्यत्व, तत्प्रकाश्यत्व, ईश्वर सम्बन्ध व्यतीत अवस्थानाभाव है। विष्णुपुराण में उक्त विषय का वर्णन सुस्पष्ट रूप में है। अग्नि एकदेश में स्थित होकर निज ज्योत्स्ना के द्वारा अपर भूमिभाग को उद्भासित करता है। उस प्रकार परमात्माख्य ईश्वर निज शक्ति के द्वारा जीवजगत् को परिचालित करते हैं। उनकी शक्ति विश्व सृजन करती है, उस शक्ति से प्रकृति महत्तत्त्व प्रभृति का उद्भव होता है। अतएव बुद्धि प्रभृति का ईश्वरीय स्वाभाविक शक्तिमयत्व है। वणिक् वीथि प्रभृति में सुसिद्ध रजत का कदाचित् आरोप भ्रमवश से होता है, परन्तु उस वस्तु में तदाश्रयकत्व, तत्व्यतिरेकाभावात् शुक्त्यादि वस्तु नहीं होती है। शुक्त्यादि से वह भिन्न नहीं होती है। वैसा होने पर एक विज्ञान से अर्थात् एक मृण्मय पदार्थ को अवगत होने से निखिल मृण्मय पदार्थ का ज्ञान होता है। उस प्रकार जो नियम है, वह नियम भङ्ग होगा। वह नियम शाश्वत है। इस प्रकार असत् कार्य्य वादान्तर में दोष को जानना होगा।

सन्दर्भ व्याख्या। परमात्मस्वरूप ज्ञान ही अन्तःकरण वहिःकरण रूप में प्रकाशित है। अर्थात् परमेश्वर से बुद्धचादि वस्तु भिन्न नहीं है। कारण तदाश्रय अर्थात् बुद्धचादि का आश्रय रूप में परमात्मा का ज्ञान हुआ है। यहाँ ब्रह्मलिङ्ग का प्रयोग आर्षत्व हेतु है। अन्य हेतु के द्वारा भी कहते हैं—दृश्यत्व, तत् प्रकाश्यत्व, अव्यतिरेक, अर्थात् ईश्वर के व्यतिरेक से जगत् व्यतिरेक। व्यतिरेक—अभाव। अर्थात् ईश्वर व्यतीत जगत् की स्थिति नहीं होती है। अतएव एकदेशस्थित अग्नि की ज्योत्स्ना जिस प्रकार सर्वव्यापिनी होती है, तद्रूप बुद्धचादि पदार्थ—ईश्वर के स्वाभाविक शक्तिमय ही हैं। यह ही भावार्थ है।

पुनरवस्तु तदाश्रयकत्व-तत्प्रकाश्यत्वतदव्यतिरेकाभावात् शुक्त्यादिवस्तु न भवति, शुक्त्यादिभ्योऽनन्यन्न भवतीत्यर्थः। ततश्चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा विरुध्येतेति भावः। एवमसत्कार्य्यवादान्तरेऽपि ज्ञेयम् ॥

७३। एकस्यापि वस्तुनोऽंशभेदेनाश्रयाश्रयित्वं स्वयमेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति (भा० १२।४।२४)—

(७३) "दीपश्चक्षुश्च रूपञ्च ज्योतिषो न पृथग् भवेत्।
एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमादृतात् ॥"२४॥

दीपश्चक्षूरूपाणां महाभूतज्योतिरंशरूपत्वाद्दीपादिकं न ततः पृथक्। एवं धीप्रभृतीनि ऋतात् परमात्मनो न पृथक् स्युः। तथापि यथा महाभूतज्योतिर्दीपादिदोषेण न लिप्यते, तथा बुद्ध्यादि-दोषेण परमात्मापि, तद्वदस्याप्यन्यतमत्वादित्याह—अन्यतमादिति ॥

७४। तदेवं धीप्रभृतीनां परमात्मस्वाभाविकशक्तिमयत्वमुक्त्वा तथापि तेभ्यो वहिरङ्ग-शक्तिमयेभ्योऽन्तरङ्गशक्ति-तटस्थशक्तिविशिष्टपरमात्मनोऽन्यतमत्वेन तेषामशुद्धत्वव्यञ्जनया

सर्वसम्वादिनी

(कठ० २।२।८)—"य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥"२४॥ इति च।
सूत्रकारोऽपि "मायामात्रं तु कार्त्स्न्येन" इत्यादिना जीवस्य कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्व.दीश्वरस्यैव

जिसका निश्चय, आद्यन्तवत् वणिक् वीथादि में है। शुक्त्यादि में उस प्रकार आरोपित रजत—वस्तु पदवाच्य नहीं है। कारण शुक्ति रजत का प्रकाश्य भी रजत से अभिन्न नहीं है, अर्थात् भिन्न है। अतएव रजतादि वस्तु नहीं है। अर्थात् शुक्त्यादि से पृथक् नहीं है। अतएव एकविज्ञानेन समस्त विज्ञान नियम का बाधक होता है। यह ही भावार्थ है। इस प्रकार असत्कार्य्यवादान्तर में भी जानना होगा ॥७२॥

एक ही वस्तु अंश भेद से आश्रय एवं आश्रयी होती है, उसका स्पष्टीकरण स्वयं ही करते हैं—

जिस प्रकार दीप, चक्षु रूप समूह वस्तु ज्योति पदार्थ से भिन्न नहीं है। तद्रूप, बुद्धि, इन्द्रिय एवं विषयसमूह सत्यस्वरूप परमात्मा से भिन्न नहीं हैं, यद्यपि वे सब भिन्न रूप से प्रतीत होते हैं।

क्रमसन्दर्भ। एकस्यापि वस्तुनोऽंशभेदेनाश्रयाश्रयित्वं स्वयमेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—दीप इति। दीपश्चक्षुरूपाणां महाभूतज्योतिरंशरूपत्वात् दीपादिकं न ततः पृथक् एवं धी प्रभृतीनि ऋतात् परमात्मनो न पृथक् स्यु स्तथापि यथा महाभूत-ज्योतिर्दीपादि-दोषेण न लिप्यते, तथा बुद्ध्यादिदोषेण परमात्मापि, तद्वदस्याप्यन्यतमत्वादित्याह, अन्यतमादिति।

एक वस्तु में आश्रय आश्रयि भाव होता है, उसका वर्णन स्वयं ही करते हैं। दीप एवं चक्षु प्रभृति पदार्थ, महाभूत के ज्योतिरंश रूप हैं। अतएव दीपादि उक्त महाभूत से पृथक् नहीं है। उस प्रकार बुद्धि प्रभृति सत्यस्वरूप परमात्मा से पृथक् नहीं हैं। तथापि जिस प्रकार प्रदीपादि दोष से महाभूत लिप्त नहीं होता है, उस प्रकार बुद्धि प्रभृति के दोष से परमात्मा भी लिप्त नहीं होते हैं। उस प्रकार परमेश्वर भी जगत् से अन्यतम हैं—"अन्यतमात्" इति॥ सन्दर्भ एवं क्रमसन्दर्भ का लेख यहाँ पर एक प्रकार है ॥७३॥

अतएव बुद्धि प्रभृति पदार्थों का परमात्मा की स्वाभाविक शक्तिस्वरूप वर्णन करने के पश्चात् कहते हैं कि—उक्त बुद्धि प्रभृति पदार्थ परमात्मा की वहिरङ्गाशक्तिविलसित हैं। उससे परमात्मा की अन्तरङ्गा एवं तटस्था शक्ति है, वहिरङ्गा शक्ति से सम्भूत पदार्थसमूह अन्तरङ्गाशक्तिविशिष्ट परमात्मा के स्वरूप से

सदोषत्वमुक्त्वा तेषु धीप्रभृतिषु अध्यासं परित्याजयितुं तिसृषु धीवृत्तिषु तावच्छुद्धस्यैव जीवस्य सकारणमध्यासमाह (भा० १२।४।२५)—

(७४) "बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते।
मायामात्रमिदं राजन्नानात्वं प्रत्यगात्मनि ॥"२५॥

बुद्धिवृत्तिरूपं जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरितीदं प्रत्यगात्मनि शुद्धजीवे विश्वतैजसप्राज्ञत्वाख्यं नानात्वं मायामात्रं मायाकृताध्यासमात्रेण जातमित्यर्थः ॥

७५। ततः परमात्मनि बुद्ध्यादिमयस्य जगतः सतोऽपि सम्पर्कः सुतरां नास्तीत्याह (भा० १२।४।२६)—(७५) "यथा जलधरा व्योम्नि भवन्ति न भवन्ति च।
ब्रह्मणीदं तथा विश्वमवयव्युदयाप्ययात् ॥"२६॥

यथा व्योम्नि व्योमकार्य्यवायुज्योतिः-सलिल-पार्थिवांश-धूमपरिणता जलधराः स्वेषामेवावयविनामुदयाद्भवति दृश्यन्ते, अप्ययान्न भवन्ति न दृश्यन्ते च, ते च तन्न स्पृशन्तीत्यर्थः, तथा ब्रह्मणीदं विश्वमिति योज्यम्। अवयवि स्थूलरूपं विश्वम्, उदयः पुरुषोत्तमदृष्टिजातः

सर्वसम्वादिनी

सत्यसङ्कल्पशक्ति-विलासमात्रमिदं स्वाप्निक-वस्तुजातमिति व्याचष्टे,—(कठ० २।२।८) 'तस्मिँल्लोकाः' इत्यादि-श्रुतेः। अपवरकादिषु [अन्तर्गृह-गर्भगृहादिषु] शयानस्य स्वप्नद्रष्टुः स्वदेहेनैव देशान्तर-गमन-राज्याभिषेक-शिरच्छेदादयश्च पुण्यपाप-फलभूताः शयानदेह-स्वरूप-संस्थानं देहान्तर-सृष्ट्येवोपपद्यन्त इति।

विलक्षण है, नश्वर स्वरूप होने से वे सब सदोष हैं। अतएव उक्त बुद्धि प्रभृति पदार्थों में अध्यास का परित्याग- करवाने के लिए जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति रूप बुद्धि के वृत्ति में शुद्ध जीव अध्यस्त होता है। श्रीमद्भागवत १२।४।२५ में वर्णित है—राजन्! जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति समूह बुद्धि की ही अवस्था है। अतएव प्रत्यागात्मा में भी नानात्व बोध होता है वह केवल मायामात्र है।

क्रमसन्दर्भ—तदेवं धी प्रभृतीनां परमात्मस्वाभाविकशक्तिमयत्वमुक्त्वा तथापि तेभ्यो वहिरङ्गशक्तिमयेभ्योऽन्तरङ्गशक्ति-तटस्थशक्तिविशिष्टपरमात्मनोऽन्यतमत्वेन तेषामशुद्धत्वव्यञ्जनया स्वदोषत्वमुक्त्वा तेषु धीप्रभृतिषु अध्यासं परित्याजयितुं तिसृषु तावच्छुद्धस्यैव जीवस्य स कारणमध्यासमाह—बुद्धेरिति। बुद्धिवृत्ति रूपं जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरितीदं प्रत्यगात्मनि शुद्धजीवे विश्वतैजसप्राज्ञत्वाख्यं नानात्वं मायामात्रं, मायाकृताध्यासमात्रेण जातमित्यर्थः।

बुद्धिवृत्ति रूप जागरण, स्वप्न-सुषुप्ति द्वारा प्रत्यगात्मा—शुद्ध जीव के विश्व, तैजस, प्राज्ञत्व नाम हुए हैं। उक्त नानात्व मायामात्र है। अर्थात् मायाकृत अध्यासमात्र से ही उत्पन्न हुआ है ॥७४॥

अतएव बुद्ध्यादिमय जगत् सत्य होने पर भी जगत् के सहित सम्पर्क नहीं है। भा० १२।४।२६ के पद्य के द्वारा उसका वर्णन करते हैं। यद्रूप गगन में मेघसमूह कभी उदित होते हैं, कभी नहीं भी होते हैं। तद्रूप अवयव विशिष्ट विश्व, ब्रह्म में किसी समय अभिव्यक्त होता है, कभी नहीं भी होता है।

सन्दर्भः—जिस प्रकार आकाश में आकाश का कार्य्य वायु, ज्योतिः, जल, एवं पार्थिवांश धूम का परिणामरूप मेघसमूह निज अवयवीसमूह के उदय से उदित होते हैं। अर्थात् दृष्ट होते हैं, अदृष्ट भी होते हैं। किन्तु मेघ समूह आकाश को स्पर्श नहीं करते हैं। उस प्रकार ही ब्रह्म में विश्व है। इस प्रकार ही पद्य की योजना है। अवयवविशिष्ट स्थूलरूप विश्व का उदय,—पुरुषोत्तम की दृष्टि से होता है, अर्थात्

स्पष्टीभावः, अप्ययस्तद्दृष्टिनिमीलनजातस्तद्विपर्य्ययः। ततः सूक्ष्मरूपेण तस्य स्थितिरस्त्येव, जगच्छक्तिविशिष्टकारणास्तित्वात्। इत्थमेवोक्तम् (भा० ११।२४।१९) 'सतोऽभिव्यञ्जकः कालः' इति ॥

७६। तदेवं वक्तुं कारणास्तित्वं दृष्टान्तेन प्रतिपादयति (भा० १२।४।२७)—

(७६) "सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिह।
विनार्थेन प्रतीयेरन् पटस्येवाङ्ग तन्तवः ॥"२७॥

सर्वेषामवयविनां स्थूलवस्तूनामवयवः कारणं सत्यं सत्यो व्यभिचाररहितः प्रोक्तः। लोके तथा दर्शनादित्याह—विनेति। अर्थेन स्थूलरूपेण पटेनापि विना ॥

७७। तस्मिन् कार्य्यास्तित्वमपि व्यतिरेकेण प्रतिपादयति (भा० १२।४।२८)—

(७७) "यत् सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत स भ्रमः"

सर्वसम्वादिनी

युक्ता च परमात्मन एव स्वप्नसृष्टिः,—जाग्रत्-स्वप्नादि-भेदस्याखिलस्यैव प्रपञ्चस्य जन्मादि-कर्त्तृत्वेनौत्सर्गिक-सिद्धेः। येषां वा मते स्व-सङ्कल्पमात्र-मूर्त्तयः स्वप्न-पदार्थास्तन्मताभ्युपगम-वादेनापि सूत्रकृता (ब्र०सू० २।२।२९) "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" इत्यनेन जाग्रत्-पदार्था न तद्दृष्टान्त-साध्यान्यथाभावा इति

प्रकाशित होता है। अप्यय—अर्थात् अदृष्ट होना, श्रीपुरुषोत्तम की दृष्टि का निमीलन से विश्व अदृश्य होता है, तज्जन्य सूक्ष्म रूप से विश्व की स्थिति सुनिश्चित है। ईश्वर—जगत् शक्तिविशिष्ट हैं, उन जगत् शक्तिविशिष्ट ईश्वर से जगत् उत्पन्न होता है। ईश्वर नित्य है, उनकी कारणता भी नित्य है, अतः जगत् रूप कार्य्य भी नित्य रूप में है। उस प्रकार का कथन भा० ११।२४।१९ में है—

"प्रकृतिर्यस्योपादानमाधारः पुरुषपरः। सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयन्त्वहम् ॥"

स्वामिटीका। ननु तथापि प्रकृतिपुरुषकालानामकार्य्यभूतानां भिन्नत्वात् कथमद्वितीयता तत्राह—प्रकृतिरिति। अस्य स्वतः कार्य्यस्योपादानं या प्रकृतिः, प्रसिद्धा यश्च तस्या आधारोऽधिष्ठाता परः पुरुषो यश्च गुणक्षोभेण अभिव्यञ्जकः कालस्तत्त्रितयं ब्रह्मरूपोऽहमेव नतु पृथक्। प्रकृतेः शक्तिरूपत्वात्, पुरुष-कालयोरप्यवस्थारूपत्वात् ॥

प्रकृति-पुरुष-काल, कार्य्यस्वरूप नहीं है। अतएव ये सब भिन्न है। अद्वितीयता की सम्भावना कैसे होगी? कहते हैं—प्रकृतिरिति। परिदृश्यमान सत्य रूप कार्य्य का उपादान प्रकृति है, यह प्रसिद्धा है। उसका आधार, अधिष्ठाता परः—पुरुष है। गुण क्षोभ के द्वारा अभिव्यञ्जक को काल कहते हैं, उक्त रूपत्रय ही मैं ब्रह्म हूँ। मुझ से वे सब पृथक् नहीं हैं। प्रकृति—शक्तिरूपा है, पुरुष एवं काल—अवस्था रूप है ॥७५॥

उक्त विवरण को कहने के निमित्त दृष्टान्त के द्वारा कारणास्तित्व का प्रतिपादन करते हैं। भा० १२।४।२७ में लिखित है—अवयवि पदार्थसमूह के अवयवसमूह कारण होते हैं, एवं वे सब नित्य होते हैं। जिस प्रकार अवयवी रूप वस्त्र से अवयवीरूप सूत्रसमूह पृथक् रूप में प्रतीत होते हैं। स्थूल वस्तुसमूह अवयवी होते हैं, उस अवयवीसमूह के कारण अवयवसमूह सत्य हैं। सत्य शब्द का अर्थ—व्यभिचार रहित है। लोक में उस प्रकार ही प्रतीत होता है। अर्थ—स्थूलरूप पट के बिना भी सूत्ररूप अवयव रूप कारण की प्रतीति पृथक् रूप से होती है ॥७६॥

कारण में कार्य्यास्तित्व का प्रतिपादन, व्यतिरेक मुख से करते हैं। भा० १२।४।२८ में वर्णित है—"सामान्य विशेष रूप से जिसकी उपलब्धि होती है, वह ही भ्रम है। इसका अर्थ इस प्रकार है,—यदि

अयमर्थः—यद्येवमुच्यते, पूर्वं सूक्ष्माकारेणापि जगन्नासीत्, किन्तु सामान्यं केवलं शुद्धं ब्रह्मैवासीत्तदेव शक्त्या निमित्तभूतया विशेषाकारेण जगद्रूपेण परिणतमिति, तदसत्, यतो यदेव सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत, स भ्रमो विवर्त्तवाद एव, तत्र हि शुद्धं ब्रह्मैवाज्ञानरूपया शक्त्या जगत्तया विवृतमिति मतम्। न चास्माकं तदभ्युपपत्तिः, परिणामवादस्य सत्कार्य्यता-पूर्वकत्वादित्यर्थः ॥

७८। नन्वपूर्वमेव कार्य्यमारम्भविवर्त्तवादिनामिव युष्माकमपि जायताम्, तत्राह (भा० १२।४।२८)—(७८) "अन्योन्यापाश्रयात् सर्वमाद्यन्तवदवस्तु यत्"

यदाद्यन्तवदपूर्वं कार्य्यं तत् पुनरवस्तु निरूपणासहमित्यर्थः। तत्र हेतुः—अन्योन्यापाश्रयात्। यावत् कार्य्यं न जायते, तावत् कारणत्वं मृच्छुक्त्यादेर्न सिध्यति, कारणत्वासिद्धौ च कार्य्यं न जायत एवेति परस्परसापेक्षत्वदोषात्। ततः कारणत्वसिद्धये कार्य्यशक्तिस्तत्रावश्यमभ्युप-गन्तव्या। सा च कार्य्यसूक्ष्मावस्थैवेति कार्य्यास्तित्वं सिध्यति। तथापि स्थूलरूपतापाद-कत्वान्मृदादेः कारणत्वमपि सिध्यतीति भावः ॥

७९। तदेवं स्वाभाविकशक्तिमयमेव परमात्मनो जगदित्युपसंहरति (भा० १२।४।२९)—

सर्वसम्वादिनी

व्याख्यातम्। एवं (ब्र०सू० २।२।३३) "नैकस्मिन्नसम्भवात्" इत्यनेन जगतोऽपि युगपत् सत्त्वासत्त्वाभ्याम-निर्वचनीयत्वञ्च निषिद्धम्।

किञ्च, यदि सर्वमेव द्वैतजातं जीवाज्ञान-कल्पितं स्यात्, जीवस्वरूपञ्च न ब्रह्मणोऽन्यत्, ततो वस्तुतः

कहो कि—जगत्-सृष्टि के पहले ब्रह्मरूप कारण में सूक्ष्माकार से नहीं था। किन्तु सामान्य केवल शुद्ध ब्रह्म ही था। किन्तु वह ब्रह्म, कारणभूत शक्ति के द्वारा विशेष रूप जगद्रूप में परिणत होता है। इस प्रकार कथन अत्यन्त असत् है। कारण—सामान्य विशेष रूप से जो उपलब्ध होता है, वह भ्रम है। उसका अपर नाम ही विवर्त्तवाद है। उक्त विवर्त्तवाद में ही शुद्ध ब्रह्म ही अज्ञानरूप शक्ति के द्वारा जगत् रूप में विस्तृत हुए हैं। विवर्त्तवादियों का यह ही मत है। उक्त मत हमारे स्वीकार योग्य नहीं है। हमारे मत में—शक्तिपरिणामवाद है, और वह सत्कार्य्यपूर्णता है ॥७७॥

यदि कहा जाय कि—कार्य्य तो अपूर्व ही है, और आपके मत में विश्वरूप कार्य्य का जो आरम्भ होता है, वह तो विवर्त्तवादियों के समान ही है? उसके उत्तर में कहते हैं—पारस्परिक आपेक्षिक रूप से निरूपणासह होकर जिस वस्तु की प्रतीति होती है। वह ही आद्यन्तविशिष्ट अवस्तु है। जो आद्यन्त विशिष्ट अपूर्व कार्य्य है, वह ही अवस्तु है। अर्थात् उसका निरूपण नहीं होता है। उसके प्रति कारण यह है कि—उक्त वस्तु परस्पराश्रित है। जब तक कार्य्योत्पन्न नहीं होता है, तब तक मृदादि की कारणता की सिद्धि नहीं होती है। कारणत्व असिद्ध होने से कार्य्योत्पन्न नहीं होता है। इसमें पारस्परिक अपेक्षा रूप दोष है। तज्जन्य कारणत्व सिद्धि के निमित्त उसमें कार्य्यशक्ति की स्वीकार करना एकान्त आवश्यक है। कार्य्यशक्ति ही कार्य्य की सूक्ष्मावस्था ही है। अतएव कार्य्यास्तित्व भी कारण में सिद्ध होता है। "कारणस्यात्मभूता शक्तिः, शक्तेश्चात्मभूतम् कार्य्यम्" कथन भी सार्थक होता है। उसमें भी स्थूल रूप का आपादकत्व प्रयुक्त मृत्तिका प्रभृति का कारणत्व भी सिद्ध हुआ। यह ही भावार्थ है ॥७८॥

अतएव जगत्,—परमात्मा के स्वाभाविक शक्तिमय है। प्रकरण का उपसंहार करने के लिए कहते हैं,

(७९) "विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा ।
न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेच्चित्सम आत्मवत् ॥"२९॥

यद्यपि ख्यायमानः प्रकाशमान एव तथापि स्वल्पोऽपि विकार. प्रत्यगात्मानं परमात्मानं विना तद्व्यतिरेकेण स्वतन्त्रतया न निरूप्योऽस्ति । तदुक्तं तदनन्यत्वबिवरण एव । यदि च तं विनापि स्यात्तदा चित्समः स्याच्चिद्रूपेण समः स्वप्रकाश एवाभविष्यत्, आत्मवत् परमात्मवन्नित्यैकावस्थश्चाभविष्यत् ।

८० । ननु यदि परमात्मनं विना विकारो नास्ति, तर्हि परमात्मनः सोपाधित्वे निरुपाधित्वं न सिध्यति । तस्मात् सोपाधेर्निरुपाधिरन्य एव किमित्यत्राह (भा० १२।४।३०)—

(८०) "न हि सत्यस्य नानात्वमविद्वान् यदि मन्यते ।
नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषोर्वातयोरिव ॥"३०॥

सत्यस्य परमात्मनो नानात्वं न हि विद्यते । यदि तस्य नानात्वं मन्यते, तर्ह्यविद्वान्, यतस्तस्य निरुपाधित्व-सोपाधित्वलक्षणं नानात्वं महाकाश-घटाकाशयोर्यद्वत् तद्वद् गृहाङ्गनगतसर्वव्यापितेजसोरिव वाह्यशारीर-वाय्वोरिव चेति ॥

८१ । यस्मात् "विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा । न निरूप्योऽस्त्यणुरपि", तस्मात् सर्वशब्दवाच्योऽपि स एवेति सदृष्टान्तमाह (भा० १२।४।३१)—

सर्वसम्वादिनी

सर्वज्ञाद्यभिमानी कश्चिदीश्वरो नामान्यो नास्ति, किन्तु स्थाणौ पुरुषवत् स्व-स्वरूप एवेश्वरः कल्पयते, स्वाप्निक-राजवद्वा ; तर्हि स्थाणुपुरुषादिवदीश्वराभिमानिनस्तदानीमप्यभावात्तदा तस्य जीवागोचरत्वेन

भा० १२।४।२९ में वर्णित है—विक्रियमाण प्रपञ्च पदार्थसमूह प्रत्यक्ष परिदृश्यमान होने पर भी आत्म प्रकाश व्यतीत उन सब का अणुमात्र भी निरूपण नहीं हो सकता है । परमात्मा को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से कोई भी पदार्थ निरूपित नहीं होते हैं । "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इस ब्रह्मसूत्र में इसका विशेष कथन हुआ है । यदि परमात्मा के बिना ही निरूपित होता है तो वह चिद्रूप होने के कारण ही सम होगा, एवं स्वप्रकाश भी होगा, एवं परमात्मा के समान नित्य एकावस्था में स्थित भी होता ॥७९॥

यदि परमात्मा व्यतीत विकार की सिद्धि भी नहीं होती है, तब तो सोपाधिक जगत् में परमात्मा का निरूपाधित्व सिद्ध हीं होगा । अतएव सोपाधिक जगत् से निरूपाधिक परमात्मा भिन्न है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—भा० १२।४।३० में उक्त है—सत्य पदार्थरूप परमात्मा में नानात्व नहीं है, सत्यस्वरूप परमात्मा में नानात्व यदि मानते हैं, तो वे सब अविद्वान् होंगे । उक्त नानात्व भावन पद्धति में परमात्मगत सोपाधित्व एवं निरुपाधित्व भेद कल्पना करना होगा । जिस प्रकार घटाकाश महाकाश का भेद मानते हैं । गृहाङ्गनगत एवं सर्वव्यापी तेज में जिस प्रकार काल्पनिक भेद मानते हैं, वाह्यशरीरस्थ वायु एवं वायु में जिस प्रकार भेद मानते हैं, उस प्रकार ही काल्पनिक भेद परमात्मा में भी मानना होगा ॥८०॥

कारण पूर्वोक्त भा० १२।४।२९ में वर्णित है—"विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा ।
न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेच्चित्सम आत्मवत् ॥"

विक्रियमाण प्रपञ्च पदार्थसमूह प्रत्यक्ष परिदृश्यमान होने पर भी परमात्मा के प्रकाश व्यतीत उन सब का अणुमात्र भी निरूपण नहीं किया जा सकता है । अतएव सर्व शब्द वाच्य भी उक्त परमात्मा ही हैं, उसका

(८१) "यथा हिरण्यं बहुधा प्रतीयते, नृभिः क्रियाभिर्व्यवहारवर्त्मसु ।
एवं वचोभिर्भगवानधोक्षजो, व्याख्यायते लौकिकवैदिकैर्जनैः ।।"३१।।

क्रियाभिस्तत्तद्रचनाभेदैर्बहुधा कटककुण्डलादिरूपेण यथा सुवर्णमेव वचोभिस्तत्तन्नामभिः प्रतीयते, तथा लौकिकवैदिकैः सर्वैरेव वचोभिर्भगवानेव व्याख्यायते । तदुक्तम्—"सर्वनामाभिधेयश्च सर्ववेदेड़ितश्च सः इति स्कान्दे ।।

८२ । तदेवं जगतः परमात्मस्वाभाविकशक्तिशक्तिमयत्वमुक्त्वा तेन च जीवकर्त्तृकेण

सर्वसम्वादिनी

पुरुषाज्ञानकल्पचमानत्वस्याप्यदर्शनादनुमानसिद्धत्वात् सम्प्रतिपत्तेः शास्त्रैकगम्यत्वाभ्युपगमाच्च, यानि (ब्र०सू० १।१।२) "जन्माद्यस्य यतः" इत्यादीनि सूत्राणि, यानि च तद्विषय-वाक्यानि, तानि प्रलापरूपाण्येव स्युः । तत्र तत्र सर्वज्ञत्व-सर्वशक्तित्वे विना जीव-प्रधानयोर्विचित्र-स्रष्टृत्वादिकं न सम्भवतीति दर्शिता

सदृष्टान्त वर्णन भा० १२।४।३१ के द्वारा कहते हैं। जिस प्रकार सुवर्ण मनुष्यों की क्रिया के द्वारा अलङ्कारादि व्यवहार में अनेक प्रकारों से प्रतीत होता है, उस प्रकार एक ही भगवान् अधोक्षज, लौकिक वैदिक व्यवहार मार्ग भेद से मानवों के वाक्य के द्वारा अनेक प्रकार व्याख्यात होते हैं।

सन्दर्भ व्याख्या। क्रिया समूह के द्वारा—अर्थात् अनेक प्रकार द्रव्य रचना भेद के द्वारा, बहुधा कटक कुण्डलादि आकार में जिस प्रकार एक सुवर्ण ही उक्त विभिन्न नामों से प्रतीत होता है। उससे लौकिक व्यवहार भी निष्पन्न होता है। उस प्रकार एक ही भगवान् लौकिक वैदिक समस्त शब्दों के द्वारा वर्णित होते हैं। स्कन्द पुराण में वर्णित है—श्रीभगवान् समस्त नामों से कथित हैं। समस्त वेदों के द्वारा भी कथित होते हैं। भा० ६।४।२८ में भी वर्णित है—

"स वै ममाशेषविशेषमायानिषेधनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
स सर्वनामा स च विश्वरूपः, प्रसीदतामनिरुक्तात्मशक्तिः ।।"

स्वामिटीका—अशेषाविशेषा यस्यास्तस्या मायाया निषेधेन निर्वाणसुखे अनुभूतिर्यस्य । अप्रसक्तनिषेधासम्भवात् । प्रसक्तिमाह । सर्व एव सर्वनामा स एव विश्वरूप इति । तद्रूपत्वेऽपि वास्तवत्वाभावात् निषेधः सम्भवतीत्याह—अनिरुक्ता आत्मनि शक्तिर्माया यस्य सः ।।

अशेष मायिक प्रमाण रहित निर्वाण सुखस्वरूप अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न सर्वनामा विश्वरूप हरि मेरे प्रति प्रसन्न होवे।

क्रमसन्दर्भ—त्रिवृन्नवशक्त्यतीतत्वे सति कथं निःशक्तिक एवाह ? नेत्याह—अशेषेति । अनुभूतिरवश्यं मन्तव्या । तां विना पुरुषार्थत्वासिद्धेः । तस्यां च मन्तव्यायां तदुपलक्षणाखण्डापि स्वरूपशक्तिः सिद्ध्यत्येवेति भावः । तथैवाह—प्रसिदतामिति । ननु ताभ्यो निकृष्टश्चेत् कथं तन्मयसर्वनामरूपः ? तत्राह—अनिरुक्तेति । अचिन्त्यशक्तित्वादित्यर्थः ।।

त्रिवृन्नव शक्ति अतीत होना कैसे सम्भव है ? मैं तो स्वाभाविक निःशक्तिक हूँ ? कहते हैं, अशेष मायागुण रहित हैं। आप अनुभूतिस्वरूप हैं। अनुभूति को मानना परमावश्यक है। अनुभूति के बिना पुरुषार्थत्व की सिद्धि नहीं होगी। अनुभूति को स्वीकार करने के पश्चात् उससे उपलक्षित अखण्ड स्वरूप शक्ति भी स्थापित होती है। उसको कहते हैं—"प्रसीदतां" शब्द के द्वारा। उससे निकृष्ट यदि विश्व होता है तो कैसे तन्मय सर्वनामरूप होगा ? उत्तर में कहते हैं—अनिरुक्ति—अचिन्त्य शक्तिशाली आप हैं।।७१।।

तज्जन्य जगत् को परमात्मा के स्वाभाविकमयत्व रूपसे कहकर पश्चात् कहते हैं कि जीव के ज्ञानाभ्यास

ज्ञानेन तन्नाशनासामर्थ्यं व्यज्य मोक्षार्थं तदध्यासपरित्यागमुपदेष्टुं परमात्मशक्तिमयस्यापि तस्योपाध्यध्यासात्मकस्याहङ्कारस्य जीवस्वरूपप्रकाशावरकत्वरूपं दोषं सदृष्टान्तमुपपादयति (भा० १२।४।३२)—

(८२) "यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो, ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः ।
एवन्त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो, ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः ॥"३२॥

अर्करश्मय एव मेघरूपेण परिणता वर्षन्ति—

"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥"

इति वचनात् । अयमर्थः—यथार्कप्रभवोऽर्केणैव दर्शितः प्रकाशितश्च घनो निविड़ो मेघोऽर्कांशभूतस्य चक्षुषस्तमो दिवि भूमौ च महान्धकाररूपो भवति, एवमहं प्राकृताहङ्कारो ब्रह्मगुणः परमात्मशक्तिकार्य्यभूतस्तदीक्षितस्तेनैव परमात्मना प्रकाशितश्च, ब्रह्मांशकस्य तटस्थशक्तिरूपत्वात् परमात्मनो यो हीनांशस्तस्यात्मनो जीवस्यात्मबन्धनः स्वरूपप्रकाशावरको भवति ॥

८३ । स चाध्यासपरित्यागः स्वतो न भवति, किन्तु परमात्मजिज्ञासया तत्प्रभावेणैवेति

सर्वसम्वादिनी

युक्तयश्चोपहस्येरन् ।

तथा यदि जीवाज्ञानेनैव भेदोत्पत्तिः स्यात्तदा (ब्र०सू० २।१।२१) "इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः" इति जीवकर्तृक-सृष्टौ दोषारोपोऽपि न घटते । तत्र (ब्र०सू० २।१।२२) "अधिकं तु भेदनिर्द्देशात्"

के द्वारा परमात्म शक्तिरूप माया के बिना नहीं हो सकता है । अतएव मोक्षार्थी के लिए अध्यास परित्याग करने का उपदेश देते हैं । जीव परमात्मा का तटस्थ शक्तिरूप अंश है । किन्तु वह जीव स्वीय स्वैरिता के कारण उपाधि अध्यासात्मक अहङ्कार को प्राप्त कर आवृतस्वरूप हो जाता है । उक्त जीवस्वरूपावरकत्व रूप दोष का वर्णन सदृष्टान्त करते हैं । भा० १२।४।३२ में उक्त है—जिस प्रकार मेघसमूह सूर्य्य से उत्पन्न होते हैं, अनन्तर सूर्य्य के अंशभूत चक्षु का आवरक तमोरूप से सूर्य्य दर्शन का प्रतिबन्धक होते हैं, उस प्रकार अहङ्कार ब्रह्म कार्य्य से उत्पन्न होकर पश्चात् ब्रह्म के अंशीभूत जीवात्मा का बन्धन रूप से जीवात्मा का आवरक होता है ।

सन्दर्भ—सूर्य्य किरणावलि ही मेघरूप में परिणत होकर वर्षण करती हैं । इस विषय में पौराणिक प्रमाण उपस्थापित करते हैं । ब्राह्मणगण, अग्नि में आहुति प्रदान पूर्वक आदित्य की उपासना करते हैं । उक्त उपासित दिवाकर से वृष्टि होती है । वृष्टि से अन्नादि उत्पन्न होते हैं, अन्नादि से जनगण जीवनयात्रा निर्वाह करते हैं । इसका अर्थ इस प्रकार है—सूर्य्य से उत्पन्न, सूर्य्य कर्त्तृक दर्शित एवं सूर्य्य के द्वारा प्रकाशित मेघ है, उसको घन शब्द से कहते हैं, उससे अत्यन्त निविड़ मेघ का बोध होता है, वह तमः स्वरूप है । अर्क के अंशभूत चक्षु का वह आवरक होता, वह महान्धकार स्वरूप होकर स्वर्ग एवं भूतल में सूर्य्य के अंशजात चक्षु का आकर होता है । उस प्रकार अहं—अर्थात् प्रकृति जात अहङ्कार ब्रह्म के गुणस्वरूप है, अर्थात् परमात्मा की शक्ति का कार्य्यरूप है । परमात्म कर्त्तृक ईक्षित है, एवं परमात्मा के द्वारा प्रकाशित भी है । इस प्रकार होकर भी ब्रह्म के अंशरूप, अर्थात् तटस्थ शक्तिरूप परमात्मा के जो हीन क्षुद्र अंश है, उस आत्मस्वरूप जीव का आत्म बन्धन अर्थात् स्वरूप प्रकाश का आवरक उक्त अहङ्कार होता है ॥८२॥

उक्त अध्यास का परित्याग, जीव का स्वतः नहीं होता है, किन्तु परमात्मा जिज्ञासा के द्वारा ही होता

वक्तुं पूर्ववदेव दृष्टान्तपरिपाटीमाह (भा० १२।४।३३)—

(८३) "घनो यदार्कप्रभवो विदीर्य्यते, चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा।
यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो, जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत् ॥"३३॥

घनो यदार्कप्रभवो विदीर्य्यत इति दृष्टान्तांशे तद्विदारणस्य न चक्षुःशक्तिसाध्यत्वम्, किन्तु सूर्य्यप्रभावसाध्यत्वमिति व्यक्तम्। अनेन दार्ष्टान्तिकेऽप्यात्मनः परमात्मनो जिज्ञासया जातेन तत्प्रसादेनाहङ्कारो नश्यति पलायत इत्यत्रांशे पुरुषज्ञानसाध्यत्वमहङ्कारनाशस्य खण्डितम्; अतो विवर्त्तवादो नाभ्युपगतः। अत्र चोपाधिरिति विशेषणेन स्वरूपभूताहङ्कारस्त्वन्य एवेति स्पष्टीभूतम्। एवं यथा दृष्टान्ते घनमयमहान्धकारावरणाभावात्तत्प्रभावेण योग्यतालाभाच्च चक्षुः कर्त्तृभूतं स्वरूपं कर्मभूतमीक्षते, स्वस्वरूपप्रकाशमस्तित्वेन जानाति, स्वशक्तिप्राकट्यं लभत इत्यर्थः। कदाचित्तदीक्षणोन्मुखः सन् रविश्चेक्षते,तथा दार्ष्टान्तिकेऽप्यनुस्मरेत्,स्मर्त्तुमनु-

सर्वसम्वादिनी

इति भेदसिद्धान्त-सूत्रमप्यपार्थमेव स्यात्। (ब्र०सू० २।४।२१) "संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्" इत्येष न्यायस्तु जीव-कर्त्तृकत्वं निषिध्येश्वर-कर्त्तृकत्वं स्थापयति। तथा तन्मत एव (ब्र०सू० १।४।१७) "जगद्वाचित्वात्" इत्यादयश्च। (वृ० ४।४।२२) 'एष सर्वेश्वर एष सेतुर्विधारण एषां लोकानामसंभेदाय'

है, अर्थात् परमात्मा की शक्ति के द्वारा वह अपसारित होता है। उसको कहने के लिए दृष्टान्त परिपाटी को उपस्थापित करते हैं। भा० १२।४।३३ में वर्णित है—

जिस प्रकार सूर्य्यकिरण, सूर्य्यजात अत्यन्त गाढ़ान्धकार रूप मेघ को विदीर्ण करता है, अर्थात् सूर्य्य प्रभा से मेघ जिस प्रकार विदीर्ण होता है, एवं चक्षुस्वरूप सूर्य्य भी दृष्ट होते हैं। उस प्रकार उपाधिरूप उक्त अहङ्कार का विनाश साधन ब्रह्म जिज्ञासा के द्वारा होता है। उस समय ही ब्रह्मस्वरूप का स्मरण होता है।

स्वामिटीका। अतएव अहङ्कारनाशे स्वरूपदर्शनं भवतीति तेनैव दृष्टान्तेनाह— घन इति। आत्मनः —उपाधिः। जिज्ञासया—विचारेण। तर्हि, तदा अनुस्मरेत्— ब्रह्माहमिति पश्यतीत्यर्थः।

अहङ्कार नाश होने से ही स्वरूप दर्शन होता है, सदृष्टान्त उसका दर्शन करते हैं। आत्मा की उपाधिः अहङ्कार। ब्रह्म जिज्ञासा का अर्थ—ब्रह्म विचार। उससे "ब्रह्माहम्" इस प्रकार स्मरण होता है।

"जिस प्रकार अर्कप्रभव मेघसमूह विदीर्ण होते हैं" इस दृष्टान्त के अंश में, अत्यन्त गाढ़ान्धकार रूप मेघ का कार्य्य—चक्षुशक्ति के द्वारा निष्पन्न नहीं होता है। किन्तु सूर्य्य की शक्ति के द्वारा ही निष्पन्न होता है, यह ही निर्णीत हुआ। इस दृष्टान्त के द्वारा दार्ष्टान्तिक पक्ष में भी आत्मा की अर्थात् परमात्मा की जिज्ञासा से आविर्भूत परमात्मा की प्रसन्नता के द्वारा ही अहङ्कार नाश होता है, अर्थात् विदूरित होता है। इस दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक अंश में अहङ्कार विनाश के सम्बन्ध में पुरुष ज्ञान साध्यत्व खण्डित हुआ। तज्जन्य विवर्त्तवाद भी स्वीकृत नहीं हुआ। एवं "उपाधि" शब्द अहङ्कार का विशेषण होने से स्वरूपभूत अहङ्कार मायिक सोपाधिक अहङ्कार भिन्न ही है, यह सुस्पष्ट व्यक्त हुआ है।

इस प्रकार दृष्टान्त अंश में निविड़ मेघस्वरूप महा अन्धकाराभाव हेतु सूर्य्य के प्रभाव से चक्षु में दर्शन योग्यता आती है, उससे चक्षु में कर्त्तृत्व भी आता है, एवं कर्मभूत निज स्वरूप को भी वह चक्षु देख पाता है। अर्थात् चक्षु, निज स्वरूप के प्रकाश को विद्यमान रूप से जानता है। निज शक्ति को प्रकट रूप से प्राप्त करता है। यह ही प्रकरणार्थ है। किसी समय सूर्य्य दर्शन की इच्छा होने से सूर्य्योन्मुख होकर

सन्धातुं योग्यो भवति, आत्मानं परमात्मनश्चेति शेषः ॥

८४। निगमयति (भा० १२।४।३४)—

(८४) "यदैवमेतेन विवेकहेतिना, मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम्।
छित्त्वाच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते, तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग संप्लवम् ॥"३४॥

एतेन पूर्वोक्तविवेकशस्त्रेण मायामयेति विशेषणं स्वरूपभूताहङ्कारस्य व्यवच्छेदार्थम्। अवतिष्ठते स्वस्वरूपेणावस्थितो भवति। न केवलमेतावदेव, अच्युतात्मानुभवः—अच्युतेऽच्युत-

सर्वसम्वादिनी

इत्यादौ, (गी० १८।६१) 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्ज्जुन तिष्ठति' इत्यादिषु तु जीवाज्ञान प्रवर्त्तकत्वेन प्रसिद्धो यज्ञेश्वरस्तस्य जीवाज्ञान-कल्पितत्वमयुक्तमेव। किञ्च, भेदमात्रस्य स्वाज्ञान-कल्पितत्वेन शास्त्रस्यापि तथात्वे सति स्वप्नजन्य-प्रलापादिवत् तस्माद्यथार्थज्ञानोत्पत्तेरसम्भावनया न तत्र कश्चित् प्रवर्त्तेत, ततः स्वप्न प्रलाप-

सूर्य्य दर्शन भी करता है। इस प्रकार परमात्म विषय को अवगत होने के लिए दार्ष्टान्तिक का स्मरण अवश्य करें। अर्थात् परमात्मा का अनुसन्धान अथवा स्मरण करने की योग्यता का लाभ वह करेगा। यहाँ पर "आत्मा को एवं परमात्मा को" शब्द युक्त करके अर्थ बोध करना आवश्यक होगा। अर्थात् आत्म-परमात्म बोध हेतु वह योग्य होता है। परमात्मा की उपासना के बिना परमात्मा की प्रसन्नता रूप शक्ति नहीं मिलती है, उससे आत्म, परमात्मानुसन्धान की योग्यता नहीं होती है। सुनिश्चित रूप से ही यह सिद्धान्त हुआ है ॥८३॥

अन्तिम सिद्धान्त प्रकट करने के लिए भा० १२।४।३४ पद्य को दर्शाते हैं,—राजन्! उपरोक्त रूप से जब विवेकास्त्र द्वारा मायामय अहङ्कार बन्धन छिन्न होकर अच्युतानुभव उदित होता है। तब उसे ही आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं। एतेन—अर्थात् आत्म-परमात्मसाक्षात्कार निमित्त पूर्वोक्त श्रीगुरुपादाश्रय सत् शास्त्र श्रवणादि उपासना रूप विवेकरूप शास्त्र के द्वारा मायामय अहङ्कार को छेदन करें। यहाँ पर अहङ्कार का विशेषण शब्द मायामय है। उसका विन्यास—स्वरूपभूत अहङ्कार से पृथक् करने के लिए ही हुआ है। अवतिष्ठते—अर्थात् निज चेतनानुभव से सम्पन्न होता है। केवल स्वरूपानुभव में स्थित होना ही उक्त उपासना का फल नहीं हैं, किन्तु "अच्युतात्मानुभव" होता है, अर्थात् अच्युत नामक परमात्मा का अनुभव होता है। अर्थात् परमात्मानुभव से सम्पन्न होकर अवस्थान करता है। वेदगण इसको ही आत्यन्तिक लय कहते हैं।

उक्त उपदेश के उपसंहार में भा० १२।४।४० में ग्रन्थ वक्ता श्रीशुकदेव ने कहा—

"संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्द्दितस्य ॥"

शरीर एवं शरीर सम्बन्धीय वस्तुओं में मेरापन को संसार कहते हैं, जिसका प्रतिशब्द अध्यास है। यह अज्ञान है, अर्थात् संस्कारज ज्ञान है। पुनः पुनः विषय ग्रहण से जो निविड़ संस्कार होता है, उससे अपने को उद्धार करना दुष्कर कार्य्य है। उसे दुस्तर अज्ञान समूद्र कहते हैं। उक्त अज्ञान समुद्र उत्तीर्ण होने के लिए भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की लीला कथा का श्रवण व्यतीत अपर कोई नाव नहीं है। उससे मानव विविध दुःखों से मुक्त होकर परमानन्द लाभ करता है।

क्रमसन्दर्भः। एवं श्रीशुकः स्वकृतोपदेशोपसंहारे च श्रवणमुपलक्ष्य श्रीभगवल्लीलाकथामाहात्म्यमाह—एषा च लीलाकथा तद्भक्तचैक पुरुषार्थिर्ययायथं श्रोतव्यैव; मोक्षार्थिभिरप्यवश्यं श्रोतव्येत्याह, संसारेति। अन्यासामपि भक्तीनां तत्पूर्वकत्वेनैव प्रवृत्ते रुपायान्तरासम्भवत्वं युक्तम्।

नाम्न्यात्मनि परमात्मन्यनुभवो यस्य तथाभूत एव सन्नवतिष्ठते ।। श्रीशुकः ।।

८५। अत्रायमप्येकेषां पक्षः—परमेश्वरस्य शक्तिद्वयमस्ति, स्वरूपाख्या मायाख्या चेति। पूर्वया स्वरूपवैभवप्रकाशनम्, अपरया त्विन्द्रजालवत्तयैव मोहितेभ्यो जीवेभ्यो विश्वसृष्ट्यादि-दर्शनम्। दृश्यते चैकस्य नानाविद्यावतः कस्यापि तथा व्यवहारः। न चैवमद्वैतवादिना-मिवेदमापतितम्। सत्येनैव कर्त्रा सत्यमेव द्रष्टारं प्रति सत्ययैव तया शक्त्या वस्तुनः स्फोरणात् लोकेऽपि तथैव दृश्यत इति भवत्वपीदं नाम। यतः—

सत्यं न सत्यं नः कृष्णपादाब्जामोदमन्तरा।
जगत् सत्यमसत्यं वा कोऽयं तस्मिन् दुराग्रहः ।।

सर्वसम्वादिनी

विश्वासात् स्वोत्प्रेक्षित-तर्कविश्वास एव वरमिति वेदोच्छेद-प्रसङ्गः (ब्र०सू० २।१।११) "तर्काप्रतिष्ठानात्, अनिर्मोक्ष-प्रसङ्ग"इत्येतयलमतिविस्तरेण।

तदेवं न विवर्त्तावकाश इति परिणाम एव शिष्यते। तस्य च लक्षणं—'तत्त्वतोऽन्यथाभावः परिणामः'

उक्त प्रकार से श्रीशुकदेव ने निजकृतोपदेश के उपसंहार हेतु श्रवण को उपलक्ष्य करके श्रीभगवल्लीला कथा का माहात्म्य को कहा। भगवत् लीलाकथा का श्रवण—भगवद्भक्ति प्राप्त करना जिनका लक्ष्य है, वह यथायथ रूप से अवश्य ही श्रवण करें। मोक्षार्थी के लिए भी भगवल्लीलाकथा अवश्य श्रवणीय है। अपरापर भक्ति में प्रवृत्ति भी लीलाकथा श्रवण के द्वारा ही होती है, अपर कोई उपाय उक्त भगवल्लीला कथा श्रवण व्यतीत है ही नहीं। प्रवक्ता श्रीशुक हैं ।।८४।।

सशक्तिक परमात्म निरूपण प्रसङ्ग में वरिष्ठ व्यक्ति का मत इस प्रकार है—"परमेश्वर की दो शक्ति हैं, स्वरूपशक्ति, एवं मायाशक्ति, स्वरूप शक्ति के द्वारा स्वरूप एवं वैकुण्ठादि वैभवों का प्रकाश होता है। द्वितीया मायाशक्ति के द्वारा इन्द्रजाल व्यापारवत् उक्त विद्या के द्वारा मोहित जीवगण को जगत् सृष्टि प्रभृति क्रिया का दर्शन कराते हैं।

देखने में भी आता है कि—अनेक विद्यासम्पन्न एक व्यक्ति का अनेक प्रकार व्यवहार। ऐसा कहा जा सकता है कि—उपरोक्त सिद्धान्त, अद्वैतवादियों के समान ही है? अद्वैतवाद में एक निःशक्तिक ब्रह्म है, जो ब्रह्म शब्द वाच्य नहीं है। अपदार्थ है, शून्य है, वह ब्रह्म अचानक मायाबद्ध होता है, एवं इन्द्रजालवत्, स्व स्वरूप एवं पर स्वरूप का उद्भावन करता है, किन्तु सब ही मिथ्या है। यह प्रक्रिया केवल स्वरूपावबोध के लिए है। किन्तु अवबोध भी माया है। अर्थात् कुछ भी नहीं है। सब ही भूलभूलैया है, प्रतारणा है, सब ही मिथ्या है। इस प्रकार मायावादी मिथ्या मतवाद के सहित प्रस्तुत सशक्तिक ईश्वर वाद का कुछ भी सामञ्जस्य नहीं है। इस सशक्तिक ब्रह्मवाद में सब ही सत्य हैं, वास्तव हैं। वस्तु का अंश जीव है, वस्तु की शक्ति माया है, वस्तु का कार्य्य जगत् है, सब ही एक वस्तु ही है।

जगत् कर्त्ता सत्य है, द्रष्टा भी सत्य है, सत्य कर्त्ता के द्वारा सत्य व्यक्ति को सत्य शक्ति के द्वारा सत्य वस्तु का दर्शन कराया जाता है। लोक में उस प्रकार सत्यता से व्यवहार होता है। अन्धपरम्परा से नहीं, अन्धपरम्परा का प्रवर्त्तक भी सत्य पुरुष ही है। अतएव इस प्रकार यथार्थ शक्तिमत्तत्त्व रूप भगवत् वाद ही स्थिर सिद्धान्त है।

कारण यह है कि—श्रीकृष्णपादपद्म सम्बन्धीय परममनोहर गन्ध व्यतीत सत्य वस्तु भी जब मिथ्या ही है तब जगत् सत्य हो अथवा असत्य ही हो उस विषय में दुराग्रह की आवश्यकता ही क्या है?

तदेतन्मते (भा० १०।८७।३६) "सत इदमुत्थितम्" इत्यादि-वाक्यानि प्रायो यथाटीका-व्याख्यानमेव ज्ञेयानि। क्वचित्तत्कृतानुमानादौ भेदमात्रस्यासत्त्वे प्रसक्ते वैकुण्ठादीनामपि

सर्वसम्वादिनी

इति, (ब्र०सू० २।१।२४) "उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि" इति, (ब्र०सू० २।१।२५) 'देवादिवदपि लोके' इत्यादिषु सूत्रेषु तन्मत-व्याख्यानेऽपि स एव हि दृश्यते। पुनश्च तदनन्तरमेव (ब्र०सू० २।१।२६) "कृत्स्नप्रसक्ति-निरवयवत्व-शब्द-व्याकोपो वा" इत्यनेन स्थूणावत्तमेव परिणामं चालयित्वा (ब्र०सू० २।१।२७ "श्रुतेस्तु

तज्जन्य उक्त सशक्तिक ब्रह्म मत में "सत इदमुत्थितम्" भा० १०।८७।३६ की व्याख्या श्रीधरस्वामि कृत व्याख्या के अनुसार ही स्वीकृत है।

"सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्क हतं व्यभिचरति क्वच क्वच मृषा न तथोभययुक्।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया भ्रमयति भारती उरुवृत्तिभिरुक्थ जडान् ॥"

स्वामिकृत टीका—ननु आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्। तद्भूतानां क्रियार्थेन समन्वय इति तत्र तत्र जैमिनिना वेदस्य क्रियापरत्वाभिधानादुपनिषदामपि तदेव युक्तम्। यथोक्तं तन्त्रवार्त्तिककृता। एतेन क्रत्वर्थकर्त्तृप्रतिपादनेनोपनिषदां नैराकाङ्क्ष्यं व्याख्यातमिति। न। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म विज्ञानानन्दं ब्रह्म, अचक्षुरश्रोत्रम्" इत्येवं तद्विपरीतात्मप्रतिपानात्। न ह्यद्वितीयपरमानन्दरूपस्य कर्माङ्गत्वं युज्यते। अननुमतञ्चैतद्वार्त्तिककृतः। कथम्? सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते। पराङ्गश्चात्म-विज्ञानादन्यत्रेत्यवधार्य्यतामिति तेनैवोक्तत्वात्। एतदर्थमेव मननाय मुनयः पर्य्यटन्तीत्युक्तम्। तत्र तावद् द्वैतस्य सत्यत्वे भवेदप्येवं, तदेव तु न सम्भवतीति प्रश्नोत्तराभ्यां मननेन तत्त्वावधारणप्रकारमाह—सत इदमुत्थितम् सदिति चेदिति। इदं विश्वं धर्मि। सदिति साध्यो धर्मः' सत उत्पन्नत्वात् हेतुः। यद् यत उत्पन्नं तत् तदात्मकमेव दृष्टम्। यथा कनकादुत्पन्नं कुण्डलादि तदात्मकं तद्वदिति। तत्र यदि सदभेदः साध्यते तदा अपादानत्वनिर्देशेनैव भेदप्रतीतेर्विरुद्धो हेतुरित्याह—ननु तर्कहतमिति।

ननु नाभेदं साधयामः, किन्तु तदुत्पन्नत्वेन कुण्डलादिवद्भेदं प्रतिषेधयामः। तत्राभेद एव स्यादित्या-शङ्क्य अनैकान्तिकत्वेन दूषयति। व्यभिचरति क्वचेति। पितृपुत्रादिषु मुद्गरघटप्रध्वंसादिषु च तथा दर्शनादिति भावः।

ननु तदुत्पन्नत्वं नाम तदुपादानकत्वं नतु तन्निमित्तकत्वम्। अतो नानैकान्तिकत्वमित्याशङ्क्य दूषयति क्व च मृषेति। गुणोपादानस्यापि फणिनो न गुणत्वं, अन्यथा कुण्डलादिवत् अबाधप्रसङ्गात्। अतः पुन-रप्यनैकान्तिकत्वमेवेति भावः। ननु न तत्र केवलं गुणमात्रं फणिनोपादानं किन्तु अविद्यायुक्तम्। तथा भूतस्य वस्तुत्वाद् युक्तं फणिनोमिथ्यात्वमित्याशङ्क्य तत्तुल्यमत्रापीति दूषयति न तथोभययुगिति। अयमर्थः, अत्राप्यविद्यायुक्तस्यैव सत उपादानत्वम्। एवम्भूतस्य च न वस्तु सत्त्वम्। अतः सदुपादानत्वमसिद्धमिति न वस्तु सत्त्वं प्रपञ्चस्येति।

ननु माभूदनेन हेतुना प्रपञ्चस्य सत्त्वं, हेत्वन्तरेण साधयामः। तथाहि,—सदिदम् अर्थक्रियाकारित्वात्। न यदेवं न तदेवं यथा शुक्तिरजतमिति। तत्राह—व्यवहृतये विकल्प इषित इति। व्यवहाराय अर्थक्रियार्थं विकल्पो भ्रम इषित इष्ट एव। कूटकार्षापणादिनापि क्वचिद्व्यवहारदर्शनात्।

ननु एकत्र सतोऽन्यत्रारोपो भ्रमः प्रसिद्धः, अत्यन्तासत्त्वे कथं प्रपञ्चभ्रमः स्यात्, सत्त्वे वा नाद्वैतसिद्धिः। उक्तञ्च भट्टैः। "अध्यास्यते खपुष्पत्वमसत्कथमवस्तुनि। प्रज्ञातगुणसत्ताकमध्यारोप्येत वा न वेति। नेत्याह। अन्धपरम्परयेति। अन्धपरम्परया यो विकल्प इत्यन्वयः।"

अयम्भावः—संस्कारजन्यो भ्रमः, संस्कारसिद्धये पूर्वप्रतीतिमात्र अपेक्षते न वस्तुसत्त्वम्। प्रतीतौ सत्यां वस्तुसत्त्वाभावेन भ्रमव्यतिरेकादर्शनात्। ततोऽनादित्वात् पूर्वपूर्वभ्रमदृष्टस्य उत्तरोत्तर आरोपो

भविष्यति, अन्धपरम्परान्यायेन व्यवहारः सेत्स्यतीत्यप्रयोजको हेतुरिति ।

ननु अक्षय्यं ह वैं चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति । अपाम सोमममृता अभूमेत्यादिभिः कर्मफलस्य नित्यत्व प्रतिपादनात् असत्त्वं न घटते । नहि नित्यं वस्तु असद् भवति । तस्माद्वेदप्रतिपादितत्वाद् द्वैतं सदेवेत्याशङ्क्याह— भ्रमयतीति । हे भगवन् ! ते तव भारती, वेदलक्षणा उरुवृत्तिभिर्बह्वीभिर्गौणलक्षणादि वृत्तिभिरुक्थजड़ान् कर्मश्रद्धभाराक्रान्तमन्दमतीन् भ्रमयति मोहयति ।

अयं भावः । नहि वेदः कर्मफलस्य नित्यत्वमभिप्रैति, किन्तु लक्षणया प्राशस्त्यमात्रम् । विध्येक वाक्यत्वात् । अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात् । तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत इति न्यायोपबृंहित श्रुत्यन्तर विरोधाच्च । अतः कर्मजड़ानामिदं भ्रममात्रमिति । एतेनैव तस्माद्वा एतस्मादात्मनः, आकाशः सम्भूतः इत्यादीनामप्यन्यपरत्वं दर्शितं भवति ॥

महर्षि जैमिनि ने विध्यर्थक क्रियापद युक्त वेदवाक्य ही प्रामाण्य माना है । अतएव उपनिषद् में उक्त नियम है । तन्त्रवार्त्तिककार ने भी कहा है—'क्रतु' अर्थ प्रतिपादन हेतु वेदवाक्य का प्रामाण्य है । उपनिषद् वाक्य में वैसा नहीं है, अतएव वह निराकाङ्क्ष है । इस प्रकार कथन समीचीन नहीं है । कारण— "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, विज्ञानानन्दं ब्रह्म, अचक्षुरश्रोत्रम्" इत्यादि वाक्य का प्रामाण्य है, उससे आत्मा का प्रतिपादन होता है । अद्वितीय परमानन्द वस्तु काम्यकर्म का अङ्ग नहीं है । वार्तिककार ने भी उसका समर्थन नहीं दिया । कैसे ? सर्वत्र विज्ञान का ग्रहण—संस्कार रूप से होता है । कर्माङ्गत्व का स्वीकार आत्मविज्ञान को छोड़कर ही है । तज्जन्य ही मुनिगण मनन सम्पन्न करने के निमित्त पर्य्यटन करते हैं, उक्त कथन तब ही हो सकता है, यदि द्वैतरूप विश्व सत्य हो । ऐसा नहीं, प्रश्नोत्तर के द्वारा मनन हेतु तत्त्वावधारण प्रकार को कहते हैं । सत् से जो उत्पन्न होता है, वह सत् होता है । "इदं विश्वं धर्मि, सदिति साध्यो धर्म, सत उत्पन्नत्वात्" हेतु है । जो जिससे उत्पन्न होता वह उस प्रकार ही होता है । जिस प्रकार कनक से उत्पन्न कुण्डल प्रभृति हैं । यहाँ सत् के सहित यदि अभेद साधन किया जाता है तो, यतः जिस पद से अपादान सूचित होता है, उससे भेद प्रतीति होती है ? इससे विरुद्ध हेतु होता है । कहते हैं—तर्क हतम्" कहते हैं—अभेद साधन में तात्पर्य्य मेरा नहीं है, किन्तु उससे उत्पन्न होने से कुण्डलादि के समान भेद का प्रतिषेध करता हूँ । उससे भी अभेद होता है । इस प्रकार कथन में दोष उद्भावन करते हैं । अनैकान्तिक हेतु-कारण उक्त अनुमान असत् है । कारण, पिता पुत्र में एवं मुद्गर प्रहार से ध्वस्त घट में उक्त नियम का व्यतिक्रम है । यदि तदुत्पन्न को तदुपादानकत्व, कहने से व्यभिचार नहीं होगा । अतः असत् हेतु नहीं होगा । उसमें दोष उद्भावन करते हैं—"क्वच मृषा" गुणोपादान फणी का गुणत्व नहीं है, अतएव मिथ्या है । अन्यथा कुण्डलादि के समान अबाध प्रसङ्ग होगा । अतः पुनर्बार अनैकान्तिक दोष दिखाते हैं । यदि कहा जाय कि—केवल गुणमात्र फणी का उपादान नहीं है, किन्तु अविद्यायुक्त है । उस प्रकार वस्तु मिथ्या है, अतएव फणी भी मिथ्या है । उसके समान ही मिथ्या है । इस पर दोष प्रदर्शन करते हैं । अविद्यायुक्त वस्तु ही मिथ्या है । अतएव प्रपञ्च का उपादानकारण सत् न होने से प्रपञ्च असत् है ।

अपर हेतु के द्वारा विश्व का सत् प्रतिपादन करते हैं । अर्थक्रियाकारित्व के कारण यह सत् है । जिससे व्यवहार निष्पन्न नहीं होता है, वह सत् नहीं होता, जैसे शुक्ति रजत । उसमें कहते हैं, व्यवहार हेतु विकल्प भ्रम इष्ट है । असत् मुद्रा से भी सामयिक व्यवहार निष्पन्न होता है । यदि कहें कि—प्रसिद्ध वस्तु का अन्यत्र आरोप ही भ्रम है । अत्यन्त असत् वस्तु का अन्यत्र आरोप नहीं होता है । अतएव अत्यन्त असत् होने से प्रपञ्च का असत्त्व कैसे होगा । यदि वह सत् होता है, तब ब्रह्म को अद्वैत नहीं कहा जायेगा । भट्ट ने कहा भी है, अवस्तु में वस्तु का आरोप सिद्ध कैसे होगा, जैसे खपुष्प असत् वस्तु है । किन्तु सत् वस्तु का ही आरोप है । कहते हैं—नहीं, अन्धपरम्परा से व्यवहार चलता है । कहने का अभिप्राय यह है,—संस्कार जन्य भ्रम, संस्कार सिद्धि के लिए पूर्व प्रतीतिमात्र की अपेक्षा करता है, किन्तु

तथात्वप्रसक्तिस्तन्मते स्यादित्यत्र तु तेषामयमभिप्रायः,—वयं हि यल्लोकप्रत्यक्षादिसिद्धं वस्तु, तदेव तत्सिद्धवस्त्वन्तरदृष्टान्तेन तद्धर्मकं साधयामः। यत्तु तदसिद्धं शास्त्रविद्वदनुभवैकगम्य-तादृशत्वं तत् पुनस्तद्दृष्टान्तपराद्धीदिनाप्यन्यथाकर्त्तुं न शक्यत एवेति। तथा जीवेश्वराभेद-स्थापना च चिद्रूपतामात्र एवेति। अथ स्वाभाविकमायाशक्त्या परमेश्वरो विश्वसृष्ट्यादिकं करोति, जीव एव तत्र मुह्यतीत्युक्तम्। तत्र सन्देहं प्रश्नोत्तराभ्यां परिहरत्यष्टभिः (भा० ३।७।२) 'श्रीविदुर उवाच—

(८५) "ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः।
लीलया वापि युज्येरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः॥"२॥

सर्वसम्वादिनी

शब्दमूलत्वात्" इत्यनेन स्थापयति भगवानिति च दृश्यते।

तत्र पूर्वस्यार्थः।—(श्वे० ६।१९) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इत्यादिषु ब्रह्मणो निरवयवत्वेन प्रसिद्ध-त्वादेकदेशासम्भवे सति कृत्स्नस्यैव परिणामे प्रसक्ते मूलोच्छेदः प्रसज्येत; द्रष्टव्यतोपदेशानर्थक्यश्च;

वस्तु स्थिति की अपेक्षा नहीं है। प्रतीति होने पर भी वस्तु न होने से भ्रम होता ही है। अतएव अनादि होने के कारण पूर्व पूर्व भ्रम, उत्तरोत्तर भ्रम के प्रति हेतु है। इस प्रकार अन्धपरम्परा नियम से जगत् व्यवहार निष्पन्न होता है।

मीमांसकगण कहते हैं, कर्मफल नित्य है, अतएव विश्व सत्य है। विश्व असत्य होने से कर्मफल प्रतिपादक वेद वचन निष्फल होगा। उत्तर में कहते हैं,—कर्मफल नित्य नहीं है, किन्तु लक्षणा के द्वारा प्राशस्त्य प्रतिपादक उक्त वचन है। विधि वाक्य के साथ एकवाक्यता उस नियम से ही होती है, अन्यथा वाक्य भेद होगा। जिस प्रकार कर्मार्जित लोक का क्षय होता है, उस प्रकार पुण्यार्जित लोक का भी क्षय होता है। कर्मजड़ व्यक्तियों को उक्त वाक्य से कर्म में आसक्त करते हैं। इस प्रकार व्याख्या—एतस्मादात्मन आकाशसम्भूत की प्रदर्शित हुई है। श्रीधरस्वामि की व्याख्या यह ही है। उक्त श्लोक का अर्थ प्रायकर उक्त व्याख्या से जानना होगा। स्वामिपाद ने जो अनुमान किया है, उससे भेद मात्र ही यदि असत् होता है तो वैकुण्ठादि धाम भी उनके मत में प्रपञ्चवत् असत् होगा। इस विषय में स्वामिपाद का अभिप्राय यह है,—हम सब लोक प्रत्यक्षादि सिद्ध वस्तु को लौकिक प्रत्यक्षादि सिद्ध द्रव्यान्तर दृष्टान्त के द्वारा साधन करते हैं। किन्तु जो वस्तु लौकिक प्रत्यक्षादि सिद्ध नहीं है। केवल शास्त्रवित् गणों का एकमात्र अनुभव वेद्य है, उसको किन्तु अनन्त लौकिक दृष्टान्त के द्वारा भी अन्य प्रकार करने की क्षमता हम सब में नहीं ही है। उस प्रकार जीवेश्वर की अभेद स्थापना चिद्रूपतामात्रांश में ही होती है। अनन्तर निज स्वाभाविक मायाशक्ति के परमेश्वर विश्वसृष्ट्यादि कार्य्य करते हैं, किन्तु जीव ही उसको देखकर मुग्ध हो जाता है। कथन इस प्रकार ही है। इससे जो सन्देह उपस्थित होता है, उसका परिहार प्रश्नोत्तर रूप में आठ श्लोक के द्वारा करते हैं।

भा० ३।७।२ में श्रीविदुर महाशय ने कहा,—ब्रह्मन्! भगवान् चिन्मात्ररूपी, एवं निर्विकार हैं, उनके सहित गुण क्रिया का सम्बन्ध कैसे हुआ?

स्वामिटीका—"अथ ते भगवल्लीलायोगमायोपवृंहिता" इत्यादिना मायागुणैर्लीलया भगवान् सृष्ट्यादि करोत्येवं ब्रुवाणं मैत्रेयं भारत्या प्रार्थनरूपया प्रीणयन्निवेति अभिप्रायाज्ञानेन आक्षेपात्। निर्विकारस्य क्रियाः निर्गुणस्य गुणाः कथम्? लीलयेत्युक्तिः प्रयोजनाभावं परिहरति, न वस्तुविरोधमिति भावः॥

हे ब्रह्मन् चिन्मात्रस्य चिन्मात्रस्वरूपस्य सतः स्वरूपशक्त्या भगवतः श्रीवैकुण्ठादिगत-ताद्दृशैश्वर्य्यादियुक्तस्य अतएव निर्गुणस्य प्राकृतगुणास्पृष्टस्यातएव चाविकारिणस्ताद्दृक्स्वरूप-शक्तिविलासभूतानां क्रियाणामनन्तानामपि सदोदितवरानन्तविधप्रकाशे तस्मिन्नित्यसिद्धत्वा-त्तत्तत्क्रियाविर्भावकर्त्तुस्तस्यावस्थान्तरप्राप्तत्वाभावात् प्राकृतकर्त्तुरिव न विकारापत्तिरिति। निर्विकारस्य च कथं सत्त्वादयः प्राकृतगुणाः, कथं वा तदासङ्गहेतुकाः स्थित्यादयः क्रियाश्च युज्येरन्, ततश्च चिन्मात्रवस्तुविरोधादेव ते च ताश्च न युज्यन्ते, भगवत्त्वे तु स्वैरचेष्टयापि न युज्येरन्नित्याह—-लीलया वापीति। अत्राविकारित्वनिर्गुणत्वाभ्यां सह चिन्मात्रत्वं भगवत्त्वं चेत्युभयमपि स्वीकृत्यैव पूर्वपक्षिणा पृष्टम्। ततश्च तस्य चिन्मात्रस्वरूपस्य भवतु भगवत्त्वम्, तत्रास्माकं न सन्देहः, किन्तु तस्य कथमितरगुणादिस्वीकारो युज्यत इत्येव पृच्छत इति वाक्यार्थः ॥

सर्वसम्वादिनी

अजत्वादि-शब्द-व्याकोपश्च। सावयवत्वे च मन्यमाने निरवयत्व-शब्दा व्याकुप्येयुरनित्यत्वप्रसङ्गश्चेति।

अथोत्तरस्यार्थः।—तु-शब्देन पूर्वपक्षं परिहरति। न खल्वस्मत्पक्षे कश्चिद्दोषः। श्रुतिसिद्धान्तिनो हि वयम्। श्रुतिश्च स्व-शब्दैरेव यदुच्यते, तदेव मूलत्वेन वहति, न तु तर्केण यत् सेत्स्यति,—अपौरुषेयत्वेन

श्रीभगवान् की लीलासमूह—योगमायारूप चिच्छक्ति विलसिता हैं। भगवान् मायागुण के द्वारा लीलापूर्वक जगत् सृष्ट्यादि करते हैं, इस प्रकार कथनरत मैत्रेय की प्रार्थना रूप भारती के द्वारा प्रसन्न करने के अभिप्राय से स्वीय अज्ञता को प्रकट कर श्रीविदुर ने कहा। निर्विकार की क्रिया, एवं निर्गुण का गुण होना कैसे सम्भव है? कार्य्य हेतु प्रयोजन ईश्वर का नहीं है। उसको कहते हैं, लीला से—अनायास से। अतएव वस्तु विरोध नहीं है।

सन्दर्भ व्याख्या। हे ब्रह्मन्! चिन्मात्र अर्थात् चैतन्यमात्र स्वरूप आप हैं, निज निज स्वरूपशक्ति के द्वारा भगवान् हैं। अर्थात् श्रीवैकुण्ठादि गत अनन्त ऐश्वर्य्य युक्त हैं। अतएव, निर्गुण हैं, अर्थात् प्राकृत गुण 'सत्त्व रजः तमः' से अस्पृष्ट हैं। अतएव अविकारी हैं। नित्य स्वरूपशक्ति विलासभूत वैकुण्ठ में जिनकी अनन्त क्रिया हैं, एवं नित्य उदयशील अनन्त प्रकाश भी जिनके हैं। वे सब नित्यसिद्ध स्वरूपशक्ति के विलास होने के कारण उक्त क्रियासमूह का आविर्भावक कर्त्ता की अवस्थान्तर प्राप्ति सम्भव नहीं है। अर्थात् प्राकृत कर्त्ता के समान विकारप्राप्ति नहीं है। अतएव भगवान् निर्विकार हैं। उन निर्विकार भगवान् के सत्त्वादि प्राकृत गुणसमूह होना कैसे सम्भव है? एवं सत्त्वादि गुण योग हेतु स्थित्यादि क्रिया के सहित सम्बन्धान्वित होना भी कैसे होगा? अतएव उक्त समुदाय ही चिन्मात्रस्वरूप श्रीभगवान् के विरुद्ध हैं। गुण एवं क्रियासमूह के द्वारा लिप्त होना भी भगवान् के लिए सम्भव नहीं है। भगवान् हैं, अनन्तैश्वर्य्यशाली हैं, स्वतन्त्र चेष्टापरायण हैं। ये सब युक्ति के द्वारा भी मायिक गुणों से लिप्त होना सम्भव नहीं है। अतएव पूछते हैं—लीला से भी सत्त्वादि गुण युक्त होना सम्भव नहीं है।

यहाँ अविकारित्व, निर्गुणत्व के सहित चिन्मात्र भगवत् स्वरूप ही स्वीकृत हुआ है। प्रश्न कर्त्ता ने स्वरूप को मानकर ही प्रश्न किया है। चिन्मात्र स्वरूप भगवान् है, उस विषय में हमारे कोई सन्देह नहीं है। किन्तु उक्त स्वरूपसम्पन्न होकर भी चैतन्येतर जड़ीय गुणों का स्वीकार भगवान् के लिए कैसे हो सकता है? इसको ही पूछते हैं। वाक्य का अर्थ भी यह ही है ॥८५॥

८६। ततश्चिन्मात्रत्वे भगवत्त्वे च तस्य तुच्छा गुणाः क्रियाश्च न सम्भवन्त्येवेति द्विगुणीभूयैव प्रश्नः। किञ्चार्भकवल्लीलापि न युज्यते वैषम्यादित्याह (भा० ३।७।३)—

(८६) "क्रीड़ायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीड़िषान्यतः।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः॥"३॥

उद्यमयति प्रवर्त्तयतीत्युद्यमः; अर्भकस्य क्रीड़ायां प्रवृत्तिहेतुः कामोऽस्ति, अन्यतस्तु वस्त्वन्तरेण बालान्तरप्रवर्त्तनेन वा तस्य क्रीड़ेच्छा भवति, भगवतस्तु स्वतः स्वेनात्मना स्वरूपवैभवेन च तृप्तस्य, अतएवान्यतः सदा निवृत्तस्य च कथमन्यतो जीवाज्जगतश्च निमित्तात् चिक्रीड़िषेति॥

८७। न च तस्य ते गुणास्ताः क्रियाश्च न विद्यन्ते इत्यपलपनीयम्, तत्रैव प्रसिद्धेरित्याह (भा० ३।७।४)—(८७) "अस्राक्षीद्भगवान् विश्वं गुणमय्यात्ममायया।
तया संस्थापयत्येतद्भूयः प्रत्यपिधास्यति॥"४॥

सर्वसम्वादिनी

स्वतः प्रामाण्यात्, परमालौकिक वस्तु प्रतिपादनपरत्वाच्च। तथा च पौराणिकाः पठन्ति (महाभा० भीष्मप० ५।१२, स्कान्दे च)—
"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥"२५॥इति;

भगवान्, चिन्मात्र एवं नित्यानन्त स्वरूपशक्ति सम्पन्न हैं। अनन्त कल्याणगुणगणवारिधि के लिए अति तुच्छ जड़ीय गुण क्रियायुक्त होना सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार द्विगुण प्रश्न करते हैं, किन्तु अर्भकवत् लीला भी निखिल विज्ञ शिरोमणि पुरुषोत्तम में सम्भव नहीं है।

भा० ३।७।३ में उक्त है—हे मुने! बालक की भाँति भगवान् की लीला भी युक्तिसिद्ध नहीं है, कारण बालकों की क्रीड़ा में जो प्रवृत्ति होती है। उस प्रवृत्ति के प्रति हेतु है अभिलाष, एवं द्रव्यान्तर अथवा बालकान्तर की प्रवर्त्तना रहती है, अर्थात् उसके द्वारा ही बालक की क्रीड़ा में प्रवृत्ति होती है। ईश्वर उससे विरुद्ध धर्मी हैं, स्वतः पूर्णकाम हैं, उनकी कोई वासना नहीं है। तब कैसे उनका अभिलाष हुआ। ईश्वर सर्वदा अपर वस्तु से निवृत्त हैं, अर्थात् असङ्ग प्रयुक्त अद्वितीय हैं, अतएव उनकी क्रीड़ा करने की इच्छा कैसे हुई?

सन्दर्भ व्याख्या—"उद्यमयति" प्रवर्त्तयतीत्युद्यमः। अर्थात् जो प्रवृत्ति कराता है, वह ही उद्यम है। अर्भक की क्रीड़ा में प्रवृत्ति के प्रति हेतु है—अभिलाष। अपर वस्तु के द्वारा अथवा बालकान्तर के द्वारा क्रीड़ा के लिए जो प्रवर्त्तना होती है, उससे बालक की क्रीड़ा में प्रवृत्ति होती है। किन्तु भगवान् स्वरूपवैभव के द्वारा ही स्वतस्तृप्त हैं। अतएव अन्य वस्तु से सर्वदा निवृत्त हैं। कैसे अन्य पदार्थ जीव एवं जगत् के निमित्त उनकी क्रीड़ा करने की इच्छा होगी?।८६॥

भा० ३।७।४ के द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं,—श्रीभगवान् में प्राकृत गुण एवं क्रिया नहीं है। इस प्रकार अपलाप करना भी सङ्गत नहीं है। कारण उक्त श्लोक में कहते हैं—हे मुने! भगवान् पुरुषोत्तम की जीव कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादि रूप मोह सम्पादिका जो गुणमयी माया है, उसके द्वारा भगवान् विश्व सृष्टि करते हैं, उसके द्वारा विश्व का पालन एवं पुनर्वार विश्व का तिरोधान उसके द्वारा ही करते हैं। गुणमयी अर्थात् सत्त्व रजः तमः त्रिगुण प्रकाशिनी, निजाश्रिता माया के द्वारा भगवान् विश्व का सृजन, पालन, प्रत्यपिधान

गुणमय्या त्रैगुण्यव्यञ्जिन्या आत्माश्रितया मायया संस्थापयति पालयति प्रत्यपिधास्यति प्रातिलौम्येन तिरोहितं करिष्यति ॥

८८। जीवस्य च कथं मायामोहितत्वं घटेतेत्याक्षेपान्तरमाह (भा० ३।७।५)—

(८८) "देशतः कालतो योऽसाववस्थातः स्वतोऽन्यतः।
अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताजया कथम् ॥"५॥

योऽसौ देशादिभिरविलुप्तावबोध आत्मा जीवः, स कथमजयाविद्यया युज्येत ? तत्र देशव्यवधानतो देशगतदोषतो वा चक्षुःप्रकाश इव, कालतो विद्युदिव, अवस्थातः स्मृतिरिव, स्वतः

सर्वसम्वादिनी

श्रुतिश्च (कठ० २।१।१)—"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-,स्तस्मात् पराक् पश्यति नान्तरात्मन्" इति, (ब्र०सू० २।१।३—माध्वभाष्य धृता भाल्लवेय श्रुतिः) "न चक्षुर्न श्रोत्रं न तर्को न स्मृतिर्न वेदो ह्येवैनं वेदयति"

अर्थात् प्रातिलोम्य से तिरोधान कार्य्य करते हैं।

स्वामिटीका। यच्चोक्तं स्मरन् विश्वसृजामीशो विज्ञापितमधोक्षज इत्यादिना अविद्योपाधेर्जीवस्य भोगार्थमीश्वरः सृष्ट्यादि करोतीति तदत्याक्षेप्तुमनुवदति अस्राक्षीदिति। गुणमय्या आत्मनो जीवस्य कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादिमोहोत्पादिका या माया तया सृष्टवान्। तदुक्तं प्रथमे यया सम्मोहित जीवः, आत्मानं त्रिगुणात्मकं, परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतश्चाभिपद्यते, इत्यादिना। अत्र च अतो भागवती माया मायिनामपि मोहिनीति। संस्थापयति—पालयति। प्रत्यपिधास्यति—प्रातिलोम्येन तिरोहितं करिष्यति। आत्मन् प्रत्यपिधास्यतीति पाठान्तरे प्रातिलोम्येन आत्मनि अभितो धारयिष्यति ।।८७।।

जीव कैसे मायामोहित होता है ? इस प्रकार आक्षेपान्तर करते हैं। भा० ३।७।५

जीव ब्रह्मस्वरूप है, तज्जन्य देश, काल, अवस्था से अपने से, अन्य प्रकार से इनकी बोध शक्ति विलुप्त नहीं होती है, वह जीव कैसे अविद्यायुक्त होता है ? देशादि के द्वारा अविलुप्त आत्मस्वरूप जो जीव है, वह कैसे अजा—अविद्या से युक्त होता है ? सर्वगत होने के कारण दीप प्रभा के समान किसी देशगत दोष से जीव का ज्ञान विलुप्त नहीं होता है। जीव नित्य है, अतएव विद्युत् के समान किसी काल में भी इसका अभाव नहीं होता है। अविक्रिय होने से स्मृतिवत् कभी किसी भी अवस्था में अविद्यमान नहीं होता है। स्वप्न अथवा शुक्तिरजत के समान स्वतः अवर्त्तमान भी नहीं है। अर्थात् देहगत व्यवधान से चक्षुः प्रकाश, काल से विद्युत, अवस्था से स्मृति, स्वतः शुक्तिरजत के समान, अन्य वस्तु से घटादि जिस प्रकार अवलुप्त होते हैं, उस प्रकार ब्रह्म की बोध शक्ति लुप्त नहीं होती है। कारण ब्रह्म अव्याहत स्वरूपभूत ज्ञानाश्रय ही हैं।

क्रमसन्दर्भः। जीवस्य कथं मायामोहितत्वं घटेतेत्यपेक्षान्तरमाह—देशत, इति। योऽसौ देशादिभिरविलुप्तविरोध आत्मा जीवः, स कथमजयाविद्यया युज्येत ? तत्र देशव्यवधानतो देशगतदोषतो वा चक्षुः प्रकाश इव, कालतो विद्युदिव, अवस्थातः स्मृतिरिव, स्वतः शुक्तिरजतमिव, अन्यतो घटादि-वस्त्विव, न तस्यावबोधो लुप्यते—अव्याहत-स्वरूपभूतज्ञानाश्रयत्वादेवेत्यर्थः ।।

स्वामिटीका। एतच्च जीवस्याविद्याश्रयत्व घटेत, न तत् सम्भवतीत्याह,—देशत इति। योऽसौ देशादिभिरविलुप्तावबोध आत्मा जीवः, ब्रह्मस्वरूपत्वात्, स कथमजया अविद्यया युज्यत ? तत्र देशतो दीप प्रभाया इव लोपो नास्ति सर्वगतत्वात्। न कालतो विद्युत इव नित्यत्वात्। नावस्थातः स्मृतिवत् अविक्रियत्वात्। न स्वतः स्वप्नवत्—नित्यत्वात्। नान्यतः—घटादिवत्—अद्वितीयत्वात्। एवमेतैर्यस्य बोधो न लुप्यते स कथमजया युज्येत ? अजा चात्र अविद्यैव, न माया, तस्या अवबोधेन विरोधाभावात्।

शुक्तिरजतमिव, अन्यतो घटादिवस्त्विव न तस्यावबोधो लुप्यते, अव्याहतस्वरूपभूतज्ञानाश्रयत्वादेवेत्यर्थः ॥

८९। तत्रैव विरोधान्तरमाह (भा० ३।७।६)—

(८९) "भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः।
अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा कर्मभिः कुतः ॥" ६॥

एष एक एव भगवान् परमात्मापि सर्वक्षेत्रेषु सर्वस्य जीवस्य क्षेत्रेषु देहेष्ववस्थितः। तत्र सति कथममुष्यैव जीवस्य दुर्भगत्वं स्वरूपभूतज्ञानादिलोपः कर्मभिः क्लेशश्च तस्य वा कुतो नास्ति। न ह्येकस्मिन् जलादौ स्थितयोर्वस्तुनोः कस्यचित्तत्संसर्गः कस्यचिन्नेति युज्यत इत्यर्थः ॥

सर्वसम्वादिनी

इति, (बृ० ३।९।२६) 'औपनिषदं पुरुषम्' इति च। इदं श्रीतत्त्वसन्दर्भे (१म अनु० प्रारम्भे), श्रीभगवत्सन्दर्भे च (१११तम अनु० समाप्तौ) च विस्तारितमस्ति।

तस्मान्निरवयवत्वेऽपि न कृत्स्नप्रसक्तिः। यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयते, तथा विकारव्यतिरेकेणापि

अविद्याग्रस्त होना जीव का तभी हो सकता है, यदि जीव अविद्या ग्रस्त होने का योग्य हो। किन्तु जीव में उस प्रकार सम्भावना ही नहीं है। जो जीव देशादि के द्वारा अलुप्तावबोध है, आत्मा है और वह ब्रह्मस्वरूप भी है। उसका योग, अविद्या के सहित कैसे होगा ? जीव सर्वगत है, अतएव परिच्छिन्न दीप प्रभा के समान देश के द्वारा उसका ज्ञान प्रतिरुद्ध नहीं होता है। नित्य होने से विद्युत् के समान भी काल से उसका ज्ञान नष्ट नहीं होता है। वह अविक्रिय है, अत स्मृतिवत् अवस्था भेद से उसका ज्ञान लुप्त नहीं होता। सत्य होने से स्वप्न के समान स्वतः ही उसका ज्ञान नष्ट नहीं हो होता। अद्वितीय होने से घटादि के समान दूसरे से उसका ज्ञान आवृत नहीं होता है। इस उक्त सामग्रीसमूह से जब जीव का ज्ञान लुप्त नहीं होता है। वह कैसे अविद्याग्रस्त होगा ? यहाँ अजा शब्द से अविद्या को जानना होगा, माया को नहीं। कारण माया के सहित अवबोध का विरोध नहीं है। माया की दो वृत्ति हैं, अविद्या एवं विद्या ॥८८॥

जीव में अविद्या होने की जो कल्पना है, उसमें विरोधान्तर का प्रदर्शन करते हैं। भा० ३।७।६ में वर्णित है—हे मुने ! और भी कहना है, एक भगवान् ही जीवरूप समस्त देह में अवस्थित हैं, एतज्जन्य जीव समूह उन भगवान् के अंश हैं। उक्त जीवसमूहों का संसार ही कैसे हो सकता है ? अर्थात् परमेश्वर समस्त क्षेत्ररूप शरीर में अवस्थित होने से आप स्वयं ही भोक्ता हैं। अतएव जीव का स्वरूपानन्द से भ्रंश होना, एवं स्वकृत भगवद्विमुख कर्म के द्वारा दुर्भाग्यरूप क्लेश भागी होना कैसे सम्भव है ?

सन्दर्भ व्याख्या। एष एक एव भगवान् परमात्मा होकर भी समस्त क्षेत्र में समस्त जीव क्षेत्र में अर्थात् समस्त जीव देह में अवस्थित हैं। समस्त क्षेत्र में परमात्मा विद्यमान होने पर भी केवल जीव ही दुर्भगा क्यों बनता है, जिससे उसका स्वरूपभूत ज्ञानादि का लोप भी होता है। भगवद् वहिर्मुख कर्म का अनुष्ठान भी उससे कैसे होता है, जिससे उसका शरीर ग्रहण जन्म-मरणादि दुःख प्राप्त करना पड़ता है। ये सब ईश्वर के क्यों नहीं होते हैं ? एक ही जलादि में स्थित वस्तुओं में किसी के साथ जलादि का संसर्ग होगा, किसी के साथ नहीं होगा, यह कैसे सम्भव है ?

किञ्च ब्रह्मस्वरूपत्वादेव जीवस्य संसारोऽपि न घटत इत्याक्षिपति। सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितो भोक्तापि वस्तुतो भगवानेव चिद्रूपत्वेन। तद्व्यतिरेकाभावात्। एवञ्च सति अमुष्य जीवस्य दुर्भगत्वम्—आनन्दादिभ्रंशः,

९०। तत्र केवलं चिन्मात्रत्वं न सम्भवतीति भगवत्त्वमेवाङ्गीकृत्य श्रीमैत्रेय उवाच (भा० ३।७।९)—(९०) "सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम् ॥"

यया विश्वसृष्ट्यादिकं भवति, सेयं भगवतोऽचिन्त्यस्वरूपशक्तेर्मायाख्या शक्तिः। यद् या च नयेन तर्केण विरुध्यते, तर्कातीततया सेयमप्यचिन्त्येत्यर्थः। यद्यप्येवं द्वयोरप्यचिन्त्यत्वम्, तथापि भगवतो मायेत्यनेन व्यक्तत्वात् स्वरूपशक्तेरन्तरङ्गत्वाद्बहिरङ्गाया मायाया गुणैः

सर्वसम्वादिनी

ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते; (शुक्ल-यजुः ३१।१९ ; मुद्गल० ३।१) 'अजायमानो बहुधा विजायते' इत्यादौ दृश्यते च। मन्त्रार्थवादेतिहास-पुराणेषु देवादिभ्योऽप्यविकृतेभ्य एवैश्वर्य्ययोगविशेषाद्बहूनि नाना-संस्थानानि शरीराणि प्रासादादीनि रथादीनि च जायन्त इति। न चान्यदुपादानानि तानि मन्तव्यानि ;—दृष्टं सन्निहितं

कर्मभिर्हेतुभूतैः क्लेशो वा कुतः ? कर्मसम्बन्धाभावात्। अन्यथा ईश्वरस्यापि तत् प्रसङ्गः स्यादिति भावः।

और भी उस सिद्धान्त पर कहना है कि—जीव ब्रह्मस्वरूप ही जब है, तब उसका संसार कैसे होगा ? समस्त जीव देह में भोक्ता तो भगवान् ही हैं। भगवान् चिद्रूप हैं, जीव भी चिद्रूप है, कभी भी उसका अभाव नहीं होता है। जब स्थिति वैसी है, तब जीव निज स्वरूपगत आनन्दादि धर्म से रहित होकर दुर्भाग्य परायण बनता है, और भगवद् विमुख कर्म करके जन्म-मरणरूप संसार दुःख को प्राप्त कर लेता है। ईश्वर विमुख कर्मानुष्ठान का सम्बन्ध, जीव में है ही नहीं। ऐसा यदि माना जाय तो, जीव के समान धर्मी ईश्वर क्यों नहीं होगा ? अर्थात् ईश्वर का स्वरूपावबोध भ्रंश, एवं संसार क्यों नहीं होगा ?

क्रमसन्दर्भः। तत्रैव विरोधान्तरमाह, भगवानेक एवेति। एव एक एव भगवान् परमात्मापि सर्व क्षेत्रेषु सर्वस्य जीवस्य क्षेत्रेषु देहेष्ववस्थितः। तत्र सति कथममुष्यैव भगवद्वदेव चिद्रूपत्वस्वरूप-ज्ञानवत्त्वा-व्यभिचारिणो जीवस्य दुर्भगत्वं स्वरूपभूत-ज्ञानादिलोपः ? कर्मभिः क्लेशश्च तस्य वा कुतो नास्ति ? न ह्येकस्मिन् जलादौ स्थितयोर्वस्तुनोः कस्यचित् तत्संसर्गः कस्यचिन्नेति युज्यत इत्यर्थः ॥८९॥

भगवत्तत्त्व केवल चिन्मात्र होना सम्भव नहीं है। अतः निखिल शक्तिसमन्वित भगवत्तत्त्व को अङ्गीकार कर श्रीमैत्रेय प्रश्नोत्तर प्रदान में प्रवृत्त हुये थे। भा० ३।७।९ में उक्त है,—

हे विदुर ! विमुक्तस्वरूप परमेश्वर का अविद्या के द्वारा बन्धन एवं कार्पण्य रूप अध्यास—तर्क विरुद्ध है। यह ही अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न भगवान् की शक्ति माया है।

स्वामिकृत टीका। 'भगवतोऽचिन्त्यशक्तेरीश्वरस्य सेयं माया नयेन—तर्केण विरुद्धयते' इतिवत्। तर्कविरोधमेवानुवदति, विमुक्तस्यैव पुंसोऽविद्यया बन्धनं कार्पण्यञ्चेति ॥

अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न ईश्वर ही भगवान् हैं, माया उनकी शक्ति है। तर्कविरुद्ध जो प्रतीति है, उसे कहते हैं,—विमुक्त पुरुष का ही अविद्या के द्वारा बन्धन एवं शरीरादि में अध्यास होता है।

सन्दर्भ व्याख्या। जिसके द्वारा विश्व के सृष्टि स्थिति लयादि कार्य्य सम्पन्न होते हैं, वह ही अचिन्त्य स्वरूपशक्तिसम्पन्न भगवान् की माया नाम्नी शक्ति है। जो शक्ति नय अर्थात् तर्क-अनुमान के द्वारा प्रतिपादिता होती है। लौकिक तर्कातीत होने के कारण उक्त शक्ति को अचिन्त्य कहते हैं। यद्यपि श्रुतार्थापत्ति के द्वारा प्रतिपादित, एवं लौकिक तर्कागोचरत्व, उभय ही अचिन्त्य है, अर्थात् शास्त्रैकगम्य है। तथापि उक्त शक्ति अचिन्त्य होने पर भी वह माया "भगवतो माया" भगवान् की मायाशक्ति है, इस शब्द के द्वारा ही प्रतिपादिता है। अन्तरङ्गाशक्ति—स्वरूपशक्ति होने के कारण, बहिरङ्गाशक्ति—'सत्त्व, रजः, तमः' त्रिगुण सम्पन्ना है। उक्त गुणत्रय के द्वारा विश्व कार्य्य सृष्टि स्थिति लयादि होते हैं।

सत्त्वादिभिस्तत्कार्य्यैः स्थापनादिलीलाभिश्च नासौ स्पृश्यत इत्यर्थः। तत्र केवलं चिन्मात्रत्वं न, तन्त्रेण चायमर्थः—सत्यं परमेश्वरे न ते गुणा न च ताः क्रियाः, किन्तु यस्यास्ते गुणास्तदाश्रयबलया यया च क्रियमाणं कर्म तस्मिन्नारोप्यते, सेयं तस्य मायाख्या वहिरङ्गा शक्तिः। तदुक्तम् (भा० २।९।३३) "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत" इत्यादि, तदेव विवृणोति—यन्नयेनेति।

सर्वसम्वादिनी

परित्यज्य,ह्यसन्निहित-कल्पनागौरवापत्तेः। अतएवोक्तम्,– (ब्र०सू० २।१।२५) "देवादिवदपि लोके" इति; तत्र "शरीरमेव ह्यचेतनं देवादीनां शरीरादि-विभूत्यादेरुपादानम्" इति शङ्कर-शारीरक-भाष्ये लिखितम्। अतएव तानि मायिकानीति च न मन्तव्यानि;– तैः स्वस्यैव विहाराय क्रियमाणत्वाच्च। मायिनां हि

लीलात्मक उक्त कार्य्यसमूह के सहित परमात्मा विजड़ित नहीं हैं। माया स्पृष्टत्व भगवान् में नहीं है। अतएव भगवान् केवल चिन्मात्र ही नहीं है। किन्तु स्वरूपशक्ति सम्पन्न भी हैं, यह ही उक्त पद्यांश का अर्थ है। भगवान् में केवल चिन्मात्रत्व ही नहीं है, तन्त्र सिद्धान्त के उक्त पद्यांश का इस प्रकार समीचीन अर्थ है—सत्य है, परमेश्वर में उक्त प्राकृत सत्त्व रजः, तमः गुणत्रय नहीं हैं। अतएव उक्त त्रिगुण जनित क्रिया भी नहीं है। किन्तु जिस मायाशक्ति के गुणत्रय हैं, उक्त माया, भगवदाश्रिता है। भगवदाश्रित सामर्थ्य से विश्व सृष्ट्यादि कार्य्य सम्पादन माया शक्ति करती है। एवं निजकृत कर्म का आरोप श्रीभगवान् में वह करती है। वह ही भगवान् की माया नाम्नी वहिरङ्गाशक्ति है। इसका वर्णन भा० २।९।३३ में इस प्रकार है—"ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।

तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः॥"

स्वामिटीका—यथात्ममाया योगेनेत्यनेन मायाया अपि दृष्टत्वाद् वक्ष्यमाणोपयोगित्वाच्च मायां निरूपयति। ऋतेऽर्थं विनापि वास्तवमर्थं यत् यतः किमप्यनिरुक्तम्, आत्मनि अधिष्ठाने प्रतीयेत, सदपि च न प्रतीयेत, तत् आत्मनो मम मायां विद्यात्। यथा आभासो द्विचन्द्रादिरिति अर्थं विना प्रतीतौ। दृष्टान्तः यथा तमः सतोऽप्रतीतौ। तमो राहुर्यथा ग्रहमण्डले स्थितोऽपि न दृश्यते तथा॥

"यथा आत्ममाया योगेन नानाशक्त्युपबृंहितम्।" विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् विभ्रदात्मानमात्मना। (२।९।२६)

विविध शक्तिसमन्वित भगवान् निज माया के द्वारा संसार सृजन, पालन कार्य्य, स्वयं ही ब्रह्मादि अनेक रूप प्रकट कर करते हैं। इस प्रसङ्ग में आत्ममाया शब्द का उल्लेख होने से एवं अग्रिम वर्णित विषयों में उसका परिज्ञान होना आवश्यक है, अतः उस माया का निरूपण करते हैं। वास्तव अर्थ न होने पर भी अनिरुक्त आत्माधिष्ठान में जिसकी प्रतीति होती है, रहते हुए भी प्रतीति नहीं होती। उसे ही मेरी माया जानना। दृष्टान्त—जिस आभास द्वि-चन्द्रादि, अर्थ के बिना अंश में दृष्टान्त, यथा तमः, विद्यमान होने पर भी प्रतीत न होना, जिस प्रकार राहु ग्रह मण्डल में स्थित है, किन्तु दृश्य नहीं है।

क्रमसन्दर्भः। अथ यथानुभावत्वमुपदिशंस्तादृशरूपादिविशिष्टस्यात्मनो व्यतिरेकमुखेन विज्ञानार्थं मायालक्षणमाह,—ऋतेऽर्थमित्यादि। अर्थं परमार्थभूतं मां विना यत् यत् प्रतीयेत, मत् प्रतीतौ तत् प्रतीत्यभावान्मत्तो वहिरेव यस्य प्रतीतिरित्यर्थः। यच्च आत्मनि न प्रतीयेत, यस्य च मदाश्रयत्वं विना स्वतः प्रतीति र्नास्तीत्यर्थः। तथा लक्षणं वस्तु आत्मनो मम परमेश्वरस्य मायां – जीवमाया गुणमायेति द्वयात्मिकां मायाख्य शक्तिं विद्यात्।

अत्र शुद्ध जीवस्यापि चिद्रूपत्वाविशेषेण तदीय रश्मिस्थानीयत्वेन च स्वान्तःपात एव विवक्षितः। अत्रास्या द्वयात्मिकत्वेनाभिधानं दृष्टान्तद्वयेन लभ्यते। तत्र जीवमायाख्यस्य प्रथमांशस्य तादृशत्वं दृष्टान्तेन

स्पष्टयन्नसम्भावनां निरस्यति। यथाभास इति। आभासो ज्योतिर्बिम्बस्य स्वीयप्रकाशाद्व्यवहितप्रदेशे कथञ्चिदुच्छलितप्रतिच्छविविशेषः। स यथा तस्माद् बहिरेव प्रतीयते, न च तं 'बिम्बं' बिना तस्य (आभासस्य) प्रतीति स्तथा सापीत्यर्थः, अनेन प्रतिच्छवि पर्य्यायाभासधर्मत्वेन तस्याभासाख्यत्वमपि ध्वनितम्। अतस्तत्कार्य्यस्याप्याभासाख्यत्वं क्वचित् (भा० २।१०।७) "आभासश्च निरोधश्च यतोऽध्यवसीयते" इत्यादौ, अत्र स यथा क्वचिदत्यन्तोद्भटात्मा स चाक्चिक्यच्छटायतितनेत्राणां जनानां नेत्रप्रकाशमावृणोति, तमावृत्य च स्वेनात्यन्तोद्भटतेजस्तेनैव द्रष्टृनेत्रं व्याकुलयन् स्वोपकण्ठे वर्णशावल्यमुद्गिरति, कदाचित्तदेव पृथग्भावेन नानाकारतया परिणमयति, तथेयमपि जीवज्ञानमावृणोति, सत्त्वादि गुणसाम्यरूपां गुणमायाख्यां जड़ां प्रकृतिमुद्गिरति, कदाचित् पृथक् भूतान् सत्त्वादिगुणान् नानाकारतया परिणमयति चेत्याद्यपि ज्ञेयम्। तदुक्तम् (विष्णु० १।२२।५४) एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा, परस्य ब्रह्मणो माया तथेदमखिलं जगत्। तथा च आयुर्वेदविदः,—शार्ङ्गधर संहितायां—(पू० ख० ५।४८-४९) "जगत्योनेरचिन्त्यस्य चिदानन्दैक रूपिणः, पुंसोऽस्ति प्रकृतिर्नित्या प्रतिच्छायेव भास्वतः। अचेतनापि चैतन्ययोगेन परमात्मनः अकरोद्विश्वमखिलमनित्यं नाटकाकृति।" इति। तमः शब्देनात्र पूर्वोक्तं तमः प्रायं वर्णशावल्यमुच्यते। तद्यथा तन्मूल ज्योतिष्यसदपि तदाश्रयत्वं विना न सम्भवति, तद्वदियमपीति।

अथवा, मायामात्रनिरूपण एव पृथग्दृष्टान्तद्वयम्। तत्र आभास दृष्टान्तो व्याख्यातः। तमो दृष्टान्तश्च यथान्धकारो ज्योतिषोऽन्यत्रैव प्रतीयते, ज्योतिर्विना च न प्रतीयते; ज्योतिरात्मना चक्षुषैव तत् प्रतीते र्न दृष्ट्यादिनेति तथेयमपीति ज्ञेयम्। ततश्चांशद्वयन्तु प्रवृत्ति भेदेनैवोह्यम्। नतु दृष्टान्तभेदेन। प्राक्तनदृष्टान्त द्वैधाभिप्रायेण पूर्वस्या आभासपर्य्याय च्छायाशब्देन क्वचित् प्रयोगः।

उत्तरस्या स्तमः शब्देनैव चेति; यथा (भा० ३।२०।१८) "ससर्ज्ज छायया अविद्यां पञ्चपर्वाणमग्रतः" इत्यत्र। यथा च (भा० १०।१४।११) "क्वाहं तमोमहदहम्" इत्यादौ पूर्वत्राविद्याविद्याख्यनिमित्तशक्ति-वृत्तिकत्वाज्जीवविषयकत्वेन जीवमायात्वम्; उत्तरत्र स्वीय तत्तद्गुणमयमहदाद्युपादानशक्तिवृत्तिकत्वाद् गुणमायात्वम्। तथा "ससर्ज" इत्यादौ छायाशक्ति मायामवलम्ब्य सृष्ट्यारम्भे ब्रह्मा स्वयमविद्या-माविर्भावितवानित्यर्थः। (भा० ११।११।३) "विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्। बन्धमोक्षकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते।।" इत्युक्तत्वात्। अनयोराविर्भावभेदश्च श्रूयते। तत्र पूर्वस्याः पाद्मे (उ० ख० १७।२३०, २३१) श्रीकृष्णसत्यभामासम्वादीयकार्त्तिकमाहात्म्ये देवगणकृतमायास्तुतौ 'इति स्तुवन्तस्ते देवास्तेजोमण्डल संस्थितम्। ददृशुर्गगने तत्र तेजोव्याप्तदिगन्तरम्।। तन्मध्याद्भारतीं सर्वे शुश्रुवु व्योमचारिणीम्। अहमेव त्रिधाभिन्न स्तिष्ठामि त्रिविधैर्गुणैः।।" इत्यादि। उत्तरस्याः पाद्मोत्तर खण्डे—(६१।५१) "असंख्यं प्रकृतिस्थानं निविड़ध्वान्तमव्ययम्" इति। विद्यादिति प्रथमपुरुषनिर्देशस्यायं भावः, अन्यान् प्रत्येव खल्वयं उपदेशः, त्वं तु मद्दत्तशक्त्या साक्षादेव अनुभवन्नसि' इति। एवं मायिक दृष्टिमतीत्यैव रूपादिविशिष्टं मामनुभवेदिति। व्यतिरेक-मुखेनानुभावनस्यायं भावः,-शब्देन निर्द्धारितस्यापि मत् स्वरूपादेर्मायाकार्य्यविशेनैवानुभवो न भवति, ततस्तदर्थं मायाव्याजनमेव कर्त्तव्यमिति। एतेन तदविनाभावात् प्रेमाण्यनुभावित इति गम्यते।।

आत्मविज्ञानार्थ अवश्यापेक्षिक माया लक्षण को व्यतिरेक मुख से कहते हैं,—ऋतेऽर्थमित्यादि। अर्थ—परमार्थभूत मुझको छोड़कर जिसकी प्रतीति होती है, मेरी प्रतीति से उसकी प्रतीति नहीं होती है। मुझ से बाहर ही जिसकी प्रतीति होती है, जिसकी प्रतीति आत्मा में नहीं होती है, मदाश्रयत्व के बिना स्वतः प्रतीति जिसकी नहीं है, उस प्रकार लक्षणाक्रान्त वस्तु ही मेरी परमेश्वर की माया है। वह माया—जीवमाया गुणमाया भेद से द्विविध हैं।

शुद्ध जीव चिद्रूप होने से सूर्य्यमण्डल के रश्मिस्थानीयवत् चिद्रूप परमात्मा के अन्तर्भूत है। दो प्रकार दृष्टान्त प्राप्त होने से माया का द्विविध रूप कहा गया है। प्रथम दृष्टान्त के द्वारा जीवमाया का स्पष्टत बोध

होता है, तद्गत असम्भावना का निरास करते हैं। यथाभास इति। आभास उसे कहते हैं,— जोतिर्बिम्व के प्रकाश के बाहर व्यवहित प्रदेश में उच्छलित प्रतिच्छवि विशेष है। आभास जिस प्रकार बिम्व के बाहर प्रतीत होता है, बिम्व के बिना आभास की प्रतीति जैसे नहीं होती है, वैसे ईश्वर के बिना माया की प्रतीति नहीं होती है। इससे प्रतिच्छवि पर्य्यायाभास धर्म रूप से इसकी संज्ञा आभास होती है। अतएव उसके कार्य्य को भी आभास कहते हैं। (भा० २।१०।७) "आभासश्च निरोधश्च" श्लोक में उसका वर्णन है।

वह आभास जिस प्रकार अत्यन्त उद्भटात्मा निज चाक्चिक्य च्छटा में पतितनेत्र जनों के नेत्रों का प्रकाश को आवृत करता है। आवृत करने के पश्चात् निज उद्भट तेज के द्वारा द्रष्टा के नेत्रों को व्याकुलित करके विचित्र वर्णो का उद्भावन करता है। कदाचित् उसे पृथक् भाव से परिणत करता है। उस प्रकार ही माया जीव ज्ञान को आवृत करती है, सत्त्वादि गुण साम्यरूपा गुणमायाख्य जड़ा प्रकृति को प्रकाश करती है। कदाचित् पृथक्भूत सत्त्वादि गुण को विविध आकार में परिणत करती है। इस प्रकार जानना होगा।

विष्णुपुराण १।२२।५४ में उक्त है, एकदेशस्थित वह्नि की ज्योत्स्ना का विस्तार अनेक देशों में जिस प्रकार होता है, उस प्रकार परमब्रह्म की मायाशक्ति का प्रकाश अखिल विश्व हैं।

आयुर्वेदविद्गण का कथन है—चिदानन्दस्वरूप अचिन्त्य जगत्कारक पुरुष की सूर्य्य की प्रतिच्छाया के समान नित्या प्रकृति शक्ति है। वह अचेतना होने पर भी परमात्मा के चैतन्य के योग से नाटकाकृति अनित्य अखिल विश्व का सृजन करती है।

इससे ज्ञात होता है कि—निमित्तांश—जीवमाया, उपादानांश - गुणमाया है, इसका विवेचन अग्रिम ग्रन्थ में होगा।

अनन्तर निर्णीत जीवमाया एवं गुणमाया नाम द्विविधता का स्पष्टीकरण दृष्टान्त द्वारा करते हैं। तथा तम इति। 'तम' शब्द से यहाँ पूर्वोक्त तमः प्राय वर्णशाबल्य को कहते हैं। यद्यपि वह मूल ज्योतिस्वरूप नहीं है, किन्तु उसके उन अवलम्बन के बिना उसका होना सम्भव नहीं है, उस प्रकार ही यह है। अथवा मायामात्रनिरूपण हेतु पृथक् दृष्टान्तद्वय है। उसमें से आभास दृष्टान्त की व्याख्या की गई है। तमो दृष्टान्त इस प्रकार है—जिस प्रकार अन्धकार ज्योति के बाहर प्रतीत होता है, ज्योति के बिना प्रतीत नहीं होता है। ज्योतिस्वरूप चक्षु के द्वारा ही प्रतीत होता है, पृष्ट प्रभृति के द्वारा प्रतीत नहीं होता है। उस प्रकार इसे भी जानना होगा। अंशद्वय का उद्भावन प्रवृत्ति भेद से है, किन्तु दृष्टान्त भेद से नहीं है।

प्राक्तन दृष्टान्तद्वय के अभिप्राय से पूर्व को कदाचिद् आभास शब्द से कहते हैं। उत्तर को "तमः" शब्द से कभी कहते हैं। भा० ३।२०।१८ में उक्त है, छाया के द्वारा प्रथम पञ्चपर्वा अविद्या का सृजन किया है। भा० १०।१४।११ में उक्त है—"क्वाहं तमोमहदहम्" इत्यादि में पूर्वत्र विद्याविद्याख्य निमित्त शक्ति स्वरूप को जीव विषयक होने से जीवमाया कहते हैं। उत्तरत्र निज तत्तद्गुण के द्वारा महदादि का उपादान शक्ति वृत्ति के कारण उसे माया कहते हैं। तथा "ससर्ज" इत्यादि में छाया शक्ति माया को अवलम्बन कर सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ने स्वयं ही अविद्या का आविर्भाव किया था। भा० ११।११।३ में उक्त है—"हे उद्धव ! विद्या एवं अविद्या मेरी शक्ति है, अविद्या शरीरी को बन्ध करती है, विद्या मुक्त करती है।" दोनों का आविर्भाव भेद भी सुनने में आता है। पद्मपुराण में वर्णित है—स्तव परायण देवताओं ने तेज मण्डल को गगन में देखा, उसके मध्य में व्योमचारिणी उत्थिता हुई। "मैं ही तीन रूपमें रहती हूँ।" उत्तरखण्ड में भी लिखित है, "असंख्य प्रकृति स्थान है, निविड़ अन्धकार पूर्ण अवयव है।"

"विद्यात्" शब्द का अभिप्राय है, अन्य के प्रति उपदेश देना। तुम तो मेरी शक्ति साक्षात् अनुभव करते रहते हो। इस प्रकार मायिक दृष्टि को परित्याग करने से ही मेरा अनुभव होता है। व्यतिरेक-मुख से अभिप्राय यह है कि—शब्द के द्वारा निर्द्धारित होने पर भी मेरे स्वरूपादि का अनुभव, माया कार्य

यदित्यव्ययम् । यद् यया तदाश्रितयापि येन भगवता सह न विरुध्यते, यया भगवान्न विरोधविषयीक्रियत इत्यर्थः । न ह्याभासगतेन कर्वुरत्वादिना चलनादिना वा सूर्य्यमण्डलस्य तत्तद्योगो विरोद्धुं शक्यत इति भावः । एतेन वैषम्यापातश्च परिहृतः । तदेतत् सर्वमभिप्रेत्य "सेयं भगवतो माया" इत्यनेन (भा० १।७।१०) इत्थम्भूतगुणो हरिः" इतिवत् तत्तत्स्वभाववैचित्र्यमिति ध्वनितम् । तदेतदर्थस्यानुकूलोऽयमपि शब्दध्वनिलम्भितोऽर्थविशेषः स्फुरति—यथा नयेन तर्केण विरुध्यत इति । यत् सेयं भगवतो मायेति—यद् यया मायया येन भगवता सह न विरुध्यते, नासौ विरोधविषयीक्रियत इति । यद्वा, येन भगवता न विरुध्यते, न सर्वथा निर्विषयीक्रियत इति च । एवमेव षष्ठे नवमाध्याये (भा० ६।९।३४) "दुरवबोध इव तवायम्"

सर्वसम्वादिनी

स्व-मायारचितानि मिथ्यैव स्फुरन्तीति तस्मै तत्सृष्टिरयुक्ता स्यात् । (ब्र०सू० २।१।२८) शङ्करशारीरकेऽपि "आत्मनि चैवम्" इत्यत्र सूत्रे देवादिषु मायाव्यादिष्विति मायाव्यादिभ्यो देवादयः पृथक् पठिताः; तस्माद्देवादिवदचिन्त्यशक्त्या विकाररहितस्यैव परिणामः । प्रसिद्धिश्च लोकशास्त्रयोः–चिन्तामणिः स्वयमविकृत

के आवेश से नहीं होता है । उसके लिए ही माया का त्याग करना अत्यावश्यक है ।

उक्त माया का विवरण प्रस्तुत करते हैं, "यन्नयेन" वाक्य के द्वारा "यद्" अव्यय शब्द है । माया भगवदाश्रित होकर भी भगवान् के सहित विरुद्धाचरण नहीं करती है, अर्थात् माया भगवान् को विरोध का विषय नहीं करती है, अर्थात् भगवान् के प्रति निज प्रभाव विस्तार नहीं करती है । जिस प्रकार आभासगण विचित्र वर्ण शावल्य अथवा क्रिया के द्वारा उक्त योगसमूह सूर्य्य मण्डल की बाधा उपस्थित नहीं कर सकते हैं । उस प्रकार माया भी आवरण विक्षेपरूप निज वृत्तिविशेष के द्वारा स्वरूपशक्तिसम्पन्न भगवान् को कुण्ठित करने में सक्षम नहीं है । इससे विषमता का प्रसङ्ग भी नहीं है, अर्थात् जीव के प्रति माया का प्रभाव होता है, जिससे उसमें दुर्भगता आती है । संसार बन्धन भी होता है, एवं ईश्वर स्वतः ही सुभगता पूर्ण, एवं शुद्धमुक्त, तथा मायिक प्रभावों से मुक्त हैं । इसका एकमात्र कारण ही ईश्वर में स्वरूपशक्ति की स्थिति, एवं में ईश्वरीय स्वरूपशक्ति की अवस्थिति ही कारण है, वह शक्ति—भक्तिशक्ति उससे संपृक्त होने से जीव मायामुक्त होता है । वह ही भगवान् की माया है, जीव की माया नहीं है, जिससे ईश्वर बनते हैं ।

"सेयं भगवतो माया" इसके द्वारा, भा० १।७।१० "इत्थम्भूतो गुणो हरिः" इसकी भाँति भगवान् का विचित्र स्वभाव ही ध्वनित हुआ है । जीव में उक्त मायास्वामित्व एवं भक्ति के द्वारा आत्मारामजनाकर्षित्व गुण भी नहीं है ।

स्वामिटीका—ननु भक्तिं कुर्वन्तु नाम, एतच्छास्त्राभ्यासे शुकस्य किं कारणमित्यत आह—हरेरिति । अध्यगात् अधीतवान् ननु भक्तानां किं भक्त्येति—सर्वाक्षेपपरिहारार्थमाह—इत्थम्भूतो गुणो हरिरिति ।

उससे उक्तार्थ का अनुकूल शब्द ध्वनि से सम्प्राप्त अर्थ विशेष की स्फूर्त्ति भी होती है । एवं कहा जाता है, उक्त भगवत्ता लौकिक तर्कगम्य नहीं "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" रीति से श्रुत्यैक गम्य है । वह प्रसिद्ध माया, भगवान् की ही वहिरङ्गा शक्ति है, जिससे भगवान् के सहित विरोध उपस्थित नहीं होता है, अर्थात् माया का स्वातन्त्र्य नहीं है, ईश्वराधीन ही माया है । माया कभी भी स्वतन्त्र ईश्वर को निजाधीन करने में समर्थ नहीं है । अथवा भगवत् शक्ति होने के कारण—भगवान् के साथ विरोध उपस्थित नहीं होता है । सर्वथा भगवान् को निर्विशेष नहीं करती है, अर्थात् "कारणस्य आत्मभूता शक्तिः, शक्तेश्चात्मभूतं

इत्यादिना गद्येन तस्य सगुणकर्त्तृत्वं विरुध्य पुनरथ (भा० ६।९।३५) "तत्र भवान्" इति गद्येनान्तर्यामितया गुणविसर्गपतितत्वेन जीववद्भोक्तृत्वयोगं सम्भाव्य (भा० ६।९।३६) "नहि विरोध उभयम्" इत्यादि-गद्येन तत्र तत्राचिन्त्यशक्तित्वमेव च सिद्धान्ते योजितम्। तत्र

सर्वसम्वादिनी

एव नानाद्रव्याणि प्रसूत इति।

नन्वित्थं केनचिद्रूपेण परिणमेत्, केनचिदवतिष्ठेतेतिरूप-भेदकल्पनात् सावयवमेव प्रसज्येत ? तत्राप्याह, —(मूले ८५तम अनु० प्रथमांशे) "भवत्वपीदं नाम ; यतः" इति,—(ब्र०सू० २।१।२७) "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्"

कार्य्यम्" इस रीति से मायाशक्ति ईश्वर प्रसन्नता हेतु निरन्तर ईश्वराधीन होकर ब्रह्माण्ड रचना करती रहती है। इस प्रकार ही भा० ६।९।३४ "दुरवबोधतवायम्" गद्य से भगवान् का सगुण कर्त्तृत्व का निषेध करके, "दुरवबोध इव तवायं विहारयोगो यदशरणोऽशरीर इदमनवेक्षितास्मत्समवाय आत्मनैवाक्रियमाणेन सगुणमगुणः सृजसि पासि हरसि।"

टीका—ननु केवलानुभवरूपत्वे मम सृष्ट्यादि कर्त्तृत्वं कथं तत्राहुः—दुरवबोध इव तवायं विहारयोगः क्रीड़ोपायः। यत् यस्मादशरणो निराश्रयः। इदं विश्वं अनवेक्षितोऽस्माकं समवायो मेलनं साहाय्यं येन सः॥

केवलानुभवस्वरूप भगवान् का जगत् कर्त्तृत्व कैसे हो सकता है ? उत्तर—आपका क्रीड़ोपाय समूह मानवीय बुद्धि के अगोचर हैं। आप निराश्रय हैं, आप किसी कार्य्य के लिए किसी की अपेक्षा नहीं रखते हैं। तथापि विश्व सृष्टि हेतु हमारे सहयोग लेते हैं। इससे सगुण कर्त्तृत्व ईश्वर का निषिद्ध हुआ। पुनर्बार "तत्र भवान्" (भा० ६।९।३५) गद्य के द्वारा अन्तर्यामि रूप में गुण सर्ग पतित जीववत् भोक्तृत्व की सम्भावना की गई है। "अथ तत्र भवान् किं देवदत्तवदिह गुणविसर्ग पतितः पारतन्त्र्येण स्वकृतकुशला-कुशलफलमुपाददाति। आहोस्विदात्माराम उपशमशीलः समञ्जसदर्शन उदास्त इति ह वाव न विदामः।"

टीका—दुर्ज्ञेयत्वन्तरमाहुः, अथ तत्रेति। यथेह देवदत्तो गृहादि निर्म्माय तत्र स्वकृतशुभाशुभयोः फलमुपाददाति एवं भवान् ब्रह्मस्वरूपो जीवरूपेण गुणविसर्गे संसारे पतितः सन्नुपाददाति, किमु यद्वा समञ्जसम् अप्रच्युतं दर्शनं चिच्छक्तिर्यस्य स भवानुदास्ते उदासीनः साक्षीतया वर्त्तत इति॥

आपका चरित्र दुर्ज्ञेय है, जिस प्रकार देवदत्त गृहादि का निर्माण करके उसमें निजकृत शुभाशुभ फल भोग करता है, उस प्रकार आप ब्रह्म हैं, जीवरूप धारण कर गुण विसर्ग रूप संसार में पतित होकर शुभाशुभ फल भोग करते हैं। अथवा, सब कुछ ही सामञ्जस्यपूर्ण है, आप चिच्छक्ति के द्वारा महीयान् हैं, आप उदासीन एवं साक्षी रूप में सर्वत्र अवस्थित हैं। इससे भोक्तृत्व की सम्भावना करके "नहि विरोध उभयत्" गद्य के द्वारा अवितर्क्य शक्ति का स्थापन किया है। "नहि विरोध उभयं, भगवति-अपरिमितगुण-गण ईश्वरेऽनवगाह्य-माहात्म्येऽर्वाचीन विकल्पवितर्क-विचार-प्रमाणाभास-कुतर्कशास्त्रकलिलान्तःकरणाशय दुरवग्रहवादिनां विवादानवसर उपरतसमस्तमायामये केवल एवात्ममायामन्तर्द्धाय कोन्वर्थे दुर्घट इव भवति स्वरूपद्वयाभावात्॥

टीका—तदेवं विरोधेन दुर्विज्ञेयत्वमुक्त्वा तत् परिहारेण ज्ञानप्रकारमाहुः, नहीति। विरुध्यते इति विरोधः, उभयमविरुद्धमित्यर्थः। नह्यस्मद्दृष्टान्तेन त्वयि विकल्पो युज्यते, अतश्चैश्वर्य्यत्वादित्याहुः, भगवतीति। अपरिमिता गुणगणा यस्य तस्मिन् ईश्वरे स्वतन्त्रे। अनवगाह्यमतर्क्यं माहात्म्यं यस्य तस्मिन्। विकल्प एवं वा एवं वेति वितर्कः किमत्र युक्तमिति। विचार इत्थमेवेति। तत्र प्रमाणाभासाः, तदनुग्राहकाः कुतर्काश्च अर्वाचीनाः, वस्तुस्वरूपासंस्पर्शिनः। विकल्पादयो येषु शास्त्रेषु तैः—व्याकुलमन्तःकरणम्—आशय-आश्रयो यस्य, दुरवग्रहस्य दुराग्रहस्य, तेन वादिनां विवादानवसरे—अगोचरे। ननु श्रद्धामात्रमेतत्, युक्तिरुच्यतां, तत्राहुः, उपरतः समस्तो मायामयः संसारो यस्मिन् तस्मिन् केवलेऽप्यात्ममायां मध्ये निधाय

स्वरूपशक्तेरवितर्क्यत्वम् (भा० ६।९।३६) "भगवति" इत्यादिभिर्विशेषणैर्माययाश्चात्ममाया-मित्यनेन दर्शितम्। तत्र (भा० ६।९।३६) "स्वरूपद्वयाभावात्" इत्यस्य तथाप्यचिन्त्यशक्त्या तत्कर्त्तृत्वं तदन्तःपातित्वञ्च विद्यत इत्यर्थः। (भा० ६।९।३७) "समविषममतीनाम्" इति तु गद्यं तथाप्युच्चावच-बुद्धीनां तथा तथा स्फुरसीति प्रतिपत्त्यर्थं ज्ञेयम्। "दुरवबोध इव" इति प्राक्तनगद्ये तु (भा० ६।९।३४) "अशरीरः" इति शरीरचेष्टां विना, 'अशरणः' इति भूम्याद्याश्रयं विनेत्यर्थः। (भा० ६।९।३४) "अथ तत्र" इत्यादौ स्वकृतेऽपि तस्यापि हेतुकर्त्तृत्वाद्योजनीयम्। तस्मादत्रापि स्वरूपशक्तेरेव प्राधान्यं दर्शितम्। अतएव (भा० २।९।३३) 'ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत' इत्यादौ मायाया आभासस्थानीयत्वं प्रदर्श्य तदस्पृश्यत्वमेव भगवतो दर्शितम् (भा० १।७।२३) "त्वमाद्यः पुरुषः साक्षात्" इत्यादौ "मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या" इत्यनेन च तथा ज्ञापितम्;

सर्वसम्वादिनी

इति निरवयवत्व-सावयवत्वयोर्विरुद्धयोरपि धर्मयोः श्रूयमाणत्वात्तथैवमप्यचिन्त्यः स्वभावस्तस्मिन् वर्त्तत एवेति। यथा (श्वे० ६।१९) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इत्यादि, (छा० ३।१८।२) तदेतद्ब्रह्म चतुष्पादष्टादश-कलं षोड़शकलम्' इत्यादि च। इत्थमेव चाग्रे (ब्र०सू० २।१।३१) "विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्" इत्यत्र

कोन्वर्थः कर्त्तृत्वादि नं सम्भवति। यदि वस्तुतः कर्त्तृत्वादि भवेत् तर्हि विरोधः स्यात्। ननु तदस्तीत्याहुः —स्वरूपद्वयाभावादिति।

अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न ईश्वर में प्राकृत मति प्रभव युक्ति-तर्क का अवसर नहीं है। अचिन्त्य शक्ति के द्वारा जगत् कर्त्तृत्व एवं जगदन्तःपातित्व ईश्वर में सम्भव है, ईश्वर स्वतन्त्र हैं, तथा ईश्वर के स्वरूपद्वय नहीं है।

भा० ६।९।३७ "समविषममतीनाम्" गद्य से प्रतीत होता है कि—ईश्वर श्रेष्ठ कनिष्ठ बुद्धिमान् जनगण के समीप में उस प्रकार ही प्रतीत होते हैं। "समविषममतीनां मतमनुसरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पधियाम्।"

टीका—अनुग्रहनिग्रहादिकं तु तत्तन्मतिभेदेन त्वन्मायया त्वयि स्फुरतीत्याहुः। समा-विषमामतिर्येषां तेषां मतमभिप्रायम्। सर्पादिविषया धियो येषां तेषां यथा रज्जुखण्डस्तथा तथा भवति। यद्वा तमेवाविरोधं पुरुषमतिभेदेन दर्शयन्ति समविषमेति।"

अनुग्रह निग्रह प्रभृति का कर्त्तृत्व आपमें वे लोक आरोप करते हैं, जिनकी मति माया सम्बलित है। जिनकी मति में ही समता विषमता है, जिस प्रकार रज्जु खण्ड में लोक देखते हैं।

"दुरवबोध इव" प्राक्तन गद्य में 'अशरीर' शब्द का उल्लेख है, उसका अर्थ—शरीर चेष्टा के विना। "अशरण" शब्द का अर्थ—भूमि प्रभृति को आश्रय न करके ही स्थित हैं। 'अथ तत्र' इत्यादि में ईश्वर कर्त्तृक समस्त ब्रह्माण्ड सृष्ट होने पर भी वहिरङ्गा मायाशक्ति को निमित्त बनाया गया है। अतएव इससे भी भगवान् में स्वरूपशक्ति का ही प्राबल्य सूचित हुआ है।

अतएव "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत" इत्यादि (भा० २।९।३३) श्लोक में माया का आभास रूप में वर्णन करके भगवान् माया के द्वारा स्पृष्ट नहीं है, इसको दर्शाया गया है। भा० १।७।२३ में वर्णित है—

"त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः। मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि॥"

टीका—यतस्त्वमीश्वरः साक्षात्। कुतः? यतः प्रकृतेः परः पुरुषः। तत् कुतः? यतः—आद्यः कारणम्। कारणत्वेऽप्यविकारितामाह—मायां व्युदस्य अभिभूय कैवल्यस्वरूपे आत्मन्येव स्थित इति॥ एवं भा० २।७।४७ में उक्त है—

(भा० २।७।४७) "माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना" इत्यनेन च। तदेवं भगवति तद्विरोधं परिहृत्य जीवेऽप्यविद्यासम्बन्धत्वमतर्क्यत्वेन दर्शितया तन्माययैव समादधाति। ईश्वरस्येति यदित्यनेनैव सम्बध्यते। अर्थवशादत्र च तृतीयया परिणम्यते। यद् यया ईश्वरस्य स्वरूप-ज्ञानादिभिः समर्थस्य, अतएव विमुक्तस्य जीवस्य कार्पण्यं तत्तत्प्रकाशतिरोभावस्तथा बन्धनं तद्दर्शित-गुणमयजालप्रवेशश्च भवतीति ; तदुक्तम् (भा० ६।५।१५) "तत्सङ्ग-भ्रंशितैश्वर्य्यम्" इति। तदेतत् सर्वमभिप्रेत्य श्रुतयोऽप्याहुः (भा० १०।८७।३८) "स यदजया त्वजाम्" इत्यादौ 'अपेतभगः' इति च। अत्र मूलपद्ये भगवतो मायेत्यनेन भगवत्त्वन्त्वमायिकमित्यायातम्; इन्द्रस्य मायेत्यत्र यथेन्द्रत्वम्। एवं पूर्वत्रापि ज्ञेयम्॥

९१। पुनरपि जीवस्य वस्तुतः स्वीयतत्तदवस्थत्वाभावेऽपि भगवन्माययैव तत्तत्प्रतीतिरिति

सर्वसम्वादिनी

सूत्रकारः "तदुक्तम्" इत्यनेन (श्वे० ६।८) 'न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते' इत्यादिप्रमाणकं करण-राहित्यं स्वाभाविकज्ञानादिकञ्च व्यक्तवान्। एवमेव पैङ्गीश्रुतिरप्युदाहृता—'योऽसौ विरुद्धोऽविरुद्धः' इत्यादिका ;

"शश्वत् प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम्।
शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो मायापरैत्यभिमुखे च विलज्जमाना।
तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो ब्रह्मेति यद्विदुरजस्र सुखं विशोकम्॥"

टीका—माया अभिमुखे स्थातुं विलज्जमानेव यस्मात् परैति—दूरतोऽपसरतीति॥

भगवान् के सम्मुख में लज्जिता के समान माया उपस्थित होने में लजाती है, भगवान् से दूर में हट कर रहती है। उक्त वाक्यद्वय के द्वारा श्रीभगवान् में स्वरूपशक्ति का प्राबल्य कथित हुआ है। भगवान् में स्वरूपशक्ति स्वीकार रूप सिद्धान्त के द्वारा "भगवान् माया वश्य नहीं है," स्थापन कर जीवेश्वर वैषम्य रूप विरोध का परिहार हुआ। पश्चात् जीव के सहित जो अविद्या सम्बन्ध है, उसका समाधान—पुरुषमति प्रभव तर्कातीत ईश्वरीय माया नाम्नी शक्ति द्वारा ही करते हैं, "ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुतबन्धनम्" पद्यस्थ—"यन्नयेन विरुद्धचते" 'यत' पद के सहित सम्बन्ध है, अर्थ लाभ हेतु उस यत् पद को तृतीयान्त पद मानते हैं। जिस माया के द्वारा ईश्वर का, स्वरूप ज्ञानादि के द्वारा सामर्थ्य का, अतएव विमुक्त की कृपणता, स्वरूपभूत ज्ञानादि प्रकाश का तिरोभाव एवं बन्धन माया के द्वारा प्रदर्शित गुणमय जाल में प्रवेश भी जीव का होता है। भा० ६।५।१५—"तत् सङ्गभ्रंशितैश्वर्य्यं संसरन्तं कुभार्य्यवत्।
तद्गतीरबुधस्येह किमसत् कर्मभिर्भवेत्॥"

अविद्या सङ्गजनित स्वातन्त्र्य लोप होता है। जीव अविद्या सङ्ग को प्राप्त कर निज स्वरूपभूत ज्ञानादि विस्मृत होकर संसार मार्ग में गमनागमन करता है। अतएव अवस्था समूह को देखकर श्रुतिगण भी १०।८७।३८ में कहती हैं। जब जीव मुग्ध होकर माया नामक अज्ञान को आलिङ्गन करता है। तब देहेन्द्रियादि की सेवा में रत होता है। पश्चात् तद्धर्मयुक्त होकर स्वरूप को भूल कर जन्म-मृत्यु रूप संसार को प्राप्त करता है। "अपेत भगः" कहा गया है।

"सेयं भगवतो माया" (भा० ३।७।९) इस मूल पद्य में लिखित होने से "भगवान् किन्तु अमायिक हैं" इस प्रकार अर्थ लाभ होता है। जिस प्रकार "इन्द्रस्य माया" कहने से इन्द्र मायातीत है, मायी इन्द्र है। इस प्रकार अर्थ पूर्व ग्रन्थ में भी जानना होगा। ९०॥

जीव के वास्तविक स्वीय स्वरूपभूत ज्ञानादि का विलोप एवं संसरण रूप अवस्था न होने पर भी

सदृष्टान्तमुपपादयति (भा० ३।७।१०)—

(६१) "यदर्थेन विनामुष्य पुंस आत्मविपर्य्ययः।
प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः ॥"१०॥

यद् यस्या मायाया हेतुरर्थेन विनापि ; यद्यपि तस्य त्रिकालमेव सोऽर्थोनास्ति, तथाप्यात्म-विपर्य्यय आत्मविस्मृतिपूर्वकपराभिमानेनाहमेव तद्धर्मीत्येवंरूपः सोऽर्थः स्यात्। तथाहि उपद्रष्टुर्जीवस्य, तृतीयार्थे षष्ठी ; स्वप्नावस्थायां जीवेन स्वशिरश्छेदनादिकोऽतीवासम्भवोऽर्थः प्रतीयते। न हि तस्य शिरश्छिन्नम्, न तु वा स्वशिरश्छेदं कोऽपि पश्येत्, किन्तु भगवन्-मायैवान्यत्र सिद्धं तद्रूपमर्थं तस्मिन्नारोपयतीति, (ब्र०सू० ३।२।३) "मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येना-नभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" इति न्यायेन ॥

६२। अतएव शुद्धस्यापि सतो जीवस्यौपाधिकेनैव रूपेणोपाधिधर्मापत्तिरिति दृष्टान्तान्त-

सर्वसम्वादिनी

पुराणञ्च (वि०पु० ६।८।५७)—'यस्मिन् ब्रह्मणि सर्वशक्ति-निलये मानानि नो मानिनाम्' इति।

न चेत्थं सावयवत्वेनानित्यत्वं मन्तव्यम्,—तादृश-वैलक्षण्यात्, सर्वकारणत्वात्, श्रुति-शब्द-मूलादेव नित्यत्वाच्च। तदुक्तं (ब्र०सू० २।२।४१) माध्वभाष्ये—"अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा" इत्यत्र—"विष्णोस्तु

भगवत् माया के द्वारा ही स्वरूपभूत ज्ञानादि का विलोप, एवं संसरण रूप अवस्था की प्रतीति होती है, उसको पुनर्बार सदृष्टान्त प्रतिपादन करते हैं।

भा० ३।७।१० में वर्णित है—जिस प्रकार स्वप्न द्रष्टा व्यक्ति के शिरश्छेदादि व्यतीत स्वप्न कालीन शिरश्छेदादि विशिष्ट आत्मविपर्य्यय मिथ्या होने पर भी अनुभूत होता है। उस प्रकार जीव का मायाजाल में आबद्ध होना एवं स्वरूपभूत ज्ञानानन्दादि का विनाश, वस्तुतः मिथ्या होने पर भी भगवत् माया के द्वारा सत्यवत् प्रतीत होता है।

सन्दर्भ व्याख्या। जिस माया के कारण, विषय वर्त्तमान न होने पर भी, यद्यपि जीव का भूत भविष्यत् वर्त्तमान रूप कालत्रय में भी उस प्रकार स्वरूपभूत ज्ञानादि का नाश एवं संसरण रूप अवस्था नहीं है, तथापि आत्मविपर्य्यय आत्मविस्मृति होती है। आत्मविस्मृति पूर्वक देहाभिमान के द्वारा मैं देहधर्मविशिष्ट हूँ, अर्थात् सुखी दुःखी प्रभृति धर्मवान् हूँ, इस प्रकार अवस्था होती है। दृष्टान्त के द्वारा प्रदर्शन करते हैं। उपद्रष्टा—अर्थात् जीव का, तृतीया विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। स्वप्नावस्था में जीव का निज शिरश्छेदनादि रूप अत्यन्त असम्भव कार्य्य का अनुभव होता है। जीव का शिरश्छेद नहीं होता है, न-तो कोई निज शिरश्छेद को भी देखता है। किन्तु भगवत् माया के द्वारा ही अन्यत्र सिद्ध शिरश्छेदादि कार्य्य का आरोप स्वप्न में जीव अपने में कर लेता है।

ब्रह्मसूत्र ३।२।३ में उक्त है—"मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्"।

गोविन्द भाष्य—स्वप्नसृष्टावतर्क्या मायैवकरणम्। नतु पञ्चीकृतानि भूतानि चतुर्मुखादयश्च। कुतः? कार्त्स्न्येनेत्यादेः सर्वानुभाव्यतया अनभिव्यक्तेरित्यर्थः। तस्मात् परमात्मकृता स्वप्नसृष्टिरिति सिद्धम्।३।

स्वाप्निक सृष्टि का करण अवितर्क्या माया ही है। किन्तु पञ्चीकृत भूत अथवा ब्रह्मादि उसमें करण नहीं है। कारण—स्वप्नसृष्टि, स्वप्नद्रष्टा जीव को छोड़कर अपर को दिखाई नहीं पड़ती। अतएव स्वप्न में सृष्टि परमात्मा के द्वारा ही होती है ॥६१॥

अतएव जीव शुद्ध होने पर भी औपाधिक रूप के द्वारा ही औपाधिक धर्म की प्राप्ति उसकी होती है।

रेणोपपादयति (भा० ३।७।११)—

(६२) "यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः ।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः ।।"११।।

यथा जले प्रतिविम्बितस्यैव चन्द्रमसो जलोपाधिकृतः कम्पादिगुणो धर्मो दृश्यते, न त्वाकाशस्थितस्य तद्वदनात्मनः प्रकृतिरूपोपाधेर्धर्म आत्मनः शुद्धस्यासन्नपि अहमेव सोऽयमित्यावेशान्माययोपाधितादात्म्यापन्नाहङ्काराभासस्य प्रतिविम्वस्थानीयस्य तस्यद्रष्टुराध्यात्मिकावस्थस्यैव यद्यपि स्यात्तथापि शुद्धोऽसौ तदभेदाभिमानेन तं पश्यतीत्यर्थः । तदुक्तमेकादशे श्रीभगवता (भा० ११।२२।५३)—

"नृत्यतो गायतः पश्यन् यथैवानुकरोति तान् ।
एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्य्यते ।।"५३।। इति ।

तथैवोक्तम् (भा० ५।११।१२) "शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्त्तुः" इति । वि-शब्दस्य चात्र तदावेश एव तात्पर्य्यम्, तस्माद्भगवतोऽचिन्त्यस्वरूपान्तरङ्ग-महाप्रबलशक्तित्वाद्वहिरङ्गया प्रबलयाप्यचिन्त्ययापि माययापि न स्पृष्टिः; जीवस्य तु तया स्पृष्टिरिति सिद्धान्तितम् ।।

सर्वसम्वादिनी

श्रुत्यैव सर्वे विरोधाः परिहृताः", (ब्र०सू० २।२।४१ माध्वभाष्य-धृताभिः श्रुतिभिः) 'यदात्मको भगवांस्तदात्मिका व्यक्तिः' इत्यादिकया, [तत्रैव] 'बुद्धि मनोऽङ्गप्रत्यङ्गवत्तां भगवतो लक्षयामहे' इत्यादिकया, [तत्रैव] 'सद्देहः सुखगन्धश्च' इत्यादिकया च ।

दृष्टान्तान्तर के द्वारा उसका उपपादन करते हैं। भा० ३।७।११ में वर्णित है,—जिस प्रकार चन्द्रमण्डल जल में प्रतिविम्वित होने पर भी जलोपाधिकृत कम्पनादि धर्म यद्यपि वास्तविक रूप में विम्व में नहीं है, तथापि दृष्ट होता है। किन्तु आकाशस्थ विम्व रूप चन्द्र में दृष्ट नहीं होता है। उस प्रकार अनात्म देही का धर्म वस्तुत मिथ्या होने पर भी देहाभिमानी जीव में ही वह प्रतीयमान होता है। देहाभिमान रहित ईश्वर में उसकी प्रतीति नहीं होती है।

सन्दर्भ व्याख्या—जिस प्रकार जल में प्रतिविम्वित चन्द्र का ही जलोपाधिकृत कम्पादि गुण रूप धर्म दृष्ट होता है। किन्तु आकाशस्थ चन्द्रमा में उक्त धर्म दृष्ट नहीं होता है। उस प्रकार अनात्मा का अर्थात् प्रकृति रूपोपाधि का धर्म, शुद्ध आत्मा का न होने पर भी 'मैं वही हूँ' इस प्रकार आवेश के कारण, माया के द्वारा सृष्ट उपाधि के सहित तादात्म्यापन्न अहङ्काराभास,— प्रतिविम्वस्थानीय द्रष्टा जीव की आध्यात्मिक अवस्था का ही है, तथापि शुद्ध जीव, मायोपाधि के सहित अभेद अभिमान के द्वारा उक्त उपाधि धर्म को अवलोकन करता है।

उक्त विषय का कथन श्रीभगवान् के द्वारा भा० ११।२२।५३ में इस प्रकार हुआ है,—जिस प्रकार नृत्य परायण मनुष्यों के अङ्ग विक्षेप प्रभृति को देखकर अपर मनुष्य उसका अनुकरण करता है, उस प्रकार बुद्धि के गुणों को अवलोकन करके उससे आकृष्ट होकर निरीह जीव भी उसका अनुकरण करता है। भा० ५।११।१२ में उक्त है—"शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्ध कर्त्तुः"।

जीव मायातीत होकर भगवद्वहिर्मुखता रूप अन्तःकरण की वृत्ति को देखकर उसमें आविष्ट होता है। "विशुद्ध" स्थ वि-शब्द का तात्पर्य्य—भगवद् वहिर्मुख कर्म में आवेश। भगवान् की अचिन्त्य स्वरूपा महाप्रबला अन्तरङ्गा शक्ति है। तज्जन्य अचिन्त्य प्रबल वहिरङ्ग मायाशक्ति के सहित संस्पर्श भगवान् का

श्रीशुकः ॥

९३। एवं सृष्ट्यादिलीलात्रये सामान्यतो योजितेऽपि पुनर्विशेषतः संशय्य सिद्धान्तः क्रियते स्थूणानिखनन-न्यायेन। ननु पालनलीलायां ये येऽवतारास्तथा तत्रैव स्वप्रसादव्यञ्जक-स्मिताभयमुद्रादिचेष्टया सुरपक्षपातो युद्धादिचेष्टया दैत्यसंहार इत्यादिका या या वा लीलाः श्रूयन्ते, ते च ताश्च स्वयं परमेश्वरेण क्रियन्ते न वा? आद्ये पूर्वपक्षस्तदवस्थ एव, प्रत्युत पक्षपातादिना वैषम्यञ्च। अन्ते तेषामवताराणां तासां लीलानाञ्च न स्वरूपभूतता सिध्यतीति सम्प्रतिपत्तिभङ्गः। अत्रोच्यते—सत्यम्, विश्वपालनार्थं परमेश्वरो न किञ्चित् करोति, किन्तु स्वेन सहैवावतीर्णान् वैकुण्ठपार्षदान् तथाधिकारिकदेवाद्यन्तर्गतान् तथा तटस्थानन्यांश्च भक्तानानन्दयितुं स्वरूपशक्त्याविष्कारेणैव नानावतारान् लीलाश्चासौ प्रकाशयति। तदुक्तं पाद्मे—

"मुहूर्त्तेनापि संहर्त्तुं शक्तो यद्यपि दानवान्। मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः॥
दर्शन-ध्यान-संस्पर्शैर्मत्स्य-कूर्म-विहङ्गमाः। स्वान्यपत्यानि पुष्णन्ति तथाहमपि पद्मज॥" इति;

सर्वसम्वादिनी

तस्मादचिन्त्यया शक्त्या निरवयवं सावयवञ्च ब्रह्म तयैव परिणाममानमपि निर्विकारमेव तिष्ठतीति श्रौतसिद्धान्तः। तस्मात् 'तत्त्वतोऽन्यथाभावः परिणामः' इत्येव लक्षणम्, न तु तत्त्वस्येति। दृश्यते चापि मणिमन्त्र-महौषधि-प्रभृतीनां तर्कालभ्यं शास्त्रैकगम्यमचिन्त्यशक्तित्वम्; तस्मान्नासम्भावनीयमपि। तथा

नहीं होता है। जीव में उक्त महा प्रबला अन्तरङ्गा शक्ति न होने से माया के सहित संस्पर्श होता है, यह ही सिद्धान्त हुआ। प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥९२॥

उक्त प्रकार से विश्व सृष्टि स्थिति लयात्मक लीलात्रय का सिद्धान्त स्थापित होने पर भी पुनर्बार विशेष रूप से संशय उपस्थापन पूर्वक स्थूणा निखनन न्याय से सिद्धान्त करते हैं। पूर्व स्थापित सिद्धान्त के सहित विरोध यह है कि—पालन लीला हेतु जो जो अवतार होते हैं, उन उन लीलावसर में लीलाधिनायक भगवान्, निज प्रसन्नता प्रकाशक स्मित हास्य एवं अभयमुद्रापूर्ण चेष्टादि के द्वारा सुरवर्ग का पक्षपात, एवं युद्धादि चेष्टा के द्वारा असुर विनाशादि लीला करते हैं, उक्त अवतारसमूह एवं उनके लीलासमूह का सम्पादन स्वयं भगवान् करते हैं, अथवा नहीं? यदि करते हैं, यह प्रथम कल्प है, तब पूर्वपक्ष की यथावत् स्थिति होती है। प्रत्युत देववर्ग के पक्षपात प्रभृति आचरण अनुष्ठित उक्त लीलासमूह के द्वारा होने से भगवान् में वैषम्य दोष, सुस्पष्ट होता है। यदि नहीं कहते हैं—यह द्वितीय कल्प है, तब उक्त लीलावतारसमूह की एवं तत् कर्त्तृक अनुष्ठित लीला समूह की स्वरूपभूतता नहीं होगी। इससे प्रतिज्ञा भङ्ग होगी, अर्थात् भगवान् एवं भगवान् के अवतारसमूह एवं उनके लीलासमूह नित्य है, स्वरूपशक्ति के विलासभूत है, मायावृत्ति कवलित नहीं है, यह कथन विपर्य्यस्त होगा।

उक्त विषय में सिद्धान्त करते हैं—कथन सत्य है। विश्व पालन के निमित्त स्वयं भगवान् कुछ भी नहीं करते हैं। किन्तु जिस समय स्वयं भगवान् लोक नयन गोचरीभूत होने की इच्छा से धराधाम में अवतीर्ण होते हैं। उस समय उनके सहित वैकुण्ठ के पार्षद्वर्ग भी अवतीर्ण होते हैं, एवं देवगण के मध्य में अधिकारी भक्तवर्ग एवं तटस्थ अन्यान्य भक्तवर्ग भी अवतीर्ण होते हैं। उन सब को आनन्दित करने के लिए स्वरूपशक्ति आविष्कार के द्वारा अनेक प्रकार अवतार एवं लीलासमूह का अनुष्ठान परमेश्वर करते हैं।

पद्मपुराण में कथित है—यद्यपि मैं मुहूर्त्तमात्र से ही दानवों का संहार करने में सक्षम हूँ, तथापि मेरे

हरिभक्तिसुधोदये (१४।३१)—

"नित्यश्च पूर्णकामस्य जन्मानि विविधानि मे। भक्तसर्वेष्टदानाय तस्मात् किं ते प्रियं वद ॥"३१॥ इति ; तथा श्रीकुन्तीदेवीवचनश्च (भा० १।८।२०)—'भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः' इति। अत्र भक्तियोगविधानं तदर्थमवतीर्णं त्वामिति टीकानुमतञ्च। श्रीब्रह्मवचनञ्च (भा० १०।१४।३७)—

"प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले।

प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो ॥"३७॥ इति।

स्वरूपशक्त्यैवाविष्कारश्च श्रीब्रह्मणैव दर्शितः (भा० ३।९।२३) "एष प्रपन्नवरदो रमयात्मशक्त्या, यद्यत् करिष्यति गृहीतगुणावतारः" इत्यादिना। गृहीता गुणाः कारुण्यादयो यत्र

सर्वसम्वादिनी

च सर्वेषामेवाचिन्त्यशक्तिक-जगद्वस्तूनां मूलकारणस्य तस्याचिन्त्यशक्तित्वे सुतरामेव लब्धे श्रुतिदृष्ट-युगपद्विकारादीनां साधनाय तादृश-शक्तिहीनानां शुक्त्यादीनामिव विवर्त्तः समाश्रयितुमयुक्त एव। तथोक्तं

भक्तवृन्दों को सुखी करने के निमित्त विविध प्रकार क्रीड़ा का अनुष्ठान करता हूँ। हे पद्मज ! मत्स्य गण जिस प्रकार दर्शन के द्वारा, चिन्तन के द्वारा कूर्मगण, सम्यक् स्पर्श के द्वारा पक्षिगण निज निज सन्तति वर्ग का पोषण करते हैं, मैं भी उस प्रकार निज भक्तगण का प्रतिपालन करता हूँ।

हरिभक्तिसुधोदय (१४।३१) में उक्त है,—श्रीनृसिंह देव बोले—हे प्रह्लाद ! मैं सर्वदा ही पूर्णकाम हूँ। मेरा विविध अवतारसमूह भक्त जनगण को सर्व प्रकार अभीष्ट प्रदान करने के निमित्त होते हैं। अतएव मैं जिज्ञासा करता हूँ, तुम्हारा प्रिय क्या है कहो ? उस प्रकार भा० १।८।२० में श्रीकुन्तीदेवी का कथन है—

"तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्। भक्तियोग विधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः ॥

तुम्हारा महत्त्व, अति अद्भुत है, आत्म अनात्म विवेक परायण परमहंस व्यक्तिगण, तथा मननशील राग-द्वेष रहित मुनिगण भी जिसको जानने में सक्षम नहीं हैं, तज्जन्य उन सब को भक्तियोग प्रदान हेतु अवतीर्ण हुये हो, स्त्री जाति मैं तुम्हें कैसे जान सकूँगी। दर्शन की सम्भावना ही नहीं है।

स्वामिटीका—"किञ्च, परमहंसानां—आत्मानात्मविवेकिनां, ततो मुनीनाम्—मननशीलानामपि, ततश्चामलनात्मनाम्—निवृत्तरागादीनामपि, तथा, तेन निजमहिम्ना न लक्ष्यसे। ततो भक्तियोगविधानार्थं त्वाम् आत्मारामान् मुनीनपि अचिन्त्यनिजगुणैराकृष्य भक्तियोगं विधातुं कारयितुं अवतीर्णमित्यर्थः।"

यहाँ पर स्वामिपाद ने भी "भक्तियोगविधानार्थं" की टीका में कहा है कि– आत्माराम मुनिगण को भी अचिन्त्य निज गुणों के द्वारा आकर्षण कर निज भक्तियोग आचरण में रत कराने के लिए ही तुम अवतीर्ण हो। अतएव भक्तसुख प्रदान हेतु स्वयं भगवान् अवतीर्ण होते हैं, इसको श्रीधरस्वामि महोदय भी मानते हैं।

भा० १०।१४।३७ में श्रीब्रह्मा ने कहा है—"किन्तु आप तज्जन्य इन सब के पुत्र रूपमें वर्त्तमान नहीं हैं, आप वस्तुतः निष्प्रपञ्च है, केवल भक्त जनगण के आनन्दवर्द्धनार्थ इस प्रकार प्रपञ्च का विस्तार करते हैं। प्रभो कपट पुत्रत्व के द्वारा क्या भक्तानन्दसन्दोह की प्रपूर्त्ति हो सकती है ?

स्वामिटीका—"नन्वतएवाहमेषां पुत्रादिरूपेण वर्त्ते, इति चेत् तत्राह—प्रपञ्चमिति। प्रपन्ना यया जनता —जनसमूहस्तस्या आनन्दानां सन्दोहं समूहं प्रथयितुमिति। "नहि कपटपुत्रत्वादिना तादृग्भक्तेरानृण्यं सम्पद्यते" इत्यर्थः ॥"

स्वयं भगवान् स्वरूपशक्ति के सहित ही मर्त्यधाम में प्रकटित होते हैं, श्रीब्रह्मा ने उसको भी दर्शाया है। भा० ३।९।२३ में उक्त है—"एष प्रपन्न वरदो रमयात्मशक्त्या यद् यद् करिष्यति गृहीतगुणावतारः।

तस्मिन् सविक्रममिदं सृजतोऽपि चेतो युञ्जीतकर्मशमलञ्च यथा विजह्याम् ॥

तथाभूतोऽवतारो यस्येत्यर्थः। तदेवं भक्तानन्दार्थमेव तान् प्रकटयतस्तस्यानानुसंहितमपि सुरपक्षपातादि-विश्वपालनरूपं तन्मायाकार्य्यं स्वत एव भवति। लोके यथा केचिद्भक्ताः परस्परं भगवत्प्रेमसुखोल्लासाय मिलितास्तदनभिज्ञानपि कांश्चिन्मार्द्दङ्गिकादीन् संगृह्य तद्गुणगानानन्देनोन्मत्तवन्नृत्यन्तो विश्वेषामेवामङ्गलं घ्नन्ति, मङ्गलमपि वर्द्धयन्तीति; तदुक्तम् (भा० ११।१४।२४) "वाग्गद्गदा" इत्यादौ "मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति" इति।

सर्वसम्वादिनी

(ब्र०सू० २।२।३७) शङ्कर-शारीरकेऽपि,—"पत्युरसामञ्जस्यात्" इत्यधिकरणे (ब्र०सू० २।२।३८—शा०भा०) "आगमवलेन ब्रह्मवादी कारणादिस्वरूपं निरूपयति; नावश्यं तस्य यथादृष्टं सर्वमभ्युपगन्तव्यम्" इति।

सर्वतोऽप्याश्चर्य्यशक्तित्वं तस्य तदनन्तर (ब्र०सू० २।१।२७श सूत्रस्यानन्तर-) सूत्रे (ब्र०सू० २।१।२८) 'आत्मनि

शरणागत जनगण के प्रति वरप्रद भगवान्,—आत्मशक्ति के सहित जो जो क्रीड़ादि करते हैं, मैं उनकी आज्ञा से उनकी प्रभावान्वित इस विश्व सृष्टि में नियुक्त होने पर भी, आप मेरा चित्त को उक्त समुदय कार्य्य में रत करें, जिससे मैं उक्त कार्य्यसमूह में आसक्त हो सकूँ, एवं उक्त आसक्ति जनित वैषम्यादि रूप पाप का परित्याग कर सकूँ।

"गृहीतगुणाः" अर्थात् जिस अवतार में परिपूर्ण रूप से करुणादि गुणों का ग्रहण हुआ है। इस प्रकार जिनका अवतार है।

स्वामिटीका—आत्मशक्त्या-रमया, सह यद् यद् कर्म करिष्यति, स्वविक्रमं—स्वस्य विष्णोरेव विक्रमः, प्रभावो यस्मिन् तदिदं विश्वं तदाज्ञाया सृजतोऽपि मे चेतः स एव युञ्जीत प्रवर्त्तयतुः। कर्मासक्ति तत्कृतं शमलञ्च वैषम्यादि पापं यथा विजह्याम् त्यक्षामि॥

क्रमसन्दर्भ—एष इति। रमयेति रमाख्यया स्वरूपशक्त्या, नतु मायाशक्त्या, हेतुना, गृहीतगुणावतारो गृहीता गुणा भक्तवात्सल्यादयो येषु, तादृशा अवतारा यस्य सः स्वविक्रममिति त्वद्विक्रममयमेव विश्वं स्यात् ततस्त्वच्छक्त्यैव मया तत् कर्त्तुं शक्यम्, ततस्तथा प्रार्थनञ्च, मम युक्तमेवेति भावः।

अतएव भक्तानन्दसन्दोह वर्द्धनार्थ ही अवतारसमूह प्रकटित होते हैं। सुर पक्षपातादि कार्य्य, एवं विश्व पालनादि रूप कार्य्य, जो कि भगवान् की वहिरङ्गा शक्ति से होते हैं। उन सब का सम्पादन आनुषङ्गिक रूप से स्वतः ही होता है।

इस जगत् में भी देखने में आता है—भगवत् प्रेमसुखोन्मत्त कतिपय भक्त प्रेमसुखोल्लास हेतु परस्पर मिलित होते हैं। उक्त भगवत् प्रेमसुख के सम्बन्ध में अनभिज्ञ कतिपय मार्दङ्गिकको लेकर भगवद् गुणगान से विभोर होकर जब नृत्य करते हैं, उससे जगत् का अमङ्गल विनष्ट होता है, एवं मङ्गल बर्द्धित होता है। तज्जन्य श्रीमद्भागवत के ११।१४।२४ में उक्त है—

"वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

श्रीभगवान् बोले थे—हे उद्धव! मेरी चरित्र कथा सुनने से जिसका चित्त द्रवित होता है, वाणी गद्गदायमान होती है, कभी रोदन हास्य करता रहता है, कभी नृत्य गान करता है, इस प्रकार मद्भक्ति युक्त व्यक्ति त्रिजगत् को पवित्र करता है।

स्वामिटीका। किञ्च भक्तिः स्वाश्रयं शोधयतीति किं वक्तव्यं? यतो गद्गद्वागादिलक्षणो मद्भक्तियुक्तो लोकं सर्वं पुनातीत्याह वागिति॥

क्रमसन्दर्भ। मद्भक्तियुक्तो मत् प्रेमातिशयपात्रश्चेद् भुवनमपि पुनाति, किमुताशयम्; सङ्गिनः,

एवमेवोक्तम्—

"सृष्ट्यादिकं हरेर्नैव प्रयोजनमपेक्ष्य तु । कुरुते केवलानन्दाद् यथा मत्तस्य नर्त्तनम् ।।" इति ।

न च वक्तव्यं स्वेन तेषां तैरपि स्वस्यानन्दने स्वतस्तृप्तताहानिः स्यात्, तथान्यान् परित्यज्य च तेषामेवानन्दने वैषम्यान्तरमपि स्यादिति । तत्राद्ये विशुद्धोर्जितसत्त्वतनुमाश्रितेऽपि मुनिजने स्वतस्तृप्तिपराकाष्ठां प्राप्तो भक्तवात्सल्यदर्शनात्तदनुचर एवासौ गुणो न तु तत्प्रतिघातीति लभ्यते । यथा सर्वान् मुनीन् प्रति श्रीपरीक्षिद्वाक्यम् (भा० १।१९।२३) "नेहाथ वामुत्र च कश्चनार्थ, ऋते परानुग्रहमात्मशीलम्" इति; तथा जड़भरतचरितादौ (भा० ५।१३।२४)— सिन्धुपतय आत्मसतत्त्वं विगणयतः परानुभावः परमकारुणिकतयोपदिश्य" इत्यादि,श्रीनारद-

सर्वसम्वादिनी

चैवं विचित्राश्च हि' इत्यत्र श्रीमध्वाचार्य्यैरुदाहृतम्—

"विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराणो, न चान्येषां शक्तयस्तादृशाः स्युः ।
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, सर्वान् देवानेक एवानुविष्टः ।।"२६।।

ग्रामम्, देशम्, मण्डलम्, वर्षम्, द्वीपादिकञ्चेत्यर्थः ।।

"मद्भक्तियुक्त जन—अर्थात् मेरे प्रति अतिशय प्रीतिशील व्यक्ति यदि होता है, तो भुवन को पवित्र करता है । आशयशुद्धि की तो बात ही क्या ? सङ्गी, ग्राम, देश, मण्डल, वर्ष, एवं द्वीपादि को पवित्र करता है ।"

इस प्रकार वार्त्ता पुराणान्तर में भी है—विश्व सृष्ट्यादि कार्य्यसमूह को श्रीहरि प्रयोजन के वशवर्त्ती होकर नहीं करते हैं, केवल आनन्द से ही करते हैं । जिस प्रकार उन्मत्त व्यक्ति का नृत्य है ।

यदि कहें कि—निज भक्तवृन्द को आनन्द प्रदान से एवं भक्तवृन्द के द्वारा स्वयं आनन्दपूर्ण होने से स्वतस्तृप्तता की हानि होती है, तथा अन्य व्यक्तिसमूह का परित्याग करके भक्तगण को आनन्दित करने से वैषम्यान्तर दोष भी होगा ? इस प्रकार कथन समीचीन नहीं है । कारण स्वतस्तृप्तता की हानि नहीं हो सकती है, विशुद्धोर्ज्जित सत्त्वतनु को आश्रय करने पर भी स्वतस्तृप्ति के पराकाष्ठाप्राप्त मुनिगण के प्रति उनका भक्तवात्सल्य दृष्ट होता है । अतएव भक्तवात्सल्य गुण स्वतस्तृप्तता का अनुकूल ही है, विरुद्ध नहीं है । भा० १।१९।२३ में समस्त मुनिजनों के प्रति श्रीपरीक्षित् वाक्य इस प्रकार है—

"समागताः सर्वत एव सर्वे, वेदा यथा मूर्त्तिधरास्त्रिपृष्ठे नेह य नामुत्र च कश्चनार्थ ऋते परानुग्रहमात्मशीलम् ।

टीका—त्रयाणां लोकानामुपरि सत्यलोके वेदा यथा मूर्त्तिधरा भवन्ति तत्तुल्याः । ज्ञानातिशयमुक्त्वा कृपालुतामाह—नेति भवतां प्रयोजनं परानुग्रहं विना नास्ति । तर्हि स एवार्थो स्यात् । न आत्मशीलं—स्व स्वभावम् ।

क्रमसन्दर्भः । अर्थः—प्रार्थनीयं वस्तु; परानुग्रहश्च न विचारपूर्वक इत्याह—आत्मशीलम् ।।

महाराज परीक्षित ने कहा—मुनिगण ! आप सब की ऐहिक-पारत्रिक वस्तुओं में प्रयोजन बुद्धि नहीं है, केवल दूसरे के प्रति अनुग्रह करना ही आप सब का प्रयोजन है, वह भी अपने के लिए नहीं है । कारण वह ही आप सब का स्वभाव है । जब प्रार्थनीय वस्तु कुछ भी नहीं है, अतएव परानुग्रह विचारपूर्वक नहीं होता है, आप सब आत्मशील हैं । इस प्रकार जड़भरत चरितादि में भा० ५।१३।२४ उक्त है—

श्रीशुक उवाच—"इत्येवमुत्तरामातः स वै ब्रह्मर्षिसुतः सिन्धुपतय आत्मसत्त्वं विगणयतः परानुभावः परमकारुणिकतयोपदिश्य रहूगणेन सकरुणमभिवन्दितचरणः पूर्णार्णव इव निभृतकरचरणोर्म्म्याशयो

पूर्वजन्मनि (भा० १।५।२४) "चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः, शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि" इति च ; तथा श्रीकुन्तिस्तवे (भा० १।८।२७)—

"नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये ।

आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ॥"२७॥ इति ।

"अकिञ्चना भक्ता एव वित्तं सर्वस्वं यस्य" इति टीका च । ततोऽन्यथा चाकृतज्ञतादोषश्च निर्दोषे भगवत्यापतति । ततः सिद्धे तथाविधस्यापि भक्तवात्सल्ये भक्तानां दुःखहान्या सुख-

सर्वसम्वादिनी

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि इति । ततश्च सूत्रकारेणापि शास्त्रैकगम्यत्वमेवाङ्गीकुर्वता शुक्तिरजतवत् पुरुष-दृष्ट्यवगम्यत्वं निराकृत्य प्रकरण-सिद्धः परिणाम एव दृढीकृतः । दृश्यते च (मु० १।१।७) 'यथोर्णनाभिः

धरणिमिमां विचचार ।

टीका— उत्तरा माता यस्य हे उत्तरामातः ! विगणयतः— अवयन्तर्यपि परमकरुणाकरत्वेन सिन्धुपतये आत्मतत्त्वमुपदिश्य, निभृताः शान्ताः करणानाम् ऊर्म्मयो यस्मिन् स आशयो यस्य ॥

क्रमसन्दर्भः । उत्तरामातरिति विसर्गान्तपाठ आर्षप्रयोगो मन्तव्यः, अर्हत्यत्रार्थे समासान्तविधौ मातुर्मातरादेशविधानात् ततोऽन्यत्र च कप् प्रत्यय विधानात् ।

शुक ने कहा—हे उत्तरासुत परीक्षित्, सिन्धु देशाधिपति रहुगण ने यद्यपि अवमानन किया था, तथापि ब्रह्मर्षि तनय महात्मा भरत परम कारुणिकता हेतु उनको आत्मतत्त्व का उपदेश दिए थे । भा० १।५।२४ श्रीनारद के पूर्वजन्म वृत्तान्त में उक्त है—

ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके दान्तेऽधृतक्रीड़नकेऽनुवर्त्तिनि ।

चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि ॥"

मैं बाल्य चापल्य, बाल्यक्रीड़ा एवं लोभादि का त्यागकर संयतेन्द्रिय एवं सर्वदा अनुकूल रहकर शुश्रूषा करने पर सर्वत्र समदर्शी मुनिगण मेरे प्रति कृपा किए थे ।

भा० १।८।२७ उस प्रकार श्रीकुन्ती स्तव में वर्णित है,—कुन्ती बोली, हे कृष्ण ! भक्तजन ही तुम्हारा सर्वस्व है, धर्म, अर्थ काम प्रभृति विषयों में तुम्हारा अभिलाष नहीं है, तुम आत्माराम एवं शान्त हो, अर्थात् रागादि रहित हो, मुक्ति प्रदाता तुम्हीं हो, अतः तुम्हें नमस्कार करती हूँ ।

टीका— प्रस्तुत मनोरथपूरणाय पुनः प्रणमति । नम इति । अकिञ्चना भक्ता एव वित्तं सर्वस्वं यस्य तस्मै । ततः किन् ? निवृत्ता गुणवृत्तयः, धर्म अर्थकामविषया यस्मात्, तस्मै, तत् कुतः ? आत्मारामाय, तत् कुतः ? शान्ताय—रागादिरहिताय, किञ्च कैवल्यपतये, कैवल्यं दातुं समर्थाय ॥

क्रमसन्दर्भः । ननु अकिञ्चन वित्तत्वेन किं माहात्म्यं जातम् ? तत्राह—निवृत्तेति । गुणवृत्तिरहितस्य तव यद्भक्तवित्तत्वम्, तत् परममहदेवेति भावः । तद्धि भक्तानां निर्गुणत्वं सर्वगुणमयादुत्कृष्टत्वं च व्यनक्ति । आत्मारामेत्यनेन ततोऽप्याधिक्यम् । आत्मारामस्यापि वित्तत्वात् । कथं शान्तायेत्यादि ।

अकिञ्चन वित्त होने से महत्त्व क्या हुआ ? कहा—निवृत्तेति । तुम मायिक गुणवृत्तिरहित हो, अथच भक्त ही एकमात्र वित्त है । परममहत् है । भक्तगण की निर्गुणता समस्त गुणमयादि में उत्कृष्ट हो, आत्माराम हो, उससे भी श्रेष्ठ हो, आत्मारामों का वित्तरूप तुम हो, अतएव तुम शान्त हो, तुम्हें नमस्कार । स्वामिपाद की टीका भी उक्तानुरूप है—"अकिञ्चन भक्तगण जिनका वित्त—अर्थात् सर्वस्व हैं ।" भगवान् निर्दोष हैं, भक्तपक्षपाती भगवान् न होने से भगवान् में अकृतज्ञादि दोषों का आपतन होगा । तज्जन्य स्वतस्तृप्त भगवान् में भक्त वात्सल्य सिद्ध होने से भक्तगणों को दुःख से मुक्त करने से, अथवा भक्तगण

प्राप्त्या वा स्वानन्दो भवतीत्यायातमेव। किञ्च, परमसारभूताया अपि स्वरूपशक्तेः सारभूता ह्लादिनी नाम या वृत्तिस्तस्या एव सारभूतो वृत्तिविशेषो भक्तिः, सा च रत्यपरपर्य्याया भक्ति-र्भगवति भक्तेषु च निक्षिप्तनिजोभयकोटिः सर्वदा तिष्ठति। अतएवोक्तम् (भा० १०।८६।५९)—"भगवान् भक्तभक्तिमान्" इति। तस्माद्भक्तस्थया तया भगवतस्तृप्तौ न स्वतस्तृप्तिताहानिः, प्रत्युत शक्तित्वेन स्वरूपतो भिन्नाभिन्नाया अपि तस्याः, (गी० ४।११) "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" इति न्यायेन, भक्तचित्तस्फुरिताया भेदवृत्तेरिव स्फुरणात्, भगवतो

सर्वसम्वादिनी

सृजते' इत्यादिषु बहुष्वेव परिणाम-प्रक्रियैव। (बृ० २।५।१९) 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यत्रापि माया-शब्दस्य शक्तिमात्र-वाच्यत्वान्न दोषः। न च परिणाम-प्रतिपादने फलं नास्तीति वाच्यम्,—परमात्मन-स्तादृशमहिमज्ञानोत्थ-भक्त्या एव परमपुरुषार्थता-सम्प्रतिपत्तेः;—(नृ०पू०ता० २।४) 'यं वै देवा आनमन्ति

सुखी होने से ही भगवान् आनन्दित होते हैं। और भी—स्वरूपशक्ति ही परम सारभूता है, उक्त स्वरूप शक्ति की सारभूता शक्ति ह्लादिनी है, उसकी सार स्वरूपा भक्ति है, जो ह्लादिनी का वृत्तिविशेष है। उसका अपर नाम रति है, अर्थात् उक्त भक्ति रति नाम से अभिहिता होती है।

वह भक्ति भक्त एवं भगवान् में युगपत् समान रूप से अपने को निक्षिप्त कर अवस्थिता होती है। तौल यन्त्र यथा पात्रद्वय को युगपद् निजोभय कोटि के द्वारा क्रोड़ीकृत कर अवस्थित होता है, तद्रूप भक्ति भी भक्त भगवान् के हृदय को युगपत् क्रोड़ीकृत कर सर्वदा रहती है। अतएव भा० १०।८६।५९ में उक्त है—

"एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्। उषित्वादिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारावतीमगात्॥"

टीका—सतां वेदानां त्रिकाण्डविषयाणां प्रभृत्तिप्रकारमादिश्य।

हे राजन्! भक्तभक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण, उक्त प्रकार से भक्तद्वय को श्रुतिवृन्द का ब्रह्मपरत्व सिद्धान्त को कहकर पुनर्बार द्वारका प्रस्थान किए थे। अतएव भक्त हृदयस्थ भक्ति के द्वारा भगवान् परितृप्त होने पर श्रीभगवान् की स्वतस्तृप्तता की हानि नहीं होती है। वस्तुतः शक्ति होने के कारण वह शक्ति, शक्तिमत्तत्त्व भगवान् से भिन्न भिन्न ही है। श्रीमद्गीता ४।११ में लिखित है—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां स्तथैव भजाम्यमहम्। मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥"

जो व्यक्ति जिस भाव से शरणागत होता है, मैं उसका भजन उक्त भावानुरूप ही करता हूँ। शास्त्र समूहों में वर्णित चरम प्राप्य वस्तु मैं ही हूँ। शुद्धभक्तगण शुद्धभक्ति के द्वारा मेरा भजन कर परमानन्द लाभ करते हैं। निर्विशेषवादी को आत्मविनाश रूप सायुज्य मुक्ति प्रदान मैं ही करता हूँ। शून्यवादी को सत्ता लोप के द्वारा शून्य में पर्य्यवसित करता हूँ। जड़वादी गण को चैतन्य आच्छादित करके जड़ीय पदार्थ प्रदान ही करता हूँ। काम्यकर्म परायण को कर्मफल प्रदान करता हूँ। योगीगण को विभूति अथवा कैवल्य प्रदान करता हूँ। इस प्रकार मनुष्यगण मुझको प्राप्त करने के लिए विविध पथ का अनुसरण करते रहते हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण स्वरूप मैं हूँ, मैं समस्त जनों का प्राप्य हूँ। भगवद्भजन, अङ्गुष्ठमात्र पुरुष ध्यान, परमात्म चिन्तन, ब्रह्मज्ञान, यज्ञेश्वरादि का यजन, सब ही मुझको प्राप्त करने का पथ हैं। सुबोध एवं भाग्यवान् व्यक्ति उक्त उपासना को उपाय रूपसे ग्रहण कर मत्स्वरूप उपेय को प्राप्त करता है। जो जन उक्त तत्त्व में आसक्त न होकर चित्तोन्नति साधन नहीं करता है, उसकी श्रेयः प्राप्ति असम्पूर्णा होती है। यह ही भगवत् वाक्य का गूढ़ तात्पर्य्य है।

गी० टी०—ननु नित्य जन्मादिमनोज्ञः सर्वेश्वरस्त्वं मयावगत क्वचित्तु अङ्गुष्ठमात्रादिरूपीश्वरो जन्मादि शून्यः श्रूयते, तत् किं तव त्वदुपासनस्य च वैविध्यं भवेदिति चेदामित्याह,- ये यथेति। ये भक्ता, मामेकं

मां ह्लादयत्यस्य भक्तिरिति, आनन्दचमत्कारातिशयश्च भवति। शक्तितद्वतोर्भेदमतेऽपि विशिष्टस्यैव स्वरूपत्वं सम्प्रतिपन्नम्। तदेतत् सर्वमभिप्रेत्य भणितं दुर्वाससं प्रति श्रीविष्णुना (भा० ९।४।६३-६८)—"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।

साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥६३॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियश्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ॥६४॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥६५॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥६६॥
मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम् ॥६७॥

सर्वसम्वादिनी

मुमुक्षवो ब्रह्मावादिनश्च' इत्यादौ। (मूले ८५तम अनु०) 'तस्मात् परमात्म-परिणाम एव शास्त्रसिद्धान्तः' इति। तदेतत् संक्षेपण दर्शितम्—तत्रेत्यादिना।

अत्र परिणाम-वादे सोपपत्तिका च श्रुतिरवलोक्यते—(छा० ६।१।४) 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं

वैदूर्य्यमिव बहुरूपं सर्वेश्वरं यथा येन प्रकारेण भावेनेति यावत् प्रपद्यन्ते भजन्ति, तानहं तादृशस्तथैव तद् भावानुसारिणा रूपेण भावेन च भजामि साक्षात् भवन्ननु गृह्णामि। न्यूनतामेवकारो निवर्त्तयति। अतो ममैकस्यैव बहुरूपस्य वर्त्म बहुविधमुपासनामार्गमनादि प्रवृत्ततद् उपासकपरम्परानुकम्पितामनुष्याः सर्वे अनुवर्त्तन्ते—अनुसरन्ति ॥

उक्त नियम से भक्तचित्त स्थित अन्तरङ्गा शक्ति सारभूता भक्ति भेद रूप से ही प्रकाशित होती है। कारण भगवान् अनुभव करते हैं कि—भक्त की भक्ति मुझको आनन्दित करती है। उससे भगवान् का आनन्द चमत्कारातिशय भी होता है। शक्ति एवं शक्तिमान् में जो जन भेद स्वीकार करता है, उस मत में भी शक्तिविशिष्ट ही शक्तिमत्तत्त्व प्रतिपादित होता है।

अतएव उक्त समस्त प्रकरण का पर्य्यालोचन करके दुर्वासा मुनि को श्रीविष्णु कहे थे—भा० ९।४।६३-६८ हे द्विज! मैं भक्त पराधीन हूँ। सुतरां पराधीन जन के तुल्य अस्वतन्त्र हूँ, भक्तजन मेरा प्रिय हैं, अतः साधु भक्तगण मेरा हृदय को ग्रास किए हैं।६३।

जिस मानवों की मैं ही एकमात्र गति हूँ, उक्त साधु समूह को छोड़कर मैं निज आत्मा को तथा आत्यन्तिकी श्री को भी नहीं चाहता हूँ।६४।

जो जन—पुत्र, कलत्र, गृह, स्वजन, धन, प्राण, इहलोक, परलोक समुदय को परित्याग कर मेरी शरण ग्रहण किया है, मैं उसको परित्याग करने के लिए कैसे उत्साही हो सकता हूँ।६५।

सर्वत्र समदर्शी साधुगण हृदय बन्धन मेरे सहित ही करते हैं। उक्त हृदय बन्धन रूप ममता के द्वारा मुझको आबद्ध करते हैं। जिस प्रकार सत् स्त्रीसमूह अनुकूल परिचर्य्या के द्वारा सत्पति को वशीभूत करतीं हैं।६६।

सेवारत भक्तगण सेवा द्वारा सालोक्यादि पदार्थ चतुष्टय उपस्थित होने पर भी उन सब को ग्रहण करने

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम् ।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥"६८॥ इति ।

सर्वसम्वादिनी

मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति । अयमर्थः ।—वाचया वाचारम्भणमारम्भो यस्य तत् ; वाचयारभ्यते यत्तदिति वा । यत्किञ्चिद्वाचारम्भणं वाच्यम्, तत् सर्वमेव दण्डादीनामप्यन्यत्र सिद्धत्वात् । 'विकारो नामधेयं' विकार एव नामधेयं नामैव ;—स्वार्थे धेयट् । स च घटादिर्विकारो मृत्तिकैव । मृत्तिकादिकमेव दण्डादिना

का अभीलाषी नहीं होते हैं, सेवा से ही परितृप्त होते हैं। साम्राज्य प्रभृति की कामना तो करते ही नहीं, वे सब काल कवलित होते हैं, उसकी वार्त्ता ही नहीं उठती है ।६७।

साधुगण मेरा हृदय हैं, साधुगण के हृदय मैं हूँ। साधुगण मुझको छोड़कर किसी को महत्त्व का पात्र नहीं जानते । मैं भी उन साधुजनों को छोड़कर स्वल्पमात्र भी किसी को महत्त्व प्रदान नहीं करता हूँ ।६८।

टीका—न आशासे—न स्पृहयामि । इमं परञ्च, लोकं हित्वा, प्रतीतं—प्राप्तमपि ।

क्रमसन्दर्भः । (६३-६८) आत्मनः सर्वथा भक्तवश्यत्वं स्थापयति षड्भिः । तत्र तत् प्रतिजानीते—अहमिति । यथा ह्यस्वतन्त्रो जीवः पराधीनो भवति, तथैवाहं भक्तपराधीन इत्यर्थः । तत्र हेतुः,—भक्ताख्यैः साधुभिः प्रोज्झितकैतवैर्मुमुक्षा पर्य्यन्तकामनारहितैर्ग्रस्तं भक्त्या परमवशीकृतं हृदयं यस्य सः । तत्र हेतुः—भक्तजनेषु प्रियस्तत् प्रीतिलाभेनातिप्रीतिमान् ; यद्वा, भक्तानां ये जनास्तेऽपि प्रिया यस्य सोऽहमिति कैमुत्यं दर्शितम् । तदेव स्थापयति पञ्चभिः । भगवदानन्दः खलु द्विधा,—(१) स्वरूपानन्दः स्वरूपशक्त्यानन्दश्च । अन्तिमश्च द्विधा—(क) मानसानन्दः, (ख) ऐश्वर्य्यानन्दश्च । तत्रानेन तदीयेषु मानसानन्देषु भक्त्यानन्दस्य साम्राज्यं दर्शितम् । स्वरूपानन्देषु ऐश्वर्य्यानन्देषु चाह पद्याभ्याम्—तत्र स्वानुभवमेव प्रमाणयन् स्वरूपानन्दानुभवस्य तच्छक्त्यानन्दानुभवस्य च भक्तभावानुभवाद् गौणत्वं दर्शयति । तेन च भक्तभावस्याह्लादिनीसारत्वमभिप्रैति—नाहमिति । नाशासे—न स्पृहयामि, तेषु कारुण्येऽप्यपि कारणं दर्शयन्नन्यथा स्वस्मिन् कृतघ्नत्वापातं योजयति—ये दारेति । परं सालोक्यादि प्राप्तिपर्य्यन्तम् । अत्रानुरूपपद्यार्थः भा० ३।२५।२२ श्लोके द्रष्टव्यः ।

"तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनां । अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढ़ाम् । मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्त स्वजनबान्धवाः ॥
मदाश्रयाः कथामृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च । तपन्ति विविधास्तापा नैतान् मद्गतचेतसः ॥
त एते साधवः साध्वि ! सर्वसङ्गविवर्जिताः । सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥"

तदुभयं दृष्टान्तेन स्थापयति । मयीति । यतो मयि निर्बद्धहृदयाः, अतः साधवः प्रोज्झितकैतवाः, अतएव समदर्शनाः—अन्यत्र रागद्वेषरहिताश्च । अत्र दृष्टान्तेनांशतः सख्यात्मिका भक्तिर्लक्ष्यते । सालोक्यादि पञ्चविधमुक्तीनामविच्युतत्वं दर्शयन् कैमुत्येन तां प्रीतिभक्तिमतिशयेन दर्शयति—मत् सेवयति । अत्रान्यस्य कालविप्लुतत्वमिति मत्सेवायास्तदभावप्राप्ते निर्गुणत्वं सिद्धम् । कुतोऽन्यदिति सालोक्यादीनां कालेना-विप्लुतत्वम् । तस्मात् सालोक्यादिभ्योऽतिशये तु किमुतेति । ब्रह्मसूत्रस्य ३।३।३४ माध्वभाष्यधृत माठर श्रुतौ—"भक्तिरेवैनं नयति, भक्तिरेवैनं दर्शयति, भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी" इति श्रूयते । तस्मादेवं विविच्यते, या चैवं भगवन्तं स्वानन्देन मदयति, सा किं लक्षणा स्यादिति, न तावत् सांख्यानामिव प्राकृत-सत्त्वमयमायिकानन्दरूपा, भगवतो मायानभिभाव्यत्व श्रुतेः, स्वतस्तृप्तत्वाच्च ; न च निर्विशेषवादिनामिव भगवत्स्वरूपानन्दरूपा, अतिशयानुपपत्तेः ; अतो न तरां जीवस्य स्वरूपानन्दरूपा, अत्यन्तक्षुद्रत्वात्तस्य । ततो विष्णु पु० (१।१२।६९)—"ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित्त्वय्येका सर्वसंश्रये ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते ॥" इति श्रीविष्णुपुराणानुसारेण

ह्लादिन्याख्य तदीय स्वरूपशक्त्यानन्दरूपैवेत्यवशिष्यते; यया खलु भगवान् स्वरूपानन्दमनुभवति,— यदानन्देनानन्दविशेषी भवति, ययैव तं तमानन्दमन्यानप्यनुभावयतीति।

अथ तस्या अपि भगवति सदैव वर्त्तमानतयातिशयानुपपत्तेरत्वेवं विवेचनीयम्। श्रुत्यर्थान्यथानुपपत्त्यर्थापत्ति प्रमाणसिद्धत्वात्तस्या ह्लादिन्या एव कापि सर्वानन्दातिशायिनीवृत्तिर्नित्यं भक्तवृन्देष्वेव निक्षिप्यमाणा भगवत्प्रीत्याख्यया वर्त्तते; अतस्तदनुभवेन श्रीभगवानपि श्रीमद्भक्तेषु प्रीत्यतिशयं भजत इति। अतएव तत्सुखेन भक्तभगवतोः परस्परमावेशाख्यं तदेव परस्पर हृदयस्य तादात्म्यमाह—साधव इति। मह्यं—मम हृदयेन स्वस्य सामानाधिकरण्ये बीजमाह, मदन्यदिति,—अत्यन्तावेशेनैकतापत्त्या ज्वलल्लोहादावग्निव्यपदेशवदत्राप्यभेदनिर्देश इत्यर्थः।

स्वयं भगवान् भक्त के वश में रहते हैं। षट् श्लोकों के द्वारा भक्तवशता का प्रदर्शन करते हैं। स्वीय प्रतिज्ञा वचन को कहते हैं—अहमिति। जिस प्रकार अस्वतन्त्र जीव पराधीन होता है, ठीक उस प्रकार ही मैं भक्तपराधीन हूँ। उसके प्रति हेतु—भक्तसंज्ञक साधुगणों के द्वारा जिन्होंने कपटता को वर्जन किया है, अर्थात् मुक्त होने की कामना से लेकर निखिल कामना का परित्याग किया है; उनसे मैं वशीभूत हो गया हूँ। अर्थात् उनके भक्ति से मेरा हृदय आबद्ध हो गया है। कारण—भक्तजनों के प्रति मेरी प्रीति है, अर्थात् भक्ति जनों की प्रीति को प्राप्त कर ही मैं तृप्त होता हूँ। अथवा, भक्तजनों के जो जन हैं, वे भी मेरा प्रिय हैं। कैमुत्य प्रदर्शित हुआ है। उसका प्रतिपादन पाँच श्लोकों से करते हैं। भगवदानन्द दो प्रकार हैं—(१) स्वरूपानन्द, (२) स्वरूपशक्त्यानन्द। स्वरूपशक्त्यानन्द भी दो प्रकार होते हैं—(क) मानसानन्द, (ख) ऐश्वर्य्यानन्द। मानसानन्द में ही भक्त्यानन्द का साम्राज्य प्रतिष्ठित है। पद द्वय के द्वारा स्वरूपानन्द एवं ऐश्वर्य्यानन्द का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। निजानुभूति के द्वारा कहते हैं—स्वरूपानन्द अनुभव एवं ऐश्वर्य्यानन्दानुभव के निकट अति गौण है। कारण भक्त भाव ही ह्लादिनी सारस्वरूप है, कहते हैं, मैं निज आत्मा एवं पत्नी रूप लक्ष्मी की स्पृहा नहीं करता हूँ। भक्तजनों के प्रति कारुण्य का कारण को कहकर, अपने को कृतघ्नता दोष से मुक्त करते हैं। जो जन पत्नी पुत्र धन गृह आत्मात्मीय को छोड़कर शरण ग्रहण करता है, उसे मैं कैसे छोड़ूँ। वे लोक सालोक्यादि प्राप्ति पर्य्यन्त को भी महत्त्व नहीं देते हैं।

उभय का स्थापन दृष्टान्त से करते हैं। मेरे में निर्बद्ध हृदय, साधुगण होते हैं, अतएव साधुगण—कपटता से वर्जित होते हैं। अतएव समदर्शन हैं, अर्थात् राग-द्वेष रहित हैं। दृष्टान्त में अंशतः सख्यात्मिका भक्ति प्रदर्शित हुई है। सालोक्यादि मुक्ति नित्य हैं। उसको दिखाकर कैमुत्य से प्रीति भक्ति का आतिशय्य का वर्णन करते हैं। मेरी सेवा से उपस्थित वस्तुसमूह में महत्त्व बुद्धि भक्त की नहीं होती है। कालग्रस्त साम्राज्यादि है, उसकी इच्छा भक्तगण की क्यों होगी, वे सब अनित्य हैं। मेरी सेवा निर्गुण, एवं नित्य है, कारण—सालोक्यादि कालग्रस्त नहीं होती है। अतएव सालोक्यादि से भी अत्युत्कृष्ट भक्ति पूर्वक परिचर्य्या है। माध्वभाष्य में उद्धृत माठर श्रुति इस प्रकार है,—भक्ति भगवान् को प्राप्त कराती है, भक्ति—भगवान् का दर्शन कराती है, भगवान् भक्तिवश हैं, भक्ति ही सर्वश्रेष्ठा है।

उस भक्ति के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत करते हैं,—जो भक्ति, भगवान् को आनन्दित करती है, उसका स्वरूप क्या है। सांख्य दर्शन प्रतिपाद्य प्राकृत सत्त्वमय मायिक आनन्दरूपा नहीं है। भगवान् माया के द्वारा अभिभूत नहीं होते हैं, किन्तु स्वतन्त्र हैं। निर्विशेषवादियों के समान भक्ति, स्वरूपानन्दरूपा भी नहीं है। आनन्दातिशय उससे नहीं होता है। अतएव जीव की स्वरूपानन्दरूपा भी नहीं है। वह आनन्द अत्यन्त क्षुद्र है। विष्णुपुराण में उक्त भी है,—सर्वाश्रयरूप भगवान् में ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित् शक्ति ही है, आप प्राकृत गुण वर्जित हैं, अतएव प्राकृत सत्त्व रजः तमः गुणसम्भूत ह्लादतापकरी मिश्रा शक्ति नहीं है। विष्णुपुराण के संवादानुसार ह्लादिन्याख्य तदीय स्वरूपशक्त्यानन्दरूपा ही भक्ति है।

अत्र ये दारागारेतित्रयमकृतज्ञतानिवारणे, "साधवो हृदयं मह्यम्" इति स्वतस्तृप्तिताहानि-परिहारे, भक्तेः स्वरूपशक्तिसारह्लादिनीसारत्वे च "अहं भक्तपराधीनः" इति द्वयम्। तत्रैव भक्तेष्वपि भक्तिरूपेण तत्प्रवेशे सति विशेषतो "मत्सेवया प्रतीतम्" इत्यपि ज्ञेयम्। ततो न प्राक्तनो दोषः। द्वितीयेऽप्येवमाचक्ष्महे,—परानन्दने प्रवृत्तिर्द्विधा जायते; परतो निजाभीष्ट-सम्पत्त्यै क्वचित्तदभीष्टमात्रसम्पत्त्यै च। तत्र प्रथमो नात्राप्युपयुक्तः, स्वात्मार्थमात्रतया कुत्रापि पक्षपाताभावात्। अथोत्तरपक्षे तु परसुखस्य परदुःखस्य चानुभवेनैव परानुकूल्येनैव प्रवृत्तीच्छा जायते, न तु यत्किञ्चिज्ज्ञानमात्रेण चित्तस्य परदुःखाद्यस्पर्शे कृपारूपविकारा-सम्भवात्, (भा० १०।१०।१४)—

"यथा कण्टकविद्धाङ्गो जन्तोर्नेच्छति तां व्यथाम्।
जीवसाम्यं गतो लिङ्गैर्न तथाविद्धकण्टकः ॥१४॥

सर्वसम्वादिनी

निमित्तेनाविर्भुताकारविशेषं घटादि व्यवहारमापद्यत इति ; ततो न पृथगित्यर्थः। 'इत्येव सत्यम्' इति, न तु शुक्ति-रजतादिवद्विवर्त्तः ; न तु वा शुक्तेः सकाशात् स्वतोऽन्यत्र सिद्धं रजतमिव भिन्नमित्यर्थः,–वाक्यान्तोप-दिष्टस्येति-शब्दस्य समुदायान्वयित्वात्, (छा० ६।२।२ 'कथमसतः सज्जायेत' इत्यादिवत्। अत्रापि श्रुत्यैवेतर

जिससे भगवान् स्वरूपानन्द का अनुभव करते हैं, जिससे आनन्दस्वरूप होकर भी विशेष आनन्दित होते हैं, जिसके द्वारा उस आनन्द का आस्वादन अपर को भी करवाते हैं।

वह शक्ति भगवान् में नित्य विराजिता होने पर उससे आनन्दातिशय्य होना सम्भव नहीं है ? इस कथन का विचार प्रस्तुत करते हैं—श्रुतार्थान्यथानुपपत्त्यर्थापत्ति प्रमाण सिद्ध होने के कारण ह्लादिनीशक्ति की सर्वानन्दातिशयिनी वृत्ति है, जो भक्तवृन्द में निक्षिप्य होकर भगवत्प्रीति नाम धारण करती है। अतः उसके अनुभव से श्रीभगवान् भी भक्त को देखकर प्रीत होते हैं। अतएव प्रीति सुख से भक्त-भगवान् के परस्पर में निविड़ आवेश भी होता है। परस्पर हृदय का तादात्म्य भी होता है। कारण कहते हैं—साधुगण, शास्त्रज्ञ व्यक्तिगण मेरा हृदय हैं, मैं उन सब के हृदय हूँ। कारण वे लोक मुझको चाहते हैं, मैं भी उन सब को चाहता हूँ। अत्यन्त आवेश से ज्वलन्त लौह की अग्नि संज्ञा होती है, उस प्रकार ही अभेद निर्देश किया गया है।

उक्त षट् श्लोकों के मध्य में (१) "ये दारागारपुत्राप्तान्" (२) "मयि निर्वद्धहृदयाः" (३) "मत्सेवया प्रतीतं ते" श्लोक त्रय का वर्णन स्वीय अकृतज्ञता दोष निवारण हेतु हुआ है। "साधवो हृदयं मह्यं" श्लोक का कथन स्वीय स्वतस्तृप्तता हानि परिहार के निमित्त है। एवं "अहं भक्त पराधीनः" इत्यादि श्लोकद्वय का वर्णन—स्वरूपशक्ति का साररूप ह्लादिनी शक्ति है, उसका साररूप भक्ति का निरूपण के लिए है। उक्त ह्लादिनी सारशक्ति भक्त में भक्तिरूप धारण कर प्रविष्ट होने पर ही जो अवस्था होती है, उसका वर्णन "मत्सेवया प्रतीतं" श्लोक में है। इससे पूर्वोक्त स्वस्तृप्तता की हानि रूप दोष श्रीभगवान् में नहीं हुआ। द्वितीय विषय में भी इस प्रकार कहेंगे—अपर को आनन्दित करने के लिए प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है। दूसरे से निज अभीप्सित सिद्धि के लिए, कहीं पर अपर अभीष्टमात्र सिद्धि के लिए होती है। प्रथम कल्प का प्रसङ्ग प्रस्तुत प्रकरण में उपयोगी नहीं है। आत्ममात्र दृष्टि से कहीं पर पक्षपात की सम्भावना ही नहीं है। उत्तर पक्ष में—परसुख एवं परदुःख का अनुभव होने से ही परानुकूल्य करने की इच्छा होती है। स्वल्प ज्ञान से प्रवृत्ति नहीं होती है, चित्त में परदुःख का स्पर्श न होने से कृपारूप चित्त विकार होना असम्भव ही होगा। (भा० १०।१०।१४) फलतः जिस व्यक्ति के अङ्ग में कभी कण्टक विद्ध

इति न्यायात् । ततश्च सदा परमानन्दैकरूपेऽपहतकल्मषे भगवति प्राकृतस्य सुखाभिधदुःखस्य प्रसिद्धदुःखस्य च सूर्य्ये पेचकचक्षुर्ज्योतिष इव तमस इव चात्यन्ताभावात्तदनुभवो नास्त्येव । यत्तु भगवति दुःखसम्बन्धं परिजिहीर्षन्तोऽपि केचिदेवं वदन्ति,—तस्मिन् दुःखानुभवज्ञानमस्त्येव, तच्च परकीयत्वेनैव भासते, न तु स्वीयत्वेनेति, तदपि घट्टकुट्यां प्रभातम् । दुःखानुभवो नाम ह्यन्तःकरणे दुःखस्पर्शः, स च स्पर्शः स्वस्माद्भवतु परस्माद्वेति, दुःखसम्बन्धाविशेषात्, असर्वज्ञतादोषश्च सूर्य्यदृष्टान्तेनैव परिहृतः, प्रत्युत गुणत्वेनैव दर्शितश्च । तस्मात्तस्मिन् यत्किञ्चिद्दुःखज्ञानमस्तु, दुःखानुभवस्तु नास्त्येव । यत एव कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं समर्थे परमकरुणामयनिचयशिरोमणौ तस्मिन् विराजमानेऽप्यद्यापि जीवाः संसारदुःखमनुभवन्तीत्यत्र नैर्घृण्यपरिहारश्च भवति । यत्तु भक्तानां सुखं तत्तस्य भक्तिरूपमेव, तथा तेषां दुःखं च भगवत्प्राप्त्यन्तरायेणैव भवति,तत्र चाधिका भगवत्येव चित्तार्द्रता जायते, सा च भक्तिरेवेति। क्वचिद्गजेन्द्रादीनामपि प्राकृत एव दुःखे 'स एव मम शरणम्' इत्यादिना तथैव भक्तिरुद्-

सर्वसम्वादिनी

मताक्षेपः। तदेवमेवेति शब्दस्यापि सार्थकता ; न तु मृत्तिकैव तु सत्यमिति व्याख्यानम् । न ह्यत्र विकारत्वे कारणाभिन्नत्वे च विधेये वाक्यभेदः ;—प्रथमस्यानुवादेन द्वितीयस्य विधानात् । ततश्चानुवादेनापि सिद्ध-विधेयत्वावधारणादुभयत्र मुख्यैव प्रतिपत्तिरिति । अत्र मृत्तिका-शब्देनेदं लभ्यते,— यथा सर्वतोऽपि कार्य्य-

नहीं हुआ है, वह व्यक्ति कभी भी अपर के अङ्ग को कण्टक बिद्ध देख—उसके दुःख का अनुभव वह नहीं कर सकता है। अतएव सदा परमानन्दैक स्वरूप, अपहत कल्मष भगवान् में परसुख दुःख नामक पदार्थ का अनुभव ही नहीं है। कतिपय व्यक्ति भगवान् में दुःख सम्बन्ध परिहार करने के लिए कहते हैं। सूर्य्य में अन्धकार के समान, एवं पेचक चक्षु के द्वारा ज्योतिष्क दर्शन के समान, एवं सूर्य्य में अन्धकार के समान भगवान् में प्राकृत सुख दुःख का अनुभव कदापि नहीं है। दुःख सम्बन्ध निरास हेतु कहते हैं,—किन्तु वह परकीय रूपमें ही प्रतिभात होता है, स्वीयत्व रूप में नहीं। इससे "घट्टकुट्यां प्रभातम्" कथन सार्थक होता है, अर्थात् शुल्क प्रदान के भय से भिन्न मार्ग से गमनरत व्यक्ति समस्त रात्रि भ्रमण करने के पश्चात् प्रातःकाल में शुल्काधिकारी के समीप में जिस प्रकार उपस्थित होता है, उस प्रकार ही उक्त कथन है। अर्थात् श्रीभगवान् में दुःखादि परिहार के निमित्त प्रयत्न करके दुःख स्थापन ही होता है।

दुःखानुभव शब्द का अर्थ है—अन्तःकरण में दुःख का स्पर्श, वह स्पर्श —अपने से ही हो, अथवा दूसरे के द्वारा हो, उभय प्रकार से ही अन्तःकरण में दुःख का सम्बन्ध होता है। भगवान् के अन्तःकरण में भी उक्त दुःख का सम्बन्ध अविशेष रूप से ही होता है। असर्वज्ञता दोष का परिहार भी सूर्य्य दृष्टान्त से हुआ है। वह भी भगवान् में गुण रूप में ही पर्य्यवसित हुआ है। अतएव श्रीभगवान् में यत् किञ्चित् दुख ज्ञान हो, किन्तु दुःखानुभव है ही नहीं। कारण—भगवान् प्रभु हैं, अर्थात् करने में, न करने में, अन्यथा करने में समर्थ हैं। इस प्रकार परम करुणामयनिचयशिरोमणि के रहते हुए आज भी समस्त जीव संसार दुःख का अनुभव करते रहते हैं। इससे भगवान् में निर्दयता का परिहार भी होता है। कुछ व्यक्ति कहते हैं,—भक्तों का जो सुख है, वह उनका भक्तिरूप ही है, जो दुःख होता है, वह भी भगवत् प्राप्ति के अन्तराय से ही होता है। उस दुःख से अधिक चित्तार्द्रता होती है। वह चित्तार्द्रता भक्ति ही है। गजेन्द्र प्रभृति का प्राकृत दुःख उपस्थित होने पर भी "भगवान् ही एकमात्र शरण हैं" इस प्रकार निश्चय

भूतैवेति। क्वचिद् यमलार्जुनादिषु श्रीनारदादिभक्तानां भक्तिः स्फुटैवेति च सर्वथा दैन्यात्मक-भक्त-भक्त्यनुभव एव तं करुणयति, न तु प्राकृतं दुःखम्,—योग्ये कारणे सत्ययोग्यस्य कल्पनानौचित्यात्, दुःखसद्भावस्यैव कारणत्वे सर्वसंसारोच्छित्तेः। अथ तस्य परम्परा-कारणत्वमस्त्येवेति चेदस्तु, न कापि हानिरिति। तस्मादुभयथा भक्तानन्दने तद्भक्त्यनुभव एव भगवन्तं प्रवर्त्तयतीति सिद्धम्। तत एतदुक्तं भवति,—यद्यन्यस्य सुखदुःखमनुभूयापि तत्परित्यागेनेतरस्य सुखं दुःखहानिं वा सम्पादयति, तदैव वैषम्यमापतति। श्रीभगवति तु प्राकृतसुखदुःखानुभवाभावान्न तदापतति, यथा कल्पतरौ; तदुक्तं श्रीमदक्रूरेण (भा० १०।३८।२२)—

"न तस्य कश्चिद्दयितः सुहृत्तमो, न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।
तथापि भक्तान् भजते यथा, तथा, सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः॥"२२॥ इति।

अत्र भक्तादन्य एव कश्चिदिति ज्ञेयम्, (भा० १०।४८।२६) "कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीया,-द्भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात्" इत्येतत्तद्वाक्येनैव तत्प्रियत्वप्रोक्तेः।

सर्वसम्वादिनी

कारण-परम्परातोऽर्वाक्चेतनत्वेन सर्वोपलभ्यमानस्य मृन्मयस्य तद्विकारत्वमेव प्रत्यक्षीक्रियते, न तु तद्-विवर्त्तत्वम्; तथा तत्प्राक्सृष्टानां मृदादि-वस्तूनामप्यनुमेयम्। इत्थमेवोक्तम्—'एतत्प्रकारकमेव सत्यम्' इति।

के द्वारा उस प्रकार ही भक्ति आविर्भूता हुई थी। श्रीयमलार्जुन प्रभृति में श्रीनारदादि भक्तों की भक्ति सुस्पष्ट रूप से अनुसृत हुई। सर्वथा दैन्यात्मक भक्त भक्त्यनुभव ही श्रीभगवान् के हृदय को दयार्द्र करता है। किन्तु प्राकृत दुःख, भगवत् हृदय को विगलित नहीं करता है। योग्य कारण होते हुए अयोग्य कारण की कल्पना करना अनुचित ही है। भगवत् करुणा के प्रति दुःख सद्भाव ही यदि कारण होता है तो समस्त जीवों का संसार दुःख विनष्ट हो जाता। दुःखानुभव का परम्परा क्रम से कारणत्व है, ऐसा यदि हो तो कुछ भी हानि नहीं है। अतएव सुख एवं दुःख, उभय प्रकार से ही भक्त को आनन्दित करने के लिए भगवान् की प्रवृत्ति होती है, वह भी भक्त की भक्ति का अनुभव से होता है। यह ही स्थिर सिद्धान्त है। कथित है कि—यदि अन्य के सुख-दुःख का अनुभव करके भी उसकी उपेक्षा करके अपर को सुखी एवं दुःखमुक्त करते हैं, तब उसे वैषम्य कहते हैं। श्रीभगवान् में किन्तु प्राकृत सुखानुभव नहीं है, अतएव उसमें वैषम्य दोष नहीं आता है। जिस प्रकार कल्पतरु में विषमता दोष नहीं है, जो प्रार्थना करता है, कल्पतरु उसकी प्रार्थना की पूर्त्ति करता है। भा० १०।३८।२२ में श्रीअक्रूर ने कहा भी है—

यद्यपि श्रीभगवान् के प्रिय, अप्रिय, सुहृद्, हित, अहित, उपेक्ष्य कोई नहीं हैं, तथापि कल्पतरु जिस प्रकार व्यक्तिविशेष के द्वारा उपासित होकर ही आश्रित को फल प्रदान करता है, तद्रूप श्रीभगवान् भी भक्त की उपासना के अनुरूप ही भक्त को अभीष्ट प्रदान करते हैं।

टीका—ननु सुहृदादिषु परिष्वङ्गसंप्रश्नादयो जीवधर्माः कथं ईश्वरे संगच्छन्ते? अत आह—न तस्येति। दयितः प्रियस्तद्विपरीतः, अप्रियः, सुहृत्तमो हिततमस्तद्विपरीतो द्वेष्य एतत् सर्वव्यतिरिक्त उपेक्ष्य इति दयितादयो न सन्तीति सत्यं तथापि भक्तान् भजते। तत्र "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां स्तथैव भजाम्यहमिति"। तत्र यथा ये भक्तास्तांस्तथा भजते। अविषमत्वेऽपि भक्तेभ्य एवं फलं ददातीत्यत्र दृष्टान्तः यद्वत् सुरद्रुम इति।

उक्त श्लोक में "कश्चित्" शब्द का प्रयोग हुआ है, उसका अर्थ—भक्त भिन्न अपर व्यक्ति है। भा० १०।४८।२६ में—"कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीयाद् भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात्।
सर्वान् ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामानात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य॥"

श्रीमहादेवेनाप्युक्तम् (भा० ६।१७।३३-३४)—

"न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा ।
आत्मत्वात् सर्वभूतानां सर्वभूतप्रियो हरिः ॥३३॥
तस्य चायं महाभागश्चित्रकेतुः प्रियोऽनुगः ।
सर्वत्र समदृक् शान्तो ह्यहञ्चैवाच्युतप्रियः ॥"३४॥ इति ।

तथोक्तं श्रीप्रह्लादेनापि (भा० ८।२३।८)—

"चित्रं तवेहितमहोऽमितयोगमाया,-लीलाविसृष्टभुवनस्य विशारदस्य ।
सर्वात्मनः समदृशो विषमः स्वभावो, भक्तप्रियो यदसि कल्पतरुस्वभावः ॥"८॥ इति ।

अर्थश्च—यत्त्वं भक्तप्रियोऽसि, सोऽपि समदृशस्तव स्वभावोऽविषमो विषमो न भवति । तत्र हेतुगर्भविशेषणम्—-कल्पतरुस्वभाव इति । तस्माद्विषमस्वभावतया प्रतीतेऽपि त्वय्यवैषम्यमित्यतीव चित्रमिति । अथवा परत्रापि कल्पवृक्षादिलक्षणे समान एवाश्रयणीये वस्तुनि भक्तपक्षपातरूपवैषम्यदर्शनात्तद्वैषम्यमपि समस्यैव स्वभाव इति लब्धे तदपरिहार्य्यमेवेति सिद्धान्तयितव्यम् । ततश्च विषमस्वभाव इत्येव व्याख्येयम् । तथा पूर्वत्रापि भक्तान्

सर्वसम्वादिनी

अत्र विकारादि-शब्दस्य साक्षादेवावस्थितत्वाद्विवर्त्ते तात्पर्य-व्याख्यानं कष्टमेवेत्यप्यनुसन्धेयम् । तदेव सूक्ष्म चिदचिद्वस्तुरूप-शुद्धजीवाव्यक्त-शक्तेरेव तस्य कारणत्वादित्येतदयुक्तम्; यतः (छा० ६।२।१) 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यत्रापीदमां ('इदम्' इति पदात्) तत्तच्छक्तिमत्त्वं स्पष्टं प्रागप्यस्तित्वेन निर्दिष्टं

श्रीअक्रूर ने कहा है—प्रभो ! आप भक्तप्रिय हैं, सत्यवादी, सुहृत् एवं कृतज्ञ हैं, आपको छोड़कर कौन बुद्धिमान् व्यक्ति अपर का शरणापन्न होगा ? आप भजनकारी सुहृज्जन को सर्वकाम प्रदान तो करते ही हैं, आत्म प्रदान भी करते हैं। कारण आपका अपचय उपचय नहीं है। इस वाक्य से उनका भक्तप्रियत्व सूचित हुआ है। भा० ६।१७।३३-३४ में श्रीमहादेव ने भी कहा है—

श्रीहरि का प्रिय कोई नहीं है, आत्मीय एवं घर भी नहीं है। श्रीहरि, समस्त भूतों के आत्मा हैं, तज्जन्य श्रीहरि सब के प्रिय हैं।

महाभाग चित्रकेतु उन भगवान् अनन्त का प्रिय एवं अनुचर है, कारण यह व्यक्ति—शान्त एवं सर्वज्ञ समदर्शी है, मैं भी उन अच्युत का प्रिय हूँ। अतएव इनके प्रति मेरा क्रोध नहीं हुआ।

भा० ८।२३।८ में उस प्रकार ही श्रीप्रह्लाद ने भी कहा है—"हे भगवन् ! आपकी चेष्टा अतिशय आश्चर्य्यजनक है। आप निज अचिन्त्य योगमाया के द्वारा अवलीला क्रम से भूमण्डल की रचना करते हैं, सर्वात्मा एवं सर्वज्ञ आप हैं, अत आप सर्वत्र समदृष्टि सम्पन्न होकर भी विषम स्वभावाक्रान्त हैं, आप भक्त प्रिय हैं, एवं प्रीतिवशतः कल्पतरु की भाँति स्वभावसम्पन्न हैं।"

सन्दर्भ व्याख्या—आप भक्तप्रिय हैं, वह भी समदर्शी आपका स्वभाव ही है। आप अविषम हैं, आपमें विषमता नहीं है, अतएव विषम स्वभाव रूप से प्रतीत होने पर भी आप में विषमता नहीं है, यह अतीव विचित्र है।

पक्षान्तर में कल्पतरु स्वभावाक्रान्त वस्तु समान रूप से आश्रयणीय है, तथापि उसमें भक्त पक्षपात रूप वैषम्य दृष्ट होता है, किन्तु वह वैषम्य सम का ही स्वभाव है। अतएव भगवान् का भक्त पक्षपातरूप आचरण – विषमता दोषयुक्त नहीं है। इस प्रकार सिद्धान्त करना ही समुचित है। तज्जन्य विषमस्वभाव

भजत इति वैषम्य एव योजनीयमिति। वस्तुतस्तु श्रीभगवत्यचिन्त्यमैश्वर्य्यमेव मुख्यस्तद-विरोधे हेतुः; यदुक्तम् (भा० २।४।१४) "नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वताम्" इत्यादौ द्वितीयस्य चतुर्थे। टीकायाम्—"तदेवं वैषम्यप्रतीतावप्यदोषत्वायाचिन्त्यमैश्वर्य्यमाह" इति। तदुक्तं श्रीभीष्मेण (भा० १।९।२१-२२)—

"सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्यानहङ्कृतेः।
तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित् ॥२१॥
तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम्।
यन्मेऽसूंस्त्यजतः साक्षात् कृष्णो दर्शनमागतः ॥"२२॥ इति।

तथा स्वयंश्रीभगवता (गी० ९।२९)—

सर्वसम्वादिनी

कारणत्वं साधयितुम्। अतो भगवदुपादानत्वेऽपि सङ्घातस्योपादानत्वेन चिदचितोर्भगवतश्च स्वभावासङ्करः; यथा लोके शुक्लत्वादि-तन्तु-सङ्घातोपादानत्वेऽपि चित्रपटस्य तत्तन्तुप्रदेश एव शौक्लादि-सम्बन्ध इति कार्य्या-वस्थायामपि न वर्ण सङ्करस्तथा चिदचिद्भगवत्सङ्घातोपादानत्वेन कार्यावस्थायामपि भोक्तृत्वभोग्यत्व-

इस प्रकार व्याख्या करना उचित् है। उस प्रकार "भक्तान् भजत" यहाँ पर भी वैषम्य का स्थापन करना आवश्यक है। वस्तुत श्रीभगवान् अचिन्त्य ऐश्वर्य्य सम्पन्न हैं, उक्त शक्ति से ही समस्त विरोध परिहार होता है। अर्थात् भगवत् स्वरूपभूत अचिन्त्य शक्ति ही सर्वसम्पादनकारिणी है।

भा० २।४।१४ में कथित है—"नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्त साम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः॥"

टीका—सात्वतां भक्तानाम्, ऋषभाय—पालकाय, कुयोगिना—भक्तिहीनानां विदूरा काष्ठा दिगपि यस्य दुर्विज्ञेयायेत्यर्थः। तदेवं वैषम्य प्रतीतावपि निर्दोषत्वाय अचिन्त्यैश्वर्य्यमाह। निरस्तं साम्यमतिशयश्च नास्ति, तेन ऐश्वर्य्येण, स्वधामनि—स्व स्वरूपे ब्रह्मणि रममाणाय॥

भक्त पालकवर्य्य को पुनः पुनः नमस्कार। कुयोगिगणों के द्वारा सर्वथा अप्राप्य हैं, दुर्विज्ञेय हैं, उनमें वैषम्य प्रतीत होने पर भी स्वीय अचिन्त्यैश्वर्य्य शक्ति के द्वारा समस्त समाधान करते हैं, आपके समान एवं अतिशय कोई नहीं हैं। उस प्रकार ऐश्वर्य्य के द्वारा मण्डित हैं, एवं स्व स्वरूपभूत ब्रह्म में निरन्तर विराजित हैं। अतएव टीकाकार ने कहा,—वैषम्य प्रतीत होने पर भी भगवान् निर्दोष हैं, भक्तपक्षपात असुर विद्वेष जनित दोष का समाधान उनकी अचिन्त्यैश्वर्य्य शक्ति करती है।

श्रीभीष्म ने भी कहा है—श्रीकृष्ण, सर्वात्मा, समदर्शी, अद्वय, अनहङ्कृति, रागादि शून्य हैं। इनमें नीचोच्च कर्म के द्वारा मति वैषम्य नहीं है, अर्थात् यह कार्य्य मेरा योग्य है, यह कार्य्य योग्य नहीं है, इस प्रकार मति वैषम्य नहीं है। आप निरवद्य हैं, अतएव दौत्यादि कार्य्य को भी दोषयुक्त नहीं मानते हैं।

हे राजन्! सर्वत्र समदर्शी होने पर भी एकान्त भक्त के प्रति अनुकम्पा को देखो, मैं प्राणत्याग करूँगा, तज्जन्य मेरे सम्मुख में आगमन पूर्वक दर्शन दान किए हैं।

टीका—ननु ईश्वरश्चेत् कथं नीचे सारथ्यादौ प्रवृत्तः, तत्राह—सर्वेति। तत्कृतं नीचोच्चकर्मकृतं, मम योग्यमयोग्यमिति मतिवैषम्यं क्वचिदपि नास्ति। कुतः? निरवद्यस्य—रागादिशून्यस्य तत् कुतः? अनहङ्कृतेः। तच्च कुतः? अद्वयस्य। तदपि कुतः? समदृशः? तत्रापि हेतुः—सर्वस्यात्मनः। यथेष्टं वा हेतु हेतुमद्भावः।२१। तथापि समत्वेऽपि। हे भूप! अनुकम्पितम्—अनुकम्पाम्।२२।

"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥" २९॥ इति।

तदेवं तत्तद्दोषे, भक्तपक्षपातस्य स्वरूपशक्तिसारभूतत्वे भक्तविनोदार्थमेव स्वरूपशक्त्यैव स्वयमेव च तत्तदवतारलीलाः करोति भगवान्, ततो विश्वपालनन्तु स्वयमेव सिध्यतीति स्थिते, न वैदुरप्रश्नस्तदवस्थः। अत्र देवादीनां प्राकृततया तैः सह लीलायां स्वतस्तृप्तताहानिस्तेषु तदंशावेशादिस्वीकारेणाग्रे परिहर्त्तव्या। तथा न चावतारादीनां स्वरूपशक्त्यात्मकता-

सर्वसम्वादिनी

नियन्तृत्व-नियम्यत्वाद्यसङ्करः। अतः (छा० ३।१४।१) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलान्' इत्यादिकमविरुद्धम्। तदेतदेवोक्तं सूत्रकारेण,—(२।१।१३) "भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत्" इति।

अतः कार्यावस्थः कारणावस्थश्च स्थूल सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशक्तिः परमपुरुष एव,—कारणात्

उस प्रकार ही स्वयं श्रीभगवान् ने भी गीता में कहा है—(गी० ९।२९) मैं प्राणी मात्र के प्रति समान आचरण परायण हूँ। मेरा कोई द्वेष्य अथवा प्रिय नहीं है। किन्तु जो भी व्यक्ति मेरा भजन भक्तिपूर्वक करता है, मैं उसमें रहता हूँ। और वह भक्त मेरे में रहता है, अर्थात् मैं उस अनुकूल चलनेवाले का हूँ। और वह अनुकूल चलनेवाला व्यक्ति ही मेरा है।

टीका—ननु भक्तानेव विमोच्यान्तिकं नयसि, नाभक्तानिति, तवापि किं सर्वेश्वरस्य रागद्वेषकृतं वैषम्यमस्ति? तत्राह,—समोऽहमिति। देवमनुष्यतिर्य्यक्स्थावरादिषु जात्याकृतिस्वभावैर्विषमेषु सर्वेषु भूतेषु तत्तत् कर्मानुगुण्येन सृष्टिपालनकृत् सर्वेश्वरोऽहं समः, पर्ज्जन्य इव नानाविधेषु तत्तद्बीजेषु, न तेषु मे कोऽपि द्वेष्यः प्रियोवेत्यर्थः। भक्तानां अभक्तेभ्यो विशेषं बोधयितुमिह तु शब्दः ये तु मां भजन्ति, श्रवणादि भक्तिभिरनुकूलयन्ति, ते भक्त्यानुरक्त्या मयि वर्त्तन्ते, तेष्वहं च सर्वेश्वरोऽपि भक्त्या वर्त्ते, 'मणि सुवर्ण' न्यायेन भगवतोऽपि भक्तेषु भक्तिरस्ति, "भगवान् भक्तभक्तिमान्" इत्यादि श्रीशुकवाक्यादिति। प्रेम्णा मिथो वर्त्तनविशेषो दर्शितः; अन्यथा त्वविशेषापत्तिः। तस्य प्रतिज्ञा त्वीदृश्यैवावगम्यते। "ये यथा माम्" इत्यादिना। कल्पद्रुमदृष्टान्तोऽप्यत्रांशिक एव, तत्र मिथः प्रीत्य प्रतीतेः पक्षपाताप्रतीतेश्च; तथा च सर्वत्राविषमेऽपि मयि स्वाश्रित वात्सल्यलक्षणं वैषम्यमस्तीत्युक्तम्। एवमाह भगवान् सूत्रकारः—"उपपद्यते चाभ्युपलभ्यते च" इति। ननु भक्तेरपि कर्मत्वानुसारेण तेषु तद्वात्सल्यात्र तल्लक्षणे तदिति चेन्मैवमेतत् स्वरूपशक्तिवृत्तेर्भक्तेः कर्मान्यत्वात्। श्रुतिश्च "सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति" इति। न च स्वरूपप्रयुक्तत्वाद् दूषणमेतदिति वाच्यम्, गुणश्रेष्ठत्वेन स्तूयमानत्वात्।२९।

तज्जन्य ही, भक्तपक्षपात कार्य्यादि भगवान् के लिए दोषावह नहीं होता है, भक्ति—स्वरूपशक्ति की सारभूता ह्लादिनी शक्ति है, भक्तिविशिष्ट ही भक्त है। भक्तविनोदन हेतु स्वरूपशक्ति की सारभूता ह्लादिनी शक्ति से ही भगवान् उक्त भक्त के कार्य्य समुदय को कहते हैं। उससे अवतार कालीन तत्तत् लीलासमूह सम्पन्न होते हैं। भगवान् भक्त को आनन्दित करने के लिए अवतीर्ण होते हैं, आनुषङ्गिक रूप में विश्वपालन कार्य्य स्वयं ही सिद्ध होता है। अतएव विदूर के प्रश्न से विरोध उपस्थित नहीं हुआ। अवतार प्रकरण में उल्लेख है कि—भगवान् जब अवतीर्ण होते हैं, उस समय लीलासहायक हेतु देवगण भी अवतीर्ण होते हैं। किन्तु देवतागण प्राकृत हैं, एवं स्वराट् हैं, लीला सहायक स्वरूप में देवतावर्ग को ग्रहण करने से भगवान् परापेक्षा जनित स्वतस्तृप्तता की हानि होगी? इस दोष का परिहार अग्रिम ग्रन्थ में होगा। अंश से ही देवतावर्ग का आवेश प्रकट लीला में होता है, वह भक्तस्वरूप देवतावर्ग का ही होता है। इस रीति को अवलम्बन करके श्रीकृष्ण सन्दर्भ में इसका समाधान होगा।

अतएव अवतार प्रभृति की स्वरूपशक्त्यात्मकता की हानि नहीं होती है। भगवान् का एकमात्र प्रयोजन ही है, भक्त को आनन्दित करना है, स्वच्छन्द लीलाकैवल्य के द्वारा जो कुछ अनुष्ठित होता है, उसमें राग

हानिः। तथा भक्तविनोदैकप्रयोजनकस्वैरलीलाकैवल्येन चान्यत्र रागद्वेषाभावान्न वैषम्यमपि, प्रत्युत पित्तदूषितजिह्वानां खण्डाद्वैरस्य इव तस्मान्निग्रहेऽप्यनुभूयमाने तेषां दुष्टतादिक्षपण-लक्षणं हितमेव भवति। अत्र (भा० ९।२४।५७-५८)—

"न ह्यस्य जन्मनो हेतुः कर्मणो वा महीपते।
आत्ममायां विनेशस्य परस्य द्रष्टुरात्मनः ॥५७॥
यन्मायाचेष्टितं पुंसः स्थित्युत्पत्त्यप्ययाय हि।
अनुग्रहस्तन्निवृत्तेरात्मलाभाय चेष्यते ॥"५८॥

इति नवमान्तस्थ-श्रीशुकवाक्यानुसारेण प्रलये लीनोपाधेर्जीवस्य धर्माद्यसम्भवादुपाधि-सृष्ट्यादिना, धर्मादिसम्पादनेनानुग्रह इति तदीय-टीकानुसारेण च। तथा (भा० १०।७०।२७)—

"लोके भवान् जगदिनः कलयावतीर्णः, सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चान्यः।
कश्चित्त्वदीयमतियाति निदेशमीश, किंवा जनः स्वकृतमिच्छति तन्न विद्मः ॥"२७॥

सर्वसम्वादिनी

कार्यस्यानन्यत्वात्। अनन्यत्वञ्च (छा० ६।१।४) 'वाचारम्भणम्' इत्यादिभिः सिद्धम्। तथा हि—एक-विज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तापेक्षायामुच्यते ; यथा (छा० ६।१।४) 'सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं

द्वेष से प्रवृत्त न होने से वैषम्य दोष नहीं होता है। प्रत्युत विद्वेषियों को भी मुक्ति प्रदान ही करते हैं। वस्तुत पित्त दोष से जिसकी जिह्वा दुष्ट हो गई है, परममधुर शर्करा का विकार रूप खण्ड की मिष्टता का बोध भी उससे नहीं होता है, विरसता का ही बोध होता है, किन्तु खण्ड प्रदान कार्य्य मङ्गल के लिए ही होता है, उस प्रकार भगवान् परमानन्द वस्तु के प्रति स्वाभाविक विद्वेष आचरणकारियों को निगृहीत करके परमानन्द रूप मोक्ष प्रदान करते हैं। भगवत् निग्रह भी अनुग्रह ही है। विद्वेषियों की दुष्टता नष्ट होती है, उससे आसुरिक स्वभाववालों का मङ्गल होता है। अतएव भा० ९।२४।५७-५८ में उक्त है—

माया नियन्ता, सङ्गविहीन, सर्वसाक्षी एवं सर्वगत परमेश्वर के जन्म-कर्म का हेतु—भक्तविनोदन व्यतीत अपर कुछ भी नहीं हो सकता है, जिनकी बहिरङ्गा माया के द्वारा विश्व के स्थित्युत्पत्तिलयादि कार्य्य होते हैं, जिनका अनुग्रह ही आत्मलाभ एवं माया बन्धन निवृत्ति हेतु होता है, अतएव कर्म पारतन्त्र्य से ईश्वर की जन्मकर्मादि सम्भावना कहाँ है? भगवदीय जन्मकर्म का श्रवण से जीव का आत्मलाभ एवं माया बन्धन मुक्त होता है। नवमस्कन्धस्थ श्रीशुक वाक्य के अनुसार ज्ञात होता है कि—प्रलय में उपाधि के सहित जीव परमात्मा में लीन रहता है, उस समय धर्मादि की सम्भावना नहीं रहती है। अतएव उपाधि सृजन करके जीवों के प्रति अनुग्रह करते हैं, यह कथन स्वामिपाद की टीका के अनुसार हुआ है।

टीका—ईश्वरस्य—मायानियन्तुः, परस्य—असङ्गस्य, द्रष्टुः—साक्षिणः, आत्मनः, सर्वगतस्य, नह्येवम्भूतस्य मायाविनोदं विना जन्मतः कर्मणो वा हेतुः सम्भवतीत्यर्थः ।५७। किञ्च यस्य माया चेष्टितं पुंसो जीवस्यानुग्रहः, तस्य सर्वजीवानुग्राहकस्य कुतः कर्मादिपारतन्त्र्येण जन्मादि सम्बन्धः। अनुग्रहमेवाह हि—यस्मात्, तदेव स्थित्यादये इष्यते। प्रलये लीनोपाधेर्जीवस्य धर्माद्यसम्भवादुपाधिसृष्ट्यादिना धर्मादि सम्पादनेनानुग्रहः। तथा आत्मलाभाय मोक्षाय चेष्यते। तत्र हेतु तेनैव श्रूयमाणेन तस्य स्थित्यादेर्निवृत्तेः।

उस प्रकार भा० १०।७०।२७ में उक्त है—हे ईश्वर! सज्जनों की रक्षा के निमित्त आपका अवतार है, हम सब आपके भक्त हैं, हमारे क्लेश क्यों? आप सद्रक्षण के लिए अवतीर्ण होने पर भी जरासन्धादि आपकी आज्ञा को लङ्घन करता है, आपके द्वारा रक्षित जन भी निज कर्मजन्य दुःख प्राप्त कर रहा है।

इति जरासन्धबद्धराजवृन्दनिवेदनेऽपि ईश्वरे "त्वयि सद्रक्षणार्थमवतीर्णेऽपि चेदस्माकं दुःखं स्यात्तर्हि किमन्यः कश्चिज्जरासन्धादिस्त्वदाज्ञामपि लङ्घयति, किञ्च, त्वया रक्ष्यमाणोऽपि जनः स्वकर्मदुःखं प्राप्नोत्येवेति न विद्मः। न चैतदुभयमपि युक्तमिति भावः।" इति तदीयटीकानुसारेण च लीलायाः स्वैरत्वेऽपि दुर्घटघटनी मायैव तदा तदा देवासुरादीनां तत्तत्कर्मोद्बोध-सन्धानमपि घटयति। यया स्वस्वकर्मणा पृथगेव चेष्टमानानां जीवानां चेष्टा-विशेषाः परस्परशुभाशुभशकुनतया घटिता भवन्तीत्यादिकं लोकेऽपि दृश्यते। यत्र तु क्वचिदेषा तल्लीलाजवमनुगन्तुं न शक्नोति, तत्रैव परमेशितुः स्वैरता व्यक्तीभवति। यथा (भा० १०।४५।४५)—"गुरुपुत्रमिहानीतं निजकर्मनिबन्धनम्।

आनयस्व महाराज मच्छासनपुरस्कृतः॥"४५॥

इति यमविषयकश्रीभगवदादेशादौ। ततश्च तस्यातिविरल-प्रचारत्वान्न सर्वत्र कृतहान्यकृता-

सर्वसम्वादिनी

विज्ञातं स्यात्; वाचारम्भणम्' इत्यादि। एकस्यैव सङ्कोचावस्थायां कारणत्वम्, विकाशावस्थायां कार्य्यत्वमिति; विकारोऽपि मृत्तिकैव। ततः कारण-विज्ञानेन कार्य-विज्ञानमन्तर्भाव्यत इत्येवं परम-कारणे परमात्मन्यपि ज्ञेयम्। तदेतदारम्भण-शब्दलब्धमनन्यत्वमेव—(छा० ६।८।७) 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि-

ये सब कैसे सम्भव हो, हम सब जानने में असमर्थ हैं।

टीका—सेयं लोकस्य गतिः। वयन्तु त्वद्भक्ताः, अतोऽस्माकं कुतः, "एतद्दुःखमापन्नमित्याश्चर्य्येणाहः लोक" इति भो ईश! जगत इनः ईश्वरः, त्वयि सद्रक्षणार्थम् अवतीर्णेऽपि चेदस्माकं दुःखं स्यात्, तर्हि किमन्यः कश्चित् जरासन्धादिस्त्वदाज्ञामपि लङ्घयति। किम्वा त्वया रक्ष्यमानोऽपि जनः स्वकर्मजं दुःखं प्राप्नोत्येवेति न विद्मः। न चैतदुभयमपि युक्तमिति भावः।

इस प्रकार जरासन्ध वद्ध राजवृन्द निवेदन करने पर भी आप ईश्वर हैं, और सद्रक्षणार्थ अवतीर्ण भी हैं, तथापि हमारे दुःख हो, तो अपर क्या जरासन्धादि आपकी आज्ञा को लङ्घन करते हैं, और भी आपके द्वारा रक्षित जन भी दुःखी होता है, अर्थात् स्वकर्म दुःख को प्राप्त करता है। इसके रहस्य को नहीं जानते हैं। उभय प्रकार ही युक्तियुक्त नहीं है, यह तात्पर्य्य है। स्वामिपाद की टीका के अनुसार भगवल्लीला स्वतन्त्र होने पर भी दुर्घटघटनी माया शक्ति ही उस उस समय देवासुरों का कर्मोद्बोधन एवं संयोजन करती रहती है। जिससे जीवों में निज निज कर्मों के द्वारा पृथक् पृथक् चेष्टाविशेष प्रकाश होता है, उसमें शुभाशुभादि अनेक प्रकार प्रकाश होते हैं। इत्यादि कार्य्य भी लोक में प्रसिद्ध है। जहाँ माया, भगवल्लीलावेश का अनुगमन करने में असमर्थ है, वहाँ पर ही परमेश्वर की स्वतन्त्रता प्रकट होती है। अथवा भा० १०।४५।४५ में वर्णित है—भगवान् ने कहा—महाराज! गुरुपुत्रों को यहाँ पर लाया गया है, आप मेरी आज्ञा से मेरे समीप में उन सब को उपस्थित करें।

टीका—निजं कर्मैव निबन्धनं यस्य, तथा भूतमपि मदाज्ञामपि मदाज्ञापुरस्कारेण आनयतस्ते न दोष इत्यर्थः।

निजानुष्ठित कर्म ही यहाँ पर आनयन का हेतु है, गुरुपुत्र ने निज कर्म से ही यमलोक को प्राप्त किया है, तथापि मेरी आज्ञा से उनको मेरे समीप में उपस्थित करने से आपका कोई दोष नहीं होगा। उक्त यम के प्रति भगवद् आदेश से सुस्पष्ट होता है, स्वयं भगवान् सर्वत्र परम स्वतन्त्र हैं, अन्य समस्त श्रीभगवान् के अधीन होते हैं। एतज्जन्य भगवदादेश अति विरल प्रचार होने के कारण सर्वत्र

भ्यागमप्रसङ्गश्च । अथ यदि केनचिद्भक्तानामेव द्विषन्ति, तदा भक्तपक्षपातान्तःपातित्वाद्-भगवता स्वयं तद्द्वेषेऽपि न दोषः, प्रत्युत भक्तविषयक-तद्रतेः पोषकत्वेन ह्लादिनीवृत्तिभूता-नन्दोल्लासविशेष एवासौ । येन हि द्वेषेण प्रतिपदप्रोन्मीलत्सान्द्रानन्दवैचित्री-समतिरिक्त-भक्तिरसमरुस्थलब्रह्मकैवल्यापादनरूपत्वेन तदीयभक्तिरसमहाप्रतियोगितया ततोऽन्यथा दुश्चिकित्स्यतया च तत्रोचितम् । तदुत्थभगवत्तेजसा तत्स्वरूपशक्तेरपि तिरस्कारेण ध्वंसा-भावतुल्यम् (भा० ६।१७।२८) "स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः" इति न्यायेनान्येषामतीव

सर्वसम्वादिनी

शब्दा अपि वदन्ति ; (वृ० ४।४।१६) 'मृत्योः स मृत्युम्' इत्यादिकञ्च सङ्गतमेव ।

तदेवं कारणस्यैव धर्मविशेषः कार्यत्वम्, न तु पृथक् तदस्ति । तस्य कारण-नैरपेक्ष्येणानवस्थानादिति पुनर्दर्शयति—(छा० ६।४।१) 'अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्'

कृत हानि एवं अकृताभ्यागम दोष का प्रसङ्ग नहीं होगा । यदि कोई भक्तगण के प्रति विद्वेष करता है, उस समय भगवान् भक्तपक्षपातिता हेतु स्वयं भक्तद्वेषी को विनष्ट करने पर भी उक्त कार्य्यानुष्ठान से भगवान् दोषी नहीं होते हैं । किन्तु भक्तविषयक प्रीति का पोषक होने से ह्लादिनी वृत्तिभूत भक्तचानन्द उल्लास विशेष ही होता है, भगवान् भक्तभक्तिमान् हैं । अर्थात् भक्त का प्रीतिविषय जिस प्रकार भगवान् होते हैं, उस प्रकार भगवान् का प्रीतिविषय भी भक्त हैं । उक्त भक्तविद्वेषी के प्रति विद्वेष के द्वारा भक्त विषयक भगवत् प्रीति का पोषण होता है । जिससे प्रतिक्षण नवनवायमान रूप से प्रकाशित निविड़ानन्द विचित्रता का अतिरिक्त जो भक्तिरस है, उक्त भक्तिरस का मरुस्थलस्वरूप जो ब्रह्मकैवल्य है, भक्तद्वेषी को उक्त ब्रह्मकैवल्य प्रदान करते हैं । कारण वह भक्तद्वेषी जन भक्तिरस सम्बन्धीय विषयों का विरोधी है, उसकी चिकित्सा मुक्ति प्रदान को छोड़कर अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है । कारण भगवद्भक्ति विरोध रूप दोष दुश्चिकित्स है, उक्त भक्तविद्वेषी के प्रति समुचित भक्तद्वेष से समुद्भूत जो भगवत् तेज, उससे भगवत् स्वरूपशक्ति का अन्तर्द्धान ही होता है । अतएव उक्त मरुस्थल रूप मोक्षावस्था ध्वंसाभाव रूप नित्य है ।

भा० ६।१७।२८ में उक्त है—नारायण परायण व्यक्तिगण स्वर्ग, अपवर्ग (मुक्ति) नरक तीनों में तुल्य प्रयोजन बुद्धि रखते हैं ।

टीका—स्वर्गादावेव तुल्योऽर्थः प्रयोजनमिति द्रष्टुं शीलं येषां ते तथा ।

क्रमसन्दर्भः—श्रीनारायणं विना अन्यत्र हानोपादेय-दृष्टि-राहित्यात् अपवर्ग इव स्वर्गेऽपि स्वर्ग इव नरकेऽपि तुल्यमेकमेवार्थं नारायणरूपं पुरुषार्थं द्रष्टुमनुभवितुं शीलं येषां ते । तुल्यशब्दस्यैकवाचित्वं (पाणिनिः—८।४।१) "रषाभ्यां नो णः समानपदे" इतिवत् । तदेवं तेषां सर्वत्र श्रीनारायण-स्फूर्त्या भयाभावो दर्शितः ॥

श्रीनारायण को छोड़कर अन्यत्र हानोपादेय बुद्धि नहीं है, अतएव मुक्ति के समान स्वर्ग के प्रति भी उपादेय बुद्धि नहीं है । कारण—मुक्ति में एवं स्वर्ग में समान रूप से श्रीनारायण प्रसङ्गाभाव विद्यमान है, उस प्रकार नरक में भी अनुपादेय बुद्धि नहीं है । कारण—भक्तगण पुरुषार्थ रूप में श्रीनारायण व्यतीत अपर वस्तु को हृदय में स्थान नहीं देते हैं, यह ही उन सब का शील—स्वभाव है, तुल्य शब्द का अर्थ—एक है । भगवान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी सूत्र में कहा है, र ष के उत्तर समान पद में न, ण होगा । इस प्रकार ही श्लोकस्थ तुल्य पद का अर्थ को जानना होगा । अतएव उन भक्तगणों की सर्वत्र ही श्रीनारायण स्फूर्त्ति होती है, उससे वे सब निर्भय रहते हैं । उक्त नियम से अन्य व्यक्तियों के लिए जो अत्यन्त दुःसह है,

दुःसहं तेषामपि कामुकानां निकाममनभीष्टमुद्दण्डदण्डविशेषं कुर्वत्येव भगवति तस्य सर्वहित-पर्य्यवसायिचारित्रस्वभावत्वादेव तत्तद्दुर्वारदुर्वासनामयाशेषसंसारक्लेशनाशोऽपि भवति। यः खल्वभेदोपासकानामतिकृच्छ्रसाध्यः पुरुषार्थः, क्वचिच्च परमार्थवस्त्वभिज्ञानां नरकनिर्विशेषं तेषां कामिनान्तु निकाममभीष्टं विट्कीटानामिवामेध्यं स्वर्गविशेषं तेभ्यो ददाति, स परमेश्वरः। अतएवोक्तं नागपत्नीभिः (भा० १०।१६।३३) "रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टे,-र्धत्से दमं फलमेवानुशंसन्" इति। अत्र सुतानां सुतवत्पाल्यानां देवानामित्यर्थः। दममिति यतो दममपीत्यर्थः। यत्तु पूतनादावुत्तमभक्तगतिः श्रूयते, तद्भक्तानुकरणादिमाहात्म्येनैवेति तत्र तत्र स्पष्टमेव यथा (भा० १०।१४।३५) "सद्वेषादिव पूतनापि सकुला" इत्यादि। अथ यदि

सर्वसम्वादिनी

इति। अत्र रूपत्वयं सूक्ष्मरूप-तेजोवन्न लक्षणाव्यक्तत्वात् स्वतन्त्रमग्नेरग्नित्वं न निरूपणीयमस्तीत्यर्थः; न त्वसत्यमेवेति वक्तव्यम्;—सत्कार्यता-सम्प्रतिपत्तेः, सर्वकारणस्य परमात्मनः सर्वदैव व्यतिरेकासम्भवात्। तस्मात्तस्मिन् विश्वस्य स्थूलतया सूक्ष्मतया वा नित्यं भगवद्रूपत्वमस्त्येव। तथा च श्रुतिः (वृ० ३।८।३)

और कामनापरायण व्यक्तियों के लिए भी जो अत्यन्त अनभीष्ट है, उस प्रकार उद्दण्ड दण्डविधान भगवान् करते हैं। उससे भगवान् की सर्वत्र हितैषणा की प्रवृत्ति सुस्पष्ट होती है। उक्त दण्ड विधान से दुर्वार सर्ववासनामय अशेष क्लेश भी उन सब के विनष्ट हो जाते हैं।

ब्रह्मसायुज्य रूप पुरुषार्थ—अभेदोपासकों के लिए अतिशय कष्ट साध्य है। उक्त विषय में उन सब की प्रवृत्ति होती है, कारण पारमार्थिक वस्तु परिज्ञान का सुअवसर उन सबों को नहीं मिला है। जो लोक पारमार्थिक वस्तु सम्बन्ध में अभिज्ञ हैं, उनके लिए उक्त अभेदोपासना, सायुज्य मुक्ति नरक विशेष है। उस प्रकार ही विट्-कीट का अभीष्ट जिस प्रकार अमेध्य है, उस प्रकार ही कामी जनों का अतिशय अभीष्ट पदार्थ स्वर्ग विशेष है। भगवान् अवतीर्ण होकर, भक्तविद्वेषी गणों को उक्त दण्ड प्रदान करते हैं, कारण आप परमेश्वर हैं। अतएव भा० १०।१६।३३ में नागपत्नीयों ने भगवान् को बोलीं—प्रभो! शत्रु एवं पुत्र के प्रति आपकी समान दृष्टि है, आप फल की यथार्थ आलोचना करके ही दण्ड विधान करते हैं। उक्त श्लोक में "सुतानां" शब्द का अर्थ है—पुत्रवत् पाल्य देवतावर्ग है। "दमं" शब्द का अर्थ है—दण्ड भी प्रदान करते हैं।

टीका। प्रथमं तावत् कुपितं भगवन्तं दण्डानुमोदनेनोपशमयन्त्यः स्तुवन्ति न्याय्यो हीति। तत्र दण्डानुमोदनं षड्भिर्दशभिश्च हरेर्नतिः। प्रार्थनं श्लोकैस्ततः पन्नगयोषिताम्। न च निग्रहानुग्रहलक्षणं वैषम्यं तवास्तीत्याहुः। धत्से दममिति। अनुशंसन् आलोचयन्।

परन्तु पूतना प्रभृति की उत्तम भक्त गति की जो वार्त्ता है, उसका कारण ही है—भगवद्भक्त का अनुकरण माहात्म्य, उक्त स्थल में उसका ही स्पष्टीकरण हुआ है। भा० १०।१४।३५ में उक्त है—

"एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न, श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता, यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्तत्कृते॥"

ब्रह्मा ने कहा—प्रभो आपके भक्तगण के वेष का अनुकरण करके ही जब पापिष्ठ पूतना ने बान्धवगणों के सहित उत्तम गति को प्राप्त किया है, तब जिन्होंने गृह, धन, सुहृत्, प्रिय, आत्मा, तनय, प्राण, आशय समूह का अर्पण आपको किया है, पूतना की भक्तगति की अपेक्षा और कौन श्रेष्ठ गति है, जो गति उन सब को आप प्रदान करेंगे?

केचिद्भक्ता एव सन्तो भक्तान्तरेषु कथञ्चिदपराध्यन्ति, तदा तेनैवापराधेन भक्तेषु भगवति च विवर्त्तमानं द्वेषवाड़वानलज्वालाकलापमनुभूय चिरात् कथञ्चित् पुनः सद्द्वेषेणापि भगवत्-संस्पर्शादिना सपरिकरे तदपराधदोषे विनष्टे स्वपदमेव प्राप्नुवन्ति, न तु ब्रह्मकैवल्यम्, भक्ति-लक्षणबीजस्यानश्वरस्वभावत्वात् । तेषु भगवतः क्रोधश्च बालेषु मातुरिवेति । तस्मात् सर्वं समञ्जसम् । तथाहि श्रीराजोवाच (भा० ७।१।१)—

(९३) "समः प्रियः सुहृद्ब्रह्मन् भूतानां भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद्विषमो यथा ।।"१।।

परमात्मत्वेन समः सुहृत् हितकारी प्रियः प्रीतिविषयो भगवान् । एवं सति साम्येनैवोप-कर्त्तव्यत्वेन प्रीतिविषयत्वेन च सर्वेष्वेव प्राप्तेषु कथं विषम इव दैत्यानवधीत् ? विषमत्वमुप-लक्षणम् । असुहृदि वा प्रिय इव चेति ।।

सर्वसम्वादिनी

'यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्च' इति ; तथा (ब्र०सू० २।१।१६) "सत्त्वाच्चावरस्य" इत्यनन्यत्व-न्यायस्योप-सूत्रञ्च । अतो यदा कारणमस्ति, तदा कार्यमप्यस्ति ।

अपर वार्त्ता तो यह है कि—यदि कोई भक्त अन्य भक्तजन का अप्रिय आचरण कर अपराधी होता है, तो उक्त भक्तापराध रूप द्वेष से सुमुत्थित भक्तगण में एवं भगवान् में बाड़वानल ज्वाला समूह का अनुभव करता है, अर्थात् उक्त भक्तापराध से वह भक्त-भगवद्विद्वेषी बन जाता है । अनेक काल पर्य्यन्त उक्त विद्वेष ज्वाला को सहन कर किसी प्रकार से जब वह सद्द्वेष को धारण कर लेता है, अर्थात् जिस किसी प्रकार से भक्त का अनुमोदन करता है तो उसका भगवत् संस्पर्श प्राप्त करने का अवसर प्राप्त होता है । उक्त भगवत् स्पर्श से सपरिकर भक्तापराधी जन उक्त अपराध से मुक्त हो जाता है, अनन्तर भगवद् धाम को प्राप्त करता है । अर्थात् भगवच्चरणारविन्द की सेवा में नियुक्त हो जाता है । किन्तु वह ब्रह्मकैवल्य रूप सायुज्य को प्राप्त नहीं करता है । कारण—भक्तिस्वरूप बीज अविनाशीस्वरूप है । उससे ब्रह्मसायुज्य रूप भीषण दण्ड नहीं मिलता है । भगवद्विद्वेषी को ही सायुज्य मिलता है । उक्त आसुरिक स्वभाव विशिष्ट के प्रति भगवान् का जो क्रोध है, वह क्रोध माता का बालक के प्रति क्रोध के समान ही है । अतएव समस्त वैषम्य का सुसमाधान हुआ है । उदाहरण हेतु श्री राजा परीक्षित् का प्रश्न भा० ७।१।१ में इस प्रकार है—पूर्वस्कन्धान्त में वर्णित है कि—श्रीविष्णु साहाय्यपुष्ट देवराज के द्वारा दिति पुत्र विनष्ट होने पर हतपुत्रा दिति क्रोध शोक से उद्दीप्त होकर चिन्ता कर रही थी । इस वृत्तान्त को सुनकर महाराज ने विस्मय पूर्वक पूछा,—भगवान् विष्णु भूतमात्र के प्रति समदृष्टि हैं, स्वयं सब के सुहृद् एवं प्रीति का विषय भी है, आप ने क्यों विषम जन के समान इन्द्र के निमित्त दैत्यों को विनष्ट किया ? जो सर्वत्र समबुद्धि विशिष्ट एवं सब के सुहृद् हैं, उनमें वैषम्य होना कैसे सम्भव है ? और प्रिय व्यक्ति के प्रति प्रिय व्यक्ति का वैषम्य आचरण भी समीचीन नहीं है ।

सन्दर्भः । परमात्मा होने के कारण समदृष्टिसम्पन्न, सर्व सुहृत्, अर्थात् हितकारी, प्रिय अर्थात् प्रीति विषयीभूत भगवान् उक्त प्रकार से समभावाक्रान्त हेतु, उपकारित्व हेतु, प्रीतिविषयत्व हेतु एवं समस्त जनों के लिए समान रूपसे प्राप्त होकर भी कैसे विपरीत भावाक्रान्त जन के समान इन्द्र के निमित्त स्वयं दैत्यगण को विनष्ट किये थे ? यहाँ पर विषमता उपलक्षण मात्र ही है । इसको छोड़कर भगवान् असुहृत् अर्थात् अप्रिय के सदृश भी हैं ।।९३।।

९४। किञ्च, यस्य यैः प्रयोजनं सिध्यति, स तत्पक्षपाती भवति, येभ्यो बिभेति, तान् द्वेषेण हन्ति, न तु तदत्रास्तीत्याह (भा० ७।१।२)—

(९४) "न ह्यस्यार्थः सुरगणैः साक्षान्निःश्रेयसात्मनः।
नैवासुरेभ्यो विद्वेषो नोद्वेगश्चागुणस्य हि ॥"२॥

निःश्रेयसं परमानन्दः ॥

९५। अतः (भा० ७।१।३)—

(९५) "इति नः सुमहाभाग नारायणगुणान् प्रति।
संशयः सुमहान् जातस्तद्भवान् छेत्तुमर्हति ॥"३॥

गुणान् अनुग्रहनिग्रहादीन् प्रति तत् तं संशयम् ॥

९६। अत्र (भा० ७।१।४) "श्रीऋषिरुवाच—

(९६) "साधु पृष्टं महाराज हरेश्चरितमद्भुतम्।
यद्भागवत-माहात्म्यं भगवद्भक्तिवर्द्धनम् ॥"४॥

हे महाराज ! इदं यत् पृष्टं तत् साधु सुविचारितमेव। किन्तु हरेश्चरितमद्भुतमपूर्वम्,

सर्वसम्वादिनी

इत्थमेव (ब्र०सू० २।१।१५) "भावे चोपलब्धेः" इति सूत्रान्तरञ्च व्याख्येयम्।—अस्य सूत्रस्य कारण-भाव एव कार्य्यभावोपलब्धिरिति विवर्त्तवादिनां व्याख्याने तु मृत्तिकाभाव एव घटोपलब्धिवच्छुक्ति-भाव एव रजतोपलब्धेरावश्यकत्वं चिन्त्यम्;—वणिग्वीथ्यादौ तदभावेऽपि रजतदर्शनात्।

और भी नियम है कि—जिस व्यक्ति से जिसका प्रयोजन सिद्ध होता है, वह उसका पक्षपाती बनता है। जिससे लोक भीत होता, उसे लोक विद्वेष करता है एवं विनष्ट करता है। उभय धर्म ही भगवान् में नहीं है। भा० ७।१।२ में उक्त है—हे मुने ! उक्त नियम सत्य है, किन्तु यहाँ पर भगवान् साक्षात् परमानन्दस्वरूप हैं।

टीका—"किञ्च यस्य यैः प्रयोजनं सिध्यति स तत् पक्षपाती भवति। येभ्यो बिभेति तान् द्वेषेण हन्ति, न तु तदत्रास्तीत्याह नहीति। निःश्रेयसं ब्रह्मानन्द एव आत्मास्वरूपं यस्य, असुरेभ्य भयं नास्ति, अतो विद्वेषोऽपि नास्त्येव। तत्र हेतुः—अगुणस्येति। गुणाधीनौ प्रीतिविद्वेषावित्यर्थः।"

जो अगुण है, उनका असुरों से भय होने की सम्भावना ही नहीं है। उनका विद्वेष किसी के साथ नहीं है, तब क्यों इन्द्र की सहायता करने के लिए भगवान् उस प्रकार गर्हित कर्म किए थे ? निःश्रेयस्—शब्द का अर्थ—परमानन्द है ॥९४॥

अतः भा० ७।१।३ में कहते हैं—हे महाभाग ! श्रीनारायण के निग्रह रूप गुणों के प्रति हम सब का सुमहान् संशय है। अनुग्रहपूर्वक आप संशय का अपनोदन करें।

टीका—"श्रीनारायणस्य गुणान् अनुग्रहनिग्रहादीन् प्रति। तत् तं संशयं ॥९५॥

उक्त प्राकरणिक प्रश्न के उत्तर में श्रीशुक कहते हैं,—महाराज ! आपकी जिज्ञासा अत्युत्तम है, भगवान् श्रीहरि का चरित्र अति अद्भुत है। कारण, भगवद्भक्त का माहात्म्य भगवद्भक्ति वर्द्धक है। भक्तगणों में भक्तप्रवर प्रह्लाद हैं।

टीका—"भागवतस्य श्रीप्रह्लादस्य माहात्म्यं गीयते" इति सम्बन्धः ॥

महाराज ! आपने जो पूछा, यह साधु है, सुविचारित ही है। किन्तु श्रीहरि चरित अति अद्भुत है,

अवैषम्येऽपि विषमतया प्रतीयमानत्वेन विचारातीतत्वात् । यद् यत्र हरेश्चरिते भगवद्भक्ति-वर्द्धनं भागवतमाहात्म्यं भागवतानां श्रीप्रह्लादोपलक्षित-भक्तवृन्दानां माहात्म्यं वर्त्तते। अनेन भागवतार्थमेव सर्वं करोति भगवान्नत्वन्यार्थमित्यस्यैवार्थस्य पर्य्यवसानं भविष्यतीति व्यञ्जितम् । टीका च (भा० दी० ७।१।१)—

"स्वभक्तपक्षपातेन तद्विपक्षविदारणम् ।
नृसिंहमद्भुतं वन्दे परमानन्दविग्रहम् ॥"१॥ इत्येषा ॥

९७ । अतः (भा० ७।१।५)—

(९७) "गीयते परमं पुण्यमृषिभिर्नारदादिभिः ।
नत्वा कृष्णाय मुनये कथयिष्ये हरेः कथाम् ॥"५॥

परमं पुण्यं यथा स्यात्तथा या गीयते तां कथामिति यत्तदोरध्याहारेणान्वयः । अत्र च तैर्गीयमानत्वेन भक्तैकसुखप्रयोजनत्वमेव व्यञ्जितम् ॥

९८ । तत्र तावद्व्यञ्जितार्थानुरूपमेव प्रश्नस्योत्तरमाह (भा० ७।१।६)—

(९८) "निर्गुणोऽपि ह्यजोऽव्यक्तो भगवान् प्रकृतेः परः ।
स्वमायागुणमाविश्य बाध्यबाधकतां गतः ॥"६॥

सर्वसम्वादिनी

ननु कारणं विना कार्यं निरूपयितुं न शक्यम्,—तन्तून् विना पटो नाम वस्त्विव ? सत्यम् ; तथाप्यातान-वितान-वैशिष्ट्यस्योपलभ्यमानत्वात्, उपलब्धे च वैशिष्ट्ये स्वाविर्भूतेन तेनैव केवलेभ्यः स्वेभ्यो [तन्तुभ्यः]

अपूर्व है। भगवान् सर्वथा अविषम हैं, किन्तु विषम रूप से प्रतीत होते हैं, वह मनुष्य बुद्धिजनित प्रमाणों का अगम्य हैं। अतएव अद्भुत रसावह हैं। कारण जिस श्रीहरि चरित्र भगवद्भक्ति वर्द्धनकारी भगवद् भक्त का माहात्म्य वर्णित है, अर्थात् प्रह्लाद प्रभृति भक्तवृन्द का महत्त्व वर्णित है। इससे सुस्पष्ट प्रकाशित होता है कि श्रीभगवान् भक्तजन सुखार्थ ही समस्त कर्म करते हैं। किन्तु भगवान् अपर के निमित्त कुछ भी नहीं करते हैं। इस अर्थ का ही पर्य्यवसान होगा। भावार्थ दीपिका टीका ७।१।१ में उक्त है—निज भक्त पक्षपात के द्वारा भक्तविद्वेषी का विनाश साधन करते हैं, उन परमानन्दविग्रह अद्भुत श्रीनृसिंह की मैं वन्दना करता हूँ ॥९६॥

अतएव भा० ७।१।५ में उक्त है—इस लिए श्रीनारदादि महर्षिगण परमपवित्र श्रीभगवच्चरित्र का गान निरन्तर करते रहते हैं। तुम भक्त चरित्र का अभिलाषी हो, मैं महर्षि वेदव्यास को प्रणाम करके श्रीहरि चरित्र का वर्णन करता हूँ। मनोयोग के सहित श्रवण करो।

परम पुण्य का उदय जिस प्रकार से होना सम्भव है, उस प्रकार भगवान् चरित्र का गान ही मैं करता हूँ। यहाँ पर 'यत् तद्' पद का अध्याहार करके ही व्याख्या करना आवश्यक है। प्रस्तुत श्लोक में भी नारदादि भक्तजन कर्त्तृक गीत होने के कारण भक्तसुखदमात्र प्रयोजन ही श्रीहरि चरित्र का है, यह व्यञ्जित हुआ ॥९७॥

जिज्ञासित विषय में व्यञ्जितार्थ का अनुरूप ही प्रश्न का उत्तर प्रदान करते हैं। भा० ७।१।६ में वर्णित है– राजन् ! भगवान् श्रीविष्णु प्रकृत्यतीत हैं, अतएव सत्त्व रजः तमः नामक गुण रहित हैं। अज, अव्यक्त अर्थात् रागद्वेषादि का निमित्तभूत देहेन्द्रियादि रहित, किन्तु इस प्रकार होकर भी स्वीय सत्त्वादि रूप

यस्मात् प्रकृतेः परस्तस्मान्निर्गुणः प्राकृतगुणरहितः, तत एवाजो नित्यसिद्धः, अतएव चाव्यक्तः प्राकृतदेहेन्द्रियादिरहितत्वान्नान्येन व्यज्यत इति स्वयंप्रकाशदेहादिरित्यर्थः। ततश्च प्रकृतिगुणोत्थरागद्वेषादिरहितश्चेति भावः। एवमेवम्भूतोऽपि स्वेषु भक्तेषु या माया कृपा तत्रोचितो यो गुणो लीलाकौतुकमयविशुद्धोर्जितसत्त्वाख्यस्तमाविश्यालम्ब्य भगवान् नित्यमेव प्रकाशितषड़्गुणैश्वर्यः सन्, एतदप्युपलक्षणम्, कदाचिदित्यादौ जातः सन् लोकेन्द्रियेषु व्यक्तोऽपि सन् बाध्यबाधकतां गतः। निजदृष्टिपथेऽपि स्थातुमसमर्थेष्वतिक्षुद्रेषु देवासुरादिषु स्वसाहाय्यप्रतियोद्धृत्वसम्पादनाय स्वयं सञ्चारितं किञ्चित्तदंशलक्षणमेव तेजः समाश्रित्य बाध्यतां बाधकताञ्च गतः। युद्धलीलावैचित्र्याय प्रतियोद्धृषु तदानीं स्वस्मिन् प्रकाश्यमानादपि तेजसोऽधिकं तेजोऽंशं सञ्चार्य्य बाध्यतां पराजयं कदाचित्तु तस्मान्न्यूनं सञ्चार्य्य बाधकतां जयं प्राप्त इत्यर्थः। "स्यात् कृपादम्भयोर्माया" इति विश्वप्रकाशः। अत्र सत्यप्यर्थान्तरे भागवतानुग्रहप्रयोजनत्वेनैवोपक्रान्तत्वादुपसंहरिष्यमाणत्वाच्च गतिसामान्याच्च छलमयमायया तत्तत्कर्त्तृत्वेऽप्यधिकदोषापाताच्च तन्नापेक्षते। तस्माद्भक्तविनोदैकप्रयोजनक-

सर्वसम्वादिनी

विलक्षणाः [आतान-वितानवन्तस्तन्तवः] पटतयाविर्भवन्तीति कारणात् कार्यस्यानन्यत्वम्। न च कारणावस्थामात्रमिति प्रत्यक्षीक्रियत एव। इत्थं प्रत्यक्षमेवानन्यत्वस्योपलभ्यमानत्वात् (ब्र०सू० २।१।१५)—

माया गुण में अधिष्ठित होकर बाध्यबाधकता को प्राप्त करते हैं, अथवा देव एवं दानवगणों के मध्य में परस्पर जो बाध्यबाधकता है, उसका हेतु बनते हैं।

श्रीभगवान् प्रकृत्यतीत हैं, अतएव निर्गुण हैं, अर्थात् प्राकृत गुण रहित हैं, सुतरां अज अर्थात् नित्यसिद्ध हैं, अतएव अव्यक्त—अर्थात् प्राकृत देहेन्द्रियादि रहित हैं, तज्जन्य अपर के द्वारा प्रकाशित नहीं होते हैं, अर्थात् स्वयं प्रकाश देहादि है, एतज्जन्य प्राकृत गुण से उत्पन्न रागद्वेषादि से रहित होते हैं। श्रीभगवान् उक्त प्रकार होने पर भी निज भक्त के प्रति कृपापरायण होते हैं, एवं उक्त कृपा के अनुरूप विशुद्ध सत्त्वमय गुणावली को लीला कौतुकवशतः प्रकट कर विराजित होते हैं। कारण भगवान् नित्य प्रकटित षड़ैश्वर्य्य हैं, यह भी उपलक्षण है, अर्थात् इस वर्णन के द्वारा अपर वस्तु को भी जानना होगा। कदाचित् अदिति प्रभृति से उत्पन्न होकर लोकेन्द्रियगोचर होते हैं, एवं विभिन्न सम्बन्धान्वित होकर बाध्यबाधकता को प्राप्त करते हैं। अर्थात् निज दृष्टिपथ में अवस्थित होने के अयोग्य अति क्षुद्र देवतागण एवं असुरगण को निज सहायता से प्रतियोद्धा निर्माण करने के लिए स्वयं सञ्चारित निजांशरूप तेजः को समाश्रय करके बाध्यता एवं बाधकता को प्राप्त करते हैं।

युद्ध लीला विचित्रता के निमित्त प्रतियोद्धा असुरादि में उस समय प्रकाशित तेज से भी अधिक सामर्थ्य सञ्चारित करके पराजय प्राप्त होते हैं, बाध्यबाधकता प्राप्त करते हैं। कदाचित् निजापेक्षा स्वल्प बल का सञ्चार असुरादि में करके बाधकता को प्राप्त करते हैं। अर्थात् उन सब को पराजित करते हैं। विश्व प्रकाश के मत में माया शब्द का अर्थ—कृपा एवं दम्भ है, अर्थात् 'छल' है।

उक्त श्लोक में अर्थान्तर होने पर भी भगवल्लीला का प्रयोजन निर्णय में जो उपक्रम एवं उपसंहार है, उसमें एकमात्र भक्तानुग्रह प्रयोजन ही निर्णीत हुआ है। वेदान्तसूत्र "गतिसामान्याच्च" नियम से भी छलमय माया के द्वारा अनुष्ठित लीलादि से श्रीभगवान् में वैषम्य दोष की सम्भावना नहीं है। दोषाविष्कार

स्वैरलीलाकैवल्येनान्यत्र रागद्वेषाभावान्नात्र वैषम्यमिति भावः। अतएव बाध्यतामपि यातीति बाधकतया सहैवोक्तम्। तथा निजस्वरूपशक्तिविलासलक्षणलीलाविष्कारेण सर्वेषामेव हितं पर्य्यवस्यतीति सुहृत्त्वादिकञ्च नापयातीति ध्वनितम् ॥

९९। अथ कथं सोऽपि विशुद्धसत्त्वाख्यो गुणः प्राकृतो न भवति, कदा वा कुत्र तं वीर्य्यातिशयं सञ्चारयति, कथं वा कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गो न भवतीत्यादिकमाशङ्क्याह (भा० ७।१।७)— "सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः।

न तेषां युगपद्राजन् ह्रास उल्लास एव वा ॥"७॥

सत्त्वादयो गुणाः प्रकृतेरेव नात्मनः। आत्मनः परमेश्वरस्य तस्य तु ये सर्वेऽपि नित्यमेवोल्लासिनो गुणास्ते तु ते न भवन्तीत्यर्थः। तदुक्तम् (वि०पु० १।९।४३) 'सत्त्वादयो न सन्तीशे' इति, (वि०पु० १।१२।६९)—"ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित्त्वय्येका सर्वसंस्थितौ" इति च। यस्मान्नात्मनस्ते, तस्मादेव युगपत् ह्रास एव वा उल्लास एव वा नास्ति, किन्तु विकारित्वेन परस्परमभ्युपमर्दित्वात् कस्यचित् कदाचित् ह्रासः, कस्यचित् कदाचिदुल्लासो भवतीत्यर्थः।

सर्वसम्वादिनी

"भावे चोपलब्धेः" इत्यत्र "भावाच्चोपलब्धेः" इति केचित् पठन्ति;—उपलम्भनस्य विद्यमानत्वादित्यर्थः। तस्मात् कार्यस्यापि सत्यत्वम्; न तु मिथ्यात्वम्। यत्तु मिथ्यात्वम्, तदध्यात्म-परमात्मनोरध्यस्तत्वमेव।

रूप अर्थान्तर अनुपयुक्त ही है। अतएव भक्तानन्दमात्र प्रयोजन स्वच्छन्द लीला की शुद्धता हेतु देवासुरादि में रागद्वेषादि का अभाव है, अतएव श्रीभगवान् में वैषम्य दोष नहीं है, यह ही तात्पर्य्य है।

अतएव बाध्यता को भी प्राप्त करते हैं, इस कथन के साथ बाधकता की भी उक्ति हुई है। तथा निज स्वरूपशक्ति विलासरूप लीलाविष्कार से सब का ही हित सम्पादन होता है। तज्जन्य श्रीभगवान् के सर्व सुहृदादि गुणों की हानि नहीं होती है। यह ध्वनित हुआ ॥९८॥

श्रीभगवान् विशुद्ध सत्त्व में विराजित हैं, कहा गया है। किन्तु प्रष्टव्य है, उक्त विशुद्ध सत्त्वाख्य गुण प्राकृत क्यों नहीं होगा? किस समय कहाँ उक्त गुण का प्रकाश करते हैं, एवं वीर्य्यातिशय को सञ्चारित करते हैं। उक्त विशुद्ध सत्त्व स्वीकार करने से कृतहानि अकृताभ्युपगम रूप दोष क्यों नहीं होगा? इस प्रकार आशङ्का करके श्लोकद्वय के द्वारा समाधान करते हैं। भा० ७।१।७ में उक्त है,—

राजन्! 'सत्त्व, रजः, तमः' गुणत्रय माया के हैं, आत्मा के नहीं हैं। अतएव गुणसमूह स्वरूपभूत न होने से भगवान् को प्राकृत पुरुषवत् विषम नहीं कहा जा सकता है। हे राजन्! उक्त गुणत्रय का युगपत् ह्रास एवं उल्लास 'वृद्धि' नहीं होता है। सत्त्वादि गुण प्रकृति के हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा—परमेश्वर के स्वरूपभूत जो गुणसमूह हैं, वे सब निरन्तर वृद्धिशील होते हैं, अतएव उक्त सत्त्वादि गुण ईश्वर में नहीं रहते हैं। विष्णुपुराण के १।९।४३ में उक्त है—जिन परमेश्वर में प्राकृत सत्त्व रजः तमोगुण नहीं हैं, आप सब के आदि पुरुष हैं, एवं निखिल शुद्ध पदार्थ से भी शुद्धतम आप प्रसन्न होवे। उक्त ग्रन्थ के १।१२।६९ में उक्त है,—सर्वाधारस्वरूप भगवन् आप में ही ह्लादिनी, सन्धिनी, सम्वित् त्रिविध शक्ति अवस्थित हैं। प्राकृत सत्त्व रजः तमःस्वरूप ह्लादतापकरी मिश्रा गुण आप में नहीं है, कारण आप प्राकृत गुण वर्जित हैं। जब सत्त्वादि गुण परमात्मा में नहीं है, तज्जन्य युगपत् ह्रास एवं उल्लास नहीं होता है, किन्तु विकारी होने के कारण परस्पर पराभवकारी पराभाव्यत्व हेतु किसी समय किसी गुण का ह्रास

ततश्च देवादीनां तत्साहाय्येऽसुरादीनाञ्च तद्युद्धे योग्यतां दर्शयति ।।

१०० । तथा सत्त्वाद्युल्लासकाले तल्लीलायास्तदधीनत्वमिव यत् प्रतीयते, तदनुवदन् परिहरति (भा० ७।१।८)—

(१००) "जयकाले तु सत्त्वस्य देवर्षीन् रजसोऽसुरान् ।
तमसो यक्ष-रक्षांसि तत्कालानुगुणोऽभजत् ।।"८।।

सत्त्वस्य जयकाले देवान् ऋषींश्चाभजद् भजति भगवान् तत्प्रकृतितत्तद्देहेषु सत्त्वोपाधिकं निजतेजः सञ्चारयति, येन च तान् सहायमानान् करोतीत्यर्थः । एवं रजसो जयकाले असुरेषु रजउपाधिकं तमसो जयकाले यक्षरक्षःसु तमउपाधिकमिति योजनीयम् । ततश्च येन तान् यक्षादीन् प्रतियोद्धॄन् कुर्वन् देवादीन् पराजितान् करोति, स्वमपि तथा दर्शयतीत्यर्थः । तदेवं भक्तरसपोषलीलावैचित्र्याय बाध्यबाधकतां यातीति दर्शितम् । यच्च क्षीरोदमथने श्रूयते (भा० ८।७।११)—

सर्वसम्वादिनी

लोकेऽपि शुक्तावध्यस्तत्वमेव रजतस्य मिथ्यात्वमुच्यते,—स्वतः सत्यत्वात्, खपुष्पादेरनध्यास्यत्वाच्च ।

ननु तत् सत्यं स आत्मेति कारणस्य सत्यत्वावधारणाद्विकारजातस्यासत्यत्वमुक्तम् ? न ;—अवधारक-पदाभावात् । प्रत्युत तस्यैकस्य सत्यत्वमुक्त्वा तदुत्थस्य सर्वस्यैव सत्यत्वमुपदिश्यते । रजतं न शुक्त्युत्थम्;

एवं उल्लास होता है । अतएव देवादि के प्रति साहाय्य प्रदान के समय असुरों की उक्त युद्ध में अभिनव योग्यता होती है ।।९९।।

उस प्रकार सत्त्वादि गुणों के उल्लास के समय जो लीला अनुष्ठित होती है उन सब लीला सत्त्वादि गुणों के अधीन होकर अनुष्ठित होती है । आपात दृष्टि से उस प्रकार प्रतीत होता है, उसके अनुरूप कथन के द्वारा उक्त उक्ति का निरास करते हुये कहते हैं—भा० ७।१।८ में उक्त है—

सत्त्वगुण की वृद्धि के समय देव ऋषियों का आनुकूल्य होता है, अर्थात् भगवान् सत्त्वादि रूप में देव ऋषियों में प्रविष्ट होकर उन सब को वर्द्धित करते हैं । उस प्रकार रजोगुण वृद्धि के समय असुरों का अभ्युदय होता है, उस समय भगवान् उक्त गुणात्मक होकर असुर में प्रविष्ट होते हैं, एवं उन सबको वर्द्धित करते हैं । तमोगुण वृद्धि से भी यक्ष राक्षस की वृद्धि होती है, उसमें भी श्रीभगवान् उक्त रूप से उनमें प्रविष्ट होकर उन सब को वर्द्धित करते हैं ।

टीका—सत्त्वस्य जयकाले देवानृषींश्चाभजत् । तत्तद्देहान् प्रविश्य वर्द्धयतीर्थः । रजसे जयकाले असुरान्, तमसो जयकाले यक्षरक्षांसीत्यन्वयः । तस्य कालस्यानुगुणः सन् ।

सत्त्वगुण के उत्कर्ष के समान देवता ऋषियों का भजन करते हैं । अर्थात् भगवान् तत् प्रकृति तत्तत् देह में सत्त्वोपाधिरूप निज तेजः का सञ्चार अतिशय रूप में करते हैं । जिसके द्वारा देववर्ग को साहाय्य प्रदान करते हैं । इस प्रकार रजोगुण के उत्कर्ष के समय असुरगण में रज उपाधिक निज तेज का अतिशय विस्तार करते हैं । तमोगुण के उत्कर्ष के समय, यक्ष रक्ष प्रभृति में तम उपाधिक निज तेज का अतिशय सञ्चार करते हैं । अतएव तेजः सञ्चार के द्वारा ही उक्त यक्ष प्रभृतियों को प्रतियोद्धा निर्माण करते हैं, एवं उनके द्वारा देवतावर्ग को पराजित करते हैं, एवं अपने को भी उस प्रकार दर्शाते रहते हैं । तज्जन्य भक्त रसपोषक लीला की विचित्रता हेतु भगवान् बाध्यबाधकता को प्राप्त करते हैं । सोदाहरण इसका स्थापन हुआ ।

"तथासुरानाविशदासुरेण, रूपेण तेषां बलवीर्य्यमीरयन् ।
उद्दीपयन् देवगणांश्च विष्णु,-र्दैवेन नागेन्द्रमबोधरूपः ॥"११॥ इति ।

तत्रापि तद्वैचित्र्यार्थमेव तथा तत्तदावेशस्तस्येति लभ्यते । नन्वायाता तस्य तत्तद्गुणोद्बोधकालपारवश्येन स्वैरलीलताहानिः । ततश्च गुणसम्बन्धातिशये वैषम्यादिकश्च स्पष्टमेवेत्याशङ्क्याह— तत्कालानुगुण इति, तेषां सत्त्वादीनां काल एवानुगुणो यस्य सः; भगवच्छरण इतिवत् समासः । स्वैरमेव क्रीड़ति तस्मिन् नित्यमेव तदनुगतिकया मायया तदनुसारेणैवानादिसिद्धप्रवाहं तं जगत्कर्मसमुदायं प्रेर्य्य स्ववृत्तिविशेषरूपत्वेन प्रवर्त्यमानः सत्त्वादिगुणानां काल एव तदधीनो भवतीत्यर्थः । कालस्य मायावृत्तित्वमुदाहृतम् (भा० १०।६३।२६) 'कालो दैवम्' इत्यादौ 'त्वन्मायैषा' इति । यद्वा, तेषां कालोऽपि सदानुगतो

सर्वसम्वादिनी

किन्तु तस्मिन्नध्यस्तमेव । विवर्त्तवादश्च पूर्वमेव परिहृतः ।

तस्माद्वस्तुनः कारणत्वावस्था कार्य्यत्वावस्था च सत्यैव । तत्र चावस्थायुगलात्मकमपि वस्त्वेवेति

भा० ८।७।११ क्षीरोदमथन के प्रसङ्ग में उक्त विषय का वर्णन है,—उस प्रकार से भगवान् असुर के मध्य में आविष्ट होकर असुरों के बलवीर्य्य को वर्द्धित किए, एवं देवाकार से देवतागणों में प्रविष्ट होकर उन सब को उद्दीपित किए थे । तथा अबोधरूप से नागेन्द्र में आविष्ट होकर उनको भी पुष्ट किए थे।

टीका—"आसुरेण—असुराकारेण । दैवेन—देवाकारेण आविशत् ।"

समुद्र मथन के समय भी असुरादि की विचित्रता हेतु उस उस प्रकार से श्रीभगवान् में उस उस आवेश दृष्ट होते हैं, उक्त प्रकरण से उस प्रकार अर्थ लाभ ही होता है । यहाँ संशय यह है कि—श्रीभगवान् उस उस कालमें आविष्ट होते हैं, किन्तु इससे श्रीभगवान् की कालपारवश्यता आती है, और उससे स्वतन्त्र लीला की हानि होती है । तज्जन्य गुण सम्बन्ध का आतिशय्य से श्रीभगवान् में वैषम्य भी सुस्पष्ट सिद्ध होता है । उक्त शङ्का समाधान हेतु कहते हैं—"तत्कालानुगुणोऽभजत्" उक्त सत्त्वादि का काल ही अनुगुण—अर्थात् जिनका अनुगत है, उस प्रकार श्रीभगवान् हैं । "भगवत् शरण" शब्द में जिस प्रकार समास होता है । प्रस्तुत स्थल में भी उस प्रकार ही समाधान होआ है । जो भगवान् स्वतन्त्र रूप में क्रीड़ा करते हैं । उनकी नित्या अनुगता जो उनकी मायाशक्ति है, उसके द्वारा, किम्वा मायानुसार के द्वारा अनादि सिद्ध जो प्रवाह है, उससे जगत् कर्मसमुदाय को प्रेरित करके मायावृत्ति विशेष रूप से प्रवर्त्तित सत्त्वादि गुण का काल ही श्रीभगवान् का अधीन होता है । यह ही अर्थ है । काल भी मायावृत्तिविशेष है । उसका उदाहरण भा० १०।६३।२६ में इस प्रकार है—

"कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावो द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा विकारः ।
तत् सङ्घातो वीजरोहप्रवाहस्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये ॥"

टीका—किञ्च यत् विशेषं वस्तु तत्र वयं प्रभवामः, त्वयि तु सर्वविशेषातीतेन कस्यापि प्रभुत्वं किन्तु त्वमेव सर्वप्रभुरिति । ज्ञप्तिमात्रत्वं विवृण्वन् स्तौति काल इति । कालः—क्षोभकः । कर्म—निमित्तम् । तदेव फलाभिमुखमभिव्यक्तं दैवं स्वभावस्तत् संस्कारः जीवस्तद्वान् । द्रव्यं—भूतसूक्ष्माणि । क्षेत्रं—शरीरं, प्राण—सूत्रम् । आत्मा—अहङ्कार, विकारः—एकादशेन्द्रियाणि, महाभूतानि चेति षोड़शकः' इति । तत् सङ्घातो लिङ्गदेहः । एतस्य च वीजरोहवत् प्रवाहः । रोहोऽङ्कुरः, देहाद्वीजरूपं कर्म, ततो अङ्कुररूपो देहः । तत पुनरेवमिति प्रवाहः । एषा—तन्माया । तस्या निषेधः अपोहो यस्मिंस्तं त्वां निषेधावधिभूतं प्रपद्ये भजे' इति ॥

भक्तानुग्रहमात्रार्थ-स्वैरचेष्टात्मकप्रभावलक्षणो गुणो यस्य स इत्यर्थः। ततोऽपि तच्चेष्टानुसारेणैव मायया तत्तत्प्रवर्त्तनमिति भावः यदुक्तम् (भा० १०।३।२६) "योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो, चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम्" इति। तथा चोभयथापि न पारवश्यमित्यायातम्। इत्थमेव श्रीकपिलदेवोऽपि (भा० ३।२६।१५, १६) "यः कालः पञ्चविंशकः" इति, "प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम्" इति च। तत्र मायाव्यञ्जकत्व-पुरुषगुणत्व-लक्षण-मतद्वयमुपन्यस्तवान्। अत्र तस्य चेष्टाप्रभावस्य भक्तविनोदायैव मुख्या प्रवृत्तिः। गुणोद्बोधादिकार्य्यन्तु तत्र स्वत एव भवतीति तत्र प्रवृत्त्याभास एव। ततश्च पूर्वोऽंशः स्वयमेवेति स्वरूपशक्तेरेव विलासः, परस्तु तदाभासरूप एवेत्याभासशक्तेर्मायाया एवान्तर्गतः। "योऽयं कालः" इत्यादौ "निमेषादिः" इत्युक्तिस्तु द्वयोरभेद-विवक्षयैवेति ज्ञेयम्। अत एवं वा व्याख्येयम्—यथा भृत्यस्यानुगतो भृत्योऽनुभृत्यः, तथात्र प्रभावलक्षणस्य गुणस्यानुगत आभासरूपो गुणोऽनुगुणः।

सर्वसम्वादिनी

कारणानन्यत्वं कार्यस्य। तदेतदप्युक्तं सूत्रकारेण,—(ब्र०सू० २।१।१४) "तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः" इति ;—अत्र च तदनन्यत्वमित्येवोक्तम्, न तु तन्मात्रसत्यत्वमिति कार्यस्यासत्यत्वं न तन्मतम्।

ज्वर ने कहा—काल, दैव, कर्म, जीव, स्वभाव, द्रव्य, क्षेत्र, प्राण, आत्मा विकार, उसका सङ्घात बीजरोह प्रवाहसमूह आपकी मायाशक्ति है, निषेध के अवधिभूत आप हैं, आपका शरणागत मैं हूँ।

भा० १०।३।२६ में उक्त है—"योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम्।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयां स्तं त्वेशानं क्षेमधामं प्रपद्ये॥

देवकी बोली,—हे प्रकृति प्रवर्त्तक भगवन्! निमेषादि वत्सर पर्य्यन्त द्विपरार्द्धरूप काल है, उससे विश्व की चेष्टा होती है, पण्डितगण उस काल को आपकी लीला कहते हैं। प्रभो! आप इस प्रकार निर्भय स्थान हैं, अतः मैं शरण ग्रहण कर रही हूँ।

अतएव उभय प्रकार से ही श्रीभगवान् काल के अधीन नहीं हैं। भा० ३।२६।१५-१६ में श्रीकपिलदेव ने भी उस प्रकार ही कहा है—

"एतावानेव संख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य च। सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः॥
प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम्। अहङ्कारविमूढ़स्य कर्त्तुः प्रकृतिमीयुषः॥"

इस प्रकार सगुणब्रह्म के तत्त्वसमूह का वर्णन हुआ, तद्भिन्न काल को पञ्चविंशति तत्त्व जानना होगा। वह प्रकृति के अवस्था विशेष है। कतिपय पण्डितगण काल को ईश्वर का विक्रम कहते हैं। उक्त काल से प्रकृतिजात देह में अहङ्कार उत्पन्न होता है। उससे ही जीव का भय रूप जन्म-मरण प्रवाह होता रहता है। उक्त स्थलों में माया व्यञ्जत्व रूप एवं पुरुषगुणत्व रूप काल के सम्बन्ध में जो मतद्वय है, उसका प्रदर्शन हुआ। उक्त मतद्वय में काल को भगवान् की चेष्टा एवं प्रभाव कहा गया है। उक्त चेष्टा एवं प्रभाव का प्रकाश भगवान् मुख्य रूपसे भक्तानन्द बर्द्धन हेतु ही करते हैं। अतः मुख्यावृत्ति से सत्त्वादि गुण प्रकाशक कार्य्य भी भक्तानन्द में स्वत ही पर्य्यवसित होता है। तज्जन्य गुणोद्बोधादि कार्य्य, आनुषङ्गिक रूप से स्वत ही होता है, उसमें प्रवृत्ति आभास रूपा ही है। तज्जन्य मुख्य प्रवृत्ति ही स्वतन्त्र है, और वह स्वयं ही स्वरूपशक्ति का ही विलास रूप है। गुणोद्बोध स्थल में प्रवृत्ताभास है, वह भी स्वरूपशक्ति का आभास रूप है, मायाशक्ति भी स्वरूपशक्ति की वहिर्देश में विचरणकारिणी आभासरूपा वृत्ति है। भा० १०।३।२६ श्लोक में "योऽयं कालः" "निमेषादि" अर्थात् निमेषादि द्विपरार्द्ध पर्य्यन्त यह जो काल है, यह

तथा च तेषां कालोऽप्यनुगुणो न तु साक्षाद्गुणो यस्येति ॥

१०१। ननु तेषु तेषु तेनावेश्यमानं तेजः कथं न लक्ष्यते? तत्राह (भा० ७।१।९)—

(१०१) "ज्योतिरादिरिवाभाति सङ्घातान्न विविच्यते।
विदन्त्यात्मानमात्मस्थं मथित्वा कवयोऽन्ततः ॥"९॥

यद्यपि तेषु तेषु निजतेजोऽंशेनाविष्टोऽसौ सङ्घातात् सम्मिश्रत्वान्न विविच्यते, लोकैर्विवेक्तुं न शक्यते, तथापि कवयो विवेकनिपुणा अन्ततो मथित्वा तस्यापि साहाय्यं तेनापि युद्ध-मित्यादिकासम्भवार्थनिषेधेन विविच्य तदंशेनात्मस्थं तत्तदात्मनि प्रविष्टमात्मानमीश्वरं विदन्ति जानन्ति। तत्र हेतुगर्भो दृष्टान्तः—यस्मात्तत्तेजः ज्योतिरादिपदार्थ इवाभाति

सर्वसम्वादिनी

तदेतत् सर्व-सम्वादेन तदनन्यत्वप्रकरणमारभ्यते।—(मूले ६०तम अनु०) "तत्र शक्तेः शक्तिमद-व्यतिरेकात्" इत्यादिना षष्टितम-वाक्याभासेन।

कथन उभय की अभेद विवक्षा से ही हुआ है। अतएव इस प्रकार व्याख्या करना उचित् है—जिस प्रकार भृत्य का अनुगत भृत्य को अनुभृत्य कहते हैं, उस प्रकार प्रभावस्वरूप गुण का अनुगत आभास रूप, प्रकृत्याभासरूप गुण को अनुगुण कहते हैं। उस प्रकार सत्त्वादि काल भी जिनका अनुगुण ही है ॥१००॥

देवगण में एवं असुरगण में आवेश्यमान भगवत्तेजः परिलक्षित क्यों नहीं होता? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—भा० ७।१।९ में उक्त है,—अतएव श्रीभगवान् यद्यपि सब के प्रति ही सम हैं, तथापि निमित्त भेद से भेद हो सकता है। जिस प्रकार काष्ठ प्रभृति में अग्नि, पात्रादि में जल, एवं घटादि में आकाश का प्रकाश विभिन्न रूप से होता है, उस प्रकार गुणभेद से उक्त भगवान् अनेक रूपों से प्रकाशित होते हैं। मिश्रित होने के कारण असुरादि के देह से पृथक् रूप से पृथक् रूप से दृष्ट नहीं होते हैं। कहा जा सकता है कि—भगवान् उन सब को अवलम्बन करते हैं, इसको कैसे जानेंगे? उत्तर, निपुण व्यक्तिगण, स्वभाव एवं कर्म के द्वारा आत्मस्थ उन आत्मा को मन्थन करके अर्थात् कार्य्य दर्शन के द्वारा बिचार कर अवगत होते हैं। अर्थात् सूर्य्यकान्त प्रभृति से दाह कार्य्य को देखकर ज्योतिः पदार्थ को जानते हैं, उस प्रकार निपुण व्यक्तिगण असुरादि के देह में कार्य्य को देखकर परमात्मा की स्थिति को निश्चित रूप से अवगत होते हैं।

टीका—समस्यापि निमित्तभेदेन वैषम्ये दृष्टान्तः, ज्योतिरादिरिव। ज्योतिरग्निर्यथा काष्ठादिषु। जलं यथा पात्रादिषु। आकाशं यथा घटादिषु। तथा नानारूप आभाति। ननु तद्वदेव विवेकेन किं न प्रतीयते तत्राह संघातात्, सुरादि देहात् न विविच्यते न पृथक् प्रतीयते। तर्हि तान् भजतीति कुतो ज्ञायते तत्राह विदन्तीति। आत्मस्थं परमात्मानं कवयो निपुणा मथित्वा कार्य्य दर्शन लिङ्गेण विचार्य्य जानन्ति, अन्ततः स्वभावकार्य्यादिवाददर्शनेन। विन्दन्तीति पाठे लाभोऽपि ज्ञानमेव, तत्रापि ज्योतिरादिरिवेति द्रष्टव्यम्। यथा सूर्य्यकान्तादौ दाहदर्शनात् ज्योतिर्ज्ञायते, यथा च गन्धदर्शनाद् वायुरित्यादि ॥

सन्दर्भः। यद्यपि भगवान् देव असुरों में निज तेजः रूप अंश के द्वारा आविष्ट होते हैं, तथापि संघात हेतु—अर्थात् देवता एवं असुर में संमिश्रण हेतु पृथक् रूप से दृष्ट नहीं होते हैं। लोक देव असुर से तत्रस्थ भगवान् पृथक् रूपसे जान नहीं सकते हैं। तथापि विवेकनिपुण व्यक्तिगण विवेचनापूर्वक जानते हैं, अर्थात् विवेकि व्यक्तिगण शेष पर्य्यन्त मन्थन करके स्थिर सिद्धान्त में उपनीत होते हैं कि—भगवान् की सहायता व्यतीत भववान् के सहित युद्ध करना एवं सामर्थ्यवान् होना सम्भव नहीं है। असम्भवार्थ का विशेष विचारपूर्वक निर्णय करते हैं कि—भगवान् निज तेजांश के द्वारा देवासुर आत्मा में प्रविष्ट हैं, इस रीति से

द्रष्टृष्विति विशेषः। अयमर्थः—यथा नेदं मणेस्तेजः, पूर्वमदर्शनात्, किन्तु तदातपसंयोगेन सौरन्तेज एवात्र प्रविष्टमिति सूर्य्यकान्तादौ तृणादिदाहेन तदनुभविषु तदा भाति; यथा च पूर्ववदेव वायोरयं गन्धः पार्थिव एव प्रविष्ट इति तेष्वाभाति, तथात्रापीति। अथवा नन्वेवं तत्र तत्रावेशितैः स्वतेजोभिरेव क्रीड़तीत्यायातम्। कथं तर्हि तैरपि क्रीड़तीति दृश्यते? तत्राह—ज्योतिरिति। यथा चक्षुरादिज्योतिर्भिः स्वांशे रूपमात्रेऽपि प्रकाश्यमाने गन्धादि-गुणपञ्चका मृदेवासौ प्रकाशत इति प्रतीयते, यथा च कर्णादि-नभसा स्वांशे शब्दमात्रेऽपि गृह्यमाणे दुन्दुभिरेवासाविति प्रतीयते, तच्च तत्तद्गुणानां संमिश्रत्वादेव भवति, न वस्तुतः; तथा कवय आत्मानमीश्वरं तत्तत्संघातस्थत्वेनान्यैव विविक्तमपि आत्मस्थं स्वांशतेजोभिरेव क्रीड़न्तं जानन्तीत्यर्थः॥

१०२। तदेवं युद्धादिनिजलीलाभिर्भक्तविनोदनमेव प्रयोजनम्, विश्वपालनन्तु ततः स्वत एव सिध्यतीत्युक्त्वा, सृष्टिप्रलययोः प्रकृतीक्षणादावपि सर्वाशङ्कानिरासार्थमतिदिशन् त्रिष्वप्य-

सर्वसम्वादिनी

अथ टीका-दर्शितं खण्डनानुगत-विवर्त्तवादत्वमनन्यत्ववाद-व्याख्यया खण्डयितुं द्विषष्टितम-(मूले ६२तमअनु०) वाक्यादिकमाभासयन्नाह,—तत्रानन्यत्वे युक्तिं विवृणोतीति।

ईश्वर को कविगण जानते हैं। उक्त विषय में हेतु गर्भ दृष्टान्त, कारण उस प्रकार तेजः, ज्योति प्रभृति पदार्थ के समान ही प्रतिभात होता है, द्रष्टागण उस प्रकार ही देखते हैं। उसका अर्थ इस प्रकार है,—यह तेज मणि का नहीं है। कारण पहले यह नहीं था, किन्तु जब से सूर्य्यातप से संयुक्त है, तब से ही तेज उपलब्ध होता है। अतएव सौरतेज ही मणि में प्रविष्ट है, इस प्रकार सूर्य्यकान्तमणि के द्वारा तृणादि दाह निष्पन्न होने से अनुभविगण सूर्य्यकान्तादि में सूर्य्य के तेज का प्रभाव को ही दाह के प्रति कारण मानते हैं। जिस प्रकार पूर्व दृष्टान्त से ही वायु की प्रसिद्धि पूर्व से ही है, किन्तु सुगन्ध वायु का अनुभव जब होता हैं, तब निर्णय होता है कि—पूर्व में वायु में गन्ध नहीं था, सम्प्रति गन्ध उपलब्ध होता है। गन्ध पृथिवी में रहता है, वह गन्ध वायु में प्रविष्ट हुआ है। यह जिस प्रकार उस प्रकार ही देवासुर में प्रविष्ट भगवान् का अनुभव कार्य्य दर्शन से होता है।

उस प्रकार सिद्धान्त होने से मानना होगा कि—भगवान् स्वयं ही देवासुर में आविष्ट होकर क्रीड़ारस आस्वादन करते हैं। तब क्यों वे लोक भी क्रीड़ा करते हैं, इस प्रकार देखने में आता है? उत्तर में कहते हैं—जिस प्रकार चक्षुरादि ज्योति निजांश रूप को प्रकाशित करती है, किन्तु प्रतीति होती है कि—गन्धादि गुण पञ्चक का प्रकाशक मृत्तिका ही है। जिस प्रकार कर्णविवरवर्त्ति आकाश द्वारा निजांश शब्द मात्र गृहीत होने पर भी दुन्दुभि नामक वाद्यविशेष ही उसका प्रकाशक है, इस प्रकार प्रतीति होती है। किन्तु उक्त मृत्तिकादि का प्रकाश—उक्त गुणसंमिश्रण से ही होता है। किन्तु वस्तुतः मृत्तिकादि उक्त गुणों का प्रकाशक नहीं है। उस प्रकार विवेकनिपुण व्यक्तिगण आत्मा को—ईश्वर को, उक्त देहसमूह में दृष्ट होने पर भी अपर के द्वारा प्रतीत होने पर भी, आत्मस्थ—अर्थात् स्वांश तेज के द्वारा क्रीड़ा करते हुए जानते हैं। प्रकरणार्थ यह ही है॥१०१॥

अतएव उस प्रकार युद्धादि निज लीला के द्वारा भक्तविनोदन ही भगवान् का मुख्य प्रयोजन है। विश्वपालनादि कार्य्यसमूह आनुषङ्गिक रूप में ईश्वर से स्वतः ही होते हैं। सृष्टि प्रलय कार्य्य में प्रकृतीक्षणादि हेतु अन्य तुल्यत्व विधान रूप अतिदेश नियम से सृष्टि स्थिति प्रलय कार्य्य में भी ईश्वर का

विशेषमाह (भा० ७।१।१०)—

(१०२) "यदा सिसृक्षुः पुर आत्मनः परो, रजः सृजत्येष पृथक् स्वमायया ।
सत्त्वं विचित्रासु रिरंसुरीश्वरः, शयिष्यमाणस्तम ईरयत्यसौ ।।"१०।।

यदा यत्र स्वचेष्टालक्षणे काले एष परः परमेश्वरः स्वमायया भक्तकृपया आत्मनः पुरः प्राचीनसृष्टिगतसाधकभक्तरूपाणि स्वस्याधिष्ठानानि सिसृक्षुर्भवति, प्रकृत्या सह तेषु लीनेषु आविर्भावनार्थमीक्षां करोति, तदा पृथक् स्वरूपशक्तेरितरासौ जीवमायाख्या शक्तिः पूर्ववत्तच्चेष्टात्मक-प्रभावाभासोद्दीप्ता रजः सृजति, स्वांशभूताद्गुणत्रयसाम्यादव्यक्तात्तद्विक्षिपति, उद्बोधयतीति वा । यद्वा, पृथङ्मायानुगत एष काल एव सृजति, तथासौ-पदेन च काल एवोच्यते । अथ विचित्रासु नानागुणवैचित्रीमतीषु तल्लक्षणासु पुर्षु यदा रन्तुमिच्छुर्भवति, तदासौ सत्त्वं सृजति, यदा पुनस्ताभिरेव मिलित्वा शयिष्यमाणः शयितुमिच्छुर्भवतीत्यर्थः,

सर्वसम्वादिनी

अथ षट्सप्ततितम-(मूले० ७६तम अनु०) वाक्य-व्याख्यानन्तरमेवं (मूले० ७७तम, ७८तम अनु०) विवेचनीयम् ।—तदेवं परिणामाङ्गीकारेण विश्वस्य सत्यत्वं साधितम् । तत्र कार्य-कारणयोरनन्यत्वं

प्रयत्न एकविध ही है, उसका प्रदर्शन भा० ७।१।१० के द्वारा कहते हैं—

यद्यपि परम पुरुष का उक्त प्रकार वैषम्य बहिरङ्गा मायाशक्ति के गुण द्वारा होता है, तथापि वह कार्य्य ईश्वर का स्वाभाविक नहीं है, तथापि गुण पारतन्त्र ईश्वर हैं,—इस प्रकार मानकर उनके प्रति अनीश्वरत्व की शङ्का न करें । उक्त परमेश्वर जिस समय जीव के भोग के निमित्त जब बहिरङ्गा शक्ति के द्वारा जीव के देह समूह की रचना करने के लिए इच्छुक होते हैं । उस समय गुणत्रय की साम्यावस्था में स्थित प्रकृति से रजोगुण का सृजन पृथक् रूप से करते हैं, पश्चात् उक्त पुरसमूह में क्रीड़ा करने के लिए इच्छुक होकर सत्त्वगुण का सृजन पृथक् रूप से करते हैं । अनन्तर शयन करने का अभिलाषी होकर संहार करने की इच्छा से तमोगुण को प्रेरण करते हैं ।

टीका । तदेवं मायागुणवशेन एतद्वैषम्यं न स्वाभाविकमित्युक्तं तथापि गुणपारतन्त्र्यादनीश्वरत्वमाशङ्क्याह । यदा आत्मनो भोगाय पुरः शरीराणि परः परमेश्वरः सिसृक्षुर्भवति तदा साम्येन स्थितं रजः पृथक् सृजति । विचित्रासु तासु पुर्षु क्रीड़ितुमिच्छुः सत्त्वं पृथक् सृजति । शयिष्यमाणः संहरिष्यन् तमः पृथक् ईरयति प्रेरयति ।

सन्दर्भ । यदा—स्वीय चेष्टात्मक काल में, एष—पर परमेश्वर, स्वमायया—भक्तगण के प्रति कृपा करने के लिए, आत्मनः पुरः—प्राचीन सृष्टिगत साधक भक्तरूप निजाधिष्ठान का निर्माण करने की इच्छा करते हैं । अर्थात् प्रलय के समय प्रकृति के सहित भक्तगण भगवान् में लीन होने पर उन सब को आविर्भावित करने के लिए प्रकृति के प्रति ईक्षण किए थे । उस समय पृथक् अर्थात् स्वरूपशक्ति से भिन्न यह जीव माया नाम्नी शक्ति है, भगवच्चेष्टात्मक प्रभाव का आभासरूप काल के द्वारा भगवान् उक्त शक्ति को उद्दीप्त करके रजः गुण का सृजन करते हैं । अर्थात् निजांश गुणत्रय की साम्यावस्था प्रकृति से रजोगुण विक्षिप्त होता है, किम्वा रजोगुण को उद्बुद्ध करते हैं । अर्थान्तर में—पृथक् अर्थात् मायानुगत यह काल ही रजोगुण की सृष्टि करते हैं । 'तथा' 'असौ' पद भी काल का बोधक है । अनन्तर नाना गुण विचित्रता प्रयुक्त साधक भक्तरूप पुरसमूह में जब क्रीड़ा करने की इच्छा करते हैं, उस समय, यह काल सत्त्वादि गुण का सृजन करते हैं । जिस समय, पुनर्बार उक्त साधक भक्तरूप पुर के सहित मिलित

तदासौ तमः सृजतीति। ततो भक्तनिमित्तमेव सर्वा एव सृष्ट्यादिक्रियाः प्रवर्त्तन्त इति भावः। यथाङ्गीकृतमेकादशस्य तृतीये (भा० ११।३।३) टीकाकृद्भिरपि—"किमर्थं ससर्ज्ज? स्वमात्रात्मप्रसिद्धये—स्वं मिमीते प्रमिमीयते य आत्मानमुपास्ते स स्वमाता, तस्यात्मनो जीवस्य प्रकृष्टायै सिद्धये" इति। शयनमत्र पुरुषावतारस्य कदाचित् प्रलयोदधौ योगनिद्रा कदाचिद्भगवत्प्रवेशो वा। यद्यपि सर्वेष्वपि जीवेषु अन्तर्यामितया परमेश्वरस्तिष्ठति, तथापि तत्रासंसक्तत्वादस्थित एव भवति, तद्भक्तेषु तु समासक्तत्वान्न तथेति। न च तत्सङ्गादौ तस्येच्छेति यथोक्त-व्याख्यानमेव बलवत्। तथा च श्रीभगवदुपनिषदः (गी० ९।४-५) 'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्" इति;

सर्वसम्वादिनी

दर्शितम्; विवर्त्तवादनिषेधेनाभेदश्च परिहृतः।

अत केचिद्वदन्ति।—अत एकस्यैव वस्तुनोऽवस्था-भेदेन कारणत्वं कार्य्यत्वञ्चेत्यवस्थाभ्यां भेदाद्-

होकर शयिष्यमाण,—अर्थात् शयन करने की इच्छा करते हैं, उस समय उक्त काल तमः गुण का सृजन करते हैं। तज्जन्य भक्तजन के निमित्त ही श्रीभगवान् के समस्त सृष्ट्यादि लीला कार्य्य हैं, यह ही भावार्थ है। भा० ११।३।३ में उक्त सिद्धान्त का अङ्गीकार टीकाकार ने किया है।

श्रीअन्तरीक्ष उवाच—

"एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुजः। ससर्ज्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये॥"

महाभुज भूतात्मा आद्य भगवान् महाभूतों के द्वारा उच्चावच भूतसमूह का सृजन भोग एवं मोक्ष के लिए किए हैं।

टीका—मायायाः स्वरूपतो निरूपणासम्भवात् सृष्ट्यादि कार्य्य द्वारेण निरूपयितुमाह,—एभिरिति। आद्यः पुरुषः यया शक्त्या भूतानामात्मा कारणभूत, एभिः स्वसृष्टैः महाभूतैरुच्चावचानि भूतानि ससर्ज्ज। एषा माया भगवत इति। चरमश्लोकपादस्य प्रतिश्लोकमनुषङ्गः। किमर्थं ससर्ज—स्वमात्रात्मप्रसिद्धये। स्वमिमीते प्रमिमीयते उपास्ते यः स स्वमाता', तस्यात्मनो जीवस्य प्रकृष्टायै सिद्धये। यद्वा—स्वांशभूतानां जीवानां मात्राप्रसिद्धये विषयभोगाय, आत्मप्रसिद्धये मोक्षाय चेत्यर्थः। तदुक्तं वेदस्तुतौ—बुद्धीन्द्रियमनः प्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः"। "मात्रार्थञ्च भवार्थञ्च आत्मनेऽकल्पनाय चेति"।

टीकाकार ने कहा—किसके लिए सृजन किया? स्व मात्रात्मप्रसिद्धये, जो आत्मोपासना करता है, वह स्वमाता है। उक्त आत्मा की—अर्थात् जीव की प्रकृष्ट सिद्धि के निमित्त। यहाँ शयन शब्द का अर्थ है—समय विशेष में प्रलय समुद्र में पुरुष अवतार की योगनिद्रा। किसी समय—भगवान् में प्रवेश।

यद्यपि समस्त जीवों में अन्तर्य्यामिरूप में सर्वत्र भगवान् अवस्थित हैं। तथापि उक्त जीवसमूह में अनासक्त होकर ही रहते हैं। अतएव अस्थित कहा जाता है, भक्तजन में उस प्रकार नहीं है, कारण भक्तजन में पूर्ण आसक्त होकर ही रहते हैं। उक्त जीवों में आसक्त अनासक्त के प्रति भगवत् इच्छा ही कारण है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, तज्जन्य उक्त व्याख्यान ही बलवत् है। उस प्रकार श्रीभगवत् गीतोपनिषत् में कथित है—(गी ९।४-५) हे अर्ज्जुन! समस्त महाभूत मुझको आश्रय कर ही अवस्थित हैं, मैं उन सब को अवलम्बन कर नहीं रहता हूँ। अथच मेरा ऐश्वरिक योग (संघटन) शक्ति का दर्शन करो। उक्त भूतसमूह मुझमें नहीं रहते हैं, मैं भी उक्त भूतसमूह में नहीं रहता हूँ। मैं भूतसमूह का धारण पालन करके भी भूतस्थ नहीं हूँ। जो जन मेरा भजन भक्ति पूर्वक करता है, वह मुझमें रहता है, मैं भी उस भजनकारी में रहता हूँ।

(गी० ९।२९) "ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्" इति च; उक्तञ्च हरिभक्ति-सुधोदये (१४।५७)—

"भक्तानां हृदयं शान्तं सश्रियो मे प्रियं गृहम्। वसामि तत्र शोभैव वैकुण्ठाख्यादिवर्णना।।"५७।। इति।

१०३। एवं प्रसङ्गेन सृष्टिप्रलयावपि व्याख्याय पुनः पालनमेव व्याचक्षाणः प्रकरणमुपसंहरति सार्द्धेन (भा० ७।१।११)—

(१०३) "कालं चरन्तं सृजतीश आश्रयं, प्रधान-पुंभ्यां नरदेव सत्यकृत्।
य एष राजन्नपि काल ईशिता, सत्त्वं सुरानीकमिवैधयत्यतः।
तत्प्रत्यनीकानसुरान् सुरप्रियो, रजस्तमस्कान् प्रमिणोत्युरुश्रवाः।।"११।।

सत्यकृत् स्वरूपशक्ति-विलासेनैव स्वयं परमार्थसत्यक्रियाविर्भावक एव सन् स्वचेष्टारूपं कालं सृजति व्यञ्जयति। किं कुर्वन्तम्? प्रधान-पुंभ्याञ्च चरन्तं तत्तत्सम्बन्धानां साधक-भक्तानां देवादिप्रविष्टं निजतेजोऽंशानाञ्च साहाय्यहेतोरेव सृज्यमानतया उत्पत्त्यैवाव्यक्त-जीवसंघाताभ्यां चरन्तम्, अतएव सन्निधानेनैव तयोस्तत्तदवस्थानामाश्रयमुद्भवहेतुञ्च।

सर्वसम्वादिनी

वस्तुना त्वभेदात्तयोर्भेदाभेदौ। एवं सर्वेषामेव वस्तूनां भेदाभेदावेव। सर्वत्र हि कारणात्मना जात्यात्मना चाभेदः, कार्यात्मना व्यक्त्यात्मना च भेदः प्रतीयते; यथा—'मृदयं घटः', षण्डो गौः' इति। अत्र युक्ति-

श्रीहरिभक्तिसुधोदय में कथित है—भक्तगणों के हृदय ही स्निग्ध है, उक्त हृदय ही मेरा हृदयङ्गम वासस्थान है, वैकुण्ठ में निवास कर श्री के सहित जिस प्रकार मैं शोभित होता हूँ, ठीक उस प्रकार शोभित होकर ही मैं भक्त हृदय में निवास करता हूँ।।१०२।।

उक्त प्रकार प्रसङ्ग के द्वारा सृष्टि एवं प्रलय की व्याख्या करके पुनर्बार पालन का वर्णन करके प्रकरण का उपसंहार करते हैं। भा० ७।१।११ में उक्त है—हे नरदेव! उक्त परमात्मा काल के अधीन नहीं हैं, आप ईश, सत्यकारी अर्थात् अमोघकर्त्ता हैं। प्रकृति पुरुष निमित्त के द्वारा उभय की सहकारिता हेतु आश्रयस्वरूप में वर्त्तमान जो काल है, उसका स्रष्टा आप ही हैं। अतएव काल उन परमात्मा का चेष्टा स्वरूप होने से परमात्मा काल परतन्त्र नहीं हैं।

टीका—यदा सिसृक्षुरित्यादिनिर्देशेन प्रतीतं कालपारतन्त्र्यं वारयन् प्रधानपुरुषपारतन्त्र्यमपि वारयति कालमिति। हे नरदेव! प्रधानपुंभ्यां निमित्तभूताभ्यां सत्यकृत् अमोघकर्त्ता ईशस्तयोः सहकारित्वेनाश्रय-भूतं चरन्तं वर्त्तमानं कालं स्वयमेव सृजति। स्वचेष्टारूपत्वात् कालस्य च न तत् पारतन्त्र्यमित्यर्थः। तथापि प्रस्तुते किमायातम्? तत्राह—य एव कालः, स सत्त्वमेधयति—वर्द्धयति। अतो हेतोः ईशितापि ईश्वरोऽपि सत्त्वप्रधानं सुरानीकं देवसमूहमेधयतीव। तत् प्रत्यनीकान् सुरप्रतिपक्षान् प्रमिणोति हिनस्ती-वेत्यन्वयः उरु प्रभूतं श्रवः कीर्त्तिर्यस्य सः, कालशक्तिक्षुभितगुणगतवैषम्यं सन्निधिमात्रेण तदधिष्ठातरि स्फुरतीति प्रकरणार्थः।।

सन्दर्भः। सत्यकृत्—अर्थात् स्वरूपशक्ति विलास के द्वारा ही परमार्थ सत्य क्रिया का आविर्भावक होकर निज चेष्टारूप काल का सृजन करते हैं, अर्थात् प्रकाश करते हैं। किस प्रकार क्रियान्वित काल है? उक्त अभिप्राय से काल का विशेषण को कहते हैं। प्रकृति पुरुष के सहित विचरणकारी काल है। अर्थात् तत्तत् भगवदवतार सम्बन्धीय साधक भक्तगण के साहाय्य करने के निमित्त, सृज्यकार्य्य हेतु आदि से आरम्भ कर अव्यक्त एवं जीवगण के सहित विचरणकारी है। अतएव सन्निधिमात्र से ही प्रकृति पुरुष की

नरदेवेति सम्बोधनेन यथा निजेहया मुख्यमेव कार्य्यं कुर्वतस्तव तयैवान्यदपि क्षुद्रतरं स्वयमेव सिध्यति, तद्वदिहापीति बोधितम्। ततो य एष चेष्टारूपः कालः, स सत्त्वं सत्त्वप्रधानं सुरानीकमेधयतीव, तत एव तत्प्रत्यनीकान् रजस्तमःप्रधानानसुरान् प्रमिणोतीव हिनस्तीव, ये तु देवेषु भक्ता असुरेषु भक्तद्वेषिणस्तान् स्वयं पालयति हिनस्ति चैवेति पूर्वमेवोक्तम्। यस्मात्तच्चेष्टालक्षणस्य कालस्यैवं वार्त्ता, तस्मादीशितापि एधयतीव प्रमिणोतीव चेति। हे राजन्निति पूर्वाभिप्रायमेव। ननु यदि चेशितुः प्रयोजनं न भवति, तर्हि कथं कदाप्यसुरानपि स्वपक्षान् विधाय देवैर्न युध्येत ? तत्राह— सुरप्रियः, सुरेषु वर्त्तमानाः प्रिया भक्ता यस्य सः। सत्त्वप्रधानेषु सुरेषु प्रायशस्तेषां सर्वेषामनुगमनेनैव तस्यानुगमनम्। कदाचिद्वृहस्पत्यादिषु महत्स्वपराधे तु तेषां मालिन्येन सुरत्वाच्छादनात्तेषां तस्य चैतेष्वननुगमनं स्यादिति। 'जयकाले तु सत्त्वस्य' इत्याद्युक्तमिति भावः। ननु कथं तेऽपि तान्नानुगच्छन्ति ? तत्राह— रजस्तमस्कानिति। अत्यन्त-भगवद्बहिर्मुखताकरयोस्तयोर्गुणयोररोचकत्वादेवेति भावः।

सर्वसम्वादिनी

विशेषाश्च भास्कर-मतादौ द्रष्टव्याः।

अन्ये वदन्ति।—न तावत् कार्य-कारणयोर्भेदाभेदौ ; यत आकारविशेषरूपाया एवावस्थायाः कार्यत्वम्; न मृदः,—तस्याः पूर्वसिद्धत्वात्। अतएव नाकारविशेष-विशिष्टाया अपि तस्याः कार्यत्वम्; घटत्वं तु

उस उस अवस्था का आश्रय एवं उद्भव हेतु भी है। नरदेव सम्बोधन के द्वारा सूचित हुआ है कि—महाराज जिस प्रकार निजेच्छा से मुख्य कार्य्य करते हैं, उस समय उक्त चेष्टा से ही अन्य क्षुद्रतर कार्य्य सिद्ध होता है, उस प्रकार परमेश्वर चरित्र में भी जानना होगा। तज्जन्य जो चेष्टारूप काल है, वह सत्त्व अर्थात् सत्त्व प्रधान देव सैनिकवर्ग की शक्ति को वर्द्धन करते हैं। उससे ही देव विरोधी रजः तमः प्रधान असुरगण को विनष्ट करते हैं। देवताओं में जो भक्त होते हैं—उन सब का पालन भगवान् स्वयं ही करते हैं। असुरों के मध्य में जो भक्तद्वेषी है, उसका संहार भी स्वयं ही करते हैं। इसका कथन पूर्वग्रन्थ में हुआ है। जब भगवत् चेष्टा रूप काल की ही उस प्रकार महिमा है, तब भगवान् सर्वनियन्ता होकर भी देवगण को वर्द्धित करते हैं, एवं असुरगण को विनष्ट करते हैं। हे राजन् सम्बोधन पद भी पूर्वाभिप्राय से ही प्रयुक्त हुआ है। यदि परमेश्वर का प्रयोजन ही नहीं है, तब कदापि असुरगण को स्व पक्ष करके देवतागण के सहित युद्धारम्भ नहीं करते ? विरोध परिहार हेतु कहते हैं,—परमात्मा सुरप्रिय हैं, अर्थात् देवगण के मध्य में जिनका प्रियभक्त विद्यमान है, सत्त्वगुण प्रधान देवगण के मध्य में भक्तगण के अनुगमन के द्वारा श्रीभगवान् का भी अनुगमन होता है। कदाचित् वृहस्पति प्रभृति महद्गण के निकट अपराध अनुष्ठित होने से देवगण में मालिन्य छा जाता है। अर्थात् देवत्व आच्छादित हो जाता है, उस समय श्रीभगवान् का अनुगमन नहीं होता है। "जयकाले तु सत्त्वस्य देवर्षीन् रजसोऽसुरान् तमसो यक्षरक्षांसि तत्कालानुगुणोऽभजत्।" अर्थात् सत्त्वगुण वृद्धि के समय देव एवं ऋषिगण का भजन करते हैं। अर्थात् तत्तत् देह में प्रविष्ट होकर उन सब को वर्द्धित करते हैं। इस प्रकार रजोगुण वृद्धि के समय असुरगण को, तमोगुण वृद्धि के समय यक्ष राक्षसों को वर्द्धित करते हैं, यह ही भावार्थ है।

वे सब भक्तों का अनुगमन क्यों नहीं करते हैं ? उत्तर में कहते हैं,—रजतमस्कानिति, वे सब रजोस्तमोगुण प्रधान होते हैं। अत्यन्त भगवद्वहिर्मुखताकर रजोस्तमोगुण होते हैं, उससे भगवान् एवं

तर्हचसौ सदैवासुराणां निग्रहमेव करोतीत्यन्यथाप्यसामञ्जस्यमित्याशङ्क्याह— उरुश्रवाः; (भा० ११।५।४८) "वैरेण यं नृपतयः" इति, (भा० ३।२।२३) "अहो वकी यं स्तनकालकूटम्" इत्यादिभिरुरु सर्वतो विस्तृतं महत्तमं वा श्रवः कीर्त्तिर्यस्य सः। तेषामप्युनुग्रहमेव करोतीति भावः ॥

सर्वसम्वादिनी

तद्विशिष्टाया एव;—तत्कार्य-कारणत्व-तत्प्रतीतितच्छब्द-प्रयोगाणां तस्यामेव दर्शनात्। अतो घटस्य कार्यत्वं कार्यस्य घटत्वं प्राचुर्य्यादेव व्यपदिश्यते। तदेवं तदवस्थाया एव कार्यत्वे सिद्धे कारणत्वमपि

भगवद्भक्त का आनुगत्य नहीं होता है, यह ही तात्पर्य्य है। तब तो भगवान् सर्वदा ही असुरगण को निगृहीत करते रहते हैं। इस प्रकार कहना भी असमीचीन है? उत्तर में कहते हैं—उरुश्रवाः। विपुल कीर्त्तिसम्पन्न ही भगवान् होते हैं। कारण भा० ११।५।४८ में वर्णित है—

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्र शाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः।
ध्यायन्त आकृतधियशयनासनादौ तत् साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम् ॥

टीका। एतदेव कैमुत्यन्यायेन स्फुटयति वैरेणेति। यं शयनासनादौ वैरेणापि ध्यायन्तस्तस्य गति-विलासाद्यैराकृतधियस्तत्तदाकाराधीर्येषां तं तत् सारूप्यमापुः किं पुनर्वक्तव्यम्, अनुरक्तधियां तत् साम्यं भवतीति ॥

कैमुत्य रीति से श्रीभगवत् कारुण्य का वर्णन करते हैं। यदि शत्रुता के वशवर्त्ती होकर शिशुपाल पौण्ड्र शाल्व प्रभृति नृपवर्ग एवं सुहृद् बुद्धि गमन विलास विलोकन शयनोपवेशन प्रभृति समस्त क्रिया में भगवत् तन्मयता को प्राप्त कर निजजन बन सकते हैं, तब क्या प्रीतिपूर्वक परिचर्य्यापरायण व्यक्ति उनके निजजन नहीं बनेंगे? कारण श्रीकृष्णचन्द्र उरुश्रवाः हैं, विपुल कीर्त्तिसम्पन्न हैं। उस प्रकार भा० ३।२।२३ में वर्णित है— "अहो वकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥"

टीका। एवमनुवृत्तिः कृपयैवेति सूचयन् अपकारिष्वपि तस्य कृपालुतां दर्शयन्नाह। अहो आश्चर्य्यं दयालुतायाः। हन्तुमिच्छयापि स्तनयोः सम्भृतं कालकूटं विषं तमपाययत्। वकी पूतना असाध्वी दुष्टापि धात्र्या यशोदाया उचितां गतिं लेभे। भक्तवेशमात्रेण यः सद्गतिं दत्तवानित्यर्थः। ततोऽन्यं कं वा भजेम।

श्रीभगवान् की कृपालुता आश्चर्य्य जनक है, अपकारी व्यक्ति के प्रति भी निःसीम करुणा करते हैं। अनुरक्त व्यक्ति के प्रति तो उनकी स्वाभाविकी करुणा है ही। दयालुता से आश्चर्य्य होने की बात ही यह है—पूतना नाम, जन्म, कर्म, सङ्ग, वासना से अति निकृष्टा रही, असाधु आचरणकारिणी रही, श्रीकृष्ण रूपी बालक को कालकूटयुक्त स्तनदान कर विनष्ट करने की इच्छा से उसने अङ्ग में उठा लिया था, किन्तु उसने यशोदा के समान धात्री गति को सदा के लिए प्राप्त किया। यह ही भक्त वेश धारण का फल है। अतएव श्रीकृष्ण को छोड़कर अपर भजनीय कौन हो सकता है? केवल भगवद्भक्तगण के प्रति ही भगवान् कृपा करते हैं, यह नहीं, असुर के प्रति भी भगवान् की कृपा समान रूप से है। असुरगण भी भागवत होते हैं। भगवद्ध्यानाभिनिवेश से वे सब निरन्तर भगवान् को देखते हैं। अतएव श्रीनारद ने कहा— "तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेदिति" भगवान् श्रीकृष्ण में मनोनिवेश ही विधेय है, उसमें भी प्रीति के द्वारा होने से अमृतमय है। अतएव "वैरेण यं नृपतयः" "अहो वकी यं स्तनकालकूटं" इत्यादि वाक्य के द्वारा वर्णित उरुश्रवः, उरु—सर्वत्र विस्तृत, सर्वदिग्गत, किम्वा अति उत्कृष्टतम श्रवः कीर्त्ति कार्य्यकलाप जिनके निरन्तर हैं, उक्त भगवान् असुरगण को भी अनुग्रह करते हैं, यह भावार्थ है ॥१०३॥

१०४। तदेवं सिद्धान्तं प्रदर्श्य तत्र स्वभक्तानुग्रहमात्रप्रयोजनस्तत्तत् करोति परेश इति प्रतिज्ञातार्थोदाहरणाय प्रह्लाद-जय-विजयादिकृपायाः सूचकमितिहासविशेषमाह (भा०७।१।१२)—

(१०४) "अत्रैवोदाहृतः पूर्वमितिहासः सुरर्षिणा।
प्रीत्या महाक्रतौ राजन् पृच्छतेऽजातशत्रवे॥"१२॥ इत्यादि।

टीकैव द्रश्या॥ श्रीशुकः॥

१०५। तदेवं सर्वे अपि वैषम्य-नैर्घृण्ये परिहृते; ईश्वरस्तु पर्जन्यवद्द्रष्टव्य इत्यस्य (ब्र०सू० २।१।३४)—ब्रह्मसूत्रनिर्गलितार्थन्यायस्याप्यत्रैवान्तर्भावसिद्धेः। इति ब्रह्म-भगवत्-

सर्वसम्वादिनी

परस्यास्तदवस्थाया एव भविष्यति। ततश्च कार्य-कारणयोस्तद्रूपावस्थाद्वयाश्रयस्य वस्तुनश्च भिन्नत्वमेव। तयोरनन्यत्वं तु घटादि-लक्षण-विशिष्ट-वस्त्वपेक्षयैव, न तु प्रत्येक-वस्त्वपेक्षया। तथा परस्परं कार्याणामपि

उक्त प्रकार से सिद्धान्त प्रदर्शनपूर्वक उक्त विषय में निज भक्तानुग्रह हेतु ही श्रीपरमेश्वर उक्त समस्त कार्य्य सर्वदा करते हैं। इस प्रकार प्रतिज्ञात विषय के उदाहरण के निमित्त प्रह्लाद एवं जयविजयादि के प्रति कृपा सूचक इतिहास का वर्णन करते हैं। भा० ७।१।१२ में वर्णित है—राजन्! राजसूय महायज्ञ में दीक्षित महाराज के निकट देवर्षि नारद द्वेषादिविहीन भाव से ही भगवान् दैत्य बध करते हैं। इस प्रसङ्ग का एक इतिहासरूप दृष्टान्त का वर्णन करते हैं।

टीका। इदानीन्तु तयोर्बध न सुरपक्षपातेन किन्तु ब्रह्मशापेन आसुरीं योनिं प्राप्तयोरनुग्रहार्थ एवेति वक्तुमितिहासमुपक्षिपति अत्रैवेति। अत्रैव द्वेषादिरहितस्यापिदैत्यबधे नारदेनेतिहासः प्रस्तावितः।

इस टीका में ही प्रस्तुत विषय का सुस्पष्ट वर्णन है। राजसूय यज्ञ में शिशुपाल दन्तवक्र का निधन को देखकर महाराज युधिष्ठिर विस्मित हो गये थे, असुर की भी उत्तम गति हुई; यह ही विस्मय का विषय है। असुर का बध देवतापक्षपात हेतु नहीं है। किन्तु ब्रह्म शाप से आसुरी योनि प्राप्त निज जन के प्रति अनुग्रह करने के लिए ही हुआ। भगवान् द्वेषादि विहीन हैं, तथापि उन सब को सौभाग्य प्रदान करने के लिए बधरूप कार्य्यानुष्ठान करते हैं। इसका इतिहास प्रस्तुत कर रहे हैं।

"अत्रैवोदाहृतः पूर्वमितिहासः सुरर्षिणा। प्रीत्या महाक्रतौ राजन् पृच्छतेऽजातशत्रवे॥"

प्रवक्ता श्रीशुक हैं॥१०४॥

पूर्वोक्त सिद्धान्तसमूह के द्वारा श्रीभगवान् में आपतित विषमता—अर्थात् पक्षपात दोष, एवं निर्दयता रूप दोष का परिहार हुआ। किन्तु मेघ जिस प्रकार अविषम भाव से सर्वत्र वर्षण करता है, किन्तु आधार भेद से वर्षित वारि की प्रतीति आधार एवं काल भेद से अनेक विध होती है। उस परमेश्वर की दया सर्वत्र सम भाव से ही विस्तृत है। किन्तु उक्त दया को सत्व प्रकृतिसम्पन्न देवगण हितकर रूप से जानते हैं, असुरगण उक्त दया को रजः तमः प्रकृति सम्पन्नता के कारण अहित रूप से जानते हैं। ब्रह्मसूत्र २।१।३४ का निर्गलितार्थ नियम का अन्तर्भाव भी उपरोक्त सिद्धान्त में ही हुआ। वेदान्तसूत्र—

"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति" ।३४।

गोविन्दभाष्यम्। पुनराशंक्य परिहरति। ब्रह्मकर्त्तृत्ववादोऽसमञ्जसः समञ्जसो वेति वीक्षायां सुख-दुःखभाजो देवमनुष्यादीन् सृजति ब्रह्मणि वैषम्याद्यापत्तेरसमञ्जसः। ततश्च निर्दोषतावादि श्रुत्युपरोधा-पतिरिति प्राप्ते वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति। ब्रह्मणि कर्त्तरि वैषम्यं नैर्घृण्यं च दोषो न। कुतः सापेक्षत्वात् स्रष्टुः कर्मापेक्षित्वात्। प्रमाणमाह—तथा हीति। एष एव साधुकर्मकारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष एव साधुकर्मकारयति तं यमधो निनीषते" इति वृहदारण्यक श्रुतिः।

परमात्मानो विवृताः। तदेवं त्रिव्यूहत्वमेव व्याख्यातम्। क्वचिद्वासुदेवादिचतुर्व्यूहादित्वञ्च दृश्यते। स च भेदः कस्यचित् केनचिदभेदविवक्षया भेदविवक्षया च नायुक्तः। तदुक्तं मोक्षधर्मे नारायणीये (३४८।५७)—

"एकव्यूहविभागो वा क्वचिद्द्विव्यूह-संज्ञितः। त्रिव्यूहश्चापि संख्यातश्चतुर्व्यूहश्च दृश्यते॥"५७॥ इति। श्रुतिश्च (छा० ७।२६।२) "स एकधा भवति त्रिधा भवति" इत्याद्या। अथ पूर्वरीत्या चतुर्व्यूह-

सर्वसम्वादिनी

न भिन्नाभिन्नत्वं प्रतीयते, प्रत्येकं वैलक्षण्यात्। तथा व्यक्तिगत-भेदो जातिगतश्चाभेद इति नैकस्य द्व्यात्मकता। तदाकारद्वयाश्रयं वस्त्वन्तरमस्तीति त्रितयाभ्युपगमेऽपि स एव दोषः, अनवस्थापातश्च;

क्षेत्रज्ञानां देवादिभावप्राप्तिमीश्वरनिमित्तां दर्शयन्ती मध्ये कर्मपरामृशतीत्यर्थः॥

आशङ्का उठा कर समाधान करते हैं—ब्रह्मकर्त्तृत्ववाद सामञ्जस्य पूर्ण है, अथवा असामञ्जस्यपूर्ण है? संशय होने पर कहा जाता है—ब्रह्म सृष्ट पदार्थ में सुखदुःख भागी देव मनुष्य दृष्ट होते हैं, उसमें सुसिद्ध विषमता है। अतएव उक्त सृष्टि असामञ्जस्यपूर्ण है। ब्रह्म में वैषम्य दोष को मान लेने पर निर्दोषवादिनी भी श्रुति बाधित होगी। इस प्रकार पूर्वपक्ष के उत्तर में समाधानार्थ सूत्र—वैषम्य नैघृण्ये न, सापेक्षत्वात्, तथाहि दर्शयति। जगत्कर्त्ता परमेश्वर में विषमता-निर्दयता दोष नहीं है, कारण प्राणियों के स्वकृतकर्मानुसार ही सुखदुःख का भोग होता है। वृहदारण्यक श्रुति कहती है—परमेश्वर सत्कर्मकारी को सद्गति प्रदान करते हैं, असत्कर्माचरणकारी को असद्गति प्रदान करते हैं। जीव परमेश्वर को निमित्त करके स्वकृत कर्मफल सुखदुःख का भोग जिस प्रकार करता है, उस प्रकार देवगण स्वकृत कर्मोपार्जित सुख भोग ईश्वर को निमित्त करके ही करते हैं।

श्रीरामानुज भाष्य—यद्यपि परमपुरुषस्य सकृतेतरचिदचिद्वस्तुविलक्षणस्याचिन्त्यशक्तियोगात् प्राक् सृष्टेरेकस्य निरवयवस्यापि विचित्रचिदचिन्मिश्रजगत्सृष्टिसम्भाव्येत, तथापि देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मनोत्कृष्टमध्यमापकृष्टसृष्ट्या पक्षःपात प्रसज्येत। अतिघोरदुःखयोगकरणान्नैघृण्यं चावर्जनीयमिति। तत्रोत्तरं न सापेक्षत्वादिति; न प्रसज्येयातां वैषम्यनैघृण्ये, कुतः, सापेक्षत्वात्—सृज्यमानदेवादिक्षेत्रज्ञ कर्मसापेक्षत्वाद् विषमसृष्टेः। देवादीनां क्षेत्रज्ञानां देवादिशरीरयोगं तत्तत् कर्मसापेक्षं दर्शयन्ति हि श्रुति-स्मृतयः—"साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापी भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन कर्मणा" तथा भगवता पराशरेणापि देवापि वैचित्र्यहेतुः सृज्यमानानां क्षेत्रज्ञानां प्राचीनकर्मशक्तिरेवेत्युक्तं—"निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सृज्यकर्मणि। प्रधानकारिणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः। निमित्तमात्रं मुक्त्वैव नान्यत् किञ्चिदपेक्षते। नीयते तपतां श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम्।" इति स्व शक्त्या—स्वकर्मणैव देवादिवस्तुताप्राप्तिरिति।

प्रस्तुत प्रकरण में ब्रह्म एवं परमात्मा का विशेष विश्लेषण हुआ। उक्त रीति से त्रिव्यूह सिद्धान्त का वर्णन भी हुआ। स्थान विशेष में वासुदेवादि चतुर्व्यूह का भी वर्णन है, उक्त भेद, किसी का किसी में अन्तर्भाव करके, एवं किसी को किसी से भिन्न करके वर्णन करने से ही हुआ है, अभेद भेद दृष्टि से वर्णन करने से उक्त त्रिविध एवं चतुर्विध संख्या होती है। अतएव उक्त भेद अयुक्त नहीं है। मोक्षधर्मीय नारायणीय प्रकरण में उक्त है—"एक व्यूहविभागो वा क्वचिद्द्विव्यूहसंज्ञितः, त्रिव्यूहश्चापि संख्यात श्चतुर्व्यूहश्च दृश्यते।" किसी स्थान में एक व्यूह रूप में, स्थान विशेष में द्विव्यूह-त्रिव्यूह-चतुर्व्यूह रूप उक्त एक परमेश्वर ही वर्णित हैं। छान्दोग्य ७।२६।२ श्रुति भी कहती है,—परमात्मा एकरूप द्विरूप त्रिरूप होते हैं।

अनन्तर प्रकरणान्तर का आरम्भ करते हैं—व्यूहलक्षण रीति से पूर्वोक्त चतुर्व्यूहादि लक्षण के सहित अविरोध क्रम से श्रीमद्भागवत में "वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयत् ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति

त्वाद्यविसंवादितया यदत्र त्रिव्यूहत्वं दर्शितम्, तत्र प्रथमव्यूहस्य श्रीभगवत एव मुख्यत्वम्, यत्प्रतिपादकत्वेनैवास्य महापुराणस्य श्रीभागवतमित्याख्या। यथोक्तम् (भा० १।३।४०) "इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्" इति। तस्य हि प्राधान्येन षड् विधेन लिङ्गेन तात्पर्य्यमपि पर्य्यालोच्यते ;—

"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य्यनिर्णये॥"

इत्युक्तप्रकारेण। तथाहि तावदुपक्रमोपसंहारयोरैक्येन (भा० १।१।१)—

(१०५) "जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥"१॥

सर्वसम्वादिनी

तस्माद्भेद एव। (छा० ६।८।७) 'तत्त्वमस्या'दावभेद-निर्द्देशस्तु व्याख्यात एव।

अत्र भेदसिद्धान्ते युक्तिबाहुल्यञ्च 'स-न्याय'-'न्यायामृत'-दर्शनादौ द्रष्टव्यम्। अतो भेदाभेदवादो

शब्द्यते" श्लोक के द्वारा एक अद्वयज्ञानस्वरूप परतत्त्व का ब्रह्म-परमात्म-भगवान् त्रिव्यूह वर्णित हुआ है। उक्त व्यूहत्रय के मध्य में प्रथम व्यूह भगवान् मुख्य हैं। जिन मुख्यतत्त्वस्वरूप भगवत्तत्त्व का प्रतिपादक होने के कारण श्रीमद्भागवताख्य महापुराण का श्रीभागवत नाम सार्थक हुआ है। भा० १।३।४० में कहा है—"इदं भागवतंनामपुराणं ब्रह्मसम्मितम् उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः।"

टीका—सूत किमेतत् शास्त्रमपूर्वं कथयसि? तत्राह—इदमिति। ब्रह्मसम्मितम्—सर्ववेदतुल्यम्। उत्तमश्लोकस्य चरितम् यस्मिन् तत्। ऋषि र्व्यासः॥

प्रवक्ता सूत को पूछने पर सूत ने कहा,—इस अपूर्व शास्त्र का नाम "भागवत" है, यह सर्ववेदतुल्य है, एवं श्रीभगवान् द्वारा कथित है, द्वापरयुग के प्रारम्भ में भगवान् ऋषि व्यासदेव ने इसको आविर्भावित किया है। यह ग्रन्थ स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण चरित्र वर्णन प्रधान है। उक्त स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण वर्णन में ही श्रीमद्भागवत का तात्पर्य्य है, उसका निर्णय षड् विध लिङ्ग के द्वारा करते हैं। "उपक्रम, उपसंहार अभ्यास, अपूर्वता फल, अर्थवाद, उपपत्ति, तात्पर्य्य निर्णायक षड् विध लिङ्ग होते हैं। उपक्रम उपसंहार को एक लिङ्ग मानकर षट्संख्या की पूर्त्ति होती है। लिङ्ग का अर्थ—ज्ञापक है। उपक्रम—आरम्भ वाक्य, उपसंहार—समाप्त वाक्य, पुनः पुनः कथन—अभ्यास, अपूर्वता—अन्यत्र अलभ्य का वर्णन, अर्थवाद—प्रशंसा कथन, उपपत्ति—प्रतिपादक युक्ति के द्वारा ग्रन्थ में वर्णित विषय का तात्पर्य्य ज्ञान होता है। प्रथम उपक्रम उपसंहार की एकवाक्यता के द्वारा ग्रन्थ तात्पर्य्य का वर्णन करते हैं। भा० ।१।१।१ में वर्णित है—परिदृश्यमान् विश्व के सृष्टि, स्थिति, लयरूप कार्य्य जिनसे होता है, कारण—सृष्ट वस्तुमात्र में ही आप विद्यमान होने से ही सृष्ट पदार्थ की सत्ता स्वीकृत होती है, एवं व्यतिरेक हेतु अवस्तु ख-पुष्पादि में उनका अन्वय नहीं है। अथवा अन्वय शब्द से अन्वय को इतर शब्द से व्यावृत्ति को जानना होगा। अनुवृत्त हेतु मृत्तिका सुवर्ण के समान जगत् कार्य्य है, किम्वा जगत् सावयव हेतु उसके जन्मादि जिनसे होते हैं। सुतरां जो विश्व के सृजनादि के हेतु हैं, एवं विश्व सृजनानि कार्य्य में अभिज्ञ—सर्वतोभावेन ज्ञानवान्, सर्वज्ञ हैं, एवं स्वराट् स्वेनैव राजते स्वराट् हैं, स्वतःसिद्ध ज्ञानवान् हैं, जिस वेद के अर्थ प्रकाश करने में परम निष्णात व्यक्तिगण भी मुग्ध होते हैं, उक्त वेद के अर्थसमूह का प्रकाश जिन्होंने ब्रह्मा के हृदय में किया है। तेजः, जल, मृत्तिका विकार काच में परस्पर व्यत्यास—अर्थात् एक वस्तु में अन्य वस्तु

(भा० १२।१३।१९)—"कस्मै येन विभाषितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा।
योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्राताय कारुण्यत-
स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि ॥"१९॥

अत्र पूर्वस्यार्थः—"अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणाम्" इति गारुड़ोक्तेरस्य महापुराणस्य ब्रह्मसूत्रा-कृत्रिमभाष्यात्मकत्वात् प्रथमं तदुपादायैवावतारः। तत्र पूर्वम् (ब्र०सू० १।१।१)—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इति व्याचष्टे—"तेजोवारिमृदाम्" इत्याद्यर्द्धेन। योजनायां प्राथमिकत्वादस्य पूर्वत्वम्। तत्र ब्रह्मजिज्ञासेति व्याचष्टे—"परं धीमहि" इति; परं श्रीभगवन्तं धीमहि ध्यायेम। तदेवं मुक्तप्रग्रहया योगवृत्त्या बृहत्वाद् ब्रह्म यत् सर्वात्मकं तद्बहिश्च भवति, तत्तु निजरश्म्यादिभ्यः सूर्य्य इव सर्वेभ्यः परमेव स्वतो भवतीति मूलरूपत्वप्रदर्शनाय परपदेन ब्रह्मपदं व्याख्यायते। तच्चात्र भगवानेवेत्यभिमतम्। पुरुषस्य तदंशत्वान्निर्विशेषब्रह्मणो

सर्वसम्वादिनी

विशिष्टवस्त्वपेक्षयैव प्रवर्त्ततात्; अभेदवादश्च विशेषानुसन्धानराहित्येनैवेति।

अपरे तु (ब्र०सू० २।१।११) "तर्काप्रतिष्ठानात्" इति न्यायेन भेदेऽप्यभेदेऽपि निर्म्मर्य्याद-

की जो प्रतीति, यथा तेज में जल ज्ञान, जल में पाषाण बुद्धि, एवं काच में जल बुद्धि रूप जो भ्रम है, वह भी अधिष्ठान की सत्यता जिस प्रकार सत्य रूप से प्रतिभात होता है, उस प्रकार जिनकी सत्यता से सत्त्व, रजः, तमः, गुणत्रय की भूत, इन्द्रिय, देवता सृष्टि की प्रतीति सत्य रूप से होती है। अथवा तेज में जल भ्रम जिस प्रकार वास्तविक अलीक है, उस प्रकार जिनके व्यतिरेक से उक्त गुणत्रय की सृष्टिसमूह मिथ्या होती हैं, एवं जो स्वीय तेजः प्रभाव से ही माया नामक कुहक को पराभूत करके विराजित हैं, उन सत्यस्वरूप परमेश्वर का ध्यान करते हैं।

भा० १२।१३।१९ के उपसंहार श्लोक से आरम्भ के अनुरूप अर्थ का प्रकाश ही हुआ है। पूर्वकाल में जिन्होंने इस अतुल ज्ञान प्रदीप का प्रकाश ब्रह्मा के निकट में किया है। पश्चात् जिन्होंने करुणा करके नारद, कृष्णद्वैपायन व्यास, योगीन्द्र शुक एवं विष्णुरात परीक्षित को उक्त विषय का उपदेश प्रदान किया है, उन शुद्ध निर्मल शोकरहित अमृतस्वरूप परम सत्य का ध्यान करते हैं।

ग्रन्थ प्रारम्भ श्लोक का अर्थ इस प्रकार है श्रीमद्भागवत ग्रन्थ ब्रह्मसूत्रों का अर्थ है। गरुड़पुराण के इस उक्ति के अनुसार श्रीमद्भागवत, ब्रह्मसूत्र का अकृत्रिम भाष्यस्वरूप होने के कारण प्रथम उक्त सूत्र का सङ्केत रूप से ही ग्रन्थ का प्रारम्भ हुआ। ब्रह्मसूत्र का १।१।१ प्रथम सूत्र "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" उक्त सूत्र की व्याख्या करते हैं,—'तेजोवारिमृदां' इत्यादि अर्द्ध श्लोक के द्वारा। कर्त्तृपदादि की योजना में प्रथमोपस्थित होने के कारण, पर भाग का अनुसन्धान पहले हुआ है। उक्त श्लोक के परार्द्ध में "परं धीमहि" के द्वारा सूत्रस्थ "ब्रह्मजिज्ञासा" की व्याख्या हुई है। परं श्रीभगवन्तं, परं शब्द का अर्थ—श्रीभगवान्, उनका ध्यान हम करते हैं। श्लोकस्थ परपद का मुक्तप्रग्रह योग वृत्ति के द्वारा, अर्थात् चरम कोटिगत अभिधा वृत्ति के द्वारा, बृहत्व हेतु ब्रह्म सर्वात्मक हैं, एवं उससे भिन्न भी हैं। उसमें दृष्टान्त—सूर्य्य जिस प्रकार निज किरण से भिन्न है, उस प्रकार सृष्ट समस्त पदार्थ से भिन्न ब्रह्म हैं। इस प्रकार स्थिति स्वाभाविक रूप से ही होती है। तज्जन्य सूर्य्यवत् मूलस्वरूप भगवान् का प्रदर्शन के निमित्त 'पर' पद के द्वारा ब्रह्म का कथन ही हुआ है। उक्त ब्रह्म का नाम ही श्रीमद्भागवत में श्रीभगवान् ही हैं।

गुणादिहीनत्वात् । उक्तञ्च श्रीरामानुजचरणैः—"सर्वत्र वृहत्त्व-गुणयोगेन हि ब्रह्म-शब्दः । वृहत्त्वञ्च स्वरूपेण गुणैश्च यत्रानवधिकातिशयः, सोऽस्य ब्रह्मशब्दस्य मुख्योऽर्थः । स च सर्वेश्वर एव" इति । उक्तञ्च प्रचेतोभिः (भा० ४।३०।३१) "न ह्यन्तो यद्विभूतीनां सोऽनन्त इति गीयसे" इति । ततएव विविधमनोहरानन्ताकारत्वेऽपि तत्तदाकाराश्रय-परमाद्भुत-मुख्याकारत्वमपि तस्य व्यञ्जितम् । तदेवं मूर्त्तत्वे सिद्धे तेनैव परत्वेन तस्य विष्णवादिरूपक-भगवत्त्वमेव सिद्धम्, तस्यैव ब्रह्म-शिवादिपरत्वेन दर्शितत्वात् । अत्र जिज्ञासेत्यस्य व्याख्या—धीमहीति । यतस्तज्जिज्ञासायास्तात्पर्य्यं तद्ध्यान एव । तदुक्तमेकादशे स्वयं भगवता (भा० ११।११।१८)—

"शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि ।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः ॥"१८॥ इति ।

सर्वसम्वादिनी

दोषसन्तति-दर्शनेन भिन्नतया चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदं साधयन्तस्तद्वदभिन्नतयापि चिन्तयितुमशक्यत्वाद्भेदमपि साधयन्तोऽचिन्त्यभेदाभेदवादं स्वीकुर्वन्ति ।

कारणार्णवशायी, गर्भोदकशायी, क्षीराब्धिशायी पुरुषत्रय परमात्मा नाम से अभिहित होते हैं। वे सब श्रीभगवान् के अंशस्वरूप होते हैं, और निर्विशेष ब्रह्म तो गुणादि हीन हैं, अतः अपदार्थ है, अतएव 'पर' शब्द के द्वारा उक्त पुरुषत्रय में एवं ब्रह्म में ग्रहण योग्यता का अभाव हेतु 'पर' शब्द से मुख्यावृत्ति से परमेश्वर श्रीभगवान् का ही ग्रहण हुआ है। श्रीरामानुजाचार्य्यचरण की उक्ति इस प्रकार है,—सर्वत्र वृहत्त्व गुण योग के कारण ही ब्रह्म शब्द का प्रयोग होता है। स्वरूप एवं गुण के द्वारा ही वृहत् होना सम्भव है, वह भी जहाँ पर अवधिशून्य आतिशय्य है, वह ही ब्रह्म शब्द का मुख्य अर्थ है। वह ब्रह्म सर्वेश्वर श्रीभगवान् ही है। प्रचेतागण ने भी भा० ४।३० ३१ में कहा है,—

"वरं वृणीमहेऽथापि नाथ त्वत्परतःपरम् । न ह्यन्तो यद्विभूतीनां सोऽनन्त इति गीयसे ॥"

टीका—यद्यपि एवं तथापि हे नाथ ! त्वत् त्वत्तः वरमेकं वृणीमहे कथम्भूतात् ? परतः कारणादपि परात् । अक्षरात् परतः पर इति श्रुतेः । अतो यद्यपि त्वं दातुं समर्थः, न च देयानां त्वद्विभूतीनां अन्तोऽस्ति, यतोऽनन्तविभूतित्वात् अनन्त इति गीयसे ।

हे नाथ ! आप कारण से अतीत एवं अक्षररूप पर से अतीत हैं। आपकी विभूतियों का अन्त नहीं है, तज्जन्य लोक आपको अनन्त नाम से बुलाते हैं। "अतएव विविधमनोहरानन्ताकारत्वेऽपि तत्तदाकाराश्रय परमाद्भुत मुख्याकारत्वमपि तस्य व्यञ्जितम् ॥" अतएव भगवान् के विविध अनन्त मनोहर आकार विद्यमान होने पर भी उन उन आकारों का आश्रय परमाद्भुत मुख्याकार भी है, उससे यह व्यञ्जित हुआ। तज्जन्य परतत्त्व की इस प्रकार मूर्त्तिविशिष्टता की सिद्धि होने पर उक्त प्रमाण से ही मूर्त्तिविशिष्ट श्रीविष्णु प्रभृति की भगवत्ता सुनिष्पन्न है, एवं श्रीविष्णु आदि रूप की श्रेष्ठता श्रीशिवादि रूप से है, यह भी दर्शित हुआ।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—सूत्रस्थ जिज्ञासा पद की व्याख्या ही 'धीमहि' पद है। कारण—जिज्ञासा शब्द का अर्थ है—जानने की इच्छा, वह सार्थक होता है भगवद् ध्यान से ही। अतएव जिज्ञासा का तात्पर्य्य भगवद् ध्यान ही है। श्रीभागवत के एकादश स्कन्ध ११।११।१८ में श्रीभगवान् ने स्वयं ही कहा है,—हे उद्धव ! जो जन केवल शब्दब्रह्म में अभिज्ञ है, अथच परब्रह्म के ध्यानादि नहीं करता है, उसका शास्त्राभ्यास जनित श्रम—केवल बन्ध्या गो रक्षण के समान ही होता है।

ततो धीमहीत्यनेन श्रीरामानुजमतं जिज्ञासापदं निदिध्यासनपरमेवेति स्वीयत्वेनाङ्गीकरोति श्रीभागवतनामा सर्ववेदादिसाररूपोऽयं ग्रन्थ इत्यायातम्। धीमहीति बहुवचनं कालदेशपरम्परास्थितस्य सर्वस्यापि तत्कर्त्तव्यताभिप्रायेण अनन्तकोटिब्रह्माण्डान्तर्य्यामिणां पुरुषाणामंशिभूते भगवत्येव ध्यानस्याभिधानात्। अनेनैकजीववादजीवनभूतो विवर्त्तवादोऽपि निरस्तः। ध्यायतिरपि भगवतो मूर्त्तत्वमपि बोधयति, ध्यानस्य मूर्त्त एवाकष्टार्थत्वात्; सति च सुसाध्ये पुमर्थोपाये दुःसाध्यस्य पुरुषाप्रवृत्त्या स्वत एवापकर्षात्तदुपासकस्यैव युक्ततमत्व-निर्णयाच्च। तथा च गीतोपनिषदः (१२।२, ३, ५)—

"मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥
ये त्वक्षरमनिर्द्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥३॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥"५॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

तत्र बादर-पौराणिक-शैवानां मते भेदाभेदौ, भास्कर-मते च। मायावादिनां तत्र

टीका—यस्तु केवलं शब्दब्रह्मणि अभिज्ञः, पाण्डित्यमात्रश्लाघी नतूक्तैः साधनैस्तदर्थनिष्ठो भवेत् तं निन्दति। शब्दब्रह्मणि निष्णातः, अध्ययनादिना पारंगतोऽपि परे ब्रह्मणि न निष्णायात्, ध्यानाद्यभियोगं न कुर्य्यात्, तस्य शास्त्रश्रमः, श्रमैकफलो नतु पुरुषार्थपर्य्यवसायी। अधेनुं—चिरप्रसूताम् ॥

श्रीरामानुज के मत में "धीमहि" शब्द गम्य जिज्ञासा पद का अर्थ निदिध्यासन ही है। उक्त अर्थ समीचीन हेतु अङ्गीकार हुआ है। धीमहि पद से सारार्थ सुस्पष्ट हुआ है कि—श्रीमद्भागवत नामक यह ग्रन्थ, सर्ववेदादि का साररूप है। "धीमहि" पद में बहुवचन प्रयोग है। ग्रन्थकर्त्ता एकवचनाक्रान्त है, किन्तु क्रियापद की संख्या कर्त्तृपद के अनुरूप न होने का अभिप्राय यह है—काल, देश, परम्परास्थित समस्त जनों का एकमात्र निर्देश हेतु बहुवचन का प्रयोग हुआ है। वह ध्यान भी अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्य्यामिपुरुषों के अंशिभूत स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का ही विहित हुआ है। कारण निखिल साध्य, साधक, साधनगत एकता प्रतिपादन हेतु ही श्रीमद्भागवत ग्रन्थ का आविर्भाव है। ध्यान का विधान हेतु परम परतत्त्व रूप श्रीभगवतत्त्व अमूर्त्त नहीं है, वह मूर्त्त ही है, इसका स्पष्ट प्रकाश हुआ। मूर्त्ति का ही ध्यान होता है। अमूर्त्त का ध्यान होता ही नहीं, ध्यान शब्द का जो अर्थ ध्येय में मनोयोग करना है, वह अर्थ कष्टकर नहीं है, परम तत्त्व को अमूर्त्त मानकर ध्यान शब्द का प्रयोग होने से ध्यान का अर्थ अति कष्ट कल्पना से निकलता है। इससे एक जीववाद जीवातु रूप विवर्त्तवाद भी निरस्त हुआ है।

मूर्त्तिविशिष्ट वस्तु में मनोयोग रूप ध्यानार्थ सुखगम्य है। एवं सुसाध्य पुरुषार्थ प्राप्ति का उपाय विद्यमान होते हुए भी अति दुःसाध्य दुःखपूर्ण पुरुषार्थ में पुरुष की सहसा प्रवृत्ति नहीं होती है, अतः स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की उपासना को छोड़कर ज्योतिःस्वरूप कल्पित उपासना में स्वतः ही अपकर्षता समधिक विद्यमान है। तज्जन्य स्वयं भगवान् श्रीकृष्णोपासक जनगण ही युक्ततम रूप से निर्णीत होते हैं। उस प्रकार ही श्रीगीतोपनिषद् १२।२, ३, ५ में प्रकाशित है—

श्रीभगवान् बोले,—हे अर्ज्जुन! जो लोक मुझमें मनः समर्पण करके नित्य समाहित होकर मेरी उपासना करते हैं, उक्त श्रद्धायुक्त योगिगण ही श्रेष्ठ होते हैं।

किन्तु जो लोक मुझको अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वत्रगामी, अचिन्त्य, कूटस्थ एवं अचल नित्य मानकर मेरी उपासना करते हैं, वे लोक प्राणिमात्र के हित के लिए रत होकर एवं सर्वत्र समबुद्धि सम्पन्न

होकर इन्द्रिय दमन करके मुझको ही प्राप्त करते हैं। किन्तु उक्त अव्यक्त तत्त्व में आसक्तचित्त योगिगण अधिकतर क्लेश को प्राप्त करते हैं, कारण देहधारियों के लिए अव्यक्त गति—साधन साध्य उभय समय में ही अतिशय दुःखकर है।

गीता टीका—एवं पृष्टो भगवानुवाच,—मयीति। ये भक्ता मयि नीलोत्पलश्यामलत्वादि धर्मिणि स्वयं भगवति देवकीसूनौ मन आवेश्य नित्यं कृत्वा परया दृढ़या श्रद्धयोपेताः, सन्तो मामुक्तलक्षणमुपासते—श्रवणादिलक्षणामुपासनां मम कुर्वन्ति, नित्ययुक्ता नित्यं मद्योगमिच्छन्तस्ते मम मतेन युक्तमा मताः शीघ्रमत्प्रापकोपायिनस्ते।२।

पूछने पर श्रीभगवान् बोले—जो भक्त नीलोत्पलवत् श्यामलवर्ण स्वयं भगवान् देवकीनन्दन में मन को आविष्ट करके दृढ़ भक्ति के द्वारा मेरी उपासना करता है, श्रवणादि लक्षण उपासना करता है, नित्ययुक्त मेरे सान्निध्य लाभेच्छु व्यक्तिगण ही श्रेष्ठतम हैं, कारण वे लोक मेरे सान्निध्य सत्वर लाभ करने का उपाय को जानते हैं।२।

"ये तु साक्षात् कृतिपूर्विकां मदुपासनां न कुर्वन्ति, तेषामपि मत् प्राप्तिः स्यादेव, किन्तु अतिक्लेशेनातिचिरेणैवातस्तेभ्योऽपकृष्टास्ते इत्याह—ये त्विति त्रिभिः। ये तु अक्षर स्वात्मचैतन्यमेव पूर्वमुपासते, तेषामधिकतरः क्लेश इति सम्बन्धः। अक्षरं विशिनष्टि अनिर्देश्यं देहादि भिन्नत्वेन देहाभिध्यायिभिर्देवमानवादि शब्दैर्निर्देष्टुमशक्यम्; अव्यक्तञ्चक्षुराद्यगोचरं प्रत्यग् सर्वत्रगं देहेन्द्रियप्राणव्यापि; अचिन्त्यं तर्कागम्यं श्रुतिमात्रवेद्यम्, "ज्ञानस्वरूपमेव ज्ञातृस्वरूपम्" इति श्रुत्यैव प्रत्येतव्यम्। कूटस्थं—सर्वदा अणुस्वरूपतैकरसम्, अचलम्—ज्ञानत्वादिव ज्ञातृत्वादिव चलनरहितम्; ध्रुवं परमात्मैकशेषतायां सर्वदास्थिरम्। अक्षरोपासने विधिमाह—संनियम्येति, करणग्रामं श्रोत्रादीन्द्रियवृन्दं संनियम्य शब्दादिसञ्चारेभ्य स्तद्व्यापारेभ्यः प्रत्यहृत्य सर्वत्र सुहृन्मित्रार्य्युदासीनादिषु समबुद्धयस्तुल्यदृष्टयः; यद्वा, सर्वेषु चेतनाचेतनेषु वस्तुषु स्थिते समे ब्रह्मणि बुद्धिर्येषां ते ब्रह्माधिष्ठानतया तेषु द्वेषशून्यास्तत एव सर्वेषां भूतानां हिते उपकारे रताः, सर्वेषां शं भूयादिति यथायथं यतमानाः एवं स्वात्मसाक्षात्कृतिपूर्विकायां मद्भक्तौ मदर्पितकर्मलक्षणायां ये प्रवर्त्तन्ते, तेऽपि मामेव पारमैश्वर्य्यप्रधानं प्राप्नुवन्तीति नास्ति संशयः।"

जो लोक स्वात्मसाक्षात्कार हेतु मेरी उपासना नहीं करते हैं, उन सबकी भी मेरी प्राप्ति होगी, किन्तु अति क्लेश से एवं सुदीर्घकाल परिश्रम से। अतएव पूर्वोक्त भक्तजन से ये लोक अत्यन्त अपकृष्ट होते हैं। तीन श्लोकों से उसे कहते हैं। जो अक्षर—आत्मचैतन्य की उपासना करता है, उसका क्लेश अधिकतर होता है। अक्षर का वर्णन करते हैं, अनिर्देश्यम्—देहादि भिन्न रूप से देवमानवादि शब्द से अनिर्देश्य है, अव्यक्त—चक्षुरादि के द्वारा अगोचर है, प्रत्यक्—सर्वत्र स्थित देहेन्द्रिय प्राणव्यापी, अचिन्त्य तर्कागम्य—श्रुतिमात्रवेद्य, ज्ञानस्वरूप ही ज्ञातृस्वरूप, अणुस्वरूप, एकरस, अचलं—ज्ञानत्वादि के समान चलनरहित। ध्रुवं—परमात्मैकशेष रूप में सर्वदा स्थिर है। अक्षरोपासना में विधि का वर्णन करते हैं। संनियम्येति—श्रोत्रादि इन्द्रियसमूह को संयत करके—शब्दादि व्यापार से विरत करके, सुहृत् मित्र उदासीन शत्रु प्रभृति में समबुद्धि होना। अथवा चेतनाचेतन में स्थित ब्रह्म में परिनिष्ठित बुद्धियुक्त, ब्रह्माधिष्ठान होने से सर्वत्र रागद्वेषशून्य, उससे ही समस्त भूतों के हितों में रत होता है, अर्थात् सब का मङ्गल हो इस प्रकार कामनापरायण होता है। अतएव भक्ति अनुष्ठान में रत होता है। उस व्यक्ति का अनुष्ठान—श्रीगुरुचरणों में आत्म समर्पण पूर्वक श्रीभगवत् कथा श्रवणादि भक्ति से होता है। इस प्रकार आचरण कारी व्यक्ति भी पारमैश्वर्य्य प्रधान मुझको प्राप्त करता है।३-४।

ननु तेऽपि चेत्त्वामेव प्राप्नुयुस्तर्हि पूर्वेषां युक्तमत्त्वं किं निबन्धनम्? तत्राह—क्लेशोऽधिकेति। अव्यक्तासक्तचेतसां अति सूक्ष्मनीरूपजीवात्मसमाधिनिरतमनसां तेषामधिकतरःक्लेशः। यद्यपि पूर्वेषामपि तत्तन्मद्भक्तचसङ्गसमाचारो मदन्यविषयेभ्यः करणानां प्रत्याहारश्च क्लेशोऽस्त्येव, तथापि तत्रानन्दमूर्त्तेर्मम

स्फुरणान्न क्लेशतया विभाति। कुतोऽधिकतरत्वं सुदूरापास्तम्? हि यस्मादव्यक्ता गतिरव्यक्ताक्षरविषया मनोवृत्तिर्देहवद्भिर्देहाभिमानिभिर्जनैर्दुःखं यथास्यात्तथावाप्यते,—देहवन्तः खलुस्थुलदेहमेवसुचिरादात्मत्वेनानुशीलितवन्तः कथमणचैतन्यं सुचिरोज्झितविमर्शमात्मत्वेनानुशीलितुं प्रभवेयुरिति भावः। यत्त्वत्र व्याचक्षते—सगुणं निर्गुणञ्चेति द्विरूपं ब्रह्म,—तत्र सगुणोपासनमाकारवद्विषयत्वात् सुकरमप्रमादञ्च, निर्गुणोपासनं तु तत्त्वाभावाद् दुःखकरं स प्रमादञ्च, तच्च निर्गुणं ब्रह्माक्षरशब्देनोच्यते। नैर्गुण्यप्रतिपत्तये सप्तविशेषणानि, अनिर्देश्यं वेदागोचरं, यतोऽव्यक्तं जात्यादिशून्यं, सर्वत्रगं—व्यापि, अचिन्त्यं मनसाप्यगम्यं, श्रुतिश्च—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्याद्या; कूटस्थं—मिथ्याभूतमपि सत्यवत् प्रतीतं जगत् कूटमुच्यते—यथा कूटकार्षापणादि, तस्मिन्नाध्यासिकसम्बन्धेनाधिष्ठानतया स्थितम्। अचरमविकारमतो ध्रुवं नित्यमिति। तद्विदां खलु गुरूपसत्तिपूर्वकोपनिषद्विचारतदर्थमनन-तन्निदिध्यासनैर्महान् क्लेशः। पूर्वेषां तु तैर्विनैव गुरूक्तभगवत्प्रसादाविर्भूतेनाज्ञानतत्कार्य्यविमर्दिना विज्ञानेन भगवत्स्वरूपभूतनिर्गुणाक्षरात्मैकचलक्षणा मुक्तिरिति फलैक्येऽपि क्लेशाक्लेशाभ्यामपकर्षोत्कर्षाविति। तदिदं मन्दं "गतिसामान्यात्" इति सूत्रे ब्रह्मणो द्वैरूप्यनिरासात्, "यया तदक्षरमधिगम्यते" इति तस्य वेदवेद्यत्वश्रवणात्, "यतो वाचः" इत्यादेः कार्त्स्न्यागोचरत्वात्, प्रवृत्तिनिमित्ताभावेन निर्गुणस्याप्रमाणत्वात्तौच्छत्वाच्च लक्ष्यत्वं तु न, सर्वशब्दवाच्यत्व स्वीकारात्; सदैकावस्थस्य वस्तुनः कूटस्थत्वेनाभिधानान्न च जगत् कूटम् "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भुर्य्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः" इत्यादौ तस्या सत्यत्वश्रवणात्, यशोदास्तनन्धयविभुचिद्विग्रहस्य परब्रह्मत्व श्रवणेन तदन्तस्थनिर्गुणाक्षरकल्पनस्य श्रद्धाजाड्यकृतत्वात्॥

—यदि ज्ञानयोगी एवं भक्तियोगी उभय की ही भगवत् प्राप्ति समान रूप से होती है, तब उभय में अन्तर क्या है, जिससे भक्त को युक्ततम कहते हैं? उत्तर,—अति सूक्ष्म रूप रहित जीवात्मसमाधिनिरत व्यक्ति का अधिकरत क्लेश होता है। यद्यपि भक्त का भी क्लेश होता है, भक्त्यङ्ग का आचरण एवं तदन्य विषयों से मन का प्रत्याहार करके भक्ति विषय में स्थापन करना पड़ता है। तथापि भक्तियोग में आनन्दघन मूर्त्ति का स्फुरण होने से उक्त साधन क्लेश रूप में परिणत नहीं होता है। स्वरूप चैतन्य चिन्तन में अधिकतर क्लेश होता है,—देहाभिमानी के लिए अक्षर विषयक चिन्ता—अतिशय क्लेशद है।

देहवान् जीव देह को ही आत्मा जानता है। देहातिरिक्त आत्मानुसन्धान इस देह में करना उक्त देहात्मवादी के लिए सम्भव कैसे होगा। कतिपय व्यक्ति इस विषय में कहते हैं—ब्रह्म, सगुण निर्गुण भेद से द्विविध हैं, सगुणोपासना साकार समन्वित होने से सुगम ध्यानयोग्य है। प्रमाद की भी सम्भावना इसमें नहीं है। निर्गुणोपासना में अवलम्बन हीनता है, अतएव प्रमादकर है। निर्गुण ब्रह्म को अक्षरब्रह्म कहते हैं। निर्गुण का परिचायक सात विशेषण हैं। अनिर्देश्य—वेद का अगोचर। द्रव्यगुणजातिक्रिया, शब्दार्थ है। अक्षर में शब्दार्थ नहीं है, अक्षर ब्रह्म शब्दावाच्य है, अपदार्थ है। अव्यक्त—जात्यादि शून्य है, सर्वगत—व्यापी है, अचिन्त्य—मनसा अगम्य। जिनको प्राप्त करने में अक्षम होकर वाणी मन के सहित प्रत्यावर्त्तित होती है। कूटस्थ—मिथ्याभूत जगत् सत्यवत् प्रतीत होता है, जिस प्रकार असत् मुद्रा,—आध्यासिक सम्बन्ध में अधिष्ठान में स्थित होता है, चरम विकार रहित होने से ध्रुव नित्य हैं, अतएव उक्त साधन में श्रद्धालु व्यक्ति का क्लेश अधिकतर होता है। गुरूपसत्ति पूर्वक उपनिषद् विचार एवं उसका अर्थ मनन निदिध्यासन के द्वारा महान् क्लेश होता है। भक्तियोगी के लिए उपनिषद् मनन के द्वारा भक्तिमार्ग में प्रवेश लाभ की व्यवस्था नहीं है, किन्तु गुरूपदिष्ट भगवत् प्रसाद आविर्भूत होने से अज्ञान एवं अज्ञानकार्य्य विमर्दनकारी विज्ञान का आविर्भाव होता है, उससे भगवत् स्वरूपभूत निर्गुणाक्षरात्मैकच-लक्षणा मुक्ति होती है। फलांश में ऐक्य होने पर भी क्लेश एवं अक्लेश के द्वारा ही अपकर्ष उत्कर्ष का निर्णय होता है। इस प्रकार कथन अति हेय है। "गतिसामान्यात्" इस वेदान्तसूत्र में श्रीवेदव्यास ने ब्रह्म के निर्गुण सगुणरूप दो रूप को नहीं माना है। तत्त्व एक है, और वह "यया तदक्षरमधिगम्यते"

इदमेव च विवृतं ब्रह्मणा (भा० १०।१४।४)—

"श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते, नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ।।"४।। इति ।

अतएवास्य ध्येयस्य स्वयंभगवत्त्वमेव साधितम् । शिवादयश्च व्यावृत्ताः । तथा धीमहीति लिङा द्योतिता पृथगनुसन्धानरहिता प्रार्थना ध्यानोपलक्षित-भगवद्भजनमेव परमपुरुषार्थत्वेन व्यनक्ति । ततो भगवतस्तु तथात्वं स्वयमेव व्यक्तम् । ततश्च यथोक्तपरममनोहरमूर्त्तित्वमेव लक्ष्यते । तथा च (गी० १०।२२) "वेदानां सामवेदोऽस्मि" इति, तत्र च (गी० १०।३५)—"बृहत्

सर्वसम्वादिनी

भेदांशो व्यावहारिक एव प्रातीतिको वा । गौतम-कणाद-जैमिनि-कपिल-पतञ्जलिमते तु भेद एव ।

नियम से वेदवेद्य ही है । "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" श्रुति का अर्थ—सम्पूर्ण रूप से दर्शनाभाव है । प्रवृत्ति निमित्त का अभाव विद्यमान होने से—निर्गुण अप्रमाणिक है, एवं अति तुच्छ होने से लक्ष्य भी नहीं हो सकता है, कारण वह तत्त्व—सर्व शब्द वाच्य है, सर्वदा एकरूप में स्थित वस्तु को ही कूटस्थ कहा गया है । अतएव जगत् को कूट शब्द से कहना ठीक नहीं है । "कविर्मनीषीपरिभूः स्वयम्भू र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः" इत्यादि वचनों से उनका सत्यत्व प्रतिपादित हुआ है । यशोदास्तनन्धय विभु चिद्विग्रह ही परब्रह्म शब्द से कथित हैं । अतएव उनके मध्य में निर्गुण ब्रह्म की कल्पना करना, श्रद्धाजड़ता का ही फल है ।

श्रीब्रह्मा ने भी भा० १०।१४।४ में विस्तृत रूप से उस विषय को कहा है—दुर्भाग्य परायण व्यक्तिगण परम श्रेयः के उत्स रूप भक्तिमार्ग को छोड़कर केवल आत्मानुसन्धान के लिए प्रयत्न करता है, वे लोक स्थूलतुषावघाती लोकों के समान ही क्लेश लाभ करते हैं । अर्थात् तण्डुल विहीन धान्यराशि को लेकर तण्डुल लाभेच्छा से कूटने से उससे तण्डुल उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु क्लेश लाभ ही होता है । तद्वत् भक्ति को तुच्छ मानकर स्वरूपावबोध के लिए यत्न करने से केवल क्लेश ही होता है, स्वरूपबोध नहीं होता है ।

टीका—भक्ति विना ज्ञानन्तु नैवसिद्धेदित्याह—श्रेयःसृतिमिति । श्रेयसां अभ्युदयापवर्गलक्षणानां सृति सरणं यस्याः सरस इव निर्झराणाम् । तां ते तव भक्तिमुदस्य त्यक्त्वा श्रेयसां मार्गभूतामिति वा । तेषां क्लेशलः क्लेश एवावशिष्यते । । अयंभावः—यथा अल्पप्रमाणं धान्यं परित्यज्य अन्तःकणहीनान् स्थूल-धान्याभासां स्तुषानेव अवघ्नन्ति तेषां न किञ्चित् फलम् । एवं भक्तिं तुच्छीकृत्य यं केवलबोधाय प्रयतन्ते तेषामपीति ।।

अतएव श्रीमद्भागवतीय आद्य श्लोकस्थ "धीमहि" पद का अर्थ ध्यान है, उक्त ध्येय वस्तु स्वयं श्रीभगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, यह ही निर्णीत हुआ । उससे श्रीशिवादि देवता उक्त धीमहि पदलब्ध ध्यान का विषय नहीं होते हैं । तथा 'धीमहि' में प्रयुक्त लिङ् प्रत्यय के द्वारा प्रकाशित हुआ है कि—पृथक् अनुसन्धान शून्य प्रार्थना, ध्यानोपलक्षित भगवद्भजन ही परमपुरुषार्थ है । अतएव श्रीभगवान् ही परमपुरुषार्थ हैं । स्वतः ही उसका प्रकाश हुआ । श्रीभगवान् निराकार नहीं हैं, किन्तु परममनोहर मूर्त्ति ही हैं । उस प्रकार श्रीगीता के १०।२२ में उक्त है—"वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ।।"

वेदसमूह के मध्य में मैं सामवेद हूँ । देवगण के मध्य में इन्द्र हूँ । इन्द्रियों के मध्य में मन, एवं समस्त

साम तथा साम्नाम्" इत्युक्त-महिम्नि वृहत्साम्नि—"वृहद्धामं वृहत् पार्थिवं वृहदन्तरीक्षं वृहद्दिवं वृहद्धामं वृहद्भुचो वामं वामेभ्यो वामम्" इति। तदेवं ब्रह्मजिज्ञासेति व्याख्यातम्। अथात इत्यस्य व्याख्यामाह—सत्यमिति। यतस्तत्राथ-शब्द आनन्तर्य्ये, अतःशब्दो वृत्तस्य हेतुभावे वर्त्तते, तस्मादथेति स्वाध्यायक्रमतः प्राक् प्राप्तकर्मकाण्डे पूर्वमीमांसया सम्यक् कर्मज्ञानादनन्तरमित्यर्थः। अत इति तत्क्रमतः समनन्तरं प्राप्तब्रह्मकाण्डे तूत्तरमीमांसया निर्णयसम्यगर्थेऽधीतचराद् यत्किञ्चिदनुसंहितार्थात् कुतश्चिद्वाक्याद्धेतोरित्यर्थः। पूर्वमीमांसायाः

सर्वसम्वादिनी

श्रीरामानुज-मध्वाचार्य्य-मते चेत्यपि सार्वत्रिकी प्रसिद्धिः। स्व-मते त्वचिन्त्यभेदाभेदावेवाचिन्त्यशक्तिमयत्वादिति।

भूतों के मध्य में चेतन सम्बन्ध ज्ञानशक्ति मैं हूँ।

टीका—वेदानां मध्ये गीतामाधुर्य्येणोत्कर्षात् सामवेदोऽहं, देवानां मध्ये वासवस्तेषां राजा इन्द्रोऽहं, इन्द्रियाणां मध्ये दुर्जरं तेषां प्रवर्त्तकञ्च मनोऽहं, भूतानां सम्बन्धिनी चेतनाज्ञानशक्तिरहम्।

उक्त गीता के १०।३५ में उक्त है—"वृहत् साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥"

सामवेद के मध्य में मैं वृहत् साम हूँ, छन्दसमूह के मध्य में गायत्री छन्दः मैं हूँ। माससमूह के मध्य में अग्रहायण एवं ऋतुसमूह के मध्य में वसन्त ऋतु हूँ।

टीका—"वेदानां सामवेदोऽस्मि' इत्युक्तं प्राक्; तत्रान्यं विशेषमाह—वृहदिति। साम्नामृगक्षरारूढ़ानां गीतिविशेषाणां मध्ये "त्वामि द्धि हवामहे" सत्यस्यामृचि गीतिविशेषो वृहत् साम, तच्चातिरात्रे पृष्ठस्त्रोत्रं सर्वेश्वरत्वेनेन्द्रस्तुतिरूपमन्य सामोत्कृष्टत्वादहं; छन्दसां नियताक्षरपादत्वरूपच्छन्दो विशिष्टानामृचां मध्ये गायत्रीऋगहं द्विजातेर्द्वितीयजन्महेतुत्वेन तस्याः श्रैष्ठ्यात्, "गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च" इति ब्रह्मावतारत्व श्रवणाच्च। मार्गशीर्षोऽहमिति अभिनव धान्यादिसम्परया तस्यान्येभ्यः श्रैष्ठ्यात्; कुसुमाकरो वसन्तोऽहमितिशीतातपाभावेन, विविधसुगन्धिपुष्पमयत्वेन मदुत्सव हेतुत्वेन च तस्यान्येभ्यः श्रैष्ठ्यात्॥

वृहत् साम में परमब्रह्म की महिमा वर्णित है—ब्रह्म लोकातीत सच्चिदानन्द मूर्त्तिविशिष्ट हैं, पृथिवी सम्बन्धीय वस्तु से बृहत् हैं, आकाश से भी अति वृहत हैं। जिनके अति वृहत अलौकिक मनोहर धाम वैकुण्ठ है, जो वृहत् वस्तुओं में भी वृहत्, जो परम मनोहर सौन्दर्य्यादि गुणविशिष्ट वस्तुओं से भी परम सुन्दर हैं। इस रीति से ब्रह्मसूत्रस्थ प्रथम सूत्र ब्रह्म जिज्ञासा की व्याख्या हुई। अनन्तर सूत्रस्थ अंश विशेष "अथातः" की व्याख्या करते हैं। श्रीमद्भागवतीय जन्माद्यस्य पदस्थ "सत्य" पद ही उसका उपजीव्य है। कारण ब्रह्मसूत्र अथातो ब्रह्मजिज्ञासा में अथ शब्द का प्रथम विन्यास हुआ है। उक्त अथ शब्द का अर्थ—आनन्तर्य्य है, द्वितीय "अथः" शब्द का प्रयोग—पूर्वोक्त वर्णित विषयों के प्रति कारण कथन के निमित्त हुआ है। तज्जन्य उक्त अथ शब्दार्थ अनन्तर की योजना इस प्रकार है, प्रथम वेदाध्ययन जनित प्राप्त काम्यकर्माचरण की इति कर्त्तव्यता, "अथातो धर्म जिज्ञासा" रूप पूर्वमीमांसा विचार के द्वारा समस्त काम्यकर्म विषयक श्रुतियों का परिज्ञान होने के पश्चात्—यह ही ब्रह्मसूत्रोक्त अथ शब्द का अर्थ है। "अथः" शब्द का अर्थ करते हैं, पूवोक्त स्वाध्याय क्रम से अर्थात् वेदपाठादि क्रम से श्रुतिस्थ ब्रह्मकाण्ड रूप विषयों का परिज्ञान होने पर, किन्तु उत्तरमीमांसा अर्थात् ब्रह्ममीमांसा रूप वेदान्त सूत्रों के द्वारा निर्णीत समस्त अर्थों में पूर्व अधीन कतिपय विषयों से अनुसंहितार्थ संगृहीतार्थ कतिपय वाक्यों के कारण। "अथः"

पूर्वपक्षत्वेनोत्तरमीमांसानिर्णयोत्तरपक्षेऽस्मिन्नवश्यापेक्ष्यत्वादविरुद्धांशे सहायत्वात् कर्मणः शान्त्यादिलक्षणसत्त्वशुद्धिहेतुत्वाच्च तदनन्तरमित्येव लभ्यम् । वाक्यानि चैतानि (छा० ८।१।६) "तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते । अथ य इहात्मान-मनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यकामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति, "न स पुनरावर्त्तते" इति, (श्वे० ५।९) "स चानन्त्याय कल्पते" इति, (मु० ३।१।३) "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति ; (गी० १४।२)—

"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।"२।। इति ।

तदेतदुभयं विवृतं श्रीरामानुजशारीरके—"मीमांसापूर्वभागज्ञातस्य कर्मणोऽल्पास्थिर-फलत्वं तदुपरितनभागावसेयस्य ब्रह्मज्ञानस्य त्वनन्ताक्षयफलत्वं श्रूयते, अतः पूर्ववृत्तात्

सर्वसम्वादिनी

अथ चतुरुत्तरशततम वाक्यानन्तरं (मूले १०५तम अनु) चतुर्व्यूह-विचारे चैवं विवेचनीयम् ।—

भगवद्वासुदेवयोरेकत्वम् ; पुरुषस्यैव वा निरुपाधिरवस्था वासुदेवः ; स एव हि परमात्मेति पाञ्च-

शब्द का यह अर्थ है । पूर्वमीमांसा में पूर्वपक्ष की भूमिका होने के कारण, उत्तरमीमांसा का 'ब्रह्ममीमांसा' का अवतरण, वस्तु निर्णय के लिए ही हुआ है । निर्णय वाक्यरूप उत्तरमीमांसा का परिज्ञान एवं आचरण अवश्य अपेक्षणीय है, कारण प्रथमतः शास्त्रादेश पालन में अभ्यस्त न होने से सहसा ब्रह्ममीमांसा में प्रवृत्ति नहीं होगी । पूर्वमीमांसा अविरुद्धांश में ब्रह्ममीमांसा का सहायक होती है, एवं वेदोक्त काम्यकर्म समूह, शान्त्यादि स्वरूप सत्त्व शुद्धि 'चित्त शुद्धि' का भी कारण होते हैं, अर्थात् वेदोक्त काम्यकर्म रूप आदेश पालन में श्रद्धालु एवं अभ्यस्त होने के पश्चात् ही ब्रह्ममीमांसा का अवसर होता है । अतएव पूर्वमीमांसा विचार के अनन्तर ही ब्रह्ममीमांसा की अवतारणा है । यह ही अथ शब्द लभ्य आनन्तर्य्य का अर्थ है ।

वेदवाक्य समूह इस प्रकार हैं,— छान्दोग्य में पठित है—यद्रूप इह लोक में स्वकृत कर्म निमित्त प्राप्त मनुष्यादि देह का नाश क्रम से होता है, तद्रूप परलोक में भी यज्ञादि पुण्य के द्वारा प्राप्त देवादि देह भी विनष्ट होते हैं । वेद विहित कर्मानुष्ठानादि से चित्तशुद्धि होने के पश्चात् जो लोक परमात्मा को जानते हैं, वे लोक इस जगत् में ही उक्त समस्त सत्य संकल्पता को प्राप्त करते हैं । वे लोक स्वीय इच्छानुरूप सर्वत्र विचरण करने में भी सक्षम होते हैं । जो जन परमात्मा को जानता है, उसका पुनरागमन जन्म-मृत्युरूप प्रवाह में नहीं होता है । श्वेताश्वतर में वर्णित है—(५।९) परमात्मा को अवगत होने से मनुष्य अपरिमित गुणगण का अधिकारी होता है । अर्थात् जन्म, जरा, मृत्यु प्रभृति को अतिक्रम करके नित्यसिद्ध गुणगण सम्पन्न होता है । मुण्डक में उक्त है, जन्म-कर्म-वर्ण-आश्रम-जाति प्रभृति रूप उपाधि को वर्जन करने से वह मायिक दोषों से मुक्त होता है, अनन्तर वह परमात्मा की परम समता को प्राप्त करता है । अर्थात् मुक्त होता है । श्रीभगवद्गीता के १४।२ में उक्त है,— मनीषिगण इस ज्ञान को अवलम्बन करके मेरा साधर्म्य को प्राप्त करते हैं, एवं सृष्टि के समय उनका पुनरागमन नहीं होता है, प्रलय काल में भी क्लेश प्राप्त नहीं होते हैं ।

टीका—"इदमिति । गुरूपासनयेदं वक्ष्यमाणं ज्ञानमुपाश्रित्यप्राप्य जनाः सर्वेशस्य मम नित्याविर्भूत-गुणाष्टकस्य साधर्म्यं साधनाविर्भावितेन तदष्टकेन साम्यमागताः सन्तः सर्गेनोपजायन्ते, सृजिकर्मतां नाप्नुवन्ति, प्रलये न व्यथन्तेः, मृतिकर्मतां च न यान्तीति जन्ममृत्युभ्यो रहिता मुक्ता भगन्तीति मोक्षे जीवबहुत्वमुक्तम् । तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।। इत्यादि श्रुतिश्चैतदवगतम् ।"

काम्यकर्म एवं ब्रह्मज्ञान का विस्तृत विवरण श्रीरामानुजकृत ब्रह्मसूत्र भाष्य में है, मीमांसा के पूर्वभाग

कर्मज्ञानादनन्तरं ब्रह्म ज्ञातव्यमित्युक्तं भवति ; तदाह सर्वादिवृत्तिकारो भगवान् बौधायनः —"वृत्तात् कर्माधिगमादनन्तरं ब्रह्मविविदिषेति" इति। एतदेव पुरञ्जनोपाख्याने च दक्षिणवामकर्णयोः पितृहू-देवहूशब्दनिरुक्तौ व्यक्तमस्ति। तदेवं सम्यक् कर्मकाण्ड-ज्ञानानन्तरं ब्रह्मकाण्डगतेषु केषुचिद्वाक्येषु स्वर्गाद्यानन्दस्य वस्तुविचारेण दुःखरूपत्व-व्यभिचारिसत्ताकत्व-ज्ञानपूर्वकं ब्रह्मणस्त्वव्यभिचारिपरतमानन्दत्वेन सत्यत्वज्ञानमेव ब्रह्मजिज्ञासायां हेतुरिति। अथात इत्यस्यार्थे लब्धे तन्निर्गलितार्थमेवाह—सत्यमिति। सर्वसत्तादावव्यभिचारिसत्ताकमित्यर्थः, परमित्यनेनान्वयात् (तै० २।१।२) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यत्र श्रुतौ च ब्रह्मेत्यनेन। तदेवमन्यस्य तदिच्छाधीनसत्ताकत्वेन व्यभिचारिसत्ताकत्वमायाति। तदेवमत्र तदेतदवधि

सर्वसम्वादिनी

रात्रिकादयः। अयं रक्तः श्यामो गौरश्च ; क्वचित् चित्ताधिष्ठातृत्वेनोपासना-विशेषे निर्दिष्टश्च।

पुरुषस्य च सङ्कर्षणादयो भेदाः। तत्र सङ्कर्षणो महासमष्टि-जीवस्य प्रकृतेश्च नियमनं सृष्ट्याद्यर्थं

का अध्ययन से बोध होता है कि—काम्यकर्म समूह का फल स्वल्प एवं अस्थिर है। उक्त मीमांसा के उत्तर भाग में चरम सिद्धान्त निर्णीत है। ब्रह्मज्ञान का फल अक्षय एवं अनन्त है। अतएव पूर्वमीमांसा अध्ययन जनित कर्मविषयक ज्ञान के अनन्तर ब्रह्म को जानना परम आवश्यक है। उत्तर मीमांसा रूप ब्रह्ममीमांसा सूत्र का आदि भाष्यकार भगवान् बौधायन हैं। आपने कहा है, पूर्वमीमांसा जनित कर्म विषयक बोध के अनन्तर ब्रह्म को जानने की इच्छा होती है। इस विषय का वर्णन ही भा० ४।२५।५० ५१ में सुविस्तृत रूप से है—

"पितृहूर्नृपपुर्य्या द्वा र्दक्षिणेन पुरञ्जनः। राष्ट्रं दक्षिणपञ्चालं याति श्रुतधरान्वितः॥
देवहूर्नामपुर्य्या द्वा रुत्तरेण पुरञ्जनः। राष्ट्रमुत्तरपञ्चालं याति श्रुतधरान्वितः॥"

टीका—"दक्षिणेनेति न तृतीया, किन्तु दक्षिणस्यां दिशि" इत्यस्मिन्नर्थे तद्धितोऽयमेनप्प्रत्ययोऽव्ययसंज्ञः, एवमुत्तरेणेति। अयमर्थः—पञ्चानां विषयाणां अन्यतोऽनवगतानां प्रकाशायालमिति पञ्चालं शास्त्रम्। श्रवणकाले च बलाधिक्यात् दक्षिण कर्णः प्रथमं प्रवर्त्तते, शास्त्रे च प्रथमं श्रोतव्यं कर्मकाण्डमित्येवता साम्येन प्रवृत्तसंज्ञस्य कर्मकाण्डस्य दक्षिणकर्णेन श्रवणमिष्यते। अतस्तदर्थमनुष्ठाय पितृभिताहूतः पितृलोकप्रापकं पितृयानं प्रपद्यते, तदनेन प्रकारेण पितॄणामाह्वानमनेन भवतीति पितृहूर्दक्षिणकर्णः। एवं तद्वैपरीतेन उत्तरकर्णो देवहूः, तथा च व्याख्यास्यति—पितृहूर्दक्षिणः कर्णः उत्तरे देवहूः स्मृतः। प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च शास्त्रं पञ्चालसंज्ञितम्। पितृयानं देवयानं श्रोत्रात् श्रुतधराद् व्रजेदिति॥

जीव शरीर में अवस्थित होकर दक्षिण कर्ण के द्वारा प्रवृत्तात्मक उपदेश को श्रवण करता है, उससे वह संसारगति को प्राप्त करता है। उत्तर कर्ण के द्वारा भाग्यवान् जीव निवृत्तात्मक उपदेश श्रवण करता है, उससे वह मुक्त होता है। अतएव उभय मार्ग को पितृयान देवयान शब्द से वर्णन करते हैं। तज्जन्य सम्यक् रूप से कर्मकाण्ड ज्ञान के अनन्तर ब्रह्मकाण्डगत कतिपय वाक्य में स्वर्गादि आनन्द का विचार है, एवं उसकी दुःखरूपता का भी वर्णन है, उससे उक्त आनन्द को विनश्वर रूप जानकर ब्रह्म को जानने की इच्छा होती है, जो अव्यभिचारि सत्तासम्पन्न परमानन्द ज्ञानमय है, यह ही ब्रह्मजिज्ञासा के लिए हेतु है। 'अथातः' पद से उस प्रकार अर्थ लाभ होने से ही उसका सार निर्णय को कहते हैं—सत्यमिति। समस्त सत्ता में ही जो वस्तु अव्यभिचारि सत्ता रूप में स्थित है, उक्त सत्य पद का अन्वय—"परं" पद के सहित है। तैत्तिरीयक श्रुति में वर्णित है—(२।१।१) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्तस्वरूप हैं। इस श्रुति का अन्वय भी ब्रह्मपद के सहित है। अतएव ब्रह्म व्यतीत निखिल सत्ता ही ब्रह्माधीन है, एवं

व्यभिचारिसत्ताकमेव ध्यातवन्तो वयमिदानीन्त्वव्यभिचारिसत्ताकं ध्यायेमेति भावः। अथ परत्वमेव व्यनक्ति—धाम्नेति। अत्र धाम-शब्देन प्रभाव उच्यते प्रकाशो वा; 'गृहदेहत्विट्-प्रभावा धामानि' इत्यमरादिनानार्थवर्गात्, न तु स्वरूपम्। तथा कुहक-शब्देनात्र प्रतारण-कृदुच्यते; तच्च जीवस्वरूपावरणविक्षेपकारित्वादिना मायावैभवमेव, ततश्च स्वेन धाम्ना स्वप्रभावरूपया स्वप्रकाशरूपया वा शक्त्या सदा नित्यमेव निरस्तं कुहकं मायावैभवं यस्मात्तम्; तदुक्तम् (भा० १।७।२३) "मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या" इति। तस्या अपि शक्ते-

सर्वसम्वादिनी

करोति; रुद्राधर्म-यम-सर्प-दैत्यादीनां चांशेन संहारमात्रार्थम्। अयं शुक्लोऽहङ्काराधिष्ठातृत्वेनोपासना-विशेषे निर्दिष्टः। अस्यैवांशः शेष आविष्टः।

व्यभिचारि सत्ता युक्त ही है। इस प्रकार ईश्वराधीन होकर हमलोक अभी तक अतिविश्व सत्ता का ही ध्यान करते रहते हैं, किन्तु सम्प्रति हम सब कालत्रय में अव्यभिचारि सत्ता का ही ध्यान करेंगे। यह ही भावार्थ है। अनन्तर परत्व का प्रकाश करते हैं,—धाम्नेति। यहाँ पर धाम शब्द के द्वारा प्रभाव एवं प्रकाश अर्थ गृहीत है। कोषकार अमरादि कृत नानार्थ वर्ग में लिखित है,—धाम शब्द का वाच्य—गृह, देह, प्रकाश, प्रभाव है, किन्तु धाम शब्द का स्वरूप अर्थ नहीं है। उस प्रकार 'कुहक शब्द' से भी प्रतारणकारी का बोध होता है। वह ही जीवस्वरूप की आवरण विक्षेप रूपा मायाशक्ति है। उक्त माया वैभव को ही कुहक शब्द से जानना होगा। कारण आप निज प्रभाव के द्वारा अथवा स्वप्रकाशरूप स्वरूपशक्ति के द्वारा मायावैभव को पराभूत करके ही नित्य विराजित हैं। भा० १।७।२३ में वर्णित है—

"त्वमाद्यः पुरुषः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः। मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि॥"

टीका—यत स्त्वमीश्वरः, साक्षात्। कुतः? यतः प्रकृतेः परः पुरुषः। तत् कुतः? यतः आद्यः—कारणम्। कारणत्वेऽप्यविकारितामाह—मायां व्युदस्य अभिभूय कैवल्यस्वरूपे आत्मन्येव स्थित इति।

क्रमसन्दर्भः—माया हेतुकायाः संसृतेर्नाशकत्वेन मायातो विलक्षणां शक्तिं दर्शयति, त्वमिति। त्वं साक्षात् पुरुषो भगवान्, तथा योऽन्तर्य्याम्याख्यः पुरुषः, सोऽपि त्वमेव। तदेवमुभयस्मिन्नपि प्रकाशे प्रकृतेः परस्तदसङ्गी। ननुकथं केवलानुभवानन्दस्यापि तदनुभवित्वम्, यतो भगवत्त्वमपि लक्ष्यत? कथं वेश्वरत्वात् प्रकृत्यधिष्ठातृत्वेऽपि तदसङ्गित्वम्? तत्राह—मायां व्युदस्येति; अव्यभिचारिण्या स्वरूपशक्त्या तामाभासशक्तिं दूरे विधाय तयैव स्वरूपशक्त्या कैवल्ये (भा० ११।९।१८) परम्पराणां परम आस्ते कैवल्य संज्ञितः। केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः। इत्येकादशोक्तरीत्या कैवल्याख्ये केवलानुभवानन्दे आत्मनि स्व-स्वरूपे स्थितः, अनुभूतस्वरूपसुख इत्यर्थः तदुक्तं षष्ठे देवैरपि, (भा० ६।९।३२) "स्वयमुपलब्ध निजसुखानुभवो भवान्" इति। सन्दोह शब्देन चैकादशे वैचित्री दर्शिता। सा च शक्तिवैचित्र्यादेव भवतीत्यत एवमस्त्येव स्वरूपशक्तिः। प्रकृतिर्नामात्रमायाया स्त्रैगुण्यम्। एवमेव शक्तित्रयविवृतिः श्रीस्वामिभिरेव दर्शिता। (भा० ३।२४।३३) परं परमेश्वरम्। तत्र हेतुः—स्वच्छन्दाः स्वाधीनाः शक्तयो यस्य; ता एवाह—प्रधानं प्रकृतिरूपम्; पुरुषं तदधिष्ठातारम्; महान्तम्—महत्तत्त्वरूपम्; कालं तेषां क्षोभकम्। त्रिवृतमहङ्कारभूतं लोकात्मकं तत् पालकात्मकञ्च; तदेवं मायया प्रधानादिरूपतामुक्त्वा चिच्छक्त्या निष्प्रपञ्चतामाह, आत्मानुभूत्या चिच्छक्त्यानुगतः स्वस्मिन् लीनः प्रपञ्चो यस्य तम्; कविं—सर्वज्ञम्। प्रधानाद्याविर्भावलयसाक्षिणमित्यर्थः" इति। तत्र पुरुषस्यापि मायान्तःपातित्वं तदधिष्ठातृ-तयोपचर्य्यत एव, वस्तुत स्तस्य तु तस्याः परत्वं यथा कपिलदेव वाक्ये (३।२६।३) "अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृते परः। प्रत्यग्धामा स्वयं ज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्॥" इति। त्रिशक्तिनिरूपणे विशेष

रागन्तुकत्वेन स्वेनेत्यस्य वैयर्थ्यं स्यात्। स्वस्वरूपेणेत्येवं व्याख्याने तु स्वेनेत्यनेनैव चरितार्थता स्यात्। यथाकथञ्चित्तथा व्याख्यानेऽपि कुहकनिरसनलक्षणा शक्तिरेवापद्यते; सा च साधकतमरूपया तृतीयया व्यक्तेति। एतेन मायातत्कार्य्यविलक्षणं यद्वस्तु तत्तस्य स्वरूपमिति स्वरूपलक्षणमपि गम्यम्। तच्च (तै० २।१।२) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति, (वृ० ३।९।२८) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति श्रुतिप्रसिद्धमेव। एतच्छ्रुतिलक्षकमेव च सत्यमिति विन्यस्तम्। तदेवं स्वरूपशक्तिश्च साक्षादेवोपक्रान्ता, ततः सुतरामेवास्य भगवत्त्वं स्पष्टम्। अथ मुख्ये सत्यत्वे युक्तिं दर्शयति—यत्रेति। ब्रह्मत्वात् सर्वत्र स्थिते वासुदेवे भगवति यस्मिन् स्थितस्त्रयाणां गुणानां भूतेन्द्रियदेवतात्मको यस्यैवेशितुः सर्गोऽप्ययममृषा शुक्त्यादौ रजतादिकमिवारोपितो न भवति, किन्तु (तै० ३।१।१) "यतो वा इमानि" इति श्रुतिप्रसिद्धे ब्रह्मणि यत्र सर्वदा स्थितत्वात् (ब्र०सू० २।४।२०) "संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत् कुर्वत उपदेशात्"

सर्वसम्वादिनी

अथ प्रद्युम्नः सूक्ष्म-ब्रह्माण्ड-नियमनं स्थूलकार्योत्पत्त्यर्थं करोति; ब्रह्म-प्रजापतिस्मर-रागिणाञ्चांशेन विसर्गमात्रार्थम्। अयं गौरः श्यामो वा; पूर्ववद्बुद्ध्यधिष्ठातृत्वेनोपास्यः। अस्यैवांशः काम आविष्टः।

जिज्ञासा चेत् श्रीभगवत् सन्दर्भो (२०श-२१श पृ०) द्रष्टव्यः। अथवा,—त्वमाद्य इत्यादि मूलपद्यमेवकार्य्यम् श्रीवैकुण्ठे मायानिषेधन्नपि साक्षात् स्वरूपशक्तिमेवाह,—त्वमिति। कैवल्ये मोक्षाख्ये श्रीवैकुण्ठलक्षणे आत्मनि स्वांश एव स्थितः। किं कृत्वा? तत्रापि विराजमानया चिच्छक्त्या मायां दूरस्थितामपि तिरस्कृत्यैव। मतं चैतन्मायादिकं निषेधता श्रीशुकदेवेन (भा० २।९।१०) "प्रवर्त्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वञ्च मिश्रं न च कालविक्रमः। न यत्र माया किमुता परे हरे, रनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः॥" इति। मोक्षं परं पदं लिङ्गममृतं विष्णुमन्दिरम्। इति पाद्मोत्तरखण्डे वैकुण्ठ पर्य्याय-शब्दः॥

भा० १।७।२३ में श्रीअर्जुन ने कहा—तुम चिच्छक्ति के द्वारा माया को पराभूत करके परमानन्द में अवस्थित हो। उक्त मायाशक्ति को आगन्तुक मानने से "स्वेन" पद व्यर्थ होगा। अर्थात् भागवतीय जन्माद्यस्य पद्य में उक्त है—"धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं" "स्वेन" शब्द का अर्थ है—निज शक्ति के द्वारा। अतः उक्त पद का उल्लेख व्यर्थ होगा। स्वेन पद का स्व-स्वरूप अर्थ करने पर "स्वेन" शब्द से ही अर्थ सङ्गति होगी। पुनर्बार "धाम्ना" पद प्रयोग, व्यर्थ होगा, आग्रह के वशवर्त्ती होकर निर्गुण मत प्रतिपादन हेतु उक्त पद का स्वरूप पर व्याख्या करने से भी कष्ट कल्पनामात्र ही होगी, कारण अग्रिम वाक्य में "निरस्त कुहकम्" माया निरास का सुस्पष्ट कथन है। उक्त कुहक निवारक शक्ति का स्थापन परमेश्वर में होता ही है। उक्त स्थल में साधकतमरूपा शक्ति तृतीया विभक्ति के द्वारा ही सुव्यक्त है। इसके द्वारा प्राप्त होता है कि—माया एवं माया कार्य्य से भिन्न जो वस्तु है, वह ही परमेश्वर का स्वरूप लक्षण है। उक्त स्वरूपलक्षण—(तै० २।१।२) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इति, (वृ० ३।९।२८) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इति" श्रुति में सुस्पष्ट ही वर्णित है। इस श्रुति लक्षक ही 'सत्य' शब्द का विन्यास जन्माद्यस्य श्लोक के अन्तिम चरण में "सत्यं परं धीमहि" में हुआ है। अतएव स्वरूपशक्ति का उल्लेख साक्षात् शब्द के द्वारा ही हुआ है, उससे सुतरां भगवत्ता का सुस्पष्टीकरण हुआ है।

अनन्त मुख्य सत्यत्व के विषय में युक्ति का प्रदर्शन करते हैं, "यत्र" पद के द्वारा। ब्रह्मत्व रूप में सर्वत्र स्थित भगवान् वासुदेव में स्थित—सत्त्व रजः तमः रूप गुणत्रय के द्वारा सृष्ट भूत, इन्द्रिय, देवतारूप कार्य्यसमूह मिथ्या नहीं है। किन्तु (तै० ३।१।१) "यतो वा इमानि भूतानि" जिनसे भूतसमूह उत्पन्न हुए हैं,

इति न्यायेन यदेककर्त्तृकत्वाच्च सत्य एव। तत्र दृष्टान्तेनाप्यमृषात्वं साधयति—तेज-आदीनां विनिमयः परस्परांश-व्यत्ययः परस्परस्मिन्नंशेनावस्थितिरित्यर्थः। स यथा मृषा न भवति,

सर्वसम्वादिनी

अथानिरुद्धः स्थूलब्रह्माण्ड-नियमनं ब्रह्माद्याविर्भावन-मुख्यसृष्ट्याद्यर्थं करोति; धर्ममनुदेव-भूभुजां विष्णुरूपेण स्थिति-मात्रार्थम्। अयं श्यामः; पूर्ववन्मनस्युपास्यः। (महाभा० शान्ति-प० ३३९।४०, ४१)

कथन से प्रतीत होता है कि—जन्य पदार्थसमूह ब्रह्म में सर्वदा स्थित हैं।

ब्रह्मसूत्र २।४।२० में उक्त है—परमेश्वर के द्वारा पृथिवी प्रभृति की सृष्टि, एवं नामरूप की सृष्टि हुई है, उभय सृष्टि का कर्त्ता एक ही है, अतः भूतादि रूप जगत् सृष्टि सत्य ही है।

सूत्र भाष्य—नामरूपं च भूतानामित्यादि स्मरणाच्च। तस्मात् जीवकर्त्तृका सेति प्राप्तौ "संज्ञामूर्त्ति-क्लृप्तिस्तु त्रिवृत् कुर्वत उपदेशात्।" तु शब्दादाक्षेपो व्यावृत्तः। संज्ञा—मूर्त्तीनामरूपे तयोः क्लृप्तिर्व्यक्रिया त्रिवृत् कुर्वतः परमेश्वरस्यैव कर्म नतु जीवस्य। कुतः ? उपदेशात्। तस्यैव तत् क्लृप्तिनिगदात्। त्रिवृत् करणनामरूपव्याकरणयोरेककर्त्तृकत्वेनोक्तेरित्यर्थः। त्रिवृत्करणं चोक्तम्। त्रीण्येकैकं द्विधा कुर्य्यात् त्र्यर्द्धानि विभजेद् द्विधा। तत्तन्मुत्सृज्य योजयेच्च त्रिरूपता पञ्चीकरणस्योपलक्षणमेतत्। न च त्रिवृत् कृतिश्चतुर्मुखस्य शक्या वक्तुम्। त्रिवृत्कृततेजः अवन्न निर्मिताण्डमध्यजातत्वात्तस्या तथा च स्मृतिः, "तस्मिन्नण्डे जायत ब्रह्मा सर्वलोकपितामह" इत्याद्या। तस्मात् सेयमित्यत्र नामरूपव्याकृतित्रिवृत्कृत्योरेक-कर्त्तृत्वं विवक्षितं नतु पौर्वापर्य्यं अर्थक्रमेण पाठक्रमस्य बाधात्। पूर्वा त्रिवृत्कृतिरुत्तरा तु नामरूपव्याकृति-रिति। न चात्रिवृत्कृतैस्तैस्तेजोऽवन्नैरण्डोत्पत्तिः। अत्रिवृतां तेषां तत्रासामर्थ्यात्। तथाहि स्मृतिः—यदैते असङ्गताभावाभूतेन्द्रियमनो गुणाः, तदायतन निर्म्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तम। तदा संहत्य चान्योन्यं भगवच्छक्तिः चोदिताः सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजु ह्यद" इत्याद्या। इह पञ्चीकरणमुक्तम्। तच्चेत्थं बोध्यम्। विभज्य द्विधा पञ्चभूतानि देवस्तदर्द्धानि पञ्चाडिधभागानि कृत्वा तदन्येषु मुख्येषु भागेषु तत्तत् नियञ्जन् सपञ्चकृतिं पश्यति स्म। अन्नमशितं त्रिधा विधीयते" इत्यादौ तु पृथिव्यादेरेकैकस्य त्रेधापरिणामो वर्ण्यते न तु त्रिवृत्कृतिः। न च अनेन जीवेनेति सामानाधिकरण्येन जीवशक्तिमतस्तद्व्यापिनो ब्रह्मण एव तत्त्वाभिधानात्। एतेन विरिञ्चो वा इत्यादिकं व्याख्यातम्। एवञ्च प्रविश्योत्तमपुरुषयोरपृष्ठता मुख्यार्थता च स्यात्। तथा च प्रवेशव्याकरणयोरेककर्त्तृकता च। तस्मादीशकर्त्तृकैव तद्व्याकृतिः। सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते" इति तैत्तिरीयकाच्च॥

संज्ञामूर्त्तिकर्त्तृत्व त्रिवृत् कर्त्ता परमेश्वर का ही है, जीव का नहीं। सूत्रस्थ "तु" शब्द से पूर्वपक्ष का आक्षेप निरस्त होता है। परमेश्वर का कर्म नामरूप की सृष्टि है। उपदेश में भी उक्त है, कार्य्य परमेश्वर का ही है। त्रिवृत्करण एवं नामरूप व्याकरण का कर्त्तृत्व एक परमेश्वर का ही है। त्रिवृत्करण की प्रक्रिया यह ही है, प्रथम तीन वस्तुओं को समभाग में विभक्त करके, अर्द्धांश को दो भाग करके निजार्द्ध भाग को छोड़कर मिश्रण से त्रिवृत्करण होता है। इससे पञ्चीकरण को भी जानना होगा। वह त्रिवृत्करण कार्य्य ब्रह्मा का नहीं है, कारण उक्त त्रिवृत्करण से उत्पन्न ब्रह्माण्ड में ही ब्रह्मा उत्पन्न हुए, स्मृति प्रमाण यह है। "इस अण्ड में सर्वलोक पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुए।" अतएव प्रवेश एवं व्याकरण का एक कर्त्तृत्व सङ्गत हुआ है। तैत्तिरीयक उपनिषद् में उक्त है,—सर्वज्ञ परमेश्वर श्रीहरि ने देव मनुष्यादि शरीर निर्माण करने के पश्चात् उनके नामों की सृष्टि की है, एवं निज विभिन्नांशरूप जीवों के द्वारा वाक्य का प्रकार करके श्रीहरि अवस्थान करते हैं। "संज्ञामूर्त्ति" न्याय से विश्व एवं नामरूप के सृष्टिकर्त्ता एक ही परमेश्वर हैं। अतएव उनकी सृष्टि सत्य ही है। दृष्टान्त के द्वारा भी उक्त विषय का अमृषात्व प्रतिपादन करते हैं। तेज आदि का विनिमय—अर्थात् परस्परांश व्यत्यय, परस्पर के अंश में परस्पर की

किन्तु यथैवेश्वरनिर्माणं तथेत्यर्थः, (छा० ६।३।४, ६।४।१) "इमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृदेकैका भवति। यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तत् पृथिव्याः, तदन्नस्य" इति श्रुतेः। तदेवमर्थस्यास्य श्रुतिमूलत्वात् कल्पनामूलस्त्वन्योऽर्थः स्वत एव परास्तः। तत्र च सामान्यतया निर्दिष्टानां तेज-आदीनां विशेषत्वे संक्रमणं न शाब्दिकानां हृदयमध्यारोहति। यदि च तदेवामंस्यत, तदा वार्य्यादीनि मरीचिकादिषु यथेत्येवावक्ष्यत। किञ्च, तन्मते ब्रह्मत-स्त्रिसर्गस्य मुख्यं जन्म नास्ति, किन्त्वारोप एव जन्मेत्युच्यते। स पुनर्भ्रमादेव भवति; भ्रमश्च सादृश्यावलम्वी; सादृश्यन्तु कालभेदेनोभयमेवाधिष्ठानं करोति, रजतेऽपि शुक्तिभ्रमसम्भवात्। न चैकात्मकं भ्रमाधिष्ठानम्, बह्वात्मकन्तु भ्रमकल्पितमित्यस्ति नियमो मिथो मिलितेषु विदूरवर्त्ति-धूमपर्वत-वृक्षेष्वखण्डमेघभ्रमसम्भवात्। तदेवं प्रकृतेऽप्यनादित एव त्रिसर्गः प्रत्यक्षं प्रतीयते, ब्रह्म च चिन्मात्रतया स्वत एव स्फुरदस्ति, तस्मादनाद्यज्ञानाक्रान्तस्य जीवस्य यथा सद्रूपतासादृश्येन ब्रह्मणि त्रिसर्गभ्रमः स्यात्तथा त्रिसर्गेऽपि ब्रह्मभ्रमः कथं न कदाचित् स्यात्? ततश्च ब्रह्मण एवाधिष्ठानत्वमित्यनिर्णये सर्वनाशप्रसङ्गः। आरोपकत्वन्तु जड़स्येव,

सर्वसम्वादिनी

मोक्षधर्मे तु,—मनसि प्रद्युम्नः, अहङ्कारेऽनिरुद्ध इति। पाञ्चरात्रिकमतश्चैतत्। एते परम-वैकुण्ठावरणस्था अपि पाद्मादौ (पाद्मोत्तरखण्डे ६१तम अनु०) मताः। प्रपञ्चे एवैते जलावृतिस्थवेदवतीपुरे सत्योर्ध्व-द्वारकादिषु च विराजन्ते।

अवस्थिति, इस प्रकार अर्थ है। वह वैसी मिथ्या नहीं होती है, किन्तु निर्माता ईश्वर ने जिसका निर्माण जिस प्रकार किया है, वह उस प्रकार ही होता है। उस प्रकार अर्थ ही उक्त वाक्य का है।

श्रुति संवाद भी उस प्रकार है—(छा० ६।३।४, ६।४।१) 'हन्त' शब्द सम्बोधनार्थ में प्रयुक्त है। भूमि, जल, तेजरूप देवता, इनकी समष्टि का नाम त्रिवृत् है, ये सब भिन्न रूप के होते हैं। अग्नि में स्थित जो प्रकाशता रूप वह तेज का है। उससे जो शुक्लरूप है, वह जल का है, और जो रूप कृष्ण है, वह पृथिवी का है। उक्त अर्थ श्रुतिमूलक होने के कारण कल्पनामूलक अन्य अर्थ स्वतः ही परास्त हुआ। उक्तार्थ में सामान्य रूप से निर्दिष्ट तेज प्रभृतिओं का संक्रमण विशेष रूपसे होता है, इस प्रकार कथन शाब्दिकगणों का प्रतीति विषय नहीं होता है, यदि वैसा ही मानना ग्रन्थकार का अभिप्रेत होता, तब कहते कि—मरीचिका प्रभृति में जलादि जिस प्रकार है, किन्तु वैसा नहीं कहा है। और भी कहना है कि—निर्गुण ब्रह्मवादियों के मत में निर्गुण ब्रह्म से त्रिसर्ग का मुख्य जन्म होता ही नहीं है, किन्तु आरोपित ही जन्म है, वह तो भ्रम से ही होता है। भ्रम किन्तु सादृश्य को अवलम्बन करके ही होता है। और सादृश्य काल भेद से उभय को अधिष्ठान करता है। कारण समयविशेष में जैसे शुक्ति में रजत भ्रम होता, वैसे रजत में भी शुक्ति भ्रम होना सम्भव है। अति दूरवर्त्ति धूम, पर्वत एवं पक्षावलम्बित होने से वहाँ अखण्ड मेघ भ्रम होना सम्भव है, तज्जन्य भ्रमाधिष्ठान एक रूप न होकर अनेक प्रकार कल्पित होना ही नियम है।

अतएव प्रकृत विचार स्थल में भी अनादि काल से त्रिसर्ग प्रत्यक्ष होता है। ब्रह्म भी चिन्मात्ररूप से स्वतः ही प्रकाशित हैं। अतः अनादिसिद्ध अज्ञानाक्रान्त जीव में जिस प्रकार सद्रूपता सादृश्य के कारण ब्रह्म में त्रिसर्ग भ्रम होता है, अर्थात् भूत, इन्द्रिय, देवतारूप सृष्टि प्रत्यक्ष रूप में प्रतीत होता है। उस प्रकार त्रिसर्ग में भी ब्रह्मभ्रम कदाचित् क्यों नहीं होगा? अतएव ब्रह्म का अधिष्ठानत्व अनिर्णीत होने पर

चिन्मात्रस्यापि न सम्भवति। ब्रह्म च चिन्मात्रमेव तन्मतमिति। ततश्च श्रुतिमूल एव व्याख्याने सिद्धे सोऽयमभिप्रायः—यत्र हि यन्नास्ति, किन्त्वन्यत्रैव दृश्यते, तत्रैव तदारोपः सिद्धः। ततश्च वस्तुतस्तदयोगात्तत्र तत्सत्तया तत्सत्ता कर्त्तुं न शक्यत एव। त्रिसर्गस्य तु तच्छक्तिविशिष्टाद्भगवतो मुख्यवृत्त्यैव जातत्वेन श्रुतत्वात्तद्व्यतिरेकेण व्यतिरेकात्तत्रैव सर्वात्मके सोऽस्ति। ततस्तस्मिन्न चारोपितश्च, आरोपस्तु तथापि धाम्नेत्यादिरीत्यैवाचिन्त्य-शक्तित्वात्तेन लिप्तत्वाभावेऽपि तच्छङ्कारूप एव। तथा च (वि०पु० १।२२।५५) "एकदेशस्थित-स्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा" इत्यनुसारेण तत्सत्तया तत्सत्ता भवति। ततो भगवतो मुख्यं सत्यत्वं त्रिसर्गस्य च न मृषात्वमिति। तथा च श्रुतिः (वृ० २।१।२०) "सत्यस्य सत्यमिति तथा प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्" इति प्राणशब्दोदितानां स्थूलसूक्ष्मभूतानां व्यवहारतः सत्यत्वेनाधिगतानां मूलकारणभूतं परमसत्यं भगवन्तं दर्शयतीति। अथ तमेव तटस्थलक्षणेन च तथा व्यञ्जयन् प्रथमं विशदार्थतया ब्रह्मसूत्राणामेव विवृतिरियं संहितेति विबोधयिषया च तदनन्तरं सूत्रमेव प्रथममनुवदति—"जन्माद्यस्य यतः" इति। जन्मादीति सृष्टि-स्थिति-

सर्वसम्वादिनी

यत्तु पञ्चरात्रादौ सङ्कर्षणादयो जीव-मनोऽहङ्कारतया श्रूयन्ते, तत्तु न ते जीवादय इत्येवाभिप्रायम्,

सर्वनाश का प्रसङ्ग होगा। जड़ में जिस प्रकार आरोपकत्व नहीं होता है, उस प्रकार चिन्मय का भी आरोपकत्व होना सम्भव नहीं है। अद्वैतवादी के मत में ब्रह्म चिन्मात्र ही हैं। अतएव श्रुतिमूलक व्याख्यान ही समीचीन होने से उसका अभिप्राय इस प्रकार है,—यहाँ पर जो पदार्थ नहीं है, किन्तु अन्यत्र दृष्ट होता है, वहाँ पर ही उसका आरोप सिद्ध होता है। तज्जन्य वस्तुतः अयोग के कारण ब्रह्म में ब्रह्मसत्ता के द्वारा आरोपसत्ता को स्थिर करने की क्षमता नहीं है। किन्तु त्रिसर्ग का सम्पादन चिदचिच्छक्तिविशिष्ट भगवान् को मुख्यावृत्ति से ही होता है, यह श्रुति प्रमाण सिद्ध है। अतएव भगवत् सत्ता के अभाव से त्रिसर्ग नहीं रहेगा। अतः सर्वात्मक भगवान् में त्रिसर्ग विद्यमान् है। उक्त त्रिसर्ग श्रीभगवान् में आरोपित नहीं है, तथापि आरोप अर्थात् अलिप्त भाव भगवान् में रहता है, उसका कारण "धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं" के द्वारा सुस्पष्ट हुआ है, अर्थात् स्वरूपशक्ति के द्वारा माया प्रभाव को विदूरित करके ही समस्त कार्य्य निर्लिप्त भाव से करते हैं। विष्णुपुराण के १।२२।५५ में उक्त है—एकदेशस्थित अग्नि की ज्योत्स्ना विस्तार के समान ईश्वर की शक्ति है। उस नियम के अनुसार ही परमेश्वर की सत्ता के द्वारा ही त्रिसर्ग की सत्ता होती है। अतएव भगवान् में मुख्य सत्यता है, तज्जन्य उनसे उत्पन्न त्रिसर्ग मिथ्या नहीं है, सत्य है। बृहदारण्यक श्रुति (२।१।२०) कहती है—सत्यरूप त्रिसर्ग का परम सत्य परब्रह्म है। अपर श्रुति भी कहती है—प्राण शब्द से कथित स्थूल सूक्ष्म भूतगण सत्य है। उक्त सत्य सृष्ट वस्तु के मध्य में परमात्मा परम सत्य है। प्राण शब्द के द्वारा प्रकाशित एवं व्यवहारतः सत्य रूप से स्वीकृत स्थूल सूक्ष्म भूतगण के मूल कारणरूप परम सत्यरूप भगवान् को दर्शाते हैं।

अनन्तर उक्त सत्य वस्तु परमेश्वर को तटस्थ लक्षण के द्वारा कहने के निमित्त, अर्थात् परमेश्वर से भिन्न होकर भी परमेश्वर के कार्य्य के द्वारा परमेश्वर बोधक लक्षण के द्वारा भी परम सत्यत्व प्रकाश करने के निमित्त, एवं प्रथम निर्मल विशदार्थरूप ब्रह्मसूत्र समूह की ही विवृतिरूप यह सात्वत संहिता है, अर्थात् श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रों का अकृत्रिम भाष्य है। इसको सूचित करने के लिए प्रथम सूत्र "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" की व्याख्या करने के पश्चात् द्वितीय सूत्र "जन्माद्यस्य यतः" का अनुवाद करते हैं—"जन्माद्यस्य

प्रलयम्; तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः; अस्य विश्वस्य ब्रह्मादिस्तम्वपर्य्यन्तानेककर्त्तृभोक्तृ-संयुक्तस्य प्रतिनियत-देशकाल-निमित्त-क्रिया-फलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यविविधविचित्र-रचनारूपस्य, यतो यस्मादचिन्त्यशक्त्या स्वयमुपादानरूपात् कर्त्रादिरूपाच्च जन्मादि तं परं धीमहीत्यन्वयः। अत्र विषयवाक्यञ्च (तै० ३।१।१) "भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भो भगवो ब्रह्म" इत्यारभ्य "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" इति; (छा० ६।२।३) 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि च। जन्मादिकमिहोपलक्षणम्, न तु विशेषणम्। ततस्तद्ध्याने तन्न प्रविशति, किन्तु शुद्धमेव तद्ध्येयमिति। किञ्च, अत्र प्रागुक्तविशेषणविशिष्ट-विश्वजन्मादेस्तादृशहेतुत्वेन सर्वशक्तित्वं सत्यसङ्कल्पत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वञ्च तस्य सूचितम्, (मु० १।१।९) "यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयन्तपः"; (वृ० ४।४।२२) "सर्वस्य वशी" इत्यादि श्रुतेः। तथा परत्वेन निरस्ताखिल-हेयप्रत्यनीक-स्वरूपत्वं ज्ञानाद्यनन्तकल्याणगुणत्वं सूचितम् (श्वे० ६।८) "न तस्य कार्य्यं करञ्च

सर्वसम्वादिनी

किन्तु तत्तदधिष्ठातृत्वेनोपास्यत्वाभिप्रायमेव,—सर्वत्र तेषां वासुदेवतुल्यत्वाम्नानात्, तुल्यत्वे चोत्पत्तिर्दीप-परम्परावत्।

यतः"। 'जन्मादि' शब्द के द्वारा विश्व के सृष्टि-स्थिति-प्रलय रूप कार्य्य को जानना होगा, यह अर्थ—तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास से उपलब्ध हुआ है। वह पीताम्वर समास द्विविध है—तद्गुणसंविज्ञानाः अतद्गुणसंविज्ञानाः, (१) समासपदस्य अन्यपदार्थसङ्गित्वे तद्गुणसंविज्ञानाः। (२) तदसङ्गित्वे तु अतद्-गुणसंविज्ञानाश्च। यथा—(१) धृतकृष्णनिर्माल्यं आनय; दृष्टकृष्णमानय। ब्रह्मादि स्तम्व पर्य्यन्त अनेक कर्त्तृ भक्तृ संयुक्त, प्रतिनियत देश काल क्रिया फलाश्रय का मनसा भी अचिन्त्य विविधविचित्र रचना रूप इस विश्व के,—अचिन्त्यशक्ति के द्वारा स्वयं उपादानरूप एवं कर्त्तृ आदि निमित्त परमेश्वर से—सृष्टिस्थिति लय रूप कार्य्य होते हैं, उन परमेश्वर का ध्यान हम सब करते हैं। इस प्रकार अन्वय है। यहाँ का विषय वाक्य इस प्रकार है,—

(तै० ३।१।१) वरुणपुत्र भृगु वारुणि—पिता के निकट उपस्थित हुए थे। गमनान्तर पिता को सम्बोधन कर कहे थे—हे भगवन्! हे सर्वज्ञ! मुझे ब्रह्म अध्ययन कराइये। अर्थात् ब्रह्म उपदेश कीजिये। इस प्रकार प्रश्न आरम्भ के अनन्तर वरुण, पुत्र को उपदेश प्रदान किए थे। जिनसे ये भूतसमूह उत्पन्न होते हैं, जन्म के अनन्तर जिनके द्वारा रक्षित होते हैं, एवं अवशेष जिनमें प्रविष्ट होते हैं, उनको ही विशेष रूप से ब्रह्म जानना। छान्दोग्य ६।२।३ में उक्त है—उन ब्रह्म ने तेजः की सृष्टि की है।

यहाँ जन्म स्थिति भङ्ग—उपलक्षण है, विशेषण नहीं है। तज्जन्य परमेश्वर के ध्यान में जन्मादि विशिष्ट जगत् का प्रवेश नहीं है। किन्तु शुद्ध परब्रह्म ही ध्येय हैं। अपर बात यह है कि—उक्त जन्माद्यस्य श्लोक में वर्णित है—सत्यादि विशेषण विशिष्ट परमेश्वर ही विश्व जन्मादि के हेतु हैं। उक्त हेतु से सर्वशक्तित्व, सत्य सङ्कल्पत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व परमेश्वर का सूचित होता है। मु० १।१।९ में उक्त है—जो सर्वज्ञ सर्वविद् हैं, जो सब को प्राप्त करते हैं, जिनकी ज्ञान रूपा शक्ति हैं, जो समस्त का वशी हैं, अर्थात् समस्त जगत् जिनके अधीन हैं, (वृ० ४।४।२२)। इत्यादि श्रुति प्रमाण है। परमेश्वर परतत्व होने के कारण आप निखिल हेय प्रत्यनीक वर्ज्जित स्वरूप एवं ज्ञानादि अनन्त कल्याण पूर्ण हैं। उक्त श्रुति से यह भी सूचित हुआ। श्वेताश्वतर ६।८ में वर्णित है—परमेश्वर का कार्य्य, अर्थात् प्राकृत देह एवं

विद्यते" इत्यादि श्रुतेः। ये तु निर्विशेषं वस्तु जिज्ञास्यमिति वदन्ति, तन्मते ब्रह्मजिज्ञासायां "जन्माद्यस्य यतः" इत्यसङ्गतं स्यात्, "निरतिशयवृहद्वृंहणश्च" इति निर्वचनात्; तच्च ब्रह्म "जगज्जन्मादिकारणम्" इति वचनाच्च। एवमुत्तरेष्वपि सूत्रेषु सूत्रोदाहृतश्रुतिगणे चेक्षणाद्यन्वयदर्शनात् सूत्राणि सूत्रोदाहृतश्रुतयश्च न तत्र प्रमाणम्। तर्कश्च साध्यधर्माव्यभिचारिसाधनधर्मान्वितवस्तुविषयत्वान्न निर्विशेषवस्तुनि प्रमाणम्। जगज्जन्मादिभ्रमो यतस्तद्-ब्रह्मेति स्वोत्प्रेक्षापक्षे च न निर्विशेषवस्तुसिद्धिः। भ्रममूलमज्ञानमज्ञानसाक्षि ब्रह्मेत्युपगमात्। साक्षित्वं हि प्रकाशैकरसतयोच्यते। प्रकाशत्वन्तु जड़ाद्व्यावर्त्तकं स्वस्य परस्य च व्यवहार-योग्यतापादानस्वभावेन भवति। तथा सति सविशेषत्वम्, तदभावे प्रकाशतैव न स्यात्, तुच्छतैव स्यात्, किञ्च, "तेजोवारिमृदाम्" इत्यनेनैव तेषां विवक्षितं सेत्स्यतीति "जन्माद्यस्य यतः" इत्यप्रयोजकं स्यात्, अतस्तत्तद्विशेषवत्त्वे लब्धे स च विशेषः शक्तिरूप एव। शक्ति-

सर्वसम्वादिनी

अथ चोत्पत्तिस्तत्राविर्भावार्थैव। तथाप्याधिक्यं वासुदेवे स्यादिति चेत्? अस्तु; साम्योक्तिस्त्वंशांशिनोरेकतापत्तित एव स्यात्। यथोक्तम्,—

प्राकृत इन्द्रियादि नहीं हैं। उनके सदृश एवं उनसे अधिक, इस जगत् में कोई वस्तु नहीं है। परमेश्वर की समस्त वस्तु ही नित्य हैं।

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" सूत्र का अर्थ, जिनके मत में निर्गुण ब्रह्म ही जिज्ञास्य हैं। उनके मत में जिज्ञासा शब्दार्थ व्यर्थ तो होता ही है, अपरन्तु "जन्माद्यस्य यतः" सूत्रार्थ भी असङ्गत ही होगा। ब्रह्म शब्द का अर्थ—निरतिशय वृहत् एवं समस्त पदार्थ को वृहत् करने में समर्थ। "निरतिशय वृहद् वृंहणश्च इति निर्वचनात्" उक्त ब्रह्म ही जगज्जन्म प्रभृति का कारण हैं। "जगज्जन्मादिकारणम्" श्रुति से ही उक्त अर्थ लाभ होता है। इस प्रकार उत्तरमीमांसा के सूत्रसमूह "तत्तु समन्वयात्, शास्त्रयोनित्वात्, ईक्षतेर्ना शब्दम्" में एवं उक्त सूत्र समूह में उदाहृत श्रुतिसमूह में जिनका वर्णन है। वह निर्गुण ब्रह्मस्वरूप नहीं हो सकते हैं। कारण उक्त प्रमाणसमूह के द्वारा निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं होगा। निर्विशेष ब्रह्म—उक्त सूत्र एवं श्रुति प्रमाणलब्ध नहीं हैं। अवशेष है—निर्विशेष ब्रह्म प्रतिपादन में पुरुष मतिप्रभव तर्क की बात। साध्य धर्म का अव्यभिचारि साधनधर्मविशिष्ट वस्तु विशिष्ट हेतु,—निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादन करने में तर्क प्रमाण समर्थ नहीं है।

जिन निर्विशेष ब्रह्म से जगज्जन्मादि रूप भ्रम होता है वह निर्गुण ब्रह्म है, ऐसा कहने पर भी उक्त ब्रह्म निर्विशेष नहीं होता है। निर्विशेष वस्तु सिद्ध होना असम्भव है। भ्रम का मूल है—अज्ञान, और अज्ञान का साक्षी है ब्रह्म, यह सिद्धान्त निर्विशेषवादियों का स्वीकृत है। प्रकाशमात्ररूपता के द्वारा ही साक्षित्व

स्वीकृत है। किन्तु प्रकाशता, जड़ निषेधक निज एवं अपर का व्यवहार जनक स्वभाव के द्वारा ही होती है। उक्त प्रकार होने से वह तो सविशेष ही होगा। उक्तार्थ का अभाव होने से प्रकाशता ही नहीं रहेगी। प्रत्युत वह अतिशय तुच्छ ही होगा। "तेजोवारिमृदाम्" शब्द से ही निर्गुणब्रह्मवादिओं का अभीप्सित सिद्ध होगा, वह ही मायावाद का मूल है, अध्यास वाद का स्थापन उक्त शब्द से होता है? ऐसा कहना असमीचीन है। उसके पहले ही उक्त है—"जन्माद्यस्य यतः" उक्त निर्गुण ब्रह्म प्रतिपादन के लिए अध्यास वाद को मानना अत्यावश्यक है। किन्तु जिनसे इस विश्व के जन्मादि कार्य्य होते हैं, ऐसा कहना अनर्थक होगा। तज्जन्य उस उस विशेषवत्त्व का लाभ ब्रह्म में होने से—उक्त विशेष ही शक्तिस्वरूप ही है। शक्ति

अन्तरङ्गा वहिरङ्गा तटस्था चेति त्रिधा दर्शिता। तत्र विकारात्मकेषु जगज्जन्मादिषु साक्षाद्धेतुता वहिरङ्गाया एव स्यादिति सा मायाख्या चोपक्रान्ता; तटस्था च वयं धीमहीत्यनेन। अथ यद्यपि भगवतोऽंशात्तदुपादानभूत-प्रकृत्याख्यशक्तिविशिष्टात् पुरुषादेवास्य जन्मादि, तथापि भगवत्येव तद्धेतुता पर्य्यवस्यति। समुद्रैकदेशे यस्य-जन्मादि, तस्य समुद्र एव जन्मादीति। यथोक्तम् (भा० ११।२४।१९)—

"प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयन्त्वहम्॥"१९॥ इति।

तस्य च भगवतो "जन्माद्यस्य यत" इत्यनेनापि मूर्त्तत्वमेव लक्ष्यते। यतो मूर्त्तस्य जगतो मूर्त्तिशक्तेर्निधानरूपतादृशानन्तपरशक्तीनां निधानरूपोऽसावित्याक्षिप्यते, तस्य परम-कारणत्वाङ्गीकारात्। न च तस्य मूर्त्तत्वे सत्यन्यतो-जन्मापतेत्, अनवस्थापत्तेरेकस्यैवादि-त्वेनाङ्गीकारात् सांख्यानामव्यक्तस्येव; (श्वे० ६।९) "स कारणं करणाधिपाधिपो, न चास्य

सर्वसम्वादिनी

"सोऽच्युतोऽच्युत-तेजाश्च स्वरूपं वितनोति वै। आश्रित्य वासुदेवश्च खस्थो मेघो जलं यथा॥"२७॥ इति।

भी अन्तरङ्गा, वहिरङ्गा, तटस्था भेद से त्रिविधा हैं, इसका कथन पूर्वग्रन्थ में हुआ है। उसके मध्य में विचारात्मक जगज्जन्मादि कार्य्य के प्रति साक्षात् हेतुता वहिरङ्गा शक्ति की ही है, वह शक्ति माया शब्द से कथित है। ग्रन्थ उपक्रम में उसका ही वर्णन है। तटस्था शक्ति का उल्लेख भी "वयं धीमहि" हम सब ध्यान करते हैं, शब्द से हुआ है।

यद्यपि भगवान् के अंश, जगत् के उपादानभूत मायाख्य शक्तिविशिष्ट पुरुष से ही परिदृश्यमान विश्व के जन्मादि होते हैं, तथापि भगवान् में ही जगज्जन्मादि कार्य्य का पर्य्यवसान होता है, जिसके जन्मादि समुद्र के एकदेश में हैं, उसके जन्मादि समुद्र में ही हैं, ऐसा जानना होगा। भा० ११।२४।१९ में स्वयं भगवान् ने कहा भी है—हे उद्धव! जो प्रकृति रूप उपादान कारण, आधार रूप पुरुष निमित्त कारण, तथा कालरूप अभिव्यञ्जक, वह ही ब्रह्म हैं, उक्त तीन प्रकार ही मैं हूँ।

टीका—ननु तथापि प्रकृतिपुरुषकालानां अकार्य्यभूतानां भिन्नत्वात् कथं अद्वितीयता, तत्राह—प्रकृतिरिति। अस्य सतः कार्य्यस्योपादानं वा प्रकृतिः प्रसिद्धा यश्च तस्याधारोऽधिष्ठाता परः पुरुषो यश्च गुणक्षोभेण अभिव्यञ्जकः काल, तत् त्रितयं ब्रह्मरूपोऽहमेव नतु पृथक्। प्रकृतेः शक्तित्वात्, पुरुषकालयो-रप्यवस्थारूपत्वात्॥

उक्त श्रीभगवान् मूर्त्त हैं, अमूर्त्त नहीं। कारण "जन्माद्यस्य यतः" जिनसे जगज्जन्मादि होते हैं, कथन से ही परतत्त्वरूप श्रीभगवान् का मूर्त्तत्व प्रतिपादित होता है। कारण मूर्त्त—अर्थात् अवयव विशिष्ट जगत् की अवयव शक्ति का आश्रय एवं उस प्रकार अनन्त अपर शक्ति का आश्रयरूप श्रीभगवान् हैं, इस प्रकार अर्थ आक्षेप लभ्य है। कारण निखिल कारणता श्रीभगवान् में ही स्वीकृत हुई है।

श्रीभगवान् मूर्त्तिविशिष्ट होने से उनका जन्म अपर से होना सम्भव है? इस प्रकार संशय नहीं हो सकता है, तब तो अनवस्था ही होगी। जन्म धारावरम्परा का कहीं पर विश्राम ही नहीं होगा। अनवस्था के भय से एक परमेश्वर को सर्वादि माना गया है। सांख्याचार्य्य ने जिस प्रकार प्रकृति को ही आदि कारण माना है। "मूले मूलाभावात् अमूलमेव मूलम्" श्वेताश्वतरोपनिषत् में उक्त है—समस्त कारणों का भी मूल कारण उक्त परमेश्वर हैं। उक्त परमेश्वर का जनक नहीं है, अधिपति भी नहीं है।

कश्चिज्जनिता न चाधिपः" इति श्रुतिनिषेधात्, अनादिसिद्धाप्राकृतस्वाभाविकमूर्त्तित्वेन तस्य तत्प्रसिद्धेश्च । तदेवं मूर्त्तत्वे सिद्धे स च मूर्त्तो विष्णु-नारायणादिसाक्षाद्रूपकः श्रीभगवानेव नान्यः । तथा च दानधर्मे—

"यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे । यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये ॥"

इत्यादिकं तत्प्रतिपादक-सहस्रनामादौ ; तत्रैव तु यथोक्तम्—"अनिर्द्देश्यवपुः श्रीमान्" इति । एवञ्च स्कान्दे—

"स्रष्टा पाता च संहर्त्ता स एको हरिरीश्वरः । स्रष्टृत्वादिकमन्येषां दारुयोषावदुच्यते ॥

एकदेशक्रियावस्त्वान्न तु सर्वात्मनेरितम् । सृष्ट्यादिकं समस्तन्तु विष्णोरेव परं भवेत् ॥" इति ;

महोपनिषदि च—"स ब्रह्मणा सृजति स रुद्रेण विलापयति" इत्यादिकम् । अतएव विवृतम् (भा० १०।७१।८)—"निमित्तमात्रमीशस्य विश्वसर्गनिरोधयोः ।

हिरण्यगर्भः शर्वश्च कालस्यारूपिणस्तव ॥"८॥ इति ।

तव यो रूपरहितः कालः कालशक्तिस्तस्य निमित्तमात्रमिति व्यधिकरण एव षष्ठी । तथा (भा० २।६।४२) "आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य" इत्यादि ; (भा० ६।३।१२) "यदंशतोऽस्य

सर्वसम्वादिनी

अनन्तव्यूहे चतुष्टयता-मात्र-संख्या मुख्यत्वापेक्षयेत्यपि मन्तव्यम् । तस्माच्छुद्धैवैषा पाञ्चरात्रिकी प्रक्रिया।

श्रुति में निषेध सुस्पष्ट है एवं अनादिसिद्धाप्राकृत स्वाभाविक मूर्त्तित्वहेतु परमेश्वर की आदि कारणता श्रुति स्मृति में सुप्रसिद्ध है । इस प्रकार परमेश्वर मूर्त्तिविशिष्ट होने पर उक्त मूर्त्ति भी श्रीविष्णु नारायणादि साक्षात् रूप श्रीभगवान् ही हैं, अन्य नहीं हैं ।

दानधर्म में उक्त है—सर्वप्रथम सृष्टि के आरम्भ में जिन भगवान् से समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, पुनर्बार युगक्षय रूप प्रलय के समय जिनमें लीन होते हैं । इत्यादि भगवत् प्रतिपादक सहस्रनामादि में उक्त है । सहस्रनाम वर्णन में कथित है—"अनिर्देश्य वपुः श्रीमान्" भगवान् निर्देशातीत शरीर एवं शोभायुक्त हैं । इस प्रकार स्कन्दपुराण में भी उक्त है—"उक्त श्रीहरि एकमात्र सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता एवं संहारकर्त्ता हैं । ब्रह्मा प्रभृति के जो सृष्टि कर्त्तृत्व है, वह काष्ठमयी स्त्रीमूर्त्ती के नृत्यादि कर्त्तृत्व के समान है । अन्यत्र एकदेश क्रियाकारित्व का प्रकाश श्रीविष्णु करते हैं, किन्तु समग्र शक्ति से नहीं । किन्तु समस्त सृष्ट्यादि कार्य्य केवल श्रीविष्णु से ही होते हैं । महोपनिषद् में भी उक्त है—श्रीविष्णु ब्रह्मा के द्वारा सृजन करते हैं, रुद्र से संहार कार्य्य करते हैं, इत्यादि । अतएव भा० १०।७१।८ के विस्तृत विवरण से ज्ञात होता है,— आपकी रूपरहित जो कालशक्ति है—वह सृष्ट्यादि कार्य्य में निमित्तमात्र है । अतएव विश्व सृष्टि के लिए हिरण्यगर्भ निमित्तमात्र हैं, एवं प्रलय कार्य्य में भी रुद्र निमित्त हैं ।

टीका—"नन्वकिञ्चित् कुर्वतो मम सन्निधानात् किं स्यादत आह,—निमित्तमिति । अयमर्थः—यथा तथा रूपस्य कालात्मनो विश्वसर्गे निमित्तं केवलं हिरण्यगर्भः तथा सर्वश्च तन्निरोधे । तथात्र त्वमेव सन्निधिमात्रेण हन्ता भीमो निमित्तमात्रमिति ॥"

आपका जो रूपरहित काल अर्थात् कालशक्ति है, उसमें निमित्तमात्र ही है, यहाँ व्यधिकरण में ही षष्ठी विभक्ति हुई है । उस प्रकार ही वर्णन भा० २।६।४२ में है—

"आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य कालः स्वभावः सदसन्मनश्च ।

द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट् स्थाष्णु चरिष्णु भूम्नः ॥"

स्थितिजन्मनाशाः" इत्यादि च। तदेवमत्रापि तथाविधमूर्त्तिर्भगवानेवोपक्रान्तः। तदेवं तटस्थलक्षणेन परं निर्द्धार्य्य तदेव लक्षणं ब्रह्मसूत्रे (१।१।३)—'शास्त्रयोनित्वात्'; (ब्र०सू०१।१।४) "तत्तु समन्वयात्" इत्येतत्सूत्रद्वयेन स्थापितमस्ति। तत्र पूर्वसूत्रस्यार्थः,—कुतो ब्रह्मणो जगज्जन्मादिहेतुत्वम्? तत्राह—शास्त्रं योनिर्ज्ञानकारणं यस्य तत्त्वात्; (तै० ३।१।१)—"यतो वा इमानि भूतानि" इत्यादिशास्त्रप्रमाणकत्वादिति। नात्र दर्शनान्तरवत् तर्कप्रमाणकत्वम्;

सर्वसम्वादिनी

ननु [ब्र०सू० २।२।४२ "उत्पत्त्यसम्भवात्" इत्यत्र शा०भा०-मते] पञ्चरात्रे बहुविधो विप्रतिषेध उपलभ्यते

टीका—अवतारान् विस्तरेणाह—आद्य इति, यावदध्यायसमाप्ति। परस्य भूम्नः पुरुषः प्रकृतिप्रवर्त्तकः। यस्य सहस्रशीर्षेत्याद्युक्तो लीलाविग्रहः स आद्योऽवतारः। वक्ष्यति च भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदि देवः। यच्चोक्तम्—"विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः, प्रथमं महतः स्रष्टृ द्वितीयन्त्वण्डसंस्थितम्। तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते' इति। यद्यपि सर्वेषामविशेषेणावतारत्वमुच्यते तथापि कालश्च स्वभावश्च सदसदिति कार्य्य-कारणरूपाप्रकृतिश्च एताः शक्तयः। मन आदीनि कार्य्याणि। ब्रह्मादयो गुणावताराः, 'दक्षादयो विभूतयः' इति विवेक्तव्यम्। मनो महत्तत्त्वम्। द्रव्यं, महाभूतानि। क्रमोऽत्र न विवक्षितः। विकारोऽहङ्कारः। गुणः सत्त्वादिः। विराट् समष्टिशरीरम्। स्वराट् वैराजः, स्थास्नु—स्थावरं, चरिष्णु जङ्गमञ्च व्यष्टि शरीरम्॥

प्रकृति का प्रवर्त्तक जो पुरुष रूपमें प्रसिद्ध हैं, वह परब्रह्म भगवान् का आद्य अवतार हैं। भा० ६।३।१२ में उक्त है— "परोमदन्यो जगतस्तस्थूषश्च ओतं प्रोतं पटवद् यत्र विश्वम्।
यदंशतोऽस्य स्थितिजन्मनाशा नस्योतवद् यस्य वशे च लोकः॥"

टीका—"मत्तोऽन्य जगतस्तस्थूतश्च परोऽधीश्वरोऽस्ति, अहन्तु जङ्गमानामेव तत्रापि पापिनामेव, तत् किङ्करः, सन्नीश्वरः, स तु सर्वेश्वरः, कोऽसौ यत्र यस्मिन् विश्वमोतं प्रोतञ्च ऊर्द्ध्व तिर्य्यक् तन्तुषु पटवत्। यस्य च वशे लोको वर्त्तते, नसि नासिकायां प्रोतबलीवर्द्द वत्।"

जिन भगवान् के अंश से इस विश्व के सृष्टि, स्थिति, विनाश रूप कार्य्य होते हैं। अतएव उक्त प्रकरण समूह में भी मूर्त्तिमान् श्रीभगवान् का ही कथन हुआ है। अतएव तटस्थ लक्षण के द्वारा "परं" शब्दवाच्य परमेश्वर का निर्द्धारण करके ब्रह्मसूत्र का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उक्त तटस्थ लक्षण का वर्णन ब्रह्मसूत्र (१।१।३) "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र० सू० १।१।४) "तत्तु समन्वयात्" सूत्रद्वय में है। उक्त उभय सूत्र के मध्यमें प्रथमसूत्र—शास्त्रयोनित्वात् का अर्थ यह है,—कैसे ब्रह्म की जगज्जन्म हेतुता होती है? उत्तर में कहते हैं—शास्त्रयोनि हैं। अर्थात् जिनको जानने के लिए शास्त्र ही एकमात्र प्रकाशक है। तैत्तिरीयक ३।१।१ में उक्त है—जिनसे समस्त विश्व उद्भूत हुए हैं। इत्यादि श्रुति शास्त्र ब्रह्म कारणता का प्रकाशक हैं। सांख्यादि दर्शन शास्त्र के समान उक्त ब्रह्म कारणता प्रतिपादन हेतु मनुष्य मतिप्रभव केवल तर्क प्रमाण नहीं है, किन्तु शास्त्र ही प्रमाण है।

गोविन्दभाष्य—उपास्यो हरिरनुमानेनोपनिषदा वा वेद्य इति। गौतमाद्यैर्मन्तव्य इति श्रुत्या चाभ्युप-गमात् अनुमानेन स वेद्य" इति प्राप्तेः—शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रम् (१।१।३)। ईक्षतेर्नेत्यतो नेत्याकृष्यम्। मुमुक्षुभिरसौ नानुमेयः, कुतः, शास्त्रेति। शास्त्रमुपनिषद् योनिर्बोधहेतुर्यस्य तत्त्वात् उपनिषद् योनिर्बोध-हेतुर्यस्य तत्त्वात्। उपनिषद् बोध्यत्वश्रवणादित्यर्थः। अन्यथौपनिषदसमाख्या विरोधः। "मन्तव्यः" इति श्रुत्या तु शास्त्रानुसारितर्कोऽभ्युपगतः। "पूर्वापर विरोधेन कोऽर्थोऽभिमतो भवेत्। इत्याद्यमूहनं तर्कः

शुष्कतर्कन्तु वर्जयेत्" इत्यादि श्रुतेः। गौतमादि शुष्कतर्कहेयत्वं तु वक्ष्यते, तर्काप्रतिष्ठानादिति। तस्मात् वेदान्तात् विदित्वाऽसौ ध्येय इति। इदमेवादुष्टं प्रमाणमिति सूत्रयति। श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादिति। इत्थं च हरेरात्ममूर्त्तित्वमनुभूतेरनुभवितृत्वं स्वात्मकधर्माधिष्ठानशालित्वं जगत्कर्त्तृ निर्विकारत्वं चेत्यादि—श्रूयमाणरूपतया तस्योपासनं सिद्धयति। तत्राह न खलु तावद्वेदान्तवाक्यगणः प्रयोगयोग्यः। सिद्धार्थ-बोधकत्वेन प्रयोजनशून्यत्वात्, सप्तद्वीपावसुन्धरेत्यादि वाक्यवत्। प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपसाध्यार्थबोधकानि वाक्यानि प्रयोजनवत्त्वात् प्रयोगयोग्यानि दृष्टानि। "अर्थलिप्सुर्नृ पं गच्छेत्" "मन्दाग्नि र्न जलं पिबेत्" इति लोके, "स्वर्गकामो यजेत" "सुरां न पिवेदिति वेदे च। न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य वाक्यप्रयोगः सम्भवति। तच्च प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्येष्टाप्तिपरिहारात्मकमवगतं। ब्रह्म खलु परिनिष्पन्नं वस्तु। तद्बोधकस्य सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यादि वाक्यस्य तच्छून्यत्वात् न तद्योग्यत्वम्। यदि कश्चित् तं प्रयुयुक्षुर्भवेत् तर्हि प्रयोजनवद्वाक्यैकवाक्यतया तं प्रयुञ्जन स्तस्यापि तद्वत्त्वं ब्रूयात्। तस्मात् क्रतुदेवता कर्त्तृ प्रतिपादनेन तद्वान् तद्वाक्यगणतत्योग्यो भवतीति। आह चैवं जैमिनिः। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यत्वमुच्यते तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वादिति'। मैवं भ्रमितव्यं। प्रवृत्ति-निवृत्तिबोधकताविरहेऽपि परमपुमर्थरूपब्रह्मास्तित्वबोधनेनैव तस्य तद्वत्त्वात् निधिसत्ताबोधकवाक्यवत्। यथा त्वद्गृहे निधिरस्तीत्याप्तवाक्यात् तत्प्राप्त्येकलक्षणः पुमर्थस्था अक्षयानन्दचिद्रूपं निरवद्यसर्वसुहृदात्म-प्रदं मदंशि ब्रह्मास्तीति तत् सत्त्वप्रत्ययादेव स इति न तद्वत्त्व विरहः। पुत्रस्ते जातः, नायं सर्पोरज्जु-रेवेत्यादिषु स्वरूपपरेष्वपि वाक्येषु हर्षभयनिवृत्तिरूपफलवत्त्वं दृष्टं किंच स्फुटमस्य तद्वत्त्वं परिदृश्यते सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेदनिहितं गुहायां सोऽश्नुते सर्वान् कामान्" इत्यादिषु। न चोक्तरीत्या क्रियापरता तस्य शक्या वक्तुं प्रकरणभेदात् प्रत्युतकर्म तत् फलविगानात् श्रुतहान्यश्रुतकल्पनप्रसङ्गाच्च। न च निखिल जगदुदयादिकारणे नित्यचिद्वपुष्यनन्तकल्याणगुणरत्नाकरे श्रीनिवासे ब्रह्मणि व्युत्पन्नं शास्त्रमन्यपरं शक्यं कर्त्तुम्। प्रमाणत्वेन स्वविषयावगतिपर्य्यवसायित्वात्। न चाम्नायस्येत्यादि न्यायेन जैमिनिना कर्मपरत्वं तस्य समर्थितमिति वाच्यं, तस्य ब्रह्मनिष्ठत्वात्। तस्मात् कर्मप्रकरणस्थानां केषाञ्चिद्वाक्यानां स्वार्थान् त्वक्त्वैव तत् परत्वं तेन समर्थितं न त्वन्यत्। तस्मात् ब्रह्मपरमेव तदिति स्फुटम् ।३।

अथ (१।१।४) "तत्तु समन्वयात्" इति सूत्रस्य भाष्यम्। अथ पूर्वार्थ दार्ढ्याय ब्रह्मणः सर्ववेदवेद्यत्व-मुच्यते। 'योऽसौ सर्वै र्वेदैर्गीयत' इति गोपालोपनिषदि, "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" इति कठवल्यां च पठ्यते। तत्र संशयः। सर्ववेदत्वं विष्णोरयुक्तं न वेति। वेदेषु प्रायेण कर्मविधानदर्शनात् अयुक्तं तस्य तत्। वृष्टिपुत्रस्वर्गादिफलकानि कारिरीपुत्रकाम्येष्टिज्योतिष्टोमादीति कर्मानि साङ्गानि सेतिकर्त्तव्यानि विदधतो वेदा दृश्यन्ते। ते च प्रमाणत्वेन स्वविषयावगतिपर्य्यवसायिनो विष्णुपरतया न शक्या नेतुमिति प्राप्तेः—"तत्तु समन्वयात्" "तु" शब्दः शङ्काच्छेदार्थः। तत् सर्ववेदवेद्यत्वं विष्णोर्युक्तं, कुतः समन्वयात्। अन्वयस्तात्पर्य्यलिङ्गम्। समन्वयत्वं – सुविचारित्वं। सुविमृष्टै रूपक्रमोपसंहारादिभिः षड्भिलिङ्गै स्तत्रैव शास्त्रतात्पर्य्यात् स एव तद्वेद्य इत्यर्थः। इतरथा कथं योऽसावित्यादि श्रुतिवाक्योपपत्तिः। आह चैवं भगवान् पुण्डरीकाक्षः। "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्।" इति।। "किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेदकश्चन। मां विदत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम्" इति वा। एतदुक्तं भवति। साक्षात् परम्पराभ्यां वेदा ब्रह्मणि प्रवर्त्तन्ते। तत्र स्वरूपगुण निरूपणेन ज्ञानकाण्डे साक्षात्, कर्मकाण्डे तु ज्ञानाङ्गभूतकर्म प्रतिपादनेन परम्परयेति मन्यन्ते, "तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्तीत्यादिश्रवणात्। वृष्टिपुत्र स्वर्गादिफलककर्मविधायिता तु तेषां रुच्युत्पादनार्थैव। वृष्ट्यादिफलवृष्ट्या तेष्वभिजातरुचेस्तदर्थान् विचारयतो नित्यानित्यवस्तुविवेकिनो ब्रह्मतृष्णजगद्वैतृष्णं च स्यादिति सिद्धं, सर्वेषां तेषां ब्रह्मपरत्वम्। कामितस्यैव वृष्ट्यादेः फलत्वेन प्रतीतेरकामितोऽसौ न स्यात्। किञ्च ज्ञानोदयार्थाबुद्धिशुद्धिरेव भवेत्।

(ब्र०सू० २।१।११) "तर्काप्रतिष्ठानात्" ; अत्यन्तातीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वाद् ब्रह्मणश्चेति भावः। वैनाशिकास्त्वविरोधाध्याये तर्कैणैव निराकरिष्यन्ते। अत्र तर्काप्रतिष्ठानञ्चैवम्—ईश्वरः कर्त्ता न भवति, प्रयोजनशून्यात्वान्मुक्तात्मवत्। ननु भुवनादिकं जीवकर्त्तृकं कार्य्यत्वात् घटवत् ; विमतिविषयः कालो न लोकशून्यः, कालत्वात् वर्त्तमानकालवदित्यादि। तदेवं दर्शनानुगुण्येनेश्वरानुमानं तु दर्शनान्तरप्रातिकूल्यपराहतमिति शास्त्रैकप्रमाणकः परब्रह्मभूतः सर्वेश्वरः पुरुषोत्तमः। शास्त्रन्तु सकलेतरप्रमाणपरिदृष्टसमस्तवस्तुविजातीय—-सार्वज्ञयसत्यसङ्कल्पत्वादिमिश्रानवधिकातिशयापरिमितोदारविचित्रगुणसागरं निखिलहेयप्रत्यनीकस्वरूपं प्रतिपादयतीति न प्रमाणान्तरावसित-वस्तुसाधर्म्यप्रयुक्तदोषगन्धः।

सर्वसम्वादिनी

गुणगुण्यादीनामेकवस्तुत्वादि-लक्षणः ;—"ज्ञानैश्वर्य्यबलतेजांसि गुणा आत्मन एव ते भगवन्तो वासुदेवाः" तमेतमित्यादेरिति ब्रह्माङ्गभूतदेवतार्च्चनं खलु ब्रह्मार्चनमेव तत्फलं तु चित्तशुद्धिरेवेत्यन्यत् प्राग्वत्।४।

ब्रह्मसूत्र (२।१।११) "तर्काप्रतिष्ठानादन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः" यदुक्तं तर्कानुगृहीतशास्त्रमर्थनिश्चयहेतुरिति तत्प्रत्याह—"तर्काप्रतिष्ठानात्" पुरुषधीवैविध्यात् तर्का नष्टप्रतिष्ठामिथो विहन्यमाना विलोक्यन्ते। अतोऽपि ताननादृत्यौपनिषदी ब्रह्मोपादानता स्वीकार्य्या। न च लब्धमाहात्म्यानां केषाञ्चित् तर्काः प्रतिष्ठिताः, तथा भूतानामपि कपिलकणभुगादीनां मिथो विवादसन्दर्शनात्। नन्वहमन्यथानुमास्ये यथा अप्रतिष्ठा न स्यात्। न तु प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति शक्यं वदितुं, तर्काप्रतिष्ठानुरूपस्य तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वात्। सर्वतर्काप्रतिष्ठायां जगद्व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्। अतीतवर्त्तमानवर्त्म साधारण्येनानागतेऽपि वर्त्मनि सुखदुःखप्राप्तिपरिहारार्थो लोकप्रवृत्तिर्दृष्टेति चेत् एवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः। पुरुषबुद्धिमूलतर्कावलम्बनस्य भवतो देशान्तरकालान्तरज निपुणतमतार्किक दूष्यत्व सम्भावनया तर्काप्रतिष्ठानदोषादनिस्तारः स्यात्। यद्यपि—अर्थविशेषे तर्कः प्रतिष्ठितस्तथापि ब्रह्मणि सोऽयं नापेक्ष्यते अचिन्त्यत्वेन तदनर्हत्वात् श्रुतिविरोधत्वाच्चेति। तदुक्तत्वसंगतेश्च। श्रुतिश्च ब्रह्मणस्तर्कागोचरतामाह। "नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येन सुज्ञानाय प्रेष्ठेति" कठानाम्। स्मृतिश्च "ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः। यदा तदैवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुत"मित्याद्या। तस्मात् श्रुतिरेव धर्म इव ब्रह्मणि प्रमाणम्। तत् दोषकारी तर्कस्त्वपेक्षत एव "मन्तव्यः" इति श्रुतेः। "पूर्वापराविरोधेनेत्यादि" स्मृतेश्च। तस्मात् ब्रह्मोपादानकं जगदिति।११।

ब्रह्म अत्यन्त अतीन्द्रिय होने के कारण, प्रत्यक्षादि प्रमाणगम्य नहीं हैं। वैनाशिकगण के मत— ब्रह्म सूत्र के द्वितीयाध्याय में तर्क के द्वारा निरस्त होगा। ब्रह्म विषय में तर्क की अप्रतिष्ठानता भी इस प्रकार है,—प्रयोजनशून्य हेतु मुक्तात्मवत् ईश्वर जगत् कर्त्ता नहीं हो सकते हैं। घट निर्माण कार्य्य जिस प्रकार जीव से सम्पन्न होता है, उस प्रकार विश्व निर्माणकार्य्य भी जीव कर्त्तृक निष्पन्न होता है, कार्य्यसाम्यता उभय में ही है। संशयाक्रान्त काल—लोकशून्य नहीं है। कारण वह वर्त्तमान काल के समान ही है। इस प्रकार एकदर्शन के आनुगत्य से ईश्वरानुमान दर्शनान्तर के सहित विरोध हेतु पराहत हुआ। तज्जन्य शास्त्र ही जिनका प्रधान प्रमाण है, वह ही परब्रह्म भूत सर्वेश्वर पुरुषोत्तम हैं।

किन्तु शास्त्र सकलेश्वर प्रमाण परिदृष्ट— अर्थात् भिन्न भिन्न प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परिदृष्ट समस्त वस्तु विजातीय, सर्वज्ञ, सत्य सङ्कल्पतादि युक्त अनवधिक, अपरिमित, महत् 'उदार' विचित्रगुणसागर, समस्त हेय वस्तु विरोधि स्वरूप श्रीभगवान् का प्रतिपादन करते हैं। तज्जन्य प्रमाणान्तर के द्वारा निश्चित वस्तु

अतएव स्वाभाविकानन्तनित्यमूर्त्तिमत्त्वमपि तस्य सिध्यतीति। अथोत्तरसूत्रस्यार्थः— ब्रह्मणः कथं शास्त्रप्रमाणकत्वम्? तत्राह— तत्त्विति। तु-शब्दः प्रसक्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थः। तच्छास्त्र-प्रमाणकत्वं ब्रह्मणः सम्भवत्येव। कुतः? समन्वयात्। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुपपादनं समन्वयस्तस्मात्। तत्रान्वयः (तै० २।१।१)— "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति, (तै० ३।६।१)— "आनन्दो ब्रह्म" इति, (छा० ६।२।१) "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इति, (छा० ६।८।७) "तत् सत्यं स आत्मा" इति, (छा० ६।२।१)— "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इति, (वृ० १।४।१०)— "ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत्" इति, (वृ० १।४।१)— "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् पुरुषविधः" इति, (नारा० १) "पुरुषो ह वै नारायणः" इति, (महो० १।१) "एको ह वै नारायण आसीत्" इति, (छा० ६।२।३) "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति" इति, (तै० २।१।३) "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इति, (छा० ६।२।३) "तत्तेजोऽसृजत" इति, (तै० ३।१।१) "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इति,(महा-ना०) "पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत, अथ नारायणादजोऽजायत, यतः प्रजाः सर्वाणि भूतानि; (महा-ना०)—

"नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परम्। ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्॥"

इत्यादिषु च। अथ व्यतिरेकः-(छा० ६।२।२) "कथमसतः सज्जायेत" इति, (तै० २।७।१) "को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" इति, (महो० १।१) "एको ह वै

सर्वसम्वादिनी

इत्यादिदर्शनाद्वेदविप्रतिषेधश्च भवति; "चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयो न लब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधीतवान्

के समान धर्मताप्रयुक्त दोष श्रीपरमेश्वर में गन्ध मात्र भी नहीं है। अतएव स्वाभाविक अनन्त नित्य मूर्त्तिमत्त्व ही श्रीपरमेश्वर हैं, यह सिद्ध होता है।

अनन्तर ब्रह्मसूत्र (१।१।४) "तत्तु समन्वयात्" रूप उत्तर सूत्र का विवरण प्रस्तुत करते हैं। प्रथम संशय—शास्त्र प्रमाण से ब्रह्म कैसे प्रमाणित हो सकते हैं? उत्तर "तत्तु समन्वयात्" सूत्रस्थ "तु" शब्द का प्रयोग, पूर्वोक्त शङ्का निरसन हेतु हुआ है। ब्रह्म शास्त्र प्रमाण से ही प्रतिपादित हैं, यह सम्भव है। कारण—उनमें समन्वय दृष्ट होता है, अन्वय एवं व्यतिरेक के द्वारा उपपादन को समन्वय कहते हैं। अन्वय का प्रदर्शन प्रथम करते हैं,—छान्दोग्य ६।२।१ में उक्त है—सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म हैं। तै० ३।६।१ में—ब्रह्म आनन्दस्वरूप हैं। (छा० ६।२।) एक ही अद्वितीय ब्रह्म हैं। छा० ६।८।७ में—वह ब्रह्म सत्य एवं आत्मा है। छा० ६।२।१ में—विश्व सृष्टि के पहले सद्रूप ब्रह्म ही थे। वृ० १।४।१० में—विश्व सृष्टि के प्रथम एक ब्रह्म ही थे। वृ० १।४।१ विश्व सृजन के प्रथम एकमात्र आत्मा पुरुषाकृति में विद्यमान था। नारा० १ नारायण रूप पुरुष ही सृष्टि के प्रथम अवस्थित हैं। महो० १।१ एक ही नारायण ही सृष्टि के पहले थे। छा० ६।२।३, उन्होंने एक होकर अनेक होने के लिए प्रकृति के प्रति ईक्षण किया। तै० २।१।३ उक्त आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। छा०६।२।३ उक्त ब्रह्म ने तेजः को उत्पन्न किया। तै० ३।१।१ जिन ब्रह्म परिदृश्यमान भूत समूह उत्पन्न होते हैं। महा० ना० पुरुषरूपी श्रीनारायण ने ही कामना की, अनन्तर श्रीनारायण से ब्रह्मा उत्पन्न हुए, जिनसे समस्त प्रजा का सृजन हुआ। महा-ना० नारायण ही परमब्रह्म हैं, परम तत्त्व श्रीनारायण ही हैं। ऋत, सत्य, परमब्रह्म, पुरुष कृष्ण पिङ्गल हैं।

अनन्तर व्यतिरेक मुख से समन्वय का प्रदर्शन करते हैं—छा० ६।२।२ में—असत् से सत्य जगत् की

नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्कर" इत्यादिषु। अन्येषां च वाक्यानां समन्वयस्तत्रैव वक्ष्यते (ब्र०सू० १।१।१२) "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इत्यादिना। स चैवं परमानन्दरूपत्वेनैव

सर्वसम्वादिनी

इत्यादि-वेदनिन्दा-दर्शनादिति चेत्? न; तत्राद्यः पक्षः शक्ति-शक्तिमतोरभिन्नवस्तुता-स्वीकारेण पूर्वमेव

उत्पत्ति कैसे होगी? तै० २।७।१ कौन व्यक्ति चेष्टित होगा, अर्थात् कौन जीवित रहेगा, यदि यह आकाश रूपी आनन्दमय परमात्मा नहीं होते हैं। महो० १।१ सृष्टि के पूर्व में एकमात्र नारायण ही थे। ब्रह्मा एवं शङ्कर उस समय नहीं थे। इस प्रकार श्रुति में वर्णित है। एतद्व्यतीत वाक्यसमूह का समन्वय भी ब्रह्म में दृष्ट होता है। ब्रह्मसूत्र (१।१।१२) "आनन्दमयोऽभ्यासात्" अन्यान्य वाक्यसमूह का समन्वय बारम्बार कथन निबन्धन परमेश्वर ही आनन्दमय पदवाच्य है। उक्त परमेश्वर आनन्दमयत्व हेतु सर्वत्र समन्वित हैं। उक्त परमानन्द लाभ के द्वारा ही परम पुरुषार्थ सिद्ध होता है। अतएव प्रवृत्ति के प्रति प्रयोजनशून्यता भी नहीं हुई।

गोविन्दभाष्य—तत्र संशयः—किमयं आनन्दमयो जीव उत परब्रह्मेति। एष शारीर आत्मेति देह-सम्बन्ध प्रतीतेर्जीव इति प्राप्ते—"आनन्दमयोऽभ्यासात्" (१।१।१२)

परं ब्रह्मैव सः, कुतः अभ्यासात्। प्रतिष्ठान्तेन आनन्दमयं निरूप्य, "असन्नेव सम्भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेद् अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति" तत्रैव ब्रह्मशब्दस्य अभ्यस्तत्वात्। अविशेष पुनः श्रुतिरभ्यासः। न चाभ्यासः पुच्छ ब्रह्मणीति वाच्यम्। "अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्तः" इत्यादीनां पुच्छान्त-पठितानां चतुर्णां श्लोकानां अन्नमयादिपुच्छिपुरुषचतुष्टयपरत्वेनास्यापि श्लोकस्य तथाभूतस्याप्यानन्दमयस्यो-त्तरोत्तरोदयभेदेन तत्तन्नामभेदात् तदयोगात्। विशेषतस्तु तृतीये वक्ष्यते। प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तेरित्यादिना। यत्त्वाहुरन्नमयाद्यसुखप्रवाहनिपातान्नानन्दमयस्य मुख्यत्वमिति। नैष दोषः। तस्य सर्वान्तरत्वात्। अज्ञानां ज्ञप्तिसौलभ्याय तथोपदेश प्रवृत्तेः। परमोपकर्त्ता हि वेदः परमेवात्मानं विजिज्ञापयिषुररुन्धतीदर्शन-न्यायेनापरोपदेशेऽपि प्रवर्त्तते। नन्वेतावता परत्र तस्य तात्पर्य्यं न वा परस्यामुख्यत्वमिति। किञ्चोत्तरत्र ब्रह्मजिज्ञासुं प्रति तत्पिता वरुणोविश्वोत्पत्त्यादिहेतुभूतं वस्तु ब्रह्मेत्युपदिश्य पुनः स बुद्ध्यर्थमन्न प्राणमनो-विज्ञानानि क्रमेण ब्रह्मेत्युक्त्वा अन्ते त्वानन्दमयं ब्रह्मेत्युपदर्श्योपरराम। मदुक्तेयं विद्या भगवन्निष्ठेत्यभि-दधौ अथोपसंहारेऽपि। स य एवंविदस्माल्लोकात्प्रेत्य एतमन्नमयमात्मानं उपसंक्रम्य इत्याद्युक्त्वा "एतमानन्दमयमात्मानं उपसंक्रम्य इमान् लोकान् कामान्नो कामरूप्यनुसंचरन्नेतत् सामगायन्नास्ते" इत्युक्त-मतः परं ब्रह्मैवानन्दमयः। पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृत" मिति स्मृतेश्च। शरीरत्वं तु तस्मिन्नपि न विरुद्धम्। यस्य पृथिवीशरीरमित्यादि श्रुतौ तस्यापि तदुक्तेः। अतः शारीरकमिदं शास्त्रम्। यत्त्वानन्दमय इत्यत्र ब्रह्मपुच्छमित्यादि व्याचष्टे तन्मन्दम्। शब्दस्वारस्य भङ्गाद् देशिकानुगतिहानाच्च।१२।

"आत्मा शरीर है" इस प्रकार देह सम्बन्ध के कारण आनन्दमय पुरुष जीव ही है। इस पूर्वपक्ष का खण्डन करने के लिए "आनन्दमय" सूत्र की अवतारणा कर रहे हैं। आनन्दमय शब्दवाच्य ब्रह्म ही है। पुनः पुनः कथन से प्राप्त है, पुनः पुनः कथनमभ्यासः। शुद्ध जीव शरीरस्थ आनन्दमयादि कोषों का अधिष्ठाता हैं, यह कहकर उन सब के अन्तर्वर्त्ती पुरुष का निर्देश करते हैं। कहते हैं—'जो आनन्दमय पुरुष का अनुभव करता है, उसका अस्तित्व सिद्ध होता है, और जो अनुभव नहीं करता है, उसका अस्तित्व असिद्ध है। यहाँ आनन्दमय पुरुष रूप से ब्रह्म का उल्लेख बारम्बार होने से आनन्दमय शब्द से ब्रह्म को जानना चाहिए। पुच्छ ब्रह्म में अभ्यास है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि आनन्दमय पुरुष चतुष्टय का अवधिस्वरूप जीवात्मा को पृथक् पृथक् नाम से निर्देश करने के पश्चात् उक्त कोष चतुष्टय के

समन्वितो भवतीति तदुपलब्धैचव परमपुरुषार्थत्वसिद्धेर्न प्रयोजनशून्यत्वमपि। तदेवं सूत्रद्वयार्थे स्थिते तदेतद्व्याचष्टे—'अन्वयादितरतश्चार्थेषु' इति, अर्थेषु नानाविधेष्वपि वेद-वाक्यार्थेषु सत्सु अन्वयादन्वयमुखेन यतो यस्मादेकस्मादस्य जन्मादि प्रतीयते, तथेतरतो व्यतिरेकमुखेन च यस्मादेवास्य तत् प्रतीयत इत्यर्थः। अतएव तस्य श्रुत्यन्वयव्यतिरेकदर्शितेन परमसुखरूपत्वेन परमपुरुषार्थत्वञ्च ध्वनितम्। "एको ह वै नारायण आसीत्" इत्यादिशास्त्र-प्रमाणत्वेन प्राक् स्थापितरूपत्वञ्चेति। अथ (ब्र०सू० १।१।५) 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इति व्याचष्टे—

सर्वसम्वादिनी

निरस्तः। भेदमतेऽपि विशिष्टस्यैव भववत्स्वरूपत्वान्न दोषः। अन्तेऽपीदं ब्रूमः,—न तत्र वेदनिन्दनमायाति।

मध्य में आनन्दमय ब्रह्म का निर्देश है। इससे 'अभ्यास' सिद्ध होता है। तृतीय अध्याय में इसका विस्तृत वर्णन है। परम हितैषी शास्त्र अरुन्धती न्याय से उपदेश देते हैं। प्रथम सन्निकटवर्त्ति वस्तु में दृष्टि निबद्ध करवाकर अभीप्सित वस्तु का दर्शन कराते हैं। प्रथम स्थूल अन्नमय को कहकर पश्चात् प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय को कहा अनन्तर आनन्दमय का उपदेश दिया है। वह ही ब्रह्म है। आगे कहा यह विद्या भगवन्निष्ठामयी है। फलश्रुति में कहा—जो व्यक्ति आनन्दमय पुरुष को जानता है, उसकी उत्कृष्ट गति होती है। श्रीभागवत में भी कहा है,—आनन्दमय पुरुष अन्नमयादि कोषों के अन्तर्वर्त्ती हैं, वह स्थूल सूक्ष्म कार्य्य-कारण से अतीत हैं। परमात्मा का शरीर है, पृथिवीत्यादि शरीर हैं। इस लिए उनके सम्पर्कित शास्त्र को शारीरिक शास्त्र कहते हैं। अद्वैतवादीगण उक्त सूत्र की व्याख्या में 'ब्रह्मपुच्छ' की व्याख्या करते हैं, वह तो असमीचीन है। कारण पक्षसाध्य दोनों में एक विभक्ति देखने में आती है, यहाँ उसका अभाव है। अतः शब्द स्वारस्य भङ्ग होता है, तथा बादरायण एवं वरुण प्रभृति गुरु मत का लङ्घन होता है।

उक्त प्रकार सूत्रद्वय का अर्थ होने से मूल श्लोकस्थ "अन्वयादितरतश्चार्थेषु" इस पद की व्याख्या करते हैं—अर्थों में, अर्थात् अनेकविध वेद वाक्यार्थ होने पर भी अन्वयात्—अन्वय हेतु अर्थात् अन्वयमुख से "जिन एक व्यक्ति से परिदृश्यमान इस जगत् की जन्मादि प्रतीति होती है। उक्त रूप इतर से अर्थात् व्यतिरेक मुख से भी जिन व्यक्ति से परिदृश्यमान इस विश्व की जन्मादि प्रतीति होती है। अतएव परब्रह्म का प्रतिपादन श्रुति के अन्वय व्यतिरेक मुख से होने के कारण उक्त ब्रह्म परम सुखरूपत्व हेतु परमपुरुषार्थ भी है, यह अर्थ ध्वनित हुआ है। "एकमात्र नारायण ही सृष्टि के पूर्व में थे", इत्यादि शास्त्रप्रमाण के द्वारा उक्त ब्रह्म का प्रतिपादन पूर्व ग्रन्थ में हुआ है। अनन्तर ब्रह्मसूत्र (१।१।५) 'ईक्षते र्ना शब्दम्" की व्याख्या करते हैं।

गोविन्दभाष्य—अथोक्त वक्षमाण समन्वयोपपत्तये ब्रह्मणोऽवाच्यत्वं निरस्यते। 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्यमनसा सह" इति तैत्तिरीयके। "यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म तद्विद्धि नेदं यदिदमुपासते" इति। केनोपनिषदि च पठ्यते। तत्र संशयः, अशब्दं शब्दवाच्यं वा ब्रह्मेति? श्रुति स्वारस्यादशब्दं तत्, अन्यथा स्वप्रकाशताहानात् "यतोऽप्राप्य निवर्त्तन्ते वाचश्च मनसा सह। अहं चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः।" इति स्मृतेश्चेत्येवं प्राप्ते निराकर्त्तुमाह—'ईक्षते र्ना शब्दम्' ।५। नास्ति शब्दो वाचको यस्मिन् तदशब्दं। ईदृशं ब्रह्म न भवति। किन्तु शब्दवाच्यमेव तत्। कुतः—ईक्षतेः। तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति प्रष्टव्यस्य औपनिषदसमाख्यादर्शनादित्यर्थः। तिप् प्रत्ययस्त्वार्षः। सर्वे वेदा यत् पदमामनन्तीत्यादि वाक्येभ्यश्च। अशब्दं तु कार्त्स्न्येनाशब्दितत्वात्। दृष्टोऽपि कार्त्स्न्येना-दर्शनाददृष्टः कथ्यते। अन्यथा यतः' इति, अप्राप्येति, अनभ्युदितमिति, तदेव ब्रह्मेति च व्याकुप्यात्।

अभिज्ञ इति । अत्र सूत्रार्थः–इदमाम्नायते छान्दोग्ये (६।२।१, ३) "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इति, "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इति, "तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि । अत्र परोक्तं प्रधानमपि जगत्कारणत्वेनायाति, तन्न नेत्याह––ईक्षतेरिति ; यस्मिन् शब्द एव प्रमाणं न भवति, तदशब्दमानुमानिकं प्रधानमित्यर्थः ; न तदिह प्रतिपाद्यम् । कुतोऽशब्दत्वं तस्येत्याशङ्क्याह––ईक्षतेः । सच्छब्दवाच्यसम्बन्धिव्यापारविशेषाभिधायिन ईक्षतेर्धातोः श्रवणात् । "तदैक्षत" इतीक्षणश्चाचेतने प्रधाने न सम्भवेत् । अन्यत्र चेक्षापूर्विकैव सृष्टिः, (ऐत० १।१।१) "स ऐक्षत लोकान्नु सृजा" इति, (ऐत० १।१।२) "स इमान् लोकानसृजत"

सर्वसम्वादिनी

किं तर्हि ? वेदस्य (भा० ११।२१।४२) "किं विधत्ते किमाचष्टे" इत्यादि-न्यायेन दुर्बोधत्वम्, पञ्चरात्रस्य स्वात्मना वेदेन ज्ञापनं खलु स्वप्रकाशतया न विरुद्ध्यते । तस्य स्वात्मकत्वं तु उपरि वक्ष्यते । तस्मात् शब्दवाच्यं ब्रह्म ।५।

अनन्तर वक्ष्यमाण समन्वय को सार्थक करने के लिए ब्रह्म का अवाच्यत्व निरास करते हैं । तैत्तिरीयक में कहा है –"ब्रह्म वाणी मन का अगोचर हैं" इससे संशय होता है कि– ब्रह्म शब्दवाच्य है अथवा नहीं ? उक्त श्रुति से प्राप्त होता है कि– ब्रह्म शब्द द्वारा प्रकाश्य नहीं है । ऐसा कहने से स्वप्रकाशता की हानि होती है । स्मृति में भी उक्त है--मन एवं वाणी के अगोचर भगवान् को नमस्कार करता हूँ । इस प्रकार पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं, "ईक्षतेर्नाशब्दम्" जिसमें शब्द वाचक नहीं है, उसे अशब्द कहते हैं । ब्रह्म वैसा नहीं है, किन्तु शब्दवाच्य हैं । कारण—"ईक्षतेः" शब्द प्रयोग हुआ है । "उपनिषद् वेद्य पुरुष की जिज्ञासा करता हूँ" । यहाँ पर जिज्ञास्य पुरुष का उपनिषद् वेद्यत्व दिखाई देने का कारण और "वेदसमूह ब्रह्म को ही प्रकाश करते हैं ।" इस उक्ति से शब्दवाच्यत्व प्रमाणित होता है । पर्वत देखाई देने पर भी सम्पूर्ण दर्शन नेत्र से न होने का कारण उसे अदृश्य कहते हैं । उस प्रकार वेदसमूह पूर्ण रूपसे ब्रह्म वर्णन में अक्षम हैं, अतः अवाच्य कहते हैं । अन्यथा "जिससे" "प्राप्त न कर" "सर्वतोभावेन कथन न होने से" "वह ब्रह्म है" । ये वाक्य समूह असंलग्न होंगे । ब्रह्मस्वरूप ही वेद हैं । अतः उनसे प्रकाशित होने से ब्रह्म की स्वप्रकाशता की हानि नहीं होती है । आत्मस्वरूप वेद विषय का वर्णन अग्रिम ग्रन्थ में होगा । अतएव ब्रह्म शब्दवाच्य है ।

अशब्द वाच्य प्रधान जगत् कारण नहीं है, कारण हैं—ईक्षतेर्नाशब्दन्" भागवत के प्रथम श्लोक में उक्त है—कार्य्येषु अभिज्ञः, समस्त कार्य्यों के विषय में परमेश्वर सर्वतोभावेन ज्ञानवान् हैं, अतः उनमें ही कर्त्तृत्व है । उक्त सूत्रार्थ का प्रदर्शन करते हैं । छान्दोग्य ६।२।१ ३ में उक्त है,– विश्व सृष्टि के पूर्व में एकमात्र सत् ही था, एक ही अद्वितीय ब्रह्म हैं, एक होकर भी अनेक होने के निमित्त प्रकृति में ईक्षण किया । ब्रह्म ने तेजः का सृजन किया । अतएव सांख्य दर्शनोक्त प्रधान जगत् कारण नहीं हो सकता है । समाधान हेतु कहते हैं, "ईश्वतेर्नाशब्दम्" जिससे शब्द प्रमाण सफल नहीं है, उसे अशब्द कहते हैं, वह अनुमानगम्य 'प्रधान' है, सृष्टि प्रकरण में ईक्षति क्रिया का कर्त्ता रूप में उसे कहा नहीं जा सकता है । कारण 'प्रधान' शब्द प्रतिपाद्य नहीं है । कैसे प्रधान में अशब्दत्व है ? उत्तर में कहते हैं –"ईक्षतेः" । कारण शब्द से कथित सम्बन्धविशिष्ट क्रिया विशेषण का वाचक ईक्षति धातु का प्रयोग हुआ है । "तदैक्षत" 'ब्रह्म ने ईक्षण किया ।' यह ईक्षण, अचेतन प्रधान के द्वारा सम्भव नहीं है । अन्यत्र वर्णित है—यह विश्व सृष्टि ईक्षा पूर्विका ही है । "स ऐक्षत लोकान्नु सृजा" विश्व सृष्टि करने की इच्छा से ब्रह्म ने ईक्षण किया था ।

इत्यादौ। ईक्षणञ्चात्र तदशेषसृज्यविचारात्मकत्वात् सर्वज्ञत्वमेव क्रोड़ीकरोति। तदेतदाह--अभिज्ञ इति। ननु तदानीम् "एकमेवाद्वितीयम्" इत्युक्तेस्तस्येक्षणसाधनं न सम्भवति, तत्राह—स्वराड़िति; स्वस्वरूपेणैव तथा तथा राजत इति (श्वे० ६।८) "न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते" इत्यादौ, "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इत्यादि-श्रुतेः। एतेनेक्षणवन्मूर्त्तिमत्त्वमपि तस्य स्वाभाविकमित्यायातम्, निःश्वसितस्याप्यग्रे दर्शयिष्यमाणत्वात्। तच्च यथोक्तमेवेति च। अथ (ब्र०सू० १।१।३) 'शास्त्रयोनित्वात्' इत्यस्यार्थान्तरं व्याचष्टे—तेन इति। तच्चार्थान्तरं यथा—कथं तस्य जगज्जन्मादिकर्त्तृत्वम्, कथं वा नान्यतन्त्रोक्तस्य प्रधानस्य न चान्यस्येति? तत्राह—शास्त्रस्य वेदलक्षणस्य योनिः कारणम्, तद्रूपत्वात्, (बृ० २।४।१०) "एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्युपसूत्राणि व्याख्यानानि" इति श्रुतेः। शास्त्रं हि सर्वप्रमाणागोचर-विविधानन्तज्ञानमयम्, तस्य च कारणं ब्रह्मैव श्रूयत इति। तदेवं मुख्यं सर्वज्ञं तादृशं सर्वज्ञत्वं विना च सर्वसृष्ट्यादिकमन्यस्य नोपपद्यत इति प्रोक्तलक्षणं ब्रह्मैव जगत्कारणम्, न

सर्वसम्वादिनी

समास-संगृहीत-स्फुट-तदर्थसारत्वात् सुबोधत्वमित्येवायाति। स्मृति-पुराणानामप्येवंगुणता पठ्यते; यथा स्कान्दे प्रभासखण्डे, मात्स्ये च—

उन्होंने विश्व का सृजन किया। यहाँ पर 'ईक्षण' शब्द का अर्थ है, जागतिक समस्त सृज्य वस्तु के विषय में विशेष विचार करना। उससे उक्त सृष्टि कर्त्ता की सर्वज्ञता सूचित होती है। उसको ही शब्दत कहते हैं—"कार्य्येषु अभिज्ञः" कह सकते हैं कि— सृष्टि के प्राक् काल में "एक ही अद्वितीय ब्रह्म था" इससे ज्ञात होता है, उक्त ब्रह्म में ईक्षण साधन की सम्भावना है ही नहीं। उत्तर—"स्वराट्" स्वीय स्वरूप के द्वारा ही उस उस रूप में विराजमान हैं। उसके प्रति हेतु—श्वेताश्वतर में कथित है। परमब्रह्म का कार्य्य एवं कारण नहीं है, वह जन्य नहीं हैं, नित्य हैं, उनमें ज्ञानशक्ति, बल शक्ति, क्रियाशक्ति, स्वाभाविकी है, अर्थात् बुद्धिशक्ति, शरीरसामर्थ्य, इन्द्रियशक्ति उनकी स्वरूपभूत नित्य निजी है। इससे ईक्षण के समान सुदृश स्वाभाविक मूर्त्तिविशिष्टता का लाभ भी परमेश्वर होता है। वह मूर्त्ति भी उनकी स्वाभाविकी स्वरूपभूता एवं नित्या है। निःश्वसित क्रिया का प्रदर्शन भी अग्रिम ग्रन्थ में होगा। अनन्तर ब्रह्मसूत्र (१।१।३) शास्त्रयोनित्वात् की व्याख्या करते हैं। "तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये" जिन्होंने आदि कवि के हृदय में वेदादि शास्त्र को उद्भासित किया। उक्त सूत्र का अर्थान्तर इस प्रकार है, प्रश्न यह है कि—परमेश्वर का जगत् कर्त्तृत्व कैसे हो सकता है? एवं कैसे सांख्य दर्शनोक्त प्रधान का जगत्कर्त्तृत्व नहीं होगा? अन्य दर्शनोक्त सृष्टिप्रक्रिया की सार्थकता क्यों नहीं होगी? समाधान हेतु कहते हैं—"शास्त्रयोनित्वात्" (१।१।३)। वेदस्वरूप शास्त्र का योनि आदि कारण होने से ही ब्रह्म जगद्योनि हैं। वृहदारण्यक २।४।१० में उक्त है—महापुरुष के निःश्वास से आविर्भूत ऋक्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, आङ्गिरस मन्त्र, इतिहास, पुराण, चतुर्दशविद्या, उपनिषद्, श्लोकाः सूत्राण्युपसूत्राणि, श्लोक, सूत्र, उपसूत्र, खिल, एवं व्याख्या समूह हैं। शास्त्र भी समस्त प्रमाणागोचर विविध अनन्त ज्ञानमय है। उसका कारण—ब्रह्म ही है। तज्जन्य मुख्य सर्वज्ञ वह ब्रह्म ही हैं। उनकी सर्वज्ञता के बिना विश्व सृष्ट्यादि रूप विचित्र कार्य्य सम्पन्न होना सम्भव नहीं हैं। अपर कोई भी उस प्रकार सर्वज्ञ नहीं है, जिससे विचित्र रचनापूर्ण विश्व निर्माण कार्य्य हो सकता है। तज्जन्य उक्त लक्षण से जगत् कारणता ब्रह्म में ही निष्पन्न

प्रधानम्, न च जीवान्तरमिति । तदेव विवृत्याह—"तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये" इति ब्रह्म वेदमादिकवये ब्रह्मणे ब्रह्माणं प्रति हृदान्तःकरणद्वारैव, न तु वाग्द्वारा, तेने आविर्भावितवान् । अत्र बृहद्वाचकेन ब्रह्मपदेन सर्वज्ञानमयत्वं तस्य ज्ञापितम्; हृदेत्यनेनान्तर्य्यामित्वं सर्वशक्तिमयत्वञ्च ज्ञापितम्, आदिकवय इत्यनेन तस्यापि शिक्षानिदानत्वाच्छास्त्रयोनित्वञ्चेति । श्रुतिश्चात्र (श्वे० ६।१८)—

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥"१८॥ इति ।

मुक्तजीवा अपि तत्कारणं नेत्याह—मुह्यन्तीति । यत्र ब्रह्मणि वेदाख्ये सूरयः शेषादयोऽपि, अनेन च शयनलीलाव्यञ्जितनिःश्वसितमयवेदो ब्रह्मादिविधानचनश्च यः पद्मनाभस्तदादिमूर्त्तिकः श्रीभगवानेवाभिहितः । विवृतञ्चैतत् (भा० २।४।२२) "प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती" इत्यादिना । अथ (ब्र०सू० १।१।४) "तत्तु समन्वयात्" इत्यस्यार्थान्तरम्—यथा शास्त्रयोनित्वे हेतुश्च दृश्यते इत्याह—तत्त्विति । समन्वयोऽत्र सम्यक् सर्वतोमुखोऽन्वयो व्युत्पत्तिर्वेदार्थ-परिज्ञानं यस्मात्तत्तु शास्त्रयोनिनिदानत्वं निश्चीयत इति जीवे सम्यक् ज्ञानमेव नास्ति,

सर्वसम्वादिनी

"यन्न दृष्टं हि वेदेषु तद्दृष्टं स्मृतिषु द्विजाः । उभयोर्यन्न दृष्टं तु तत् पुराणे प्रगीयते ॥२८॥

होती है, प्रधान में नहीं । एवं अन्य मुक्त जीव के द्वारा भी जगत् निर्माणकार्य्य सम्पन्न नहीं होगा । उसका विस्तृत विवरण ही "तेने ब्रह्महृदा य आदि कवये" वाक्य में है । ब्रह्म अर्थात् वेद, को आदि कवि ब्रह्मा के हृदय में 'हृदा' अन्तःकरण के द्वारा ही, किन्तु वाक्य के द्वारा नहीं । 'तेने' आविर्भावित किए थे । यहाँ बृहद् वाचक ब्रह्म पद के द्वारा ज्ञानमयत्व ही सूचित हुआ है । "आदि कवये-" इस पद के द्वारा ब्रह्म की शिक्षा की आदि कारणता भी परमेश्वर से ही सिद्ध होती है । अतः "शास्त्रयोनि" पद प्रयोग सार्थक हुआ है । उक्त विषयक श्रुति संवाद भी इस प्रकार है,—जिन्होंने पहले ब्रह्मा की सृष्टि की है, उक्त ब्रह्मा के प्रति वेद शास्त्र के प्रेरण जिन्होंने किया है, समस्त जीवों के बुद्धि प्रकाशक उक्त प्रसिद्ध देव की संसार से मुक्त होने की कामना से मैं शरण लेता हूँ ।

मुक्त पुरुषगण भी विश्व सृष्ट्यादि का कारण नहीं हैं । कारण वे सब "मुह्यन्ति" मोह प्राप्त होते हैं । वेद नामक ब्रह्म के अर्थ बोध करने में सूरिगण अर्थात् शेष प्रभृति असमर्थ होते हैं । इसके द्वारा, शयन लीला के द्वारा व्यञ्जित निःश्वास कार्य्यरूप वेदकर्त्ता, एवं ब्रह्मादि का विधान कर्त्ता रूप में प्रसिद्ध जो भगवान् पद्मनाभ हैं, उन समूर्त्तिक भगवान् का ही कथन हुआ है । श्रीमद्भागवत के २।४।२२ में उक्त है—

"प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि ।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम् ॥"

टीका—किञ्च पुरा कल्पादौ, अजस्य हृदि, सतीं सृष्टिविषयां स्मृतिं वितन्वता येन प्रचोदिता, सती सरस्वती तस्य मुखतः किल प्रादुर्भूता । स्वानि लक्षणानि शिक्षायुक्तानि यस्याः सा । ऋषीणां ज्ञान-प्रदानाम्, ऋषभः,—श्रेष्ठः ।२२।

सर्व काल में भगवान् ही वाणी को उद्बुद्ध किए थे । इससे प्रकरण सङ्गत अर्थ लाभ सुस्पष्ट रूपसे होता है । अनन्तर ब्रह्मसूत्र (१।१।४) "तत्तु समन्वयात्" इसका अर्थान्तर प्रस्तुत करते हैं । शास्त्रयोनित्व के प्रति हेतु भी दृष्ट होता है । इस अभिप्राय से कहते हैं—"तत्तु समन्वयात्" समन्वय शब्द का यहाँ पर अर्थ यह है, सम्यक् सर्वतोमुख, व्युत्पत्ति अर्थात् वेदार्थ का परिज्ञान । इस हेतु ब्रह्म में ही शास्त्र का आदि

प्रधानन्त्वचेतनमेवेति भावः, (श्वे० ३।१९) "स वेत्ति विश्वं नहि तस्य वेत्ता" इति श्रुतेः। तदेतदस्य तदीयसम्यग्ज्ञानं व्यतिरेकमुखेन बोधयितुं जीवानां सर्वेषामपि तदीयसम्यग्ज्ञाना-भावमाह—मुह्यन्तीति। सूरयः शेषादयोऽपि यद् यत्र शब्दब्रह्मणि मुह्यन्ति। तदेतद्विवृतं स्वयंभगवता (भा० ११।२१।४२)—

"किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन ॥"४२॥ इति।

अनेन च साक्षाद्भगवानेवाभिहितः। अथ (ब्र०सू० १।१।५) "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यस्या-र्थान्तरमभिज्ञ इत्यत्रैव व्यञ्जितमस्ति। अत्र सूत्रार्थः—ननु (कठ० १।३।१५) "अशब्दमस्पर्शम-रूपमव्ययम्" इत्यादि श्रुतेः कथं तस्य शब्दयोनित्वम्? तत्राह—प्रकृतं ब्रह्म शब्दहीनं न भवति। कुतः? ईक्षतेः "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इत्यत्र "बहु स्याम्" इति शब्दात्मकेक्ष-धातोः श्रवणात्। तदेतदाह—अभिज्ञः, "बहु स्याम्" इत्यादिशब्दात्मकविचारविदग्धः; स च शब्दादिशक्तिसमुदायस्तस्य न प्राकृतः, प्रकृतिक्षोभात् पूर्वत्रापि सद्भावात्। तत्स्वरूप-

सर्वसम्वादिनी

यो वेद चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजाः। पुराणं नैव जानाति न च स स्याद्विचक्षणः ॥"२९॥ इति;

कारणत्व निश्चित हुआ। जीव में सम्यक् ज्ञान है ही नहीं। और प्रधान तो अचेतन ही है। यह तात्पर्य्य है। श्वेताश्वतर में उक्त है—उक्त परमेश्वर विश्व को जानते हैं, उनका ज्ञाता कोई नहीं है। इस प्रकार श्रुति का कथन है। अतएव उक्त परब्रह्म का वेद सम्बन्धीय सम्यक् ज्ञान को व्यतिरेकमुख से बोध कराने के लिए समस्त जीवों में वेद सम्बन्धीय ज्ञानाभाव स्वतः ही है। उसका वर्णन करते हैं, "मुह्यन्ति" पद के द्वारा। सूरिसमूह भी अर्थात् शेष देव प्रभृति भी जिस शब्दब्रह्मरूप वेद में मोह प्राप्त करते हैं। श्रीमद् भागवत के ११।२१।४२ में श्रीभगवान् ने स्वयं ही सुस्पष्ट रूप से कहा है—

कर्म, देवता, ज्ञानकाण्ड रूप में वेद त्रिधा विभक्त हैं। कर्मकाण्ड में विधिवाक्य के द्वारा जिसका विधान होता है, मन्त्र वाक्य के द्वारा देवता काण्ड में उसका ही प्रकाश होता है, ज्ञानकाण्ड में उसका अवलम्बन करके ही तर्क के द्वारा विचार होता है, इसका तात्पर्य्य मैं ही जानता हूँ। अपर लोक कोई भी नहीं जानते हैं।

टीका—अर्थतोऽपि दुर्ज्ञेयत्वमाह—किमिति। कर्मकाण्डैः विधिवाक्यैः किं विधत्ते। देवताकाण्डे मन्त्रवाक्यैः किमाचष्टे—प्रकाशयति। ज्ञानकाण्डे किमनूद्य विकल्पयेत् निषेधार्थकम्; इत्येवमस्या हृदयं तात्पर्य्यं मत् मत्तोऽन्यः कश्चिदपि न वेद ॥

उक्त वचनों से साक्षात् भगवान् का ही कथन हुआ है। अनन्तर ब्रह्मसूत्र (१।१।५) "ईक्षतेर्नाशब्दम्" का अर्थ जन्माद्यस्य श्लोकस्थ "अभिज्ञ" पद के द्वारा ही व्यक्त हुआ है। सूत्रार्थ इस प्रकार है। कठोपनिषद् में उक्त है—(१।३।१५) शब्द, स्पर्श, रूप रहित, अव्यय, ब्रह्म इत्यादि श्रुतिजन्य कैसे ब्रह्म का शब्दयोनित्व सम्भव होगा? उत्तर में कहते हैं,—प्रकरण लब्ध ब्रह्म शब्दहीन नहीं हो सकते हैं। कैसे? ईक्षतेः, दर्शन कर्त्तृत्व वर्णित होने के कारण, ब्रह्म अवर्णनीय नहीं है। 'मैं एक होकर भी अनेक बनूँगा। अनेक रूप में प्रकाशित होंगे। इस अभिप्राय से ब्रह्म ने ईक्षण किया। उक्त श्रुति में दर्शनार्थक "ईक्ष" धातु का प्रयोग हुआ है। उसका प्रकाशक,—अभिज्ञ शब्द है। अनेक बनूँगा, इत्यादि शब्दात्मक विचार पण्डित हैं, उक्त शब्दादि शक्ति समुदाय—ब्रह्म में प्राकृत नहीं हैं, प्रकृति क्षोभ के पूर्व में ही ब्रह्म एवं ब्रह्म

भूत एवेत्याह—स्वराड़िति ; अत्र पूर्ववत्तादृशं सधर्मत्वं मूर्त्तिमत्त्वमपि सिद्धम् । यथाहुः सूत्रकाराः (ब्र०सू० १।१।२०) "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" इति । अतोऽशब्दत्वादिकं प्राकृतशब्द-हीनत्वादिकमेवेति ज्ञेयम् । अत्रोत्तरमीमांसाध्याय-चतुष्टयस्याप्यर्थो दर्शितः । अत्र 'अन्वयादि-

सर्वसम्वादिनी

नारदीये च—"वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने" इति ।

ननु ब्रह्मसूत्रेष्वेव ते पाञ्चरात्रिका दोषाः सूच्यन्ते (ब्र०सू० २।२।४२) "उत्पत्त्यसम्भवात्" इत्यादिषु ?

कथन विद्यमान है । वे सब ही ब्रह्म के स्वरूपभूत ही हैं । उक्त तथ्य को प्रकाश करने के लिए ही 'स्वराट्' शब्द का प्रयोग हुआ है । स्वेनैव राजते इति स्वराट्—स्वप्रकाश हैं । इससे परम तत्त्व परमेश्वर नित्य समूर्त्तिक हैं, प्रतिपादित हुआ । वेदान्तसूत्रकार ने कहा भी है, वेदान्तसूत्र (१।१।२०) "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्"

गोविन्दभाष्य—छान्दोग्ये—"अथ य एषोऽन्तरादित्यो हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति स वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद तस्य ऋक्साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गाता तस्य हि गाथा स एष ये चामुष्मात् पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतमथाध्यात्मम् । अथच एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैव ऋक् तत् साम तदुक्थं, तद्यजुस्तद् ब्रह्म तस्यै तस्य तदेवरूपं यदमुष्यरूपम् । यावदमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम" इति श्रूयते । तत्र संशयः—किमयं पुण्य-ज्ञानातिशयवशात् प्राप्तोत्कर्षो जीवः कश्चित् सूर्य्येऽक्षिणि वोपदिश्यते उत तदन्यः परमात्मेति । तत्र देहित्वादि प्रतीतेरुपचितपुण्यो जीव एवायं ज्ञानशक्त्याधिक्यं च पुण्यातिशयादत एव लोक कामेशितृत्वादि फलार्पणादुपास्यत्वं चेत्येवं प्राप्ते—"अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" तयोरन्तर्वर्त्तीपरमात्मैव न जीवः । कुतः, तदित्यादेः । इह प्रकरणेऽपहतपाप्मत्वादीनां तद्धर्माणां निगदात् । अपहतपाप्मत्व अपहतकर्मत्वं, कर्म-वश्यतागन्धराहित्यमिति यावत् । नचैतत् कर्मवश्ये जीवे सम्भवेत् चौत्पत्तिकं लोककामेशितृत्वादि । नापि फलदातृत्वं तत्र मुख्यम् । न चोपास्यतायाः पारवश्यम् । यत्तु देहसंबन्धात् जीवोऽसावित्युक्तं, तन्न पुरुष-सूक्त्यादिषु, वेदाहमेतम् पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' इत्यादिना तस्यात्मभूतदिव्यरूप श्रवणात् ॥

यहाँ संशय होता है कि—पुण्य एवं ज्ञान के आधिक्य से उत्कर्ष प्राप्त कोई जीव अथवा परमात्मा है ? यहाँ देहित्वादि की प्रतीति से समुचित पुण्यशाली जीव ही पुरुष पदवाच्य है । पुण्य के आतिशय्य होने के कारण उसमें ज्ञान शक्ति का आधिक्य होता है । और लोकसमूह की कामना पूर्त्ति में सामर्थ्याधिक्य होने के कारण वह जीव उपास्य होता है । इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर समाधान करते हैं—"अन्तस्त-द्धर्मोपदेशात्" सूर्य्यमण्डल एवं नेत्रमण्डल उभय के अन्तर्वर्त्ती वस्तु जीव नहीं है, किन्तु परमात्मा हैं । कारण इस प्रकरण में अन्तर्वर्त्ती को उद्देश्य करके अपहतपाप्मत्व प्रभृति ब्रह्मधर्म को कहा गया है । अपहतपाप्मत्व का अर्थ अपहतकर्मत्व है, अर्थात् कर्मवश्यता हीन है । कर्माधीन जीव में उक्त धर्म होना असम्भव है । देवताओं में लोकवश्यत्वादि देखने में आते हैं । फलदातृत्व धर्म भी है, किन्तु वे सब पराधीन होते हैं, वे सब देवता उपास्य के कारण श्रेष्ठ नहीं हैं, किन्तु वे सब ही परमात्मा के उपासक होते हैं । परमात्मा सब के उपास्य होते हैं । परमात्मा देह सम्बन्ध से जीव संज्ञा प्राप्त करते हैं । वैसा कथन समीचीन नहीं है । क्योंकि मैं उस महान् परमात्मा को आदित्य की भाँति जोतिर्म्मय, अज्ञानान्धकार नाशक, अप्राकृत दिव्य शरीरधारी जानता हूँ । इत्यादि पुरुष सूक्त प्रभृति में ब्रह्म का अप्राकृत देह का उल्लेख है । अतएव अशब्द का उल्लेख श्रुति में है, उसका अर्थ—प्राकृत शब्दहीनत्व है । श्रीमद्भागवत के "जन्माद्यस्य यतः" यह प्रथम श्लोक में उत्तरमीमांसा के सूत्र चतुष्टय का अर्थ सुस्पष्ट रूप से प्रकाशित है ।

तरतश्च' इति समन्वयाध्यायस्य 'मुह्यन्ति यत् सूरयः' इत्यविरोधाध्यायस्य 'धीमहि' इति साधनाध्यायस्य 'सत्यं परम्' इति फलाध्यायस्येति। तथा गायत्र्यर्थोऽपि स्पष्टः। तत्र 'जन्माद्यस्य यतः' इति प्रणवार्थः, सृष्ट्यादिशक्तिमत्त्ववाचित्वात्। तदेवमेवाग्निपुराणे गायत्री-व्याख्याने प्रोक्तम् (अग्नि-पु० २१६।८) "तज्जयोतिर्भगवान् विष्णुर्जगज्जन्मादिकारणम्" इति; 'यत्र त्रिसर्गोऽमृषा' इति व्याहृतित्रयार्थः, उभयत्रापि लोकत्रयस्य तदनन्यत्वेन विवक्षितत्वात्। "स्वराड्" इति सवितृप्रकाशक-परमतेजोवाचि; "तेने ब्रह्म हृदा" इति बुद्धिवृत्तिप्रेरणा-प्रार्थना सूचिता। तदेव कृपया स्वध्यानायास्माकं बुद्धिवृत्तीः प्रेरयतादिति भावः। एवमे-वोक्तम्—"गायत्र्या च समारम्भः" इति; तच्च तेजस्तत्र "अन्तस्तद्धर्म्मोपदेशात्" इत्यादिना सम्प्रतिपन्नं यन्मूर्त्तं तदाद्यनन्तमूर्त्तिमदेव ध्येयमिति। तथा चाग्निपुराणस्य क्रमस्थ-वचनानि (अग्नि-पु० २१६ अ०)—

"एवं सन्ध्याविधिं कृत्वा गायत्रीञ्च जपेत् स्मरेत्। गायत्युकथानि शास्त्राणि भर्गं प्राणांस्तथैव च ॥१॥
ततः स्मृतेयं गायत्री सावित्री यत एव च। प्रकाशिनी सा सवितुर्वाग्रूपत्वात् सरस्वती ॥२॥

सर्वसम्वादिनी

मैवम्; तानि हि सूत्राणि श्रीमध्वाचार्यादिभिः शाक्तमत-दूषणायैव विवृतानीति। किञ्च, ताः पाञ्चरात्रिक-

सृष्ट्यादि शक्तिमत्तत्त्व वाचि परतत्त्व का उल्लेख करने के लिए "जन्माद्यस्य यतः" इस पद से प्रणव का अर्थ प्रदर्शित हुआ है। उक्त अर्थ ही अग्निपुराणस्थ गायत्री व्याख्यान में वर्णित हुआ है। (अग्निपुराण २१६।८) उक्त ज्योतिः जगज्जन्मादि का कारण भगवान् विष्णु हैं। "यत्र त्रिसर्गोऽमृषा" इस पद से व्याहृति त्रय का अर्थ प्रकाशित हुआ है। उभय स्थल में ही लोकत्रय को परम कारणतत्त्व के सहित अभिन्न रूप में दर्शाया गया है। "स्वराट्" शब्द सवितृ प्रकाशक परम तेजो वाचि है। "तेने ब्रह्म हृदा" पद से बुद्धिवृत्ति प्रेरणा प्रार्थना प्रदर्शित हुई है। अतएव कृपया निज ध्यान के निमित्त हमारी बुद्धिवृत्ति को प्रेरण करें, यह अभिप्राय है। लक्षण में "गायत्री के द्वारा समारम्भ" की जो कथा कही गई है, उससे ही उक्त कथन सार्थक होता है। "तेजः" शब्द का प्रयोग गायत्री व्याख्यान में हुआ है। वह तेजः, "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" इस न्याय से सुर्य्यमण्डलान्तवर्त्ती हिरण्यश्मश्रादि अप्राकृत देह विशिष्ट परमात्मा ही पुरुष है, जीवात्मा नहीं है। अतः उक्त परमात्मा ही ध्येय हैं। वह अनन्त मूर्त्ति हैं, मूर्त्तिमत् एवं नित्य हैं, अतएव ध्येय हैं।

अग्निपुराणस्थ गायत्री व्याख्या के क्रमपूर्वक वचन समूह निम्नोक्त रूप हैं—विधिपूर्वक सन्ध्यादि कृत्य करने के पश्चात् गायत्री जप एवं गायत्री का अर्थ स्मरण करें। गायत्री के अर्थ को कहते हैं—जो समस्त कर्म का गान करती है, अर्थात् गान के सदृश समस्त कर्म को समस्त मानव की प्रीति के निमित्त उच्च रूप से कीर्त्तन करती है। उक्थादि प्रणवात्मक मन्त्रसमूह समस्त वेदादि शास्त्र, वक्ष्यमाण विष्णुरूप तेज, सर्व जीव के कारणरूप प्राण एवं विभूतिसमूह जिनसे प्रकाशित होते हैं—उन्हें गायत्री कहते हैं। त्रयीमय सविता का प्रकाशक एवं सविता की सृजनकर्त्री होने से उन्हें सावित्री कहते हैं। वाणीरूप होने से आप सरस्वती हैं।१-२।

श्रीजीवगोस्वामिकृता विवृति। सनातनसमो यस्य ज्यायान् श्रीमान् सनातनः।
श्रीवल्लभोऽनुजः सोऽसौ श्रीरूपो जीव सद्गतिः ॥

अथाग्नेयस्था गायत्रीव्याख्या विव्रियते। उक्थानि प्रणवात्मक मन्त्रात्। शास्त्राणि सर्वानपि वेदान्।

तज्जयोतिः परमं ब्रह्म भर्गस्तेजो यतः स्मृतः। भर्गः स्याद् भ्राजत इति बहुलं छन्दसीरितम् ॥३॥
वरेण्यं सर्वतेजोभ्यः श्रेष्ठं वै परमं पदम् ॥४॥
स्वर्गापवर्गकामैर्वा वरणीयं सदैव हि ॥५॥
वृणोतेर्वरणार्थत्वात् जाग्रत्स्वप्नादिवर्ज्जितम् ॥६॥
नित्यं शुद्धं बुद्धमेकं नित्यं भर्गमधीश्वरम्। अहं ब्रह्म परं ज्योतिर्ध्यायेम हि विमुक्तये ॥७॥

सर्वसम्वादिनी

प्रक्रिया भगवता श्रीबादरायणेनैव स्वयं पुराणादिषु दर्शिताः ; —वासुदेवादि-व्यूहानां शतशस्तथैवाभ्युपपत्तेः।

भर्गं वक्ष्यमाणं विष्णुरूपं तेजः। प्राणान् सर्वजीवहेतुन् तद्विभूतींश्च। यतो यस्माद् गायति प्रकाशयति, ततो गायत्री स्मृता। यस्मादेव च त्रयीमयस्य सवितुः प्रकाशिनी प्रादुर्भावयित्री तस्मात् सृजेत् सवितारमिति सावित्री च। वाग्रूपत्वात् सरस्वती च सा ।१।

अथो गेयेषु मुख्यत्वाद् भर्गमेव विवृणोति। तज्ज्योतिरिति। योऽयं भर्गः स एव तत् प्रसिद्धं परंब्रह्म, यतो भर्ग एव तेजः, स्मृतः, स्वप्रकाशज्योतीरूपतया निर्दिष्टः। कया निरुक्त्या तस्य भर्गस्य तेजस्त्वं तत्राह—भर्गः स्याद् भ्राजत इति। कथं सिध्यति ? तत्राह—बहुलं छन्दसीति। भगवता पाणिनिना ईरितं सूत्रितमित्यर्थः ।२।

अनन्त गानयोग्य वस्तु में मुख्य गेय होने से भर्ग की व्याख्या करते हैं। तज्ज्योतिरिति भर्ग शब्द से जिनका उल्लेख है, वह प्रसिद्ध परमब्रह्म हैं। कारण—भर्ग को तेज कहा गया है। आप ही स्वप्रकाश ज्योति रूप से निर्दिष्ट हैं। किस प्रकार व्युत्पत्ति से भर्ग शब्द का तेजः अर्थ होता है, कहते हैं—भर्गः स्यात् भ्राज धातु दीप्ति अर्थ में होता है। "भ्राजते" इति दीप्तिशीलता के कारण आपको भर्गः कहते हैं। यह पद निष्पन्न कैसे हुआ ? कहते हैं—'बहुलं च्छन्दसि' पाणिनि सूत्र के द्वारा सिद्ध होता है ।२।

अथ तस्य मन्त्रोक्तं वरेण्यत्वं साधयति। वरेण्यमित्यर्द्धेन—स च भर्गो वरेण्यं यत् परमं पदं सर्वस्याश्रयरूपं वस्तु, वरेण्यं नाम किं वस्तु तत्राह—सर्वतेजोभ्यः श्रेष्ठं यत्तदेवेत्यर्थः, सर्वेषां तेजसां प्रकाशानां प्रकाशकत्वेन स्वप्रकाशरूपमिति भावः ।३।

गायत्री मन्त्रस्थित वरेण्य पद की व्याख्या करते हैं, "वरेण्यं" अर्द्ध श्लोक से वह जो भर्गः वरेण्य है। सब के निमित्त सर्वथा आश्रय रूप वस्तु हैं। वरेण्य नामक वस्तु क्या है ? कहते हैं,—सकल तेज समूह का जो प्रकाशक हैं, वह स्वयं प्रकाश हैं ।३।

स्वर्गापवर्ग कामनायुक्त व्यक्ति के लिए भी वह सदा वरणीय हैं ।४।

एवं भर्गस्य वरेण्यपदेन रूढ़्या श्रेष्ठत्वं दर्शयित्वा योगवृत्त्या सर्वप्रार्थनीयत्वं दर्शयति स्वर्ग इत्यर्द्धेन, स्पष्टम् ।४।

तत्र तदर्थ-सम्पादक-धात्वर्थमपि हेतुत्वेन निर्द्दिशति वृणोतेर्वरणार्थत्वादिति स्पष्टम् ।५।

उक्तार्थ का प्रकाशक धात्वर्थ को भी कारण रूप से दिखाते हैं,—वृञ् धातु का वरण अर्थ है ।५।

अथ परमत्वज्ञापनाय पुनः वरेण्यमेव विशिनष्टि—जाग्रत्स्वप्नविवर्जितमिति। तुरीयावस्थादपि जीवात् परमित्यर्थः ।६।

अनन्तर परमत्व को सूचित करने के लिए पुनर्बार श्रेष्ठत्व का स्थापन करते हैं। जो जाग्रत् स्वप्न वर्जित हैं, तुरीयावस्था प्राप्त जीव से भी श्रेष्ठ हैं ।६।

तदेव भर्गवरेण्ययोः पदयोरर्थं दर्शयित्वा वाक्यस्य प्रयोजनमाह—नित्यमिति। अहं भर्गं ध्यायेमहि, तत्र भर्गस्य विशेषणानि नित्यशुद्धमित्यादीनि ; अहमित्यस्य विशेषणं ब्रह्मेति। तत्र नित्यं सदैवशुद्धं नतु जीववत् संसारित्वावस्थमित्यर्थः। एवं बुद्धं सदैव बोधयुक्तमित्यर्थः। एकं नतु जीववदनेकं। अधीश्वरं—सर्वशक्तियुक्तम्। अहं—'ब्रह्मपरं ज्योतिरिति' 'नादेवो देवमर्च्चयेदिति' इति न्यायेन स्वस्य तादात्म्य

तज्जयोतिर्भगवान् विष्णुर्जगज्जन्मादिकारणम् ॥८॥

शिवं केचित् पठन्ति स्म शक्तिरूपं पठन्ति च। केचित् सूर्य्यं केचिदग्निं दैवतान्यग्निहोत्रिणः।

अग्नयादिरूपी विष्णुर्हि वेदादौ ब्रह्म गीयते ॥९॥

तत् पदं परमं विष्णोर्देवस्य सवितुः स्मृतम् ॥१०॥

सर्वसम्वादिनी

श्रुतिष्वपि ताः प्रक्रियाः शतशो दृश्यन्ते। तथैकस्य गुण-गुणिरूपत्वमपि श्रीविष्णुपुराणादौ तद्वदेवाङ्गीक्रियते

भावना दर्शिता। ध्यायेमहि, न केवलं अहमेव ध्यायेय, किन्तु सर्वेऽपि वयं जीवा ध्यायेमेत्यर्थः। किमर्थं ध्यायसि? तत्राह—विमुक्तये। संसारमुक्तिपूर्वक-तत्प्राप्तयो तदेतन्मते भर्ग शब्दस्य अदन्तत्वे पुंस्त्वे च सिद्धे मन्त्रेऽप्येवमेव व्याख्येयं। सुपांसुलुगित्यादिना छान्दस सूत्रेण द्वितीयया एकवचनस्यामः, सुत्वादेशात् एवं तत्र 'य' इत्येत्र वक्ष्यते, नतु य इत्यनेन सवितुराकर्षः क्रियते। ध्येयः सदा सवितृ मण्डलमध्यवर्त्तीति विधानात्। 'अतस्तद् भर्गोपदेशादिति' न्यायाच्च ।७।

भर्ग एवं वरेण्य पद के अर्थ को कहकर वाक्य का प्रयोजन को कहते हैं,—नित्यमिति। मैं भर्ग का ध्यान करता हूँ। भर्ग का ही विशेषण है, नित्यं शुद्धं बुद्धं नित्यं ईश्वरम्। "अहं" पद का विशेषण ब्रह्म हैं, नित्य शब्द का अर्थ सदा ही शुद्ध, जीव की भाँति कभी भी संसारित्व नहीं है। बुद्धं—सर्वदा बोधयुक्त, एक—जीव के समान अनेक नहीं हैं। अधीश्वर- सर्वशक्तियुक्त हैं। "अहं ब्रह्म परं ज्योतिः" कहने का तात्पर्य्य है—"नादेवो देवमर्च्चयेत्" इस नियम से उपासक-उपास्य के सहित तादात्म्य की भावना करें। ध्यायेमहि—न केवल मैं ही ध्यान करूँ, किन्तु हम सब जीव ही करें। किस लिए ध्यान करेंगे? कहते हैं,—मुक्त होने के लिए। संसार से मुक्त होकर आप को प्राप्त करने के लिए। संसार में भर्ग शब्द—अरामान्त एवं पुरुषोत्तम लिङ्ग होने से मन्त्र व्याख्या भी इसके अनुसरण से होना आवश्यक है। 'सुपां सुलुगिति' छान्दस व्याकरण के सूत्र से द्वितीया के एकवचन में 'अम्' के स्थान में 'सु' का आदेश से वैसा पद बना। इस प्रकार आगे 'य'-राम का प्रयोग हुआ है। 'य'-राम के द्वारा सूर्य्य का बोध नहीं होता है। कारण ध्यान में ध्येयः सदा सवितृ मण्डलवर्त्ती कहा गया है। अतः उनकी ही ज्यीतिः है। इस नियम से विष्णु का ही बोध होता है ।७।

तथैव तदित्यस्य मन्त्रगतपदस्य व्याख्यां विशिष्य दर्शयति, तज्ज्योतिरित्यर्द्धेन भर्गपरवाच्यं तज्ज्योतिरेव तत्पदेन भर्गपदवाच्यं तज्ज्योतिरेव तत्पदेन पूर्वमुक्तमित्यर्थः। तच्च भगवान् विष्णुरेव, तदेव च वेदान्तेन दर्शितं जगज्जन्मादिकारणमित्यर्थः। मन्त्रे च प्रणवादि तदित्यन्तस्य धीमहीत्यन्तेनान्वय एव कार्य्यः। स्वयं प्रणवार्थः रूपं, कारणात् कार्य्यस्यानन्यत्वादिति भूरादिरूपं च तत्तत्त्वं सवितृ देवस्य वरेण्यं भर्गो धीमहीति ।८।

अनन्तर द्वितीय श्लोकस्थ तज्ज्योतिः मन्त्रगत पद व्याख्या को विशेष रूप से दिखाते हैं। "तज्ज्योतिर्भगवान् विष्णुर्जगज्जन्मादिकारणं" इसके अर्द्धांश से भर्ग पदवाच्य उनकी ज्योति है। इसका कथन पहले हो चुका है, वह तो भगवान् विष्णु ही हैं। वेदान्त में भी कहा गया है, जगज्जन्मादि का कारण वह ही है। मन्त्र में भी प्रणवादि तदिति पद का धीमहि के साथ अन्वय करना होगा। वह स्वयं ही प्रणवार्थ है। कारण से कार्य्य अभिन्न होता है। अतः पृथिवी प्रभृति रूप उस तत्त्व हैं। वह ही स्रष्टा देव वरेण्य हैं, उनकी ज्योतिः का ध्यान करेंगे ।८।

अथात्र विप्रतिपद्यमानान् स्वमतसात् करोति, शिवं केचिदिति सार्द्धेन स्फुटम् ।९।

अनन्तर विभिन्न मत को दिखाकर निज मत को पुष्ट करते हैं। कोई तो गायत्री का अर्थ—शिव, शिवशक्तिरूप, सूर्य्य अग्नि को कहते हैं। वेदादि में उक्त ब्रह्म को अग्न्यादि को ही विष्णु कहते हैं ।९।

तदेवमेव विष्णु सवित्रोः कारणकार्य्ययो स्तयो स्तादात्म्येन अभेदमपि दर्शयति—तत्पदमित्यर्द्धेन। अत्र विष्णोरिति, विश्वात्मकमित्यर्थः। तदिति स भर्ग इत्यर्थः ।१०।

दधातेर्वा धीमहीति मनसा धारयेमहि ।।११।।

नोऽस्माकं यच्च भर्गस्तत् सर्वेषां प्राणिनां धियः। चोदयात् प्रेरयाद्बुद्धि भोक्तॄणां सर्वकर्मसु।

दृष्टादृष्टविपाकेषु विष्णुः सूर्य्याग्निरूपभाक् ।।१२।।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।।१३।।

ईशावास्यमिदं सर्वं महदादिजगद्धरिः। स्वर्गाद्यैः क्रीड़ते देवो यो हंसः पुरुषः प्रभुः ।।१४।।

ध्यानेन पुरुषोऽयञ्च द्रष्टव्यः सूर्य्यमण्डले। सत्यं सदाशिवं ब्रह्म विष्णोर्यत् परमं पदम् ।।१५।।

सर्वसम्वादिनी

—(वि० पु० ६।५।७९) "ज्ञान-शक्ति-बलैश्वर्य्य-वीर्य्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि" इत्यादिना।

विष्णु एवं सविता का कारण-कार्य्य भाव से तादात्म्य रूप को दिखाते हैं। दोनों ही अभिन्न हैं। "तत् पदं परमं विष्णोर्देवस्य सवितुः स्मृतः।" यहाँ विष्णु शब्द "विश्वं विष्णु" विश्वात्मक का बोधक है। तत् पद से उस भर्ग को जानना होगा।१०।

धीमहीत्यस्य धात्वन्तर प्रक्रान्तत्वेन तत्त्वेन तमेवार्थं योजयति दधातेरित्यर्द्धेन स्पष्टम् ।११।

"धीमहि" पद का अर्थ मूल धातु के द्वारा कहते हैं। "दधाते र्वा धीमहीति मनसा धारयेमहि"।११।

अत्र मन्त्रशब्दं योजयति—नोऽस्माकमिति सार्द्धेन। अत्र यच्चेति तदिति च पूर्वसूत्रेण सोर्लुकासाधितं भर्ग इत्यनेनैव तदित्यस्य सम्बन्धश्च दर्शितः। चोदयात्। प्रेरयात् इत्यनयोः पूर्वसिद्धान्तेन द्रढ़यति—विष्णुः सूर्य्याग्निरूपभागिति।१२।

मन्त्र शब्द की योजना के द्वारा व्याख्या करते हैं—'नो' अस्माकम्। हम सब की बुद्धि उत्तम कार्य्य में नियोग करें। "यत् तत्" का पूर्व सूत्र से साधित भर्ग शब्द के साथ अन्वय है। "चोदयात्" शब्द का अर्थ—प्रेरयात्, प्रेरण करें। इसका समर्थन पूर्वसिद्धान्त से करते हैं, विष्णु-सूर्य्य, अग्निरूपधारी हैं।१२।

अत्र हेतुमाह—ईश्वर इत्यर्द्धेन, ईश्वरः पूर्वोक्त विष्णुरूपः।१३।

प्रेरक होने के कारण को कहते हैं,—"ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा" ईश्वर,—पूर्वोक्त श्रीविष्णु ही हैं। उनकी प्रेरणा से ही जीव स्वर्ग एवं नरक लाभ करता है।१३।

तदेव श्रुत्यन्तरेण प्रमाणयति—ईशावास्यमिति। तस्येशस्य हरिरिति नामान्तरेण विष्णुत्वमेव स्थापयति हरिरित्यर्द्धकेन स्वर्गाद्यैरित्यर्द्धेन, हंसः परमात्मा, तद्रूपः पुरुषः।१४।

उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन श्रुत्यन्तर से करते हैं,—"इशावास्यमिदं" उन ईश्वर रूप विष्णु का नाम हरि हैं। उनसे महत् अहङ्कारादि समस्त जगत् व्याप्त हैं। वह हंस परमात्मा रूप से स्वर्ग में क्रीड़ा करते रहते हैं।१४।

तस्य वरेण्यत्व पराकाष्ठां दर्शयितुमाह- ध्यानेनेति। ध्यानेन,—"ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती-त्याद्युद्दिष्टेन। नन्वेवं चेत्तर्हि ईशितव्यस्य सूर्य्यमण्डलस्य नाशे तस्यैश्वर्य्यनाशः स्यात्तत्राह,—सत्यमिति। विष्णोर्यत् महावैकुण्ठलक्षणं परमं पदं तत् सत्यं कालत्रयाव्यभिचारि, सदाशिवं तापत्रयरहितञ्च, ब्रह्म बृहत्वात् बृंहणत्वाच्च यद् ब्रह्मोच्यते तद्रूपमेवेत्यर्थः।१५।

आप ही वरेण्य की पराकाष्ठा हैं, उसको कहते हैं,—ध्येय सदा सवितृमण्डलवर्त्तीत्यादि ध्यान से उनमें मनोनिवेश करें। ऐसा होने पर सूर्य्यमण्डलवर्त्तीत्यादि ध्यान से उनमें मनोनिवेश करें। ऐसा होने पर सूर्य्य मण्डल का नाश होने से ध्येय का भी नाश होगा? उत्तर—नहीं। वह सत्य हैं, सदाशिव, ब्रह्म विष्णु हैं, अर्थात् विष्णु के महावैकुण्ठ नामक स्थान का नाम परमपद है। वह सत्य है, भूत, भविष्यत् वर्त्तमान कालत्रय में एकरूपता है, सदा शिवस्वरूप हैं। आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक तापत्रय रहित हैं। सब से बृहत् तथा सबको बृहत् करने की शक्ति उनमें हैं, इस लिए उन्हें ब्रह्म कहते हैं।१५।

देवस्य सवितुर्देवो वरेण्यं हि तुरीयकम् ॥१६॥

योऽसावादित्यपुरुषः सोऽसावहमनुत्तमम् । जनानां शुभकर्मादीन् प्रवर्त्तयति यः सदा ॥"१७॥ इत्यादि । (अग्नि-पु० २७२।६)—

"यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः । वृत्रासुरबधोत्सिक्तं तद्भागवतमुच्यते ॥६॥

इत्यादीनि च । तस्माद्भर्ग-ब्रह्म-पर-विष्णु-भगवच्छब्दाभिन्नवर्णतया तत्र तत्र निर्द्दिष्टा अपि भगवत्प्रतिपादका एव ज्ञेयाः । मध्ये मध्ये त्वहंग्रहोपासनानिर्द्देशस्तत्साम्य इव लब्धे हि तदुपासनायोग्यता भवतीति । तथा दशलक्षणार्थोऽप्यत्रैव दृश्यः । तत्र सर्ग-विसर्ग-स्थान-निरोधाः, 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यत्र मन्वन्तरेशानुकथे च स्थानान्तर्गते, पोषणं 'तेने' इत्यादौ,

सर्वसम्वादिनी

तस्मादपि न निन्द्या पाञ्चरात्रिकी प्रक्रिया । उक्तञ्च महाभारते (शान्ति-प० मोक्षधर्मे ३४९।६४)—

"सांख्ययोगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा । एतान्यतिप्रमाणानि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥"३०॥ इति ।

ननु तस्मिन् महावैकुण्ठे सवित्रन्तर्य्यामिनोऽस्माद् विलक्षण एव नारायणः । स च नित्य एव, सवित्रन्तर्य्यामिनोऽस्य तु कीदृक्त्वं तत्राह,—देवस्येत्यर्द्धेन । देवस्य द्योतमानस्य सवितु र्यो देवः, "ध्येयः सदा" इत्यादिषु निर्दिष्टः, सोऽपि वरेण्यं तुरीयं समष्टिगतं जाग्रत् स्वप्नाद्यतीतं समाध्यवस्थायामेव गम्यं यत् पदं भर्गसंज्ञकं "स एकधा भवतीत्यादि" श्रुतेः, सर्वाश्रयरूपं यद्वस्तु तद्रूपमेव, महाप्रलये महावैकुण्ठे एव महानारायणेन एकीभूय स्थायित्वादिति भावः ।१६।

महावैकुण्ठ में सविता और उनके अन्तर्य्यामी से विलक्षण नारायण हैं, वह नित्य हैं । सविता को, अन्तर्य्यामी को आप कैसे कह सकते हैं, कहते हैं—"देवस्य सवितुर्देवो वरेण्यं हि तुरीयकम्" प्रकाशनशील देवरूप सविता का जो रूप 'ध्येयः सदा' के द्वारा निर्दिष्ट है, वह वरेण्य हैं । तुरीय, समष्टिगत जाग्रत् स्वप्नादि अतीत हैं, एवं समाधि के द्वारा वह प्राप्य हैं, वह पद 'भर्ग' नाम से प्रसिद्ध है । वह एक होता है, अनेक होता है । यह श्रुति है, सर्वाश्रयरूप जो वस्तु, वह ही है । महाप्रलय के समय महावैकुण्ठ में महानारायण के साथ एक होकर रहते हैं ।१६।

अथ तत् साम्यादित्यर्थमहङ्ग्रहोपासनारूपं त्रिपदाया अस्याश्चतुर्थस्याजपा नाम ध्येयस्यार्थमाह—योऽसाविति पदेन स्पष्टम् ।१७।

इत्यग्निपुराणस्थ गायत्री व्याख्या विवृतिः श्रीजीवकृता समाप्ता ॥

उनके साम्य से अहंग्रह उपासना के लिए गायत्री का अजपा नामक अर्थ को दिखाते हैं,—"जोऽसावादित्यपुरुषः सोऽसावहमनुत्तमम्", जनानां शुभकर्मादीन् प्रवर्त्तयति यः सदा योऽसौ इस पद से सुस्पष्ट रूप से अहंग्रहोपासना का प्रकार प्रदर्शित हुआ ।१७।

अग्निपुराण के २७२।६ में वर्णित है—जिस पुराण में गायत्री को अवलम्बन करके 'धर्म विस्तर' भागवत धर्म का वर्णन है, एवं जो ग्रन्थ वृत्रासुरबधोपाख्यान युक्त है, उस ग्रन्थ को भागवत कहते हैं । तज्जन्य भर्ग, ब्रह्म, पर, विष्णु एवं भगवत् शब्दसमूह उक्त स्थानों में भिन्न वर्ण रूपमें वहाँ पर प्रयुक्त होने पर भी उक्त समूह शब्द ही भगवत् प्रतिपादक हैं । किन्तु मध्य मध्य में अहंग्रहोपासना का निर्देश भी है, उसका अभिप्राय यह है कि—साधक उक्त अहंग्रह उपासना के द्वारा किञ्चित् अंश में ब्रह्म की समान धर्मता को प्राप्त करता है, उससे वह ब्रह्मोपासना का अधिकारी होता है । उस प्रकार महापुराण के दश लक्षणार्थ भी प्रथम श्लोक में परिस्फुट रूप में है । "जन्माद्यस्य यतः" पद से सर्ग, विसर्ग, स्थान, निरोध का वर्णन हुआ है । मन्वन्तर एवं ईशानुकथा का वर्णन स्थान वर्णना के मध्य में ही हुआ है । 'तेने' इस पद से

ऊतिः 'मुह्यन्ति' इत्यादौ, मुक्तिर्जीवानामपि तत्सान्निध्ये सति कुहकनिरसन-व्यञ्जके 'धाम्ना' इत्यादौ, आश्रयः 'सत्यं परम्' इत्यादौ। स च स्वयंभगवत्त्वेन निर्णीतत्वात् श्रीकृष्ण एवेति पूर्वोक्तप्रकार एव व्यक्त इति। तदेव यस्मिन्नुपक्रमवाक्ये सर्वेषु पद-वाक्य-तात्पर्य्येषु तस्य ध्येयस्य सविशेषत्वं मूर्त्तिमत्त्वं श्रीभगवदाकारत्वञ्च व्यक्तम्, तच्च युक्तम्, स्वरूपवाक्यान्तर-व्यक्तत्वात्। (भा० १०।८७।५०)—

"योऽस्योत्प्रेक्षक आदि-मध्य-निधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ॥"५०॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

यत्तु कौर्म्मे पू०भा० १६।११५—११७) श्रीभगवद्वाक्यम्—

"तस्माद्वै वेदवाह्यानां वञ्चनार्थाय पापिनाम्। विमोहनाय शास्त्राणि करिष्यसि वृषध्वज ॥३१॥

पोषण, "मुह्यन्ति" पद से ऊति, "धाम्ना" पद से मुक्ति, एवं "सत्यं परं" इस पद से आश्रय की वर्णना हुई है। उक्त आश्रय तत्त्व, भगवत् तत्त्व रूप में निर्णीत होने के कारण श्रीकृष्ण ही हैं। अतएव पूर्वोक्त प्रकार से ही कथित हुआ है। तज्जन्य उक्त प्रकार से "जन्माद्यस्य" इस उपक्रम वाक्यस्थ समस्त पद वाक्य का तात्पर्य्य से निर्णीत होता है कि ध्येय वस्तु सविशेष ही हैं, मूर्त्तिविशिष्ट हैं, एवं श्रीभगवदाकार ही हैं। उक्त कथन सर्वथा समीचीन है, स्वरूपबोधक वाक्यान्तर के द्वारा उसका ही सुस्पष्टीकरण हुआ है।

भा० १०।८७।५० में वर्णित है—जो विश्व के सृष्टि, स्थिति, प्रलय कर्त्ता हैं, जो प्रकृति-पुरुष का उपादान कारण हैं, जिन्होंने विश्व का सृजन करने के पश्चात् जीवरूप में उसमें अनुप्रवेश भी किया है, भोगायतन का निर्माण करके उसका शासन भी जो करते रहते हैं, जीवसमूह जिनको प्राप्त कर उनके दासत्व में आत्मसमर्पण पूर्वक माया का परित्याग करते हैं। जिस प्रकार सुप्त पुरुष को अपर जन देखता है, किन्तु वह स्वयं को देखता नहीं है। तद्रूप जीवन्मुक्त होता है। उन कैवल्य निरस्त योनि अभयस्वरूप श्रीहरि का ध्यान नियत करें।

टीका—समस्तवेदस्तुत्यर्थं संगृह्य अनुस्मारयति। योऽस्योत्प्रेक्षक इति। योऽस्य विश्वस्योत्प्रेक्षकः एवं अनुशायिनां समस्तपुरुषार्थसिद्धये सृष्टिस्थितिप्रलयादिप्रापणीयमित्यालोचक इत्यर्थः। अनेन निमित्तत्व-मुक्तम्। एवमालोच्य अस्यादिमध्यनिधने। आदि र्जन्म, मध्यः पालनं, निधनमन्तः, एतेषु यो वर्त्तते। अनेन उपादाननिमित्तत्वे प्रसिद्धे। सत्यम्, तयोरपि तत् एवोद्भूतत्वात् मूलकारणं स एवेत्याह। योऽव्यक्त जीवेश्वर इति प्रवेशनियमने दर्शयति य इति। पूर्वोक्त प्रकारेणेदं सृष्ट्वा यदर्थमेतत् सृष्टं तेन ऋषिणा सृष्टे कार्य्येऽहमिति दर्शनात्, ऋषि र्जीवः, तेन सह अनुप्रविष्टः पुरः शरीराणि तस्य भोगायतनानि चक्रे ताः पुरः शास्ति, तस्य भोगं ददत् परिपालयति, उपासकस्य य कैवल्यरूपो भवतीत्याह—यत् सम्पद्येति। यं सम्पद्य—प्राप्य, अनुशयी अण्वनु दण्डवत् प्रणामैश्वरणमूले, शेते इति तथा न, जीवोऽजां कार्य्यकारणरूपा-मविद्यां त्यजति।

ननु ब्रह्मसम्पन्नस्यापि जीवस्य तत्सम्बन्धो दृश्यते, अत आह, सुप्तः कुलायं यथेति। अयं भावः। यथा सुप्तं शरीरवन्तं, अन्ये पश्यन्ति स तु आत्मानं न तथा पश्यति, एवं जीवन्मुक्तमप्यन्ये देहवन्तं पश्यन्ति, स तु न किञ्चित् पश्यतीति, तं हरिमजस्रमनवरतं ध्यायेत् किमित्यत आह, अभयं न भयं यस्माद्भयनिवर्त्तकमित्यर्थः।

अतो "धर्म्मः प्रोज्झित-" इत्यादावनन्तरवाक्येऽपि "किं वापरैः" इत्यादिना तत्रैव तात्पर्य्यं दर्शितम्। तथोपसंहारवाक्याधीनार्थत्वादुपक्रमवाक्यस्य नातिक्रमणीयमेव।

सर्वसम्वादिनी

एवं सञ्चोदितो रुद्रो माधवेनासुरारिणा। चकार मोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवे स्थितः ॥३२॥

कुतः, एतत्? कैवल्यनिरस्तयोनिं कैवल्येन अप्रच्युतस्वरूपावस्थानेन निरस्ता तिरस्कृता योनिर्मूलकारणं माया येन तम् ॥

"सर्वश्रुतिशिरोरत्न नीराजितपदाम्बुजम्। भोगयोगप्रदं वन्दे माधवं कर्मिनम्रयोः ॥

समस्त वेदस्तुति के अर्थ को संक्षेप से कहते हैं,—जो परिदृश्यमान विश्व सृष्टि के लिए ईक्षण कर्त्ता हैं, अनुशयी जीवसमूह को धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप पुरुषार्थ प्रदान करने के लिए विश्व सृष्टि-स्थिति-लय कार्य्य करना अत्यावश्यक है, इस प्रकार विचार करना ही ईक्षण है। उक्त उक्ति से ज्ञात हुआ कि—परमेश्वर ही विश्व का निमित्तकारण हैं। इस प्रकार आलोचना करने के पश्चात् विश्व के सृष्टिस्थितिलयरूप कार्य्य का अनुष्ठान हुआ। आदि—जन्म, मध्य—पालन, निधन—अन्त। कर्मत्रय का जो कर्त्ता हैं, इससे ईश्वर को उपादानकारण कहा गया है। प्रकृति पुरुष का उपादान निमित्तकारण प्रसिद्ध है, किन्तु परमेश्वर से प्रकृति पुरुष भी उत्पन्न हुए हैं, अतः परमेश्वर सर्वादि कारण हैं। जो अव्यक्त जीवेश्वर हैं, कण्ठतः कहा है, सृष्टि कार्य्य जिसके निमित्त परमेश्वर ने किया है, वह जीव ईश्वर के सहित ही उक्त निर्मित पुर रूप शरीर में प्रविष्ट हुआ। पुर—शरीर, भोगायतन है, उसका परिचालन भी ईश्वर करते हैं। भोग प्रदान करते हैं, कैवल्य प्राप्त करने का सौभाग्य भी देते हैं। जिनके सान्निध्य को प्राप्त कर जीव श्रीहरि के चरणमूल में दण्डवत् प्रणति करके आत्मनिवेदन करता है, और अविद्या को परित्याग करता है, यदि कहा जाय कि ब्रह्मसम्पत्ति के पश्चात् भी शरीर ग्रहण जीव का दृष्ट होता है? कहते हैं, जिस प्रकार सुप्त व्यक्ति अपना शरीर को नहीं देखता है, अपर व्यक्ति देखता है, उस प्रकार जीवन्मुक्त के शरीर को अपर व्यक्ति देखता है, किन्तु वह मुक्त जीव नहीं देखता है, वह समर्पित आत्मा होता है। उन श्रीहरि का ध्यान अनवरत करें। श्रीहरि अविद्या भय निवर्त्तक हैं। कारण श्रीहरि स्वरूपशक्ति के द्वारा अविद्या का प्रभाव को विदूरित करके अवस्थित हैं।

समस्त श्रुतिशिरोरत्न के द्वारा नीराजित चरणारविन्द जिनके हैं, जो कर्मि एवं प्रणत व्यक्ति को भोग योग प्रदान करते हैं, उन श्रीमाधव की वन्दना करता हूँ ॥

एतज्जन्य "धर्मः प्रोज्झित" रूप अनन्तर पठित वाक्य में भी "किम्बा परैः" इत्यादि वाक्य के द्वारा श्रीमद्भागवत ग्रन्थ का तात्पर्य्य श्रीभगवान् में ही है, दर्शित हुआ है।

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां वेद्यं वास्तवमत्र वस्तुशिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।

श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवा परैरीश्वरः सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥

टीका—इदानीं श्रोतृप्रवर्त्तनाय श्रीभागवतस्य काण्डत्रयविषयेभ्यः सर्वशास्त्रेभ्यः श्रैष्ठ्यं दर्शयति धर्म इति। अत्र श्रीमति सुन्दरे भागवते परमो धर्मो निरूप्यते इति। परमत्वे हेतुः—प्रकर्षेण उज्झितं कैतवं फलाभिसन्धिलक्षणं कपटं यस्मिन् सः। प्र-शब्देन मोक्षाभिसन्धिरपि निरस्तः। केवलं ईश्वराधनलक्षणो धर्मो निरूप्यते इति। अधिकारितोऽपि धर्मस्य परमत्वमाह, निर्मत्सराणां—परोत्कर्षासहनं मत्सरः, तद्रहितानां, सतां भूतानुकम्पिनाम्। एवं कर्मकाण्डविषयेभ्यः शास्त्रेभ्यः श्रैष्ठ्यमुक्तम्। ज्ञानकाण्ड-विषयेभ्योऽपि श्रैष्ठ्यमाह—वेद्यमिति। वास्तवं परमार्थभूतं वस्तु वेद्यं, नतु वैशेषिकानामिव द्रव्यगुणादि-रूपम्। यद्वा वास्तव शब्देन वस्तुनोऽंशो जीवः वस्तुनः शक्तिर्माया च वस्तुनः कार्य्यं जगच्च तत् सर्वं वस्त्वेव न तु ततः पृथगिति, वेद्यम् अयत्नेनैव ज्ञातुं शक्यमित्यर्थः। ततः किमित्याह—शिवदं-परमसुखदम्।

(भा० १२।१३।१९) "कस्मै येन विभासितोऽयम्" इत्यादि-दर्शितं तस्य तादृशविशेषवत्त्वादिकम्। यथैव (ब्र०सू० ३।३।१७) "आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्" इत्यत्र शङ्कर-शारीरकस्यापरस्यां योजनायामुपक्रमोक्तस्य सच्छब्दवाच्यस्यात्मत्वमुपसंहारस्थादात्म-शब्दाल्लभ्यते, तद्वदिहापि चतुःश्लोकीवक्तुर्भगवत्त्वम्, दर्शितञ्च श्रीव्याससमाधावपि तस्यैव ध्येयत्वम्। तदेतदेव च (भा० १२।१२।६९) "स्वसुखनिभृत-" इत्यादि श्रीशुकदेवहृदयानुगतमिति ॥ श्रीव्यासः ॥

सर्वसम्वादिनी

कापालं नाकुलं वामं भैरवं पूर्वपश्चिमम्। पाञ्चरात्रं पाशुपतं तथाऽन्यानि सहस्रशः ॥"३३॥ इति ?

किञ्च आध्यात्मिकादितापत्रयोन्मूलनञ्च। अनेन ज्ञानकाण्डविषयेभ्यः श्रैष्ठ्यं दर्शितम्। कर्त्तृतोऽपि श्रैष्ठ्यमाह—महामुनिः श्रीनारायणः, तेन प्रथमं संक्षेपतः कृते। देवताकाण्डविषयगक श्रैष्ठ्यमाह—किं वेति। परैः शास्त्रैः तदुक्तसाधनैर्वा ईश्वरो हृदि किं वा सदा एवावरुध्यते स्थिरीक्रियते। वा शब्द कटाक्षे। किन्तु विलम्वेन, कथञ्चिदेव, अत्र तु शुश्रूषुभिः श्रोतुमिच्छुभिरेव तत्क्षणादेव अवरुध्यते।

ननु इदमेव तर्हि सर्वे किमिति न शृण्वन्ति ? तदाह—कृतिभिरिति। श्रवणेच्छा तु पुण्यैर्विना नोपपद्यत इत्यर्थः। तस्मादत्र काण्डत्रयार्थस्यापि यथावत् प्रतिपादनादिदमेव सर्वशास्त्रेभ्यः श्रेष्ठम्, अतो नित्यमेतदेव श्रोतव्यमिति भावः।

उस प्रकार उपक्रमवाक्यार्थ, उपसंहार वाक्यार्थ के अधीन होने से उपक्रम वाक्य का अतिक्रम उससे नहीं होता है। परंब्रह्म के विशेषवत्वादि का वर्णन उपसंहार वाक्य में सुस्पष्टरूप से है।

"कस्मै येन विभाषितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा।
योगीन्द्राय तदात्मनाय भगवद्राताय कारुण्यतस्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि ॥" १२।१३।१९

टीका—श्रीभागवतसम्प्रदायप्रवर्त्तक रूपेण भगवद्ध्यानलक्षणं मङ्गलमाचरति। कस्मै—ब्रह्मणे। अतुलोऽसमः, अयं श्रीभागवतरूपः। पुरा—कल्पादौ, तद्रूपेण—ब्रह्मरूपेण, नारदाय, तद्रूपिणा—नारद-रूपिणा, कृष्णाय व्यासाय, तद्रूपिणा, योगीन्द्राय—शुकाय। तदात्मना—श्रीशुकरूपेण, तत्परं—सत्यं श्रीनारायणाख्यं तत्त्वं धीमहि। इति गायत्र्यैव यथोपक्रममुपसंहरन् गायत्र्याख्य ब्रह्मविद्येयमिति दर्शयति।

श्रीमद्भागवत सम्प्रदाय प्रवर्त्तक रूप से भगवद् ध्यानात्मक मङ्गलाचरण का विन्यास ग्रन्थान्त में करते हैं। उपक्रम एवं उपसंहार का वर्णितव्य विषय की एकरूपता होना ही नियम है। जिन्होंने सर्व प्रथम ब्रह्मा को श्रीभागवत ज्ञान प्रदान किया। ब्रह्मा ने श्रीनारद को, श्रीनारद ने व्यासदेव को, व्यासदेव ने श्रीशुकदेव को प्रदान किया। परम सत्य श्रीनारायणाख्य तत्त्व का ध्यान हम सब करें। श्रीमद्भागवत अतुलनीय है। गायत्री के द्वारा आरम्भ हुआ है, "सत्यं परं धीमहि" वाक्य से। उपसंहार में भी 'सत्यं परं धीमहि" का प्रयोग हुआ है। वह परमेश्वररूप सत्य वस्तु शुद्ध, विमल, विशोक अमृत स्वरूप हैं। इससे सविशेष समूर्त्ति वस्तु ही ब्रह्म है, उसका सुस्पष्ट वर्णन हुआ है।

जिस प्रकार ब्रह्मसूत्र (३।३।१७) "आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्" सूत्रस्थ शङ्करभाष्य की "अपर योजना" नामक व्याख्या में कथित है,—सत् शब्द वाच्य आत्मा का लाभ उपसंहारस्थ आत्म शब्द प्रयोग से ही होता है। उस प्रकार ही श्रीमद्भागवतस्थ चतुःश्लोकी के वक्ता श्रीभगवान् ही हैं। व्यास समाधि में भी दृष्ट होता है—"अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्" के द्वारा श्रीभगवान् ही ध्येय है। उसका ही वर्णन भा० १२।१२।६९ में इस प्रकार है—

"स्व सुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ॥"

टीका—श्रीगुरुं नमस्करोति। स्वसुखेनैव निभृतं पूर्णं चेतो यस्य। तेनैव व्युदस्तोऽन्यस्मिन् भावो यस्य तथाभूतोऽपि अजितस्य रुचिराभिर्लीलाभिराकृष्टः सारः स्वसुखगतं स्थैर्य्यं यस्य सः तत्त्वदीपं परमार्थ-प्रकाशकं श्रीमद्भागवतं यो व्यतनुत तं नतोऽस्मीति।

इस उक्ति भी श्रीशुकदेव के हृदयानुगत रूप से ही हुई है। प्रवक्ता श्रीव्यासदेव हैं।

"आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरत्वात्" आत्मा इदमित्यादावात्मगृहीतिः परमात्मग्रहणं न्याय्यम्। कुतः उत्तरात् वाक्यशेषात्, ऐक्षतेत्यादिकात्, इतरवदिति दृष्टान्तः। यथेतरेषु तस्माद्वेत्यादिकेषु सृष्टिवाक्येषु परस्यैवात्मनो ग्रहणं। यथा वेतरस्मिन् लौकिकात्मशब्दप्रयोगे प्रत्यगात्मैव मुख्यो गृह्यते, तथेहापीत्यर्थः। अत्र महाभूतसृष्टिपूर्वकं लोकानसृजेतेति श्रुतिर्व्याख्येया।

जब विश्व की सृष्टि नहीं हुई थी उस समय एक आत्मा ही था। ऐतरेय श्रुति वर्णित आत्म शब्द से परमात्मा अर्थ करना ही समीचीन है। अपरापर सृष्टि वाक्य के दृष्टान्त में भी आत्म शब्द से परमात्मा का बोध होता है। कारण—उत्तर वाक्य अर्थात् उक्त प्रस्ताव के शेष वाक्य से परमात्मा का ही बोध होता है, परमात्म ग्रहणयोग्य विशेषणान्तर भी है।

सन्दर्भस्थित अपरा योजन का विवरण—"आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्। वाजसनेयके "कतम आत्मेति। योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" इत्यात्मशब्देनोपक्रम्य तस्यैव सर्वसङ्गविमुक्तत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मात्मतामवधारयति। तथा ह्युपसंहरति "स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृत्योऽभयो ब्रह्म इति। छान्दोग्ये "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्यन्तरेणवात्मशब्दमुपक्रम्य उदर्के "स आत्मा तत्त्वमसि" इति तादात्म्यमुपदिशति। तत्र संशयः। तुल्यार्थत्वं किमनयोराम्नानयोः स्यादतुल्यार्थत्वं वेति। अतुल्यार्थत्वमिति तावत् प्राप्तम्; अतुल्यत्वादाम्नानयोः। नह्याम्नानवैषम्ये सत्यर्थसाम्यं युक्तं प्रतिपत्तुम्, आम्नान तन्त्रत्वादर्थपरिग्रहस्य। वाजसनेयके चात्मशब्दोपक्रमादात्मतत्त्वोपदेश इति गम्यते। छान्दोग्ये तूपक्रमविपर्य्ययादुपदेशविपर्य्ययः। ननु च छान्दोगानामप्यस्ति उदर्के तादात्म्योपदेश इत्युक्तम्। सत्यमुक्तम्। उपक्रमतन्त्रत्वात् उपसंहारस्य न तादात्म्यसम्पत्तिः सेति मन्यते तथा प्राप्ते—अभिधीयते, आत्मगृहीतिः "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्यत्र छन्दोगानामपि भवितुमर्हति। इतरवत्। यथा "कतम आत्मा" इत्यत्र वाजसनेयिनामात्मगृहीतिस्तथैव। कस्मात्? उत्तरात् तादात्म्योपदेशात्। अन्वयादिति चेत्, स्यादवधारणात्। यदुक्तं उपक्रमान्वयात् उपक्रमे चात्मशब्दश्रवणाभावात् नात्मगृहीतिरिति, तस्य कः परिहार इति चेत्, सोऽभिधीयते—स्यादवधारणादिति भवेदुपपन्नेहात्मगृहीतिरवधारणात्। तथा हि "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इत्येक विज्ञानेन सर्वविज्ञानमवधार्य्य तत् सम्पिपादयिषया तदेवेत्याह। तच्चात्मगृहीत्यां सत्यां सम्पद्यते, अन्यथा हि योऽयं मुख्य आत्मा, स न विज्ञायत इति नैव सर्वविज्ञानं सम्पद्यते। तथा प्रागुत्पत्तेरेकत्वावधारणात् जीवस्य चात्मशब्देन परामर्शः, स्वापावस्थायाञ्च तत् स्वभावसम्पत्तिकथनं परिचोदनापूर्वकञ्च पुनः पुनः 'तत्त्वमसि' इत्यवधारणमिति च सर्वमेतत् तादात्म्य प्रतिपादनायामेवावकल्पते। न तादात्म्यसम्पादनायाम्। न चात्रोपक्रमतन्त्रतोपन्यासोन्याय्यः न ह्युपक्रमे आत्मत्व सङ्कीर्त्तनमनात्मत्वसङ्कीर्त्तनं वास्ति। सामान्योपक्रमश्च न वाक्यशेषगतेन विशेषेण विरुध्यते। विशेषाकाङ्क्षित्वात् सामान्यस्य, सच्छब्दार्थोऽपि च पर्य्यालोच्यमानो न मुख्यादात्मनोऽन्यः सम्भवति। अतोऽन्यस्य वस्तुजातस्यारम्भणशब्दादिभ्योऽनृतत्वोपपत्तेराम्नान वैषम्यमपि नावश्यमर्थवैषम्यमावहति। आहरपात्रम्, पात्रमाहरेत्यादिषु अर्थसाम्येऽपि तद्दर्शनात्। तस्मादेकजातीयकेषु वाक्येषु प्रतिपादनप्रकार-भेदेऽपि प्रतिपाद्यार्थभेद इति सिद्धम्।"

सूत्र ३।३।१७ की अन्य रूप व्याख्या भी है। वृहदारण्यक में वर्णित है—आत्मा क्या है? आत्मा कौन है? प्रश्न के प्रत्युत्तर में कथित है,—हृदयस्थ प्राणों के मध्य में यह विज्ञानमय अन्तर्ज्योतिः पुरुष है। आरण्यक श्रुति में उक्त रूप आत्म शब्दोल्लेख से प्रस्तावारम्भ करके प्रस्तावित प्रत्यगात्मा का असङ्ग भाव एवं मुक्त स्वभावता प्रतिपादित होने से ब्रह्मात्मता का ही अवधारण हुआ है। तज्जन्य प्रस्ताव का

अथोपसंहारवाक्यस्याप्ययमर्थः— कस्मै गर्भोदकशायिपुरुषनाभिकमलस्थाय ब्रह्मणे तत्रैव येन महावैकुण्ठं दर्शयता द्वितीयस्कन्धवर्णित-तादृशश्रीमूर्त्त्यादिना भगवता विभासितः प्रकाशितः, न तु तदापि रचितः। अयं श्रीभागवतरूपः पुरा पूर्वपरार्द्धादौ तद्रूपेण ब्रह्मरूपेण

सर्वसम्वादिनी

तत्रोच्यते।—साङ्ख्यादि-शास्त्राणि यदि श्रीभगवत्येव पर्यवसाय्यन्ते, तदैव प्रमाणम्; न तु स्वतः। पञ्च-रात्रस्य स्वतएव तदभिधायकता। तदेव स्वतः प्रमाणम्, न त्वन्यत् पशुपत्याद्यभिधायकमिति; यतो मोक्ष-

उपसंहार "उक्त आत्मा महान्, जन्म वर्जित, अजर, अमर, अमृत, अभय, एवं ब्रह्म हैं, इस प्रकार से हुआ है। किन्तु छान्दोग्य के ब्रह्म प्रकरण प्रारम्भ में आत्म शब्द का उल्लेख नहीं है। छान्दोग्य में आत्म शब्द के परिवर्त्त में "सृष्टि के पूर्व में 'सत्' ही था, वह एक एवं भेद शून्य है" इस प्रकार से प्रस्तावारम्भ हुआ है। केवल उपसंहार के समय कहा गया है– "श्वेतकेतु! वह आत्मा तुम हो"। इस प्रकार से छान्दोग्य ने ब्रह्म तादात्म्य का उपदेश दिया है। यहाँ संशय यह है कि– उक्त वाक्य में तुल्यार्थता है या नहीं। प्रथमतः बोध होता है कि—जब वाक्योच्चारण में अतुल्य असमान है, तब उभय के प्रतिपाद्य भी असमान है। पाठ का वैषम्य से अर्थ का वैषम्य होता ही है। सुतरां उदाहृत वाक्यद्वय का अर्थ वैषम्य व्यतीत साम्यार्थ ग्रहण अयुक्त है। कारण, अर्थज्ञान, पाठक्रम का ही अधीन है।

वृहदारण्यक के प्रकरणस्थ आत्म शब्दोल्लेख से प्रतीत होता है, उक्त स्थल में आत्मतत्त्व उपदिष्ट हुआ है। छान्दोग्य का उपदेश उसका विपरीत है। अतः छान्दोग्य में उपदेश का विपर्य्यय हुआ है। उपसंहार में आत्म शब्द का उल्लेख होने से भी उससे आत्मतत्त्व का बोध नहीं होगा। कारण उपसंहार मात्र ही उपक्रम का अधीन होता है। उपक्रम में आत्मा का उल्लेख नहीं है, उपक्रम के अनुसार ही उपसंहार की व्याख्या होनी चाहिये। इस प्रकार पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं—"सृष्टि के अग्र में सब ही सन्मात्र थे।" यह छान्दोग्य श्रुति है, आरण्यक श्रुति के समान छान्दोग्य श्रुति का अर्थ भी आत्म पर होगा। कारण उदाहृत छान्दोग्य के उपसंहार में सत् तादात्म्य का उपदेश है। सत् तादात्म्य उपदिष्ट होने से सत् शब्द की आत्मार्थता गृहीत होती है।

'उपसंहार,—उपक्रम का अधीन है', यह नियम है। इस नियम के अनुसार उपसंहार में उपक्रम का अन्वय, 'अनुवृत्ति सम्बन्ध' है। सुतरां उपक्रम में आत्म शब्द का उल्लेख न होने से केवल उपसंहार वाक्य से आत्मा की प्रतीति नहीं होगी? इसका परिहार कैसे होगा। प्रत्युत्तर—अवधारण वाक्य है। अवधारण वाक्य की विद्यमानता से उक्त वाक्य से आत्मा की प्रतीति होती है। कारण श्रुति कहती है— जिनके श्रवण से अश्रुत भी श्रुत होते हैं, मनन न करने पर भी मनन होता है, अविज्ञात भी ज्ञात होता है, इस प्रकार एक के ज्ञान से निखिल का ज्ञान सिद्ध होने पर अवधारण होता है। तत् पश्चात् उक्त प्रतिज्ञात अवधारण को सिद्ध एवं युक्तियुक्त करने के निमित्त, अर्थात् उपपादन करने के निमित्त 'सत् एव' वाक्य का प्रयोग हुआ है। सत् शब्द के अर्थ से आत्मा गृहीत न होने से उक्त प्रतिज्ञात का अवधारण उपपन्न अथवा उपपन्न नहीं होगा। द्रष्टव्य यह है कि—सृष्टि की पूर्वावस्था में एकत्व का कथन, आत्म शब्द के द्वारा जीव का उल्लेख, सुषुप्त्यवस्था में उनकी स्वीय रूप में अवस्थिति, पुनः पुनः जिज्ञासित होकर भी "वह तुम हो" इस प्रकार ऐक्यावधारण का कथन भी तादात्म्य प्रतिपादन के पक्ष में ही सङ्गत होता है, तादात्म्य सम्पादन में नहीं। प्रतिपादन का अर्थ—बोध कराना, सम्पादन का अर्थ है—कृति अर्थात् प्रयत्न के द्वारा उपपादन करना।

उपक्रम का प्राधान्य को मानकर वाक्य विन्यास करना उचित नहीं है। कारण उपक्रम—अर्थात् प्रस्तावारम्भ में आत्मा, अनात्मा का उल्लेख नहीं है। सुतरां जानना होगा कि–उपक्रम सामान्य अर्थात्

तद्रूपिणा श्रीनारदरूपिणा योगीन्द्राय श्रीशुकाय तदात्मना श्रीकृष्णद्वैपायनरूपेण ; तदात्मनेत्यस्योत्तरेणाप्यन्वयः। तत्र तदात्मना श्रीशुकरूपेणेति ज्ञेयम्। तद्रूपेणेत्यादिभिस्त्रिभिः पदैर्न केवलं चतुःश्लोक्येव तेन प्रकाशिता, किन्तर्हि, तत्र तत्राविष्टेनाखण्डमेव पुराणमिति द्योतितम्। अत्र मद्रूपेण च युष्मभ्यमिति सङ्कोचेनानुक्तोऽपि श्रीसूतवाक्यशेषो गम्यः। एवं

सर्वसम्वादिनी

धर्मे नारायणीये साङ्ख्यादीन्यन्यार्थान्यपि तत्रैव पर्यवसायितानि।

पञ्चरात्रविदां तु साक्षाद्भगवत्प्राप्तिमुक्त्वा तस्य शास्त्रस्य साक्षादेव भगवदभिधायकत्वमाह। अतो

साधारण रूप से अभिहित है। वाक्य शेष में जो विशेषण का कथन है, वह कथन सामान्यतः उक्त उपक्रम का बाधक अथवा विरोध नहीं है। कारण, सामान्यतः उल्लेख, विशेष का मुखापेक्षी है, एवं वह विशेष में ही पर्य्यवसित होता है। उपक्रम में जो सत् शब्द का प्रयोग है, उससे मुख्य आत्मा व्यतीत अन्य अर्थ प्रतीत नहीं होता है। आत्मा व्यतीत वस्तु समूह आरम्भणादि युक्ति से मिथ्या प्रतिपादित हुए हैं। उससे स्थिर होता है कि—वाक्योच्चारण वैपरीत्य से वस्तु तत्त्व का वैपरीत्य नहीं होता है। "पात्रमाहर, आहरपात्रं" उच्चारण वैषम्य से भी अर्थ वैषम्य नहीं है, प्रत्युत साम्य ही है।

अतएव विचार से निर्णीत हुआ है कि— वाक्य की प्रतिपादन शैली विभिन्न होने पर भी प्रतिपाद्य पदार्थ में भेद नहीं है। उक्त रीति से ही जानना होगा कि—भा० २।९।३०-३६ चतुःश्लोकी रूप श्रीमद्भागवत के वक्ता श्रीभगवान् ही हैं। 'मे, मया, अहं' शब्द के द्वारा प्रवक्ता श्रीभगवान् का ही सुस्पष्ट उल्लेख है, उस उपदेश के अनुसार ही निज दौर्मनस्य निवारणार्थ श्रीनारदोपदेश से व्यासदेव ने अनुष्ठान किया। और

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले। अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्॥
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्। परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते॥
अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे। लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥
यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे। भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥
स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम्। शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिम्॥

भक्तियोग के द्वारा समाहित होकर पूर्णपुरुष श्रीकृष्ण का दर्शन तथा उनकी महिमा का परिज्ञान किया। इससे निर्णय हुआ है कि—श्रीभगवत्तत्त्व ही श्रीमद्भागवत में ध्येय रूप में प्रतिपादित हैं। उसका ही वर्णन भा० १२।१२।६९ में "स्वसुख निभृतचेताः रूपमें हुआ, जिससे श्रीशुकदेव का हृदय का तात्पर्य्य उक्त भगवत्तत्त्व में ही है। श्रीकृष्ण, ब्रह्मा, नारद, व्यास, शुक, सूत—का एक ही तात्पर्य्य है। अर्थात् श्रीकृष्ण ही परिपूर्ण परतत्त्व हैं।

अनन्तर उपसंहार वाक्य का भी अर्थ इस प्रकार है—"क" शब्द का अर्थ ब्रह्मा है, अर्थात् गर्भोदकशायि पुरुष के नाभि कमलस्थित ब्रह्मा को उक्त नाभिकमल में ही जिन्होंने ब्रह्मा को महावैकुण्ठ दर्शन कराकर भागवत के द्वितीय स्कन्ध में वर्णित रीति से मूर्त्तिमान् श्रीभगवान् के द्वारा श्रीमद्भागवत प्रकाशित हुआ। किन्तु उस समय ही इस श्रीमद्भागवत की रचना उन्होंने नहीं की। यह श्रीमद्भागवत यथावत् पुरा—पूर्व परार्द्धादि में रहा। तद्रूप के द्वारा अर्थात् ब्रह्मा रूप से, तद्रूपिणा—श्रीनारद रूप से, योगीन्द्र को—श्रीशुक को, तदात्मना—श्रीकृष्ण द्वैपायन रूप से, तदात्मना पद का अन्वय—पर पद के साथ है। उक्त स्थल में "तदात्मना" शब्द का अर्थ—श्रीशुक रूप के द्वारा, इस प्रकार जानना होगा। "तद्रूपेण" इत्यादि पदत्रय के द्वारा बोध होता है कि—श्रीभगवान् ने केवल चतुःश्लोकी को ही प्रकाशित नहीं किया, किन्तु उन उन व्यक्तियों में आविष्ट होकर अखण्ड श्रीमद्भागवत पुराण को ही आविर्भावित करवाया था। यहाँ

सर्वस्यापि श्रीभागवतगुरोर्महिमा दर्शितः। सङ्कर्षणसम्प्रदायप्रवृत्तिस्तु श्रीकृष्णद्वैपायनकर्त्तृक-प्रकाशनान्तर्गतैवेति पृथङ्नोच्यते। तत् परं सत्यं श्रीभगवदाख्यं तत्त्वं धीमहि। "यत्तत् परमनुत्तमम्" इति सहस्रनामस्तोत्रात् पर-शब्देन च श्रीभगवानेवोच्यते, (भा० २।६।४२)— "आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य" इति द्वितीयात्। ब्रह्मादीनां बुद्धिवृत्तिप्रेरकत्वेनाभिधानाद्-गायत्र्यर्थोपलक्षितेन धीमहीति गायत्रीपदेनैव यथोपक्रममुपसंहरन् गायत्र्या अप्यर्थोऽयं ग्रन्थ इति दर्शयति। तदुक्तं (गारुड़े)—'गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ भारतार्थविनिर्णयः' इति ॥ श्रीसूतः ॥

१०६। अथाभ्यासेन (भा० १२।१२।६६)—

(१०६) "कलिमलसंहृति-कालनोऽखिलेशो, हरिरितरत्र न गीयते ह्यभीक्ष्णम्।
इह तु पुनर्भगवानशेषमूर्त्तिः, परिपठितोऽनुपदं कथाप्रसङ्गैः ॥"६६॥

सर्वसम्वादिनी

येन येन देवतान्तरमभिधीयते, तत्तत् पञ्चरात्रं न ग्रहीतव्यमिति निन्दा-श्रवणमपि तस्यैव भवेत्। तथा हि (महाभा० शान्ति प० मोक्षधर्मे ३४९।६४)—

"साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा। ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै ॥"३४॥

सूत ने शौनकों के "मद्रूपेण युष्मभ्यं" "मेरे द्वारा आप सब के समीप में श्रीमद्भागवत को आविर्भावित करवाया" ऐसा नहीं कहा। कारण वृद्धों के सभा में सङ्कोच वश नहीं कहा, तथापि सूत के वाक्य से उस प्रकार अर्थ को जानना आवश्यक है। इस रीति से समस्त श्रीमद्भागवत प्रवक्ता गुरुवृन्द की महिमा प्रदर्शित हुई है। सङ्कर्षण के मुखारविन्द से निर्गत श्रीमद्भागवत है, इस प्रकार अपर मार्ग के द्वारा श्रीमद्भागवत की प्रवृत्ति सुप्रसिद्धा है, उसके विषय में कहते हैं। उक्त सङ्कर्षण सम्प्रदाय—श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास कर्त्तृक श्रीमद्भागवत प्रकाशन के अन्तर्भूत ही है। तज्जन्य उसका विवरण पृथक् रूप से कहने की आवश्यकता नहीं हुई। उक्त श्रीभगवन्नामक परम सत्य वस्तु का ध्यान हम सब करते हैं। "यत् तत् परं—अनुत्तमम्" जो कोई पर एवं अनुत्तम है। सहस्र नाम स्तोत्रस्थ पर शब्द से श्रीभगवान् का ही बोध होता है। भा० २।६।४२ में उक्त है—

"आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य कालः स्वभावः सदसन्मनश्च।
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट् स्थास्णु चरिष्णु भूम्नः ॥"

"परस्य भूम्नः, पुरुषः—प्रकृति प्रवर्त्तकः" यहाँ 'पर' शब्द के द्वारा श्रीभगवान् का ही बोध होता है। आदिपुरुष विभु श्रीभगवान् का प्रकृति प्रवर्त्तक पुरुष अवतार प्रथम है। ब्रह्मादि की बुद्धिवृत्ति का प्रेरक रूप से कथित होने से गायत्री का अर्थ सूचक धीमहि पद गायत्री ही है। उक्त गायत्री पद के द्वारा ग्रन्थ का आरम्भ हुआ है, एवं आरम्भ क्रम से ही उपसंहार होना भी नियम है। अतएव उक्त गायत्री वाचक 'धीमहि' पद के द्वारा ग्रन्थ का उपसंहार भी हुआ है। इससे सूचित हुआ है कि—गायत्री का अर्थ ही श्रीमद्भागवताख्य प्रस्तुत ग्रन्थ है। गरुड़पुराण में उक्त भी है—श्रीमद्भागवत गायत्री का ही भाष्यरूप है, एवं महाभारत का तात्पर्य्य निर्णयात्मक ग्रन्थ है। प्रवक्ता श्रीसूत हैं ॥१०५॥

अनन्तर अभ्यास से भी कहते हैं—पुनः पुनः कथन ही अभ्यास है। भा० १२।१२।६६ में कथित है—कलिकलुषनाशन अखिलेश्वर श्रीहरि का नाम, अन्य शास्त्र के प्रति पद में उल्लिखित नहीं हुआ है। किन्तु सात्वत संहिता रूप श्रीमद्भागवत में प्रत्येक कथा प्रसङ्ग के प्रत्येक पद में अशेष मूर्त्ति श्रीभगवान् का नाम कीर्त्तित है।

कालनो नाशनः; इतरत्र कर्मब्रह्मादिप्रतिपादकशास्त्रान्तरे अखिलेशो विराड़न्तर्यामी नारायणोऽपि तत्पालको विष्णुर्वापि न गीयते, क्वचिद् गीयते वा, तत्र त्वभीक्ष्णं नैव गीयते, तु-शब्दोऽवधारणे; साक्षात् श्रीभगवान् पुनरिह श्रीभागवते एवाभीक्ष्णं गीयते। नारायणादयो वा येऽत्र वर्णितास्तेऽप्यशेषा एव मूर्त्तयोऽवतारा यस्य सः, तथाभूत एव गीयते, न त्वितरत्रेव तदविवेकेनेत्यर्थः। अतएव तत्तत्कथाप्रसङ्गेष्वनुपदं पदं पदमपि लक्षीकृत्य भगवानेव परि सर्वतोभावेन पठितो व्यक्तमेवोक्त इति। अनेनापूर्वतापि व्याख्याता, अन्यत्रानधिगतत्वात्॥ श्रीसूतः॥

१०७। अथ फलेनापि (भा० २।२।३७)—

(१०७) "पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां, कथामृतं श्रवणपुटेषु संभृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं, व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्॥"३७॥

सतामात्मनः प्राणेश्वरस्य; यद्वा, व्यधिकरणे षष्ठी, सतामात्मनः स्वस्य यो भगवांस्तस्येत्यर्थः, तेषां भगवति स्वामित्वेन ममतास्पदत्वात्। अत्र कथामृतं प्रक्रम्यमाणं श्रीभागवताख्यमेव

सर्वसम्वादिनी

(तत्रैव ३४९।६५) 'साङ्ख्यस्य वक्ता कपिलः' इत्युपक्रम्य (तत्रैव ३५०।६८) 'पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम्', इति 'स्वयं'-पदेन तस्याधिक्यं प्रतिपाद्य, (तत्रैव ३४९।६६)

कालन शब्द का अर्थ—नाशन है, इतर स्थान में अर्थात् कर्म, ब्रह्म प्रतिपादक शास्त्रान्तर में, अखिलेश—विराड़ अन्तर्य्यामी, श्रीनारायण, अथवा उन सब का प्रतिपालक श्रीविष्णु कीर्त्तित नहीं होते हैं। उनमें भी स्थल विशेष में कीर्त्तित होते हैं, पुनः पुनः कथन तो होता ही नहीं। "तु" शब्द का अर्थ—अवधारण है। किन्तु साक्षात् श्रीभगवान् पारमहंस्य संहिता रूप श्रीमद्भागवत में पुनः पुनः कथित होते हैं। श्रीमद् भागवत में श्रीनारायणादि का वर्णन है। वे सब ही श्रीभगवान् के अंशावतार रूपमें ही वर्णित हैं, अर्थात् श्रीनारायणादि मूर्त्ति जिनके अंश हैं, उन स्वयं भगवान् का ही वर्णन सर्वत्र है। किन्तु अन्य शास्त्र के समान अविवेक के द्वारा नहीं। अतएव उक्त अवतार समूह के कथा प्रसङ्ग में भी प्रत्येक पद का एकमात्र लक्ष्य स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। उनको लक्ष्य करके ही परि अर्थात् सर्वतोभावेन पठित है। अर्थात् सुस्पष्ट रूप में कथित हैं—श्रीभगवान् श्रीकृष्ण।

एतादृश वर्णन अन्य शास्त्र में उपलब्ध न होने से ही इस श्लोक के द्वारा ही अपूर्वता का भी वर्णन हुआ। प्रवक्ता श्रीसूत हैं॥१०६॥

अनन्तर फल के द्वारा भी वर्णन करते हैं,—भा० २।२।३७ में वर्णित है—भक्तगणों के आत्मस्वरूप भगवान् श्रीहरि के कथामृत का पान श्रवणपुट के द्वारा जो जन करता है, उसका अन्तःकरण विषय विदूषित होने से भी वह शुद्ध होता है, एवं वह व्यक्ति श्रीविष्णु के सान्निध्य को प्राप्त करता है।

टीका—श्रवणादिफलमभिनयेनाह—पिबन्तीति। सताम्—आत्मनः, आत्मत्वेन प्रकाशमानस्य, कथैव अमृतम्। विषयैर्विदूषितं मलिनीकृतमाशयं पुनन्ति—शोधयन्ति। तस्य चरणपद्मान्तिकं श्रीविष्णुपदं व्रजन्ति।

सतां—आत्मनः प्राणेश्वरस्य साधुगण के आत्मा का अर्थात् प्राणेश्वर का, प्रिय का, किंवा व्यधिकरण में षष्ठी, अर्थात् सत् वृन्द के अपना जो भगवान् हैं, उनका, इस प्रकार अर्थ है,—साधुगणों का ममतास्पद हैं—स्वामित्व रूप में। यहाँ पर आरम्भ में जिस कथामृत की वार्त्ता हुई है, उसका लक्ष्य मुख्य रूप से

मुख्यम् (भा० १।७।७) "यस्यां वै श्रूयमाणायाम्" इत्यादिकञ्च तथैवोक्तमिति ॥ श्रीशुकः ॥

१०८। अथार्थवादेन (भा० १२।१३।१)—

(१०८) "यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपद-क्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थित-तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥"१॥

स्तवैर्वेदैश्च स्तुन्वन्ति स्तुवन्ति। ध्यानेनावस्थितं निश्चलं तद्गतं यन्मनस्तेन ॥ श्रीसूतः॥

१०९। अथोपपत्त्या (भा० २।२।३५)—

(१०९) "भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः॥"३५॥

सर्वसम्वादिनी

"सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञातेष्वेतेषु दृश्यते। यथागमं यथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुः॥"३५॥
इत्यादिना पञ्चरात्राभिधेये नारायण एव सर्वशास्त्र समन्वयं दर्शयित्वा, (तत्रैव ३४६।७२)

श्रीमद्भागवत ही है। कारण भा० १।७।७ में उक्त है—

"यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे। भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥

टीका—"संहिताया अनर्थोपशमकत्वं दर्शयति। यस्यां श्रूयमाणायामेव किं पुनः श्रुतायामित्यर्थः।"

श्रीमद्भागवत के श्रवण से शोक मोह विदूरित होकर श्रीकृष्णचरणों में भक्तिरुत्पन्न होती है, यह फल श्रवणरत अवस्था में ही होता है। पारमहंस्य संहिता का श्रवण से ही अनर्थ का उपशम होता है।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं।।१०७।।

अनन्तर अर्थवाद रूप प्रशंसा वचन का वर्णन करते हैं। भा० १२।१३।१ में वर्णित है—ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, मरुत्, रुद्र, प्रभृति देवतागण जिनका स्तव करते हैं, सामवेदज्ञ व्यक्तिगण, अङ्ग, पद, क्रम, उपनिषद् के सहित वेद के द्वारा जिनका स्वरूप गान करते हैं, एवं योगिगण ध्यानावस्था में तद्गत चित्त होकर जिनका दर्शन करते हैं, एवं सुरासुरगण जिनका अन्त प्राप्त नहीं होते हैं, उन देवता को प्रणाम करते हैं।

टीका—"सर्वपुराणसंख्यादीन् उपवर्णयिष्यन् तत् प्रतिपाद्यं देवं प्रणमति यमिति। स्तवैर्वेदैश्च स्तन्वन्ति, स्तुवन्ति, उपनिषत् शब्दस्य अकारान्तत्वं छन्दोऽनुरोधेन। ध्यानेनावस्थितं निश्चलं तद्गतञ्च, यस्य अन्तं न विदुः सुरासुरगणाः।"

स्तव के द्वारा एवं वेद के द्वारा स्तव करते हैं। ध्यान के द्वारा अवस्थित निश्चल जो तद्गत मन— उसके द्वारा योगिगण जिनका दर्शन करते हैं। प्रवचन, श्रीसूत का है।।१०८।।

अनन्तर उपपत्ति के द्वारा श्रीमद्भागवत में एकवाक्यता का वर्णन करते हैं। भा० २।२।३५ में उक्त है— अनुभूत पदार्थ में ही रति होती है, अनन्त भगवान् में कैसे प्रीति हो सकती है? यहाँ उस प्रकार आशङ्का नहीं हो सकती है। कारण क्षेत्रज्ञ एवं अन्तर्य्यामित्व रूप में भगवान् हरि सर्वत्र सर्वदा दृष्ट होते हैं। अर्थात् बुद्धचादि का दर्शन द्रष्टा व्यतीत असम्भव है, एवं बुद्धचादि का कारणत्व भी कर्त्ता का अधीन ही है। यह अनुपपत्ति एवं अनुमापक रूप द्विविध लक्षण के द्वारा ईश्वर स्वतन्त्र कर्त्ता प्रतिपादित होते हैं, यह अनुभवसिद्ध है।

टीका—ननु अनुभूतेऽर्थे रतिर्भवति, अननुभूते तु भगवति कथं रतिः स्यात्? तत्राह—भगवान्

प्रथमं द्रष्टा जीवो लक्षितः। कैः ? दृश्यैर्बुद्धयादिभिः ; तदेव द्वेधा दर्शयति—दृश्यानां जड़ानां बुद्धयादीनां दर्शनं स्वप्रकाशं द्रष्टारं विना न घटत इत्यनुपपत्तिद्वारा लक्षणैः स्वप्रकाश-द्रष्टृ लक्षकैः, तथा बुद्धयादीनि कर्त्तृ प्रयोज्यानि करणत्वाद्वास्यादिवदिति व्याप्तिद्वारानुमापकैरिति। अथ भगवानपि लक्षितः ; केन ? सर्वभूतेषु सर्वेषु भूतेषु द्रष्टृषु प्रविष्टेन स्वात्मना स्वांशरूपेणान्तर्यामिणा। आदौ सर्वैर्द्रष्टृभिरन्तर्यामी लक्षितः ; ततस्तेन भगवानपि लक्षित इत्यर्थः। स च स च पूर्ववत् द्विधैव लक्ष्यते। तथाहि कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वयोरस्वातन्त्र्य-दर्शनात् कर्मणोऽपि जड़त्वात् सर्वेषामपि जीवानां तत्र तत्र प्रवृत्तिरन्तःप्रयोजकविशेषं विना न घटत इत्यनुपपत्तिद्वारान्तर्यामी लक्ष्यते। एष ह्यनेनात्मना चक्षुषा दर्शयति, श्रोत्रेण श्रावयति, मनसा मनयति, बुद्धया बोधयति, तस्मादेतावाहुः—"सृतिरसृतिः" इति भाल्लवेयश्रुतिश्च। अथ तस्मै चान्तर्यामित्वैश्वर्य्याय तेषु यदि सर्वांशेनैव प्रविशति कोऽपि परस्तदा स्वतः पूर्णत्वा-

सर्वसम्वादिनी

"पञ्चरात्रविदो ये तु क्रमयोगपरा नृप। एकान्त भावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति वै ॥"३६॥

इति तत्प्रतिपाद्यस्य परमफलत्वमाह। (ब्र०सू० ३।३।६—माध्वभाष्ये धृत) भाल्लवेयश्रुतिश्चात्र भवति—

लक्षितः दृष्टः। कथम् ? स्वात्मना क्षेत्रज्ञान्तर्य्यामितया। कैः ? दृश्यैर्बुद्धयादिभिः, तदेव द्वेधा दर्शयति। दृश्यानां जड़ानां बुद्धयादीनां दर्शनं स्वप्रकाशं द्रष्टारं विना न घटते इत्यनुपपत्तिमुखेन लक्षणैः स्वप्रकाशान्तर्य्यामिलक्षकैः। तथा बुद्धयादीनि कर्त्तृ प्रयोज्यानिकरणत्वात् वास्यादिवदिति व्याप्तिमुखेनानुमापकैः। स्वतन्त्रश्च कर्त्तेत्येवमीश्वर सिद्धिः ॥

सन्दर्भः—प्रथम द्रष्टा जीव लक्षित होता है, किस प्रकार साधन के द्वारा ? कहते हैं—दृश्य बुद्धयादि के द्वारा, उक्त साधन का प्रदर्शन प्रकार द्वय से दर्शाते हैं। दृश्य जड़स्वरूप बुद्धि प्रभृति का दर्शन, स्वप्रकाश द्रष्टा को छोड़कर हो नहीं सकता। इस अनुपपत्ति के द्वारा पूर्वोक्त जीव द्रष्टा रूप में लक्षित हुआ, लक्षण के द्वारा अर्थात् स्वप्रकाश द्रष्टृ लक्षण के द्वारा। उस प्रकार बुद्धयादि कर्त्ता का प्रयोज्य करणत्व हेतु वास्यादि अस्त्र के सदृश है, व्याप्तिज्ञान के द्वारा अनुमित है। अनुमापक के द्वारा श्रीभगवान् भी लक्षित हैं। किस प्रकार से ? सर्वभूतेषु—समस्त भूतों में, सकल द्रष्टाओं में आत्म रूप में प्रविष्ट हैं। अर्थात् स्वांशरूप अन्तर्य्यामी के द्वारा सर्वत्र अवस्थित हैं। प्रथमतः—समस्त द्रष्टा जीवों के द्वारा अन्तर्य्यामी लक्षित हैं। उससे सब के अंशी रूप में श्रीभगवान् भी लक्षित होते हैं। अन्तर्य्यामी एवं भगवान् पूर्ववत् दो प्रकार से लक्षित होते हैं। कहते हैं—

कर्त्तृत्व भोक्तृत्व में अस्वातन्त्र्य दर्शन हेतु, कर्म भी जड़ होने के कारण, समस्त जीवों की उक्त स्थलों में जो प्रवृत्ति होती है, उस प्रवृत्ति के प्रति प्रयोजक विशेषण की अपेक्षा अवश्य ही है। उक्त प्रयोजक के बिना कर्म में एवं कर्माधीन कर्त्तृत्व भोक्तृत्व में जीव की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। इस अनुपपत्ति के द्वारा ही अन्तर्य्यामी लक्षित होते हैं। उसके प्रति हेतु इस प्रकार है,—परमात्मा जीवात्मा को चक्षु के द्वारा दर्शन कराते हैं। श्रोत्र के द्वारा श्रवण कराते हैं, मन के द्वारा मनन कराते हैं, बुद्धि के द्वारा अवबोध कराते हैं। तज्जन्य श्रुतिगण-जीवात्मा को ज्ञेय, एवं परमात्मा को अज्ञेय कहती हैं। यह विवरण—भाल्लवेय श्रुति का है।

अनन्तर अंशांशी का विचार करते हैं,—अन्तर्य्यामित्व ऐश्वर्य्य भगवान् में है। यदि आप सर्वांश के द्वारा द्रष्टा जीवगण में प्रविष्ट होते हैं, तब तो श्रेष्ठ कौन होगा, अर्थात् अंशी एवं अंश का भेद नहीं होगा।

भावादनीश्वरत्वमेव स्यादित्यनुपपत्तिद्वारान्तर्यामिरूपेण तस्यांशेन भगवानपि लक्षितः। अतएव श्रीगीतोपनिषत्सु (१०।४२)—

"अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवाऽर्जुन। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥"४२॥ इति ;

विष्णुपुराणे च—'स्वशक्तिलेशावृतभूतसर्गः' इति। तथा जीवाः प्रयोजक-कर्त्तृ प्रेरितव्यापाराः, अस्वातन्त्र्यात्, तक्षादिकर्मकरजनवदित्येवमन्तर्यामिणि तत्त्वे व्याप्तिद्वारा सिद्धे पुनस्तेनैव भगवानपि साध्यते। तुच्छवैभवजीवान्तर्यामिस्वरूपमीश्वरतत्त्वं निजांशितत्त्वाश्रयम्, तथैव पर्य्याप्तेः, राजप्रभुत्वाश्रिततक्षादिकर्मकरप्रयोजक-प्रभुत्वादिवदिति। अथवात्र (भा० ३।३२।३३)—

"यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः। एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः ॥"३३॥

सर्वसम्वादिनी

"उपास्य एकः परतः परो वै, वेदैश्च सर्वैः सह चेतिहासैः।
सपञ्चरात्रैः सपुराणैश्च देवः, सर्वैर्गुणैस्तत्र तत्र प्रतीतैः ॥"३७॥ इति ;

(ब्र०सू० २।१।५—माध्वभाष्य धृते) भविष्यपुराणे—

"ऋक्यजुःसामाथर्व्वाख्या भारतं पञ्चरात्रकम्। मूलरामायणञ्चैव वेद इत्येव शब्दिताः ॥३८॥
पुराणानि च यानीह वैष्णवानि विदो विदुः। स्वतःप्रामाण्यमेतेषां नात्र किञ्चिद्विचार्य्यते ॥"३९॥ इति।

यदि वैसा भेद नहीं रहता है, कहने पर स्वभावतः ही पूर्णत्व का अभाव भगवान् में होगा। तज्जन्य भगवान् का अनीश्वरत्व ही होगा। इस प्रकार अनुपपत्ति के द्वारा अन्तर्य्यामिरूप भगवान् के अंश के द्वारा भगवान् भी लक्षित होते हैं। अतएव श्रीगीतोपनिषत् के १०।४२ में उक्त है—हे अर्जुन! अत्यधिक अवगत होने का प्रयोजन ही क्या है, निश्चित रूप से जानो कि—यह जगत् मेरा एकांश में स्थित है।

टीका—एवमवयवशो विभूतीरुपवर्ण्य साभस्त्येन ताः प्राह,—अथवेति, बहुना पृथक् पृथगुपदिश्यमानेन विभूतिविषयकेन ज्ञानेन तव किं प्रयोजनम्? हे अर्जुन! चिदचिदात्मकं हरिविरिञ्चिप्रमुखं कृत्स्नं जगदहमेकेनैव प्रकृत्याद्यन्तर्य्यामिणा पुरुषाख्येनांशेन विष्टभ्य स्रष्टृत्वात् स्रष्टा धारकत्वात् धृत्वा व्यापकत्वाद् व्याप्यपालकत्वात् पालयित्वा च स्थितोऽस्मीति सर्जनादीनि मद्विभूतयो मद्व्याप्तेषु सर्व्वैश्वर्य्यादि सर्वाणि वस्तूनि मद्विभूतितया बोध्यानीति ॥

विष्णुपुराण में भी वर्णित है—स्वीय शक्ति लेश के द्वारा समस्त जगत् आवृत है। उक्त प्रकार से समस्त जीवगण प्रयोजक के द्वारा प्रेरित होकर निज निज कार्य्य सम्पन्न करते हैं, वे सब ही स्वतन्त्र हैं। तक्षादि कर्मकर के अधीन होकर जिस प्रकार उन सबके अस्त्रादि कर्म निर्वाहक होते हैं, तद्रूप जीव एवं जीव के करण समूह अस्वतन्त्र होते हैं। उक्त व्याप्ति नियम के द्वारा अन्तर्य्यामी सिद्ध होने पर, पुनर्बार उक्त व्याप्ति के द्वारा भगवान् स्थापित होते हैं। स्वल्प वैभवयुक्त जीवगणों के अन्तर्य्यामी रूप ईश्वर तत्त्व भी निजांशी का आश्रित हैं, उक्त रूप से पर्य्याप्ति है। अन्तर्य्यामी स्वतन्त्र नहीं होते हैं, स्वयं भगवान् की एकपाद विभूति में कर्मफल के द्वारा जीव सञ्चालक, स्वल्प शक्तिविशिष्ट परमात्मा होते हैं। राजा की प्रभुता का आश्रित तक्षणादि कर्मकर का प्रयोजक प्रभुत्व जिस प्रकार है, अर्थात् स्वतन्त्र कर्त्ता, उनके आदेश से तक्षा कार्य्य करता है, तक्षा भी स्वीय अस्त्रचालन के प्रति कर्त्ता है, किन्तु मूलतः वह प्रयोज्य है। राजा का अधीन ही है। उस प्रकार स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण परम स्वराट् तत्त्व हैं, लीला के निमित्त अनेक प्रकार रूप धारण करते हैं। वे सब अपने अपने कार्य्य में स्वतन्त्र की भाँति प्रतीत होने पर भी मूलतः स्वयं भगवान् जो सब के अंशी हैं, उनके अधीन ही रहते हैं, परम स्वतन्त्र नहीं हैं। परम स्वतन्त्र एक ही तत्त्व हैं, उनका नाम श्रीकृष्ण हैं। अतएव श्रीमद्भागवत के ३।३२।३३ में उक्त है—

जिस प्रकार रूप-रसादि अनेक गुणों के आश्रय क्षीरादि का एक एक विषय होने पर भी विभिन्न मार्ग

इत्येवोदाहरणीयम् । अनेनैव गतिसामान्यञ्च सिध्यतीति ।। श्रीशुकः ।। प्रत्यवस्थापितं (भा० १।२।११) "वदन्ति" इत्यादिपद्यम् ।।

इति कलियुगपावन-स्वभजन-विभजन-प्रयोजनावतार-श्रीश्रीभगवत्कृष्णचैतन्यदेवचरणानुचर-विश्ववैष्णव-राजसभा-सभाजनभाजन-श्रीरूप-सनातनानुशासन-भारतीगर्भे षट्सन्दर्भात्मके श्रीश्रीभागवतसन्दर्भे

श्रीश्रीपरमात्मसन्दर्भो नाम तृतीयः सन्दर्भः ।।

श्रीभागवतसन्दर्भे सर्वसन्दर्भगर्भगे । परमात्माभिधेयोऽसौ सन्दर्भोऽभूत्तृतीयकः ।।

समाप्तोऽयं श्रीश्रीपरमात्मसन्दर्भः ।।

मूलम्—१०९ ; लेख्याः २७५८ श्लोकाः ।।

सर्वसम्वादिनी

स्वयं श्रीभागवतेनापि (भा० १।३।८) वैष्णव-पञ्चरात्रं स्तूयते—

"तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः । तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः ।।"४०।। इत्यादौ ।

तदेवं पाञ्चरात्रिकं मतमनुत्तमेवेति सिद्धम् ।

इति श्रीभागवतसन्दर्भे श्रीसर्वसम्वादिन्यां श्रीपरमात्मसन्दर्भानुव्याख्या ।।३।।

में प्रवृत्त इन्द्रियगण के द्वारा वह अनेक प्रकार से गृहीत होता है । अर्थात् एक दुग्ध, चक्षु के द्वारा शुक्ल, रसना से मधुर, त्वक् से शीतल, नासिका के द्वारा सुगन्ध, श्रोत्र के द्वारा क्षीराभिधान रूपसे उपलब्ध होता है । तद्रूप श्रीभगवान् वस्तुतः एक होने पर भी शास्त्र वर्त्म के द्वारा अनेक प्रकारों से प्रतीयमान होते हैं ।

टीका—ननु ज्ञानयोगस्य आत्मलाभः फलं, शास्त्रेणावगम्यते । भक्तियोगस्य तु भजनीयेश्वरप्राप्तिः, कुतस्तयोरेकार्थत्वमित्याशङ्क्यदृष्टान्तेन उपपादयति । यथा बहूनां रूपरसादीनां गुणानामाश्रयः क्षीरादि एक एवार्थो मार्गभेदप्रवृत्तैरिन्द्रियैर्नाना प्रतीयते—चक्षुषा शुक्ल इति, रसेन मधुर इति, स्पर्शेन शीत इत्यादि, तथा भगवानेक एव तत्तद्रूपेण अवगम्यते ।।

उक्त सिद्धान्त का स्थापन उक्त श्लोक के दृष्टान्त रूप में उद्धृत करना ही कर्त्तव्य है, एवं उक्त श्लोक के द्वारा एक प्राप्य, एक प्रापक, एक प्रमाण भी सुनिर्दिष्ट होता है । अर्थात् श्रीभगवान् का उद्घोष है—"ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः" इससे विभिन्नता में अभिन्नता स्थापित हुई है । परतत्त्व एक ही है, विभिन्न ज्ञानधारा से विभिन्न प्रकार दृष्ट होते हैं । प्रवक्ता श्रीशुक हैं । भा० १।२।११ पद्य—

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् । ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।"

प्रतिनियमित रूप से स्थापित हुआ ।।१०९।।

कलिमलविनाशकारि निज चरणारविन्द की प्रेमभक्ति का वितरण करना ही जिन अवतार का एकमात्र प्रयोजन है, उन श्रीश्री भगवत् श्रीकृष्णचैतन्यदेव के अनुचर विश्ववैष्णवराजसभा सभाजनभाजन श्रीरूप सनातन हैं, उनके अनुशासन रूप वचनों में भागवत सन्दर्भ षट् सन्दर्भ विख्यात है, तन्मध्य में प्रस्तुत परमात्म सन्दर्भ तृतीय सन्दर्भ है ।।

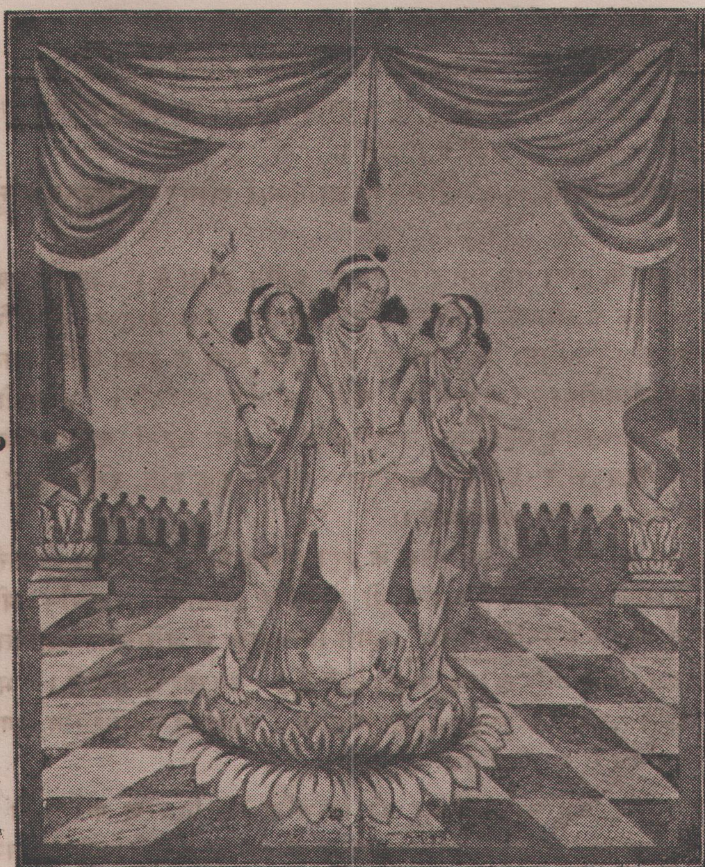
मूलम्—१०९, लेख्याः—२७५८ श्लोकाः ।

शास्त्रिणा हरिदासेन वृन्दारण्यनिवासिना ।

निर्म्मिता विमलाटीका सज्जनपरितुष्टये ।।

इति परमात्म सन्दर्भ समाप्त ।।









श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

श्रीहरिदासशास्त्री सम्पादिता ग्रन्थावली

१।	वेदान्तदर्शनम् "भागवतभाष्योपेतम्"	६०.००
२।	श्रीनृसिंह चतुर्दशी,	२.००
३।	श्रीसाधनामृतचन्द्रिका	४.००
४।	श्रीगौरगोविन्दार्चन पद्धति	३.५०
५।	श्रीराधाकृष्णार्चन दीपिका	२.००
६-७-८।	श्रीगोविन्दलीलामृतम्	८०.५०
९।	ऐश्वर्यकादम्बिनी,	५.००
१०।	संकल्पकल्पद्रुम	५.००
११।	चतःश्लोकी भाष्यम्	५.००
१२।	श्रीकृष्णभजनामृत	
१३।	श्रीप्रेमसम्पुट,	५.००
१४।	भगवद्भक्तिसार समुच्चय	५.००
१५।	व्रजरीतिचिन्तामणि,	५.००
१६।	श्रीगोविन्दवृन्दावनम्	१.५०
१७।	श्रीराधारससुधानिधि (मूल,)	१.००
१८।	,, (सानुवाद)	५४.००
१९।	श्रीकृष्णभक्तिरत्नप्रकाश,	६.००
२०।	हरिभक्तिसारसंग्रह	१५.००
२१।	श्रुतिस्तुति व्याख्या,	२०.००
२२।	श्रीहरेकृष्णमहामन्त्र	१.००
२३।	धर्मसंग्रह,	४.००
२४।	श्रीचैतन्य सूक्तिसुधाकर	४.००
२५।	सनत्कुमार संहिता,	२.५०
२६।	श्रीनामामृतसमुद्र	०.५०
२७।	रामप्रबन्ध,	५.००
२८।	दिनचन्द्रिका	२.००
२९।	श्रीसाधनदीपिका,	१५.००
३०।	चैतन्यचन्द्रामृतम्	५.००
३१।	स्वकीयात्वनिरास परकीयात्वप्रतिपादन,	२०.००
३२।	श्रीगौराङ्गचन्द्रोदय:,	६.००
३३।	श्रीब्रह्मसंहिता	२७.००
३४।	प्रमेयरत्नावली,	१३.००
३५।	नवरत्न	
३६।	भक्तिचन्द्रिका,	१२.००
३७।	वेदान्तस्यमन्तक	१३.००
३८।	श्रीभक्तिरसामृतशेष:,	५५.००
३९।	दशश्लोकी भाष्यम	२५.००
४०।	गायत्री व्याख्याविवृति:,	५.००
४१।	श्रीचैतन्यभागवत	१०१.००
४२।	श्रीचैतन्य मङ्गल	७५.००
४३।	श्रीचैतन्यचरितामृतमहाकाव्यम्	७५.००
४४।	तत्त्वसन्दर्भ:,	२०.००
४५।	भगवत्सन्दर्भ:	३८.००
४६।	परमात्मसन्दर्भ:,	५०.००
४७।	कृष्णसन्दर्भ:	८०.००
४८।	श्रीगौराङ्गविरुदावली	१८.००
४९।	सत्सङ्गम:	२०.००
५०।	श्रीचैतन्यचरितामृतम	४८.००
५१।	नित्यकृत्यप्रकरणम	३०.००
५२।	श्रीमद्भागवत-प्रथमश्लोक	२५.००

बङ्गाक्षर में मुद्रित

५३।	श्रीबलभद्र-सहस्रनामस्तोत्रम्	२.००
५४।	दुर्लभसार	३.००
५५।	साधकोल्लास:	१५.००
५६।	भक्तिचन्द्रिका	१२.००
५७।	श्रीराधारससुधानिधि (मूल.)	२.००
५८।	,, (सानुवाद)	६.००
५९।	भगवद्भक्तिसार समुच्चय	५.००
६०।	भक्तिसर्वस्व	५.००
६१।	मन:शिक्षा	५.००
६२।	पदावली	१०.००
६३।	श्रीसाधनामृतचन्द्रिका	४.५०

प्रकाशनरत ग्रन्थरत्न—

१। श्रीहरिभक्तिविलास: ।
२। श्रीहरिनामामृत-व्याकरणम, ३। भक्तिसन्दर्भ:,
४। प्रीतिसन्दर्भ: ५। श्रीचैतन्यचरितामृत
(श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी कृत)
६। अलङ्कार-कौस्तुभ (प्रभृति)

सद्ग्रन्थ प्रकाशन **श्रीहरिदास शास्त्री**
श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस, श्रीहरिदास निवास